•

यदीया वाग्गङ्गा विविध-नय-कल्लोल-विमला
वृहद्ज्ञानाम्भोभिर्जगति जनतां या स्नपयति ।
इदानीमप्येषा बुधजन मरालैः परिचिता
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु नः ॥

पण्डित भागचन्द, महावीराष्टक

❁

तीर्थंकर महावीर
और
उनकी आचार्य-परम्परा

लेखक
(स्व०) डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य
एम. ए , पी-एच. डी., डी. लिट्

श्री भारतवर्षीय दिगम्बरजैन विद्वत्परिषद्

प्रकाशक
मंत्री, श्री भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्

•

प्राप्ति-स्थान
मंत्री, श्री भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्
कार्यालय, वर्णी-भवन
सागर (मध्य प्रदेश)

•

तीर्थंकर महावीरके निर्वाण-रजतशती महोत्सवके
मङ्गलमय अवसरपर प्रकाशित

•

प्रथम संस्करण १५००
दीपावली, वीर-निर्वाण संवत् २५०१
कार्तिक कृष्णा अमावस्या, विक्रम संवत् २०३१
१३ नवम्बर, ईस्वी सन् १९७४

•

मूल्य चालीस रुपये

•

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस
भेलूपुर, वाराणसी–२२१००१

तीर्थङ्कर वर्द्धमान-महावीर
जिनकी निर्वाण-रजतशती राष्ट्र मना रहा है।

प्रकाशक की लेखनीसे

भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्की ओरसे गुरु गोपालदास बरैया-शताब्दी समारोहके प्रसंगको लेकर जब श्री बरैया-स्मृति-ग्रन्थका प्रकाशन हुआ, तब समाजके प्रबुद्धवर्गने अत्यधिक प्रसन्नता प्रकट की थी। ग्रन्थका सर्वत्र समादर हुआ और उसकी समस्त प्रतियाँ हाथोंहाथ उठ गयी। भारतवर्षके समस्त विश्वविद्यालयोंकी लाइब्रेरियोंके लिए यह संग्रहणीय ग्रन्थ विद्वत्परिषद्की ओरसे निःशुल्क भेंट किया गया। उसके उत्तरमें विश्वविद्यालयोंके प्रबन्धकोंने जो धन्यवादपत्र दिये, उनमें उन्होंने उस ग्रन्थरत्नको प्राप्तकर बड़ा हर्ष प्रकट किया था।

वर्तमानमें चल रहे श्री १००८ भगवान् महावीरके २५०० वें निर्वाण-महोत्सवके उपलक्ष्यमें भी विद्वत्परिषद्की कार्यकारिणीने **'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा'** नामक ग्रन्थ प्रकाशित करनेका निश्चय किया और इसके लेखनका भार विद्वत्परिषद्के उपाध्यक्ष और बहुमुखी प्रतिभाके धनी श्री नेमिचन्द्रजी ज्योतिषाचार्य, एम०ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०, अध्यक्ष, संस्कृत-प्राकृत विभाग एच० डी० जैन कालेज आराको दिया गया। सम्माननीय डाक्टर साहबने इस ग्रन्थके लेखनमें चार-पाँच वर्ष अकथनीय परिश्रम किया है। परन्तु खेद है कि वे अपनी इस महनीय कृतिको अपने जीवन-कालमें प्रकाशित न देख सके। गत जनवरी ७४ में उनके दिवंगत होनेका समाचार देशभरमें संतप्त हृदयसे सुना गया।

यह महान् ग्रन्थ चार भागोंमें सम्पूर्ण हुआ है। इसके प्रकाशनके लिए विद्वत्परिषद्के पास अर्थकी व्यवस्था नगण्य थी। परन्तु विद्वत्परिषद्के अध्यक्ष डॉक्टर दरबारीलालजी कोठियाने इसके अग्रिम ग्राहक बनानेकी योजना प्रस्तुत की, जिसे समाजने बड़े उत्साहके साथ स्वीकृत किया। श्री १०८ पूज्य विद्यानन्दजी महाराजने भी अपने शुभाशीर्वादसे इसके प्रकाशनका मार्ग प्रशस्त किया। यह प्रकट करते हुए प्रसन्नता होती है कि इसके सातसौ ग्राहक अग्रिम मूल्य देकर बन गये। ग्रन्थके चारों भागोंका मूल्य ८५) है। परन्तु अग्रिम ग्राहक बननेवालोंको यह ग्रन्थ ६१) में देनेका निर्णय किया गया।

ग्रन्थका आभ्यन्तर-परिचय डॉक्टर दरबारीलालजी कोठिया द्वारा लिखे आमुख तथा ग्रन्थकी विषय-सूचीसे स्पष्ट है।

इस ग्रन्थके संपादन और प्रकाशन तथा अर्थके संग्रहमें विद्वत्परिषद्के अध्यक्ष

श्रीमान् डॉ० दरबारीलालजी कोठिया, न्यायाचार्य, एम० ए०, पी-एच०-डी०, पूर्व रीडर जैन-बौद्धदर्शनविभाग, हिन्दू-विश्वविद्यालय, वाराणसीको महान् परिश्रम करना पड़ा है, प्रेसकी दौड़धूप और प्रूफका देखना आदि कार्य आपने जिस निस्पृह भाव, लगन और निष्ठासे संपन्न किये हैं वह श्लाघ्य है। आपकी इस महनीय सेवाके लिए मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

पूज्य मुनिश्री विद्यानन्दजीने ग्रन्थपर आशीर्वचनके रूपमे बहुमूल्य 'आद्य मिताक्षर' लिखकर हमें कृतार्थ किया, इसके लिए हम उनके प्रति विनत हैं। सिद्धान्ताचार्य श्रीमान् प० कैलाशचन्द्रजी वाराणसीने अपना महत्त्वपूर्ण 'प्रावकथन' लिखनेकी कृपा की, अत उनके भी अतिकृतज्ञ हैं।

श्री बाबूलालजी फागुल्ल, सचालक महावीर-प्रेसने बड़ी सुन्दरतासे इसका प्रकाशन किया है, इसके लिए वे धन्यवादके पात्र हैं।

अग्रिम मूल्य भेजकर जिन ग्राहकोने हमारी प्रकाशन-व्यवस्थाको सुकर बनाया है उनके प्रति मैं नम्र आभार प्रकट करता हूँ। ग्रन्थकी तैयार पाण्डुलिपिके वाचनमे श्रीमान् सिद्धान्ताचार्य प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, डॉ० दरबारीलालजी कोठिया, डॉ० ज्योतिप्रसादजी लखनऊ, आदि विद्वानोने जो समय और सुझाव दिये हैं उनके प्रति भी मैं सविनय आभार प्रकट करता हूँ।

अन्तमे प्रकाशन-सम्बन्धी अशुद्धियोके लिए क्षमा-याचना करता हुआ आकाक्षा करता हूँ कि भगवान् महावीरके २५०० वें निर्वाण-महोत्सवकी पुण्य-वेलामे इस ग्रन्थका घर-घरमे प्रचार हो और जन-मानस भगवान् महावीरके सिद्धान्तोसे सुपरिचित हो।

विनीत
पन्नालाल जैन
मत्री
भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्
सागर

सागर
९-७-१९७४

आद्य मिताक्षर

'परम्परा' शब्द अपना विशेष महत्त्व रखता है और विश्वके कण-कणसे सम्बन्धित है। परम्पराका इतिहास लेखबद्ध करना वैसे ही कठिन कार्य है, फिर श्रमण-परम्पराका इतिहास तो सर्वथा ही दुरूह है। प्रसंगमे जहाँ 'परम्परा' शब्द सद्-आगम और सद्गुरुओका बोधक है, वहाँ यह प्रामाणिकताका द्योतक भी है। परम्परागत आगम और गुरुओको सर्वत्र प्रथम स्थान है। इसीलिए 'आचार्यगुरुभ्यो नम' के स्थान पर 'परम्पराचार्यगुरुभ्यो नम.' का प्रचलन है। लोकमे आज भी यह परम्परा प्रचलित है। जैसे गृहस्थोके विवाह आदि सस्कारोमे परम्परा (गोत्रादि) का प्रश्न उठता है, वैसे ही मुनियोके सबधमे भी उनकी गुरु-परम्पराका ज्ञान आवश्यक है।

भारतमे मुनि-परम्परा और ऋषि-परम्परा ये दो परम्पराएँ प्राचीनकालसे रही हैं। ऐतिहासिक दृष्टिसे प्रथम परम्पराका सबध आत्मधर्मा श्रमणोसे रहा है श्रमणमुनि मोक्षमार्गके उपदेष्टा रहे हैं। द्वितीय परम्पराका संबध लोक-धर्मसे रहा है ऋषिगण गृहस्थोके षोडश सस्कारादि सम्पन्न कराते रहे हैं। ऋषियोको जब आत्मधर्मज्ञानकी बुभुक्षा जाग्रत हुई, वे श्रमणमुनियोके समीप जिज्ञासाकी पूर्ति एव मार्गदर्शनके लिए पहुँचते रहे।[1]

स्व० डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री द्वारा रचित ग्रन्थ '**तीर्थङ्कर महावीर और उनकी परम्परा**' मे श्रमण मुनि-परम्पराका तथ्यपूर्ण इतिहास है। वस्तुत.

१. वातरशना ह वा ऋषय श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनो बभूवुस्तानृषयोऽर्थमायंस्तेऽनिलाय-मचरस्तेऽनुप्रविशुः कूष्माण्डानि तास्तेष्वन्वविन्दन श्रद्धया च तपसा च। तानृषयो-ऽब्रुवन कया निलाय चरथेति ते ऋषीनब्रुवन्नमोवोऽस्तु भगवन्तोऽस्मिन् धाम्नि केन व सपर्यामेति तानृषयोऽब्रुवन पवित्र नो ब्रूत येनोरेपस स्यामेति त एतनि सूक्तान्यपश्यन्।'

तैत्तिरीय आरण्यक २ प्रपाठक ७ अनुवाक, १-२

'वातरशन श्रमण-ऋषि ऊर्ध्वमन्थी (परमात्मपदकी ओर उत्क्रमण करनेवाले) हुए। उनके समीप इतर ऋषि प्रयोजनवश (याचनार्थ) उपस्थित हुए। उन्हे देखकर वातरशन कूष्माण्डनामक मन्त्रवाक्योमें अन्तर्हित हो गए, तब उन्हे अन्य ऋषियोने श्रद्धा और तपसे प्राप्त कर लिया। ऋषियोने उन वातरशन मुनियोसे प्रश्न किया किस विद्यासे आप अन्तर्हित हो जाते हैं? वातरशन मुनियोने उन्हें अपने अध्यात्म धामसे आए हुए अतिथि जानकर कहा हे मुनिजनो! आपको नमोऽस्तु हैं, हम आपकी सपर्या (सत्कार) किससे करें? ऋषियोने कहा हमे पवित्र आत्मविद्याका उपदेश दीजिए, जिससे हम निष्पाप हो जाएँ।

इतिहासकी रचनाके लिए तथ्यज्ञान आवश्यक है। यत

इतिहास इतीष्ट तद् इति हासीदिति श्रुते ।
इतिवृत्तमथैतिह्यमाम्नाय चामनन्ति तत् ॥

आचार्य श्रीजिनसेन, आदिपुराण, १।२५

'इतिहास, इतिवृत्त, ऐतिह्य और आम्नाय समानार्थक शब्द हैं। 'इति ह आसीत' (निश्चय ऐसा ही था), 'इतिवृत्तम्' (ऐसा हुआ घटित हुआ) तथा परम्परासे ऐसा ही आम्नात है इन अर्थोमे इतिहास है।

इतिहास दीपकतुल्य है। वस्तुके कृष्ण-श्वेतादि यथार्थ रूपको जैसे दीपक प्रकाशित करता है, वैसे इतिहास मोहके आवरणका नाशकर, भ्रान्तियोको दूर करके सत्य सर्वलोक द्वारा धारण की जानेवाली यथार्थताका प्रकाशन करता है। अर्थात् दीपकके प्रकाशसे पूर्व जैसे कक्षमे स्थित वस्तुएँ विद्यमान रहते हुए भी प्रकाशित नही होती, वैसे ही सम्पूर्ण लोक द्वारा धारण किया गया गर्भभूत सत्य इतिहासके विना सुव्यक्त नही होता।[1]

प्रस्तुत ग्रन्थके अवलोकनसे स्पष्ट हो जाता है कि विद्वान्की लेखनीमे बल और विचारोमे तर्कसंगतता है। समाज इनकी अनेक कृतियोका मूल्याकन कर चुका है भलीभाँति सम्मानित कर चुका है। प्रस्तुत कृतिसे जहाँ पाठकोको स्वच्छ श्रमण-परम्पराका परिज्ञान होगा, वहाँ ग्रन्थमे दिये गये टिप्पणोसे उनके ज्ञानमे प्रामाणिकता भी आवेगी। श्रमण-परम्पराके अतिरिक्त इस ग्रन्थमे श्रमणो-की मान्यताओ एव जैन सिद्धान्तोका भी सफल निरूपण किया गया है। यह ग्रन्थ सभी प्रकारसे अपनेमे परिपूर्ण एव लेखककी ज्ञान-गरिमाको इङ्गित करनेमे समर्थ है।

यहाँ लेखकके अभिन्न मित्र डॉ० दरबारीलाल कोठियाजीके प्रस्तुत ग्रन्थके प्रकाशनमे किए गए सत्प्रयत्नोको भी विस्मृत नही किया जा सकता है, जिनके द्वारा हमे प्रस्तुत ग्रन्थके लिए कुछ शब्द लिखनेका आग्रहयुक्त निवेदन प्राप्त हुआ। विद्वत्परिषद्का यह प्रकाशन-कार्य परिषद्के सर्वथा अनुरूप है। ऐसे सत्कार्य-के लिए भी हमारे शुभाशीर्वाद !

विद्यानन्द मुनि

१. इतिहास-प्रदीपेन मोहावरणघातिना ।
सर्वलोकवृतं गर्भं यथावत् सप्रकाशयेत् ॥
—महाभारत

प्राक् कथन

भारतवर्षका क्रमवद्ध इतिहास वुद्ध और महावीरसे प्रारम्भ होता है। इनमेसे प्रथम बौद्धधर्मके सस्थापक थे, तो द्वितीय थे जैनधर्मके अन्तिम तीर्थंकर। 'तीर्थंकर' शब्द जैनधर्मके चौवीस प्रवर्त्तकोके लिए रूढ जैसा हो गया है, यद्यपि है यह यौगिक ही। धर्मरूपी तीर्थके प्रवर्त्तकको ही तीर्थंकर कहते हैं। आचार्य समन्तभद्रने पन्द्रहवें तीर्थकर धर्मनाथकी स्तुतिमे उन्हे 'धर्मतीर्थमनघ प्रवर्तयन्' पदके द्वारा धर्मतीर्थका प्रवर्त्तक कहा है। भगवान महावीर भी उसी धर्मतीर्थके अन्तिम प्रवर्त्तक थे और आदि प्रवर्त्तक थे भगवान् ऋषभदेव। यही कारण है कि हिन्दू पुराणोमे जैनधर्मकी उत्पत्तिके प्रसगसे एकमात्र भगवान् ऋषभदेवका ही उल्लेख मिलता है किन्तु भगवान् महावीरका सकेत तक नही है जव उन्हीके समकालीन वुद्धको विष्णुके अवतारोमे स्वीकार किया गया है। इसके विपरीत त्रिपिटक साहित्यमे निग्गठनाटपुत्तका तथा उनके अनुयायी निर्ग्रन्थोका उल्लेख वहुतायतसे मिलता है। उन्हीको लक्ष्य करके स्व० डॉ० हर्मान याकोवीने अपनी जैन सूत्रोकी प्रस्तावनामे लिखा है 'इस बातसे अव सव सहमत हैं कि नातपुत्त, जो महावीर अथवा वर्धमानके नामसे प्रसिद्ध हैं, वुद्धके समकालीन थे। बौद्धग्रन्थोमे मिलनेवाले उल्लेख हमारे इस विचारको दृढ करते हैं कि नातपुत्तसे पहले भी निर्ग्रन्थोका, जो आज जैन अथवा आर्हत नामसे अधिक प्रसिद्ध हैं, अस्तित्व था। जव बौद्धधर्म उत्पन्न हुआ तव निर्ग्रन्थोका सम्प्रदाय एक वडे सम्प्रदायके रूपमे गिना जाता होगा। बौद्ध पिटकोमे कुछ निर्ग्रन्थोका वुद्ध और उनके शिष्योके विरोधीके रूपमे और कुछका वुद्धके अनुयायी वन जानेके रूपमे वर्णन आता है। उसके ऊपरसे हम उक्त अनुमान कर सकते है। इसके विपरीत इन ग्रन्थोमे किसी भी स्थानपर ऐसा कोई उल्लेख या सूचक वाक्य देखनेमे नही आता कि निर्ग्रन्थोका सम्प्रदाय एक नवीन सम्प्रदाय है और नातपुत्त उसके सस्थापक हैं। इसके ऊपरसे हम यह अनुमान कर सकते हैं कि वुद्धके जन्मसे पहले अति प्राचीन कालसे निर्ग्रन्थोका अस्तित्व चला आता है।"

अन्यत्र डॉ० याकोवीने लिखा है 'इसमे कोई भी सवूत नही है कि पार्श्वनाथ जैनधर्मके संस्थापक थे। जैन परम्परा प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवको जैन धर्मका सस्थापक माननेमे एकमत है। इस मान्यतामे ऐतिहासिक सत्यकी सम्भावना है।'

प्रसिद्ध दार्शनिक डॉ० राधाकृष्णन्ने अपने 'भारतीय दर्शन' मे कहा है 'जैन परम्परा ऋषभदेवसे अपने धर्मकी उत्पत्ति होनेका कथन करती है, जो बहुत-सी शताब्दियो पूर्व हुए हैं। इस बातके प्रमाण पाये जाते हैं कि ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दीमे प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवकी पूजा होती थी। इसमें कोई सन्देह नही है कि जैनधर्म वर्धमान और पार्श्वनाथसे भी पहले प्रचलित था। यजुर्वेद-मे ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थंकरोके नामोका निर्देश है। भागवत पुराण भी इस बातका समर्थन करता है कि ऋषभदेव जैनधर्मके संस्थापक थे।'

यथार्थमे वैदिकोकी परम्पराकी तरह श्रमणोकी भी परम्परा अति प्राचीन कालसे इस देशमे प्रवर्तित है। इन्ही दोनो परम्पराओके मेलसे प्राचीन भारतीय संस्कृतिका निर्माण हुआ है। उन्ही श्रमणोकी परम्परामे भगवान महावीर हुए थे। बुद्धकी तरह वे भी एक क्षत्रिय राजकुमार थे। उन्होने भी घरका परि-त्याग करके कठोर साधनाका मार्ग अपनाया था। यह एक विचित्र बात है कि श्रमण परम्पराके इन दो प्रवर्त्तकोकी तरह वैदिक परम्पराके अनुयायी हिन्दू-धर्ममे मान्य राम और कृष्ण भी क्षत्रिय थे। किन्तु उन्होने गृहस्थाश्रम और राज्यासनका परित्याग नही किया। यही प्रमुख अन्तर इन दोनो परम्पराओमे है। कृष्ण भी योगी कहे जाते हैं किन्तु वे कर्मयोगी थे। महावीर ज्ञानयोगी थे। कर्मयोग और ज्ञानयोगमे अन्तर है। कर्मयोगीकी प्रवृत्ति बाह्याभिमुखी होती है और ज्ञानयोगीकी आन्तराभिमुखी। कर्मयोगीको कर्ममे रस रहता है और ज्ञानयोगीको ज्ञानमे। ज्ञानमे रस रहते हुए कर्म करनेपर भी कर्मका कर्त्ता नही कहा जाता। और कर्ममे रस रहते हुए कर्म नही करनेपर भी कर्मका कर्त्ता कहलाता है। कर्म प्रवृत्तिरूप होता है और ज्ञान निवृत्तिरूप। प्रवृत्ति और निवृत्तिकी यह परम्परा साधनाकालमे मिली-जुली जैसी चलती है किन्तु ज्यो-ज्यो निवृत्ति बढती जाती है प्रवृत्तिका स्वत ह्रास होता जाता है। इसी-को आत्मसाधना कहते है।

यथार्थमे विचार कर देखें प्रवृत्तिके मूल मन, वचन और काय हैं। किन्तु आत्माके न मन है, न वचन है और न काय है। ये सब तो कर्मजन्य उपाधियाँ हैं। इन उपाधियोमे जिसे रस है वह आत्मज्ञानी नही है। जो आत्मज्ञानी हो जाता है उसे ये उपाधियाँ व्याधियाँ ही प्रतीत होती हैं।

इनका निरोध सरल नही है। किन्तु इनका निरोध हुए बिना प्रवृत्तिसे छुटकारा भी सम्भव नही है। उसीके लिए भगवान महावीरने सब कुछ त्याग कर वनका मार्ग लिया था। संसार-मार्गियोकी दृष्टिमे भले ही यह 'पलायनवाद' प्रतीत हो, किन्तु इस पलायनवादको अपनाये बिना निर्वाण-प्राप्तिका दूसरा

मार्ग भी नही है। भोगी और योगीका मार्ग एक कैसे हो सकता है। तभी तो गीतामें कहा है

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

'सब प्राणियोके लिए जो रात है उसमे सयमी जागता है और जिसमे प्राणी जागते हैं वह आत्मदर्शी मुनिकी रात है।'

इस प्रकार भोगी ससारसे योगीके दिन-रात भिन्न होते है। संयमी महावीर-ने भी आत्म-साधनाके द्वारा कार्तिक कृष्णा अमावस्याके प्रात· सूर्योदयसे पहले निर्वाण-लाभ किया। जैनोके उल्लेखानुसार उसीके उपलक्षमे दीपमालिकाका आयोजन हुआ और उनके निर्वाण-लाभको पच्चीस सौ वर्ष पूर्ण हुए। उसीके उपलक्षमे विश्वमे महोत्सवका आयोजन किया गया है।

उसीके स्मृतिमे **'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा'** नामक यह बृहत्काय ग्रन्थ चार खण्डोमे प्रकाशित हो रहा है। इसमे भगवान महावीर और उनके बादके पच्चीस-सौ वर्षोमे हुए विविध साहित्यकारोका परिचयादि उनकी साहित्य-साधनाका मूल्याकन करते हुए विद्वान् लेखकने निबद्ध किया है। उन्होने इस ग्रन्थके लेखनमे कितना श्रम किया, यह तो इस ग्रन्थको आद्योपान्त पढनेवाले ही जान सकेंगे। मेरे जानतेमे प्रकृत विषयसे सम्बद्ध कोई ग्रन्थ, या लेखादि उनकी दृष्टिसे ओझल नही रहा। तभी तो इस अपनी कृतिको समाप्त करनेके पश्चात् ही वे स्वर्गत हो गये और इसे प्रकाशमे लानेके लिए उनके अभिन्न सखा डॉ० कोठियाने कितना श्रम किया है, इसे वे देख नही सके। **'भगवान महावीर और उनकी आचार्यपरम्परा'मे लेखकने अपना जीवन उत्सर्ग करके जो श्रद्धाके सुमन चढ़ाये हैं उनका मूल्यांकन करनेकी क्षमता इन पंक्तियोके लेखकमे नहीं है। वह तो इतना ही कह सकता है कि आचार्य नेमिचन्द्र शास्त्रीने अपनी इस कृतिके द्वारा स्वयं अपनेको भी उस परम्परामे सम्मिलित कर लिया है।**

उनकी इस अध्ययनपूर्ण कृतिमे अनेक विचारणीय ऐतिहासिक प्रसग आये हैं। भगवान महावीरके समय, माता-पिता, जन्मस्थान आदिके विषयमे तो कोई मतभेद नही है। किन्तु उनके निर्वाणस्थानके सम्बन्धमे कुछ समयसे विवाद् खडा हो गया है। मध्यमा पावामे निर्वाण हुआ, यह सर्वसम्मत उल्लेख है। तदनुसार राजगृहीके पास पावा स्थानको ही निर्वाणभूमिके रूपमे माना जाता है। वहाँ एक तालाबके मध्यमे विशाल मन्दिरमे उनके चरण-

चिन्ह स्थापित हैं। यह स्थान मगधमें है। दूसरी पावा उत्तर प्रदेशके देवरिया जिलेमे कुशीनगरके समीप है। डॉ० शास्त्रीने मगधवर्ती पावाको ही निर्वाण-भूमि माना है।

बिम्बसार श्रेणिक भगवान महावीरका परम भक्त था। उसकी मृत्यु डॉ० शास्त्रीने भगवान महावीरके निर्वाणके बाद मानी है, उन्हे ऐसे उल्लेख मिले है। किन्तु यह ऐतिहासिक प्रसग विचारणीय हैं।

उन्होने जैन तत्त्व-ज्ञानका भी बहुत विस्तारसे विवेचन किया है और प्राय सभी आवश्यक विषयोपर प्रकाश डाला है। दूसरा, तीसरा तथा चौथा खण्ड तो एक तरहसे जैनसाहित्यका इतिहास जैसा है। सक्षेपमे उनकी यह बहुमूल्य कृति अभिनन्दनीय है। आशा है इसका यथेष्ट समादर होगा।

कैलाशचन्द्र शास्त्री

●

आमुख

भारतीय संस्कृतिमे आर्हत संस्कृतिका प्रमुख स्थान है। इसके दर्शन, सिद्धात, धर्म और उसके प्रवर्त्तक तीर्थंकरो तथा उनकी परम्पराका महत्वपूर्ण अवदान है। आदि तीर्थंकर ऋषभदेवसे लेकर अन्तिम चौबीसवे तीर्थंकर महावीर[1] और उनके उत्तरवर्ती आचार्योंने अध्यात्म-विद्याका, जिसे उपनिषद्-साहित्यमे[2] 'परा विद्या' (उत्कृष्ट विद्या) कहा गया है, सदा उपदेश दिया और भारतकी चेतनाको जागृत एव ऊर्ध्वमुखी रखा है। आत्माको परमात्माकी ओर ले जाने तथा शाश्वत सुखकी प्राप्तिके लिए उन्होने[3] अहिसा, इन्द्रियनिग्रह, त्याग और समाधि (आत्मलीनता) का स्वय आचारण किया और पश्चात् उनका दूसरोको उपदेश दिया। सम्भवत इसीसे वे अध्यात्म-शिक्षादाता और श्रमण-सस्कृतिके प्रतिष्ठाता कहे गये हैं। आज भी उनका मार्गदर्शन निष्कलुष एवं उपादेय माना जाता है।

तीर्थंकर महावीर इस संस्कृतिके प्रबुद्ध, सबल, प्रभावशाली और अन्तिम प्रचारक थे। उनका दर्शन, सिद्धान्त, धर्म और उनका प्रतिपादक वाङ्मय विपुल मात्रामे आज भी विद्यमान है तथा उसी दिशामे उसका योगदान हो रहा है।

अतएव बहुत समयसे अनुभव किया जाता रहा है कि तीर्थंकर महावीरका सर्वाङ्गपूर्ण परिचायक ग्रन्थ होना चाहिए, जिसके द्वारा सर्वसाधारणको उनके जीवनवृत्त, उपदेश और परम्पराका विशद परिज्ञान हो सके। यद्यपि भगवान् महावीरपर प्राकृत, सस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दीमे लिखा पर्याप्त साहित्य उपलब्ध है, पर उससे सर्वसाधारणकी जिज्ञासा शान्त नही होती।

सौभाग्यकी बात है कि राष्ट्रने तीर्थङ्कर वर्द्धमान-महावीरकी निर्वाण-रजतशती राष्ट्रीय स्तरपर मनानेका निश्चय किया है, जो आगामी कार्त्तिक कृष्णा अमावस्या वीर-निर्वाण सवत् २५०१, दिनाङ्क १३ नवम्बर १९७४ से कार्तिक

१ धर्मतीर्थकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमोनमः।
ऋषभादि-महावीरान्तेभ्य स्वात्मोपलब्धये॥

भट्टाकलङ्कदेव, लघीयस्त्रय, मङ्गलपद्य १।

२ मुण्डकोपनिषद् १।१।४।५।

३ स्वामी समन्तभद्र, युक्त्यनुशासन का० ६।

कृष्णा अमावस्या, वीर-निर्वाण संवत् २५०२, दिनाङ्क १३ नवम्बर १९७५ तक पूरे एक वर्ष मनायी जावेगी। यह मङ्गल-प्रसङ्ग भी उक्त ग्रन्थ-निर्माणके लिए उत्प्रेरक रहा।

अतः अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्ने पाँच वर्ष पूर्व इस महान् दुर्लभ अवसरपर तीर्थंकर महावीर और उनके दर्शनसे सम्बन्धित विशाल एवं तथ्यपूर्ण ग्रन्थके निर्माण और प्रकाशनका निश्चय तथा संकल्प किया। परिषद्ने इसके हेतु अनेक बैठकें की और उनमें ग्रन्थकी रूपरेखापर गम्भीरतासे ऊहापोह किया। फलतः ग्रन्थका नाम **'तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा'** निर्णीत हुआ और लेखनका दायित्व विद्वत्परिषद्के तत्कालीन अध्यक्ष, अनेक ग्रन्थोंके लेखक, मूर्धन्य-मनीषी, आचार्य नेमिचन्द्र शास्त्री आरा (बिहार) ने सहर्ष स्वीकार किया। आचार्य शास्त्रीने पाँच वर्ष लगातार कठोर परिश्रम, अद्भुत लगन और असाधारण अध्यवसायसे उसे चार खण्डों तथा लगभग २००० (दो हजार) पृष्ठोंमें सृजित करके ३० सितम्बर १९७३ को विद्वत्परिषद्को प्रकाशनार्थ दे दिया।

विचार हुआ कि समग्र ग्रन्थका एक बार वाचन कर लिया जाय। आचार्य शास्त्री स्याद्वाद महाविद्यालयकी प्रबन्धकारिणीकी बैठकमें सम्मिलित होनेके लिए ३० सितम्बर १९७३ को वाराणसी पधारे थे। और अपने साथ उक्त ग्रन्थके चारों खण्ड लेते आये थे। अतः १ अक्तूबर १९७३ से १५ अक्तूबर १९७३ तक १५ दिन वाराणसीमें ही प्रतिदिन प्रायः तीन समय तीन-तीन घण्टे ग्रन्थका वाचन हुआ। वाचनमें आचार्य शास्त्रीके अतिरिक्त सिद्धान्ताचार्य श्रद्धेय पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री पूर्व प्रधानाचार्य स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी, डॉक्टर ज्योतिप्रसादजी लखनऊ और हम सम्मिलित रहते थे। आचार्य शास्त्री स्वयं वाचते थे और हमलोग सुनते थे। यथावसर आवश्यकता पड़ने पर सुझाव भी दे दिये जाते थे। यह वाचन १५ अक्तूबर १९७३ को समाप्त हुआ और १६ अक्तूबर १९७३ को ग्रन्थ प्रकाशनार्थ महावीर प्रेसको दे दिया गया।

ग्रन्थ-परिचय

इस विशाल एवं असामान्य ग्रन्थका यहाँ संक्षेपमें परिचय दिया जाता है, जिससे ग्रन्थ कितना महत्त्वपूर्ण है और लेखकने उसके साथ कितना अमेय परिश्रम किया है, यह सहजमें ज्ञात हो सकेगा।

यहाँ द्वितीय खण्ड का परिचय प्रस्तुत है

श्रुतधराचार्य और सारस्वताचार्य

तीर्थंकर महावीरके सिद्धान्तों और वाङ्मयका अवधारण एवं संरक्षण उनके उत्तरवर्ती श्रमणों और उपासकोंने किया है। इस महान् कार्यमें विगत

२५०० वर्षोंमे लाखो श्रमणो तथा उपासकोका योगदान रहा है। उन्हीके त्याग और साधनाके फलस्वरूप भगवान् महावीरके सिद्धान्त और वाङ्मय न्यूनाधिक रूपमे हमे प्राप्त हैं। तीर्थक्षेत्र, मन्दिर, मूर्तियाँ, ग्रन्थागार, स्मारक आदि सास्कृतिक विभव उन्हीके अटूट प्रयत्नोसे आज सरक्षित है। इन सबका उल्लेख करनेके लिए विपुल सामग्रीकी आवश्यकता है, जो या तो विलुप्त हो गयी या नष्ट हो गयी या विस्मृतिके गर्तमे चली गयी है। जो अवशिष्ट वाङ्मय, शिलालेख और इतिहास हमें सौभाग्यसे उपलब्ध है उन्हीपरसे तीर्थंकर महावीरकी उत्तराधिकारिणी परम्पराकी अवगति सम्भव है।

डॉक्टर शास्त्रीने इस उपलब्ध सामग्रीका आलोडन-विलोडन करके जिन आचार्यों और उनके वाङ्मयका परिचय प्राप्त किया है उन्हे तीन खण्डोमे विभक्त किया है। इन्ही खण्डोका यहाँ परिचय प्रस्तुत है।

दूसरा खण्ड '**श्रुतधराचार्य और सारस्वताचार्य**' है। इस खण्डमे दो परिच्छेद हैं १ श्रुतधराचार्य और २ सारस्वताचार्य।

प्रथम परिच्छेद : श्रुतधराचार्य

इस परिच्छेदमे श्रुतधराचार्योंका परिचय निबद्ध है। श्रुतधराचार्यसे लेखकका अभिप्राय उन आचार्योंसे है, जिन्होने सिद्धान्त-साहित्य, कर्म-साहित्य, अध्यात्म-साहित्यका ग्रथन किया है और जो युग-सस्थापक एव युगान्तरकारी हैं। इन आचार्योंमे गुणधर, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि, यतिवृषभ, उच्चारणाचार्य, आर्यमक्षु, नागहस्ति, कुन्दकुन्द, वप्पदेव और गृद्धपिच्छाचार्य अभिप्रेत हैं। आरम्भमे आचार्यका स्वरूप, आचार्यका महावीरके वाङ्मयके साथ सम्बन्ध, श्रुतका वर्ण्य विषय, उसके भेद-प्रभेद एव उनका सामान्य परिचय अङ्कित है। श्रुतके धारक आचार्योंकी परम्परामे आद्य आचार्य गुणधर और धरसेनके व्यक्तित्व, समय-निर्धारण एव वैदुष्यपर प्रकाश डालते हुए गुणधराचार्य द्वारा रचित 'कसायपाहुड'का तथा धरसेनाचार्यके साक्षाच्छिष्य पुष्पदन्त एव भूतबलि और उनके 'षट्खण्डागम'का विस्तृत परिचय दिया गया है। आर्यमक्षु, नागहस्ति, वज्र, वज्रयश, चिरन्तनाचार्य, यतिवृषभ, उच्चारणाचार्य और कुन्दकुन्दाचार्यके व्यक्तित्व, कृतित्व और समय-निर्णय आदि पर विशेष विचार करते हुए कुन्दकुन्दके उपलब्ध ग्रन्थोका विशद परिचय दिया गया है। परिच्छेदके अन्तमें शिवार्य, स्वामिकुमार और आचार्य गृद्धपिच्छ तथा इनकी रचनाओका परिशीलन निबद्ध है।

द्वितीय परिच्छेद सारस्वताचार्य

इसमे श्रुतधराचार्य और सारस्वताचार्यकी भेदक रेखाओका अङ्कन करते हुए स्वामी समन्तभद्र, सिद्धसेन, देवनन्दि-पूज्यपाद, पात्रकेसरी (पात्रस्वामी), जोइंदु,

विमलसूरि, ऋषिपुत्र, मानतुङ्ग, रविषेण, जटासिंहनन्दि, एलाचार्य, अकलङ्क-देव, वीरसेन, जिनसेन द्वितीय, अमितगति प्रथम, अमितगति द्वितीय, अमृत-चन्द्रसूरि, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, नरेन्द्रसेन, नेमिचन्द्र मुनि, श्रीदत्त, कुमार-सेन, यशोभद्र, वज्रसूरि, शान्तिषेण, श्रीपाल, काणभिक्षु और कनकनन्दिका जीवनवृत्त, गुरुपरम्परा, समय-निर्णय और रचनाओंका विशद परिचय अङ्कित है। इसी परिच्छेदमें सिंहनन्दि, सुमति, कुमारनन्दि, विद्यानन्द आदि आचार्यों-का भी परिचय ग्रथित है। इन्हें लेखकने सारस्वताचार्योंमें परिगणित किया है। सारस्वताचार्यसे लेखकका तात्पर्य उन आचार्योंसे है, जिन्होंने प्राप्त हुई श्रुतपरम्पराका मौलिक ग्रन्थ-प्रणयन और टीका-साहित्य द्वारा प्रचार एवं प्रसार किया है।

इस प्रकार इस खण्डमें श्रुतधराचार्य और सारस्वताचार्य वर्णित हैं। उनके द्वारा रचित वाङ्मय भी विवेचित है।

आभार

इस विशाल ग्रन्थके सृजन और प्रकाशनका विद्वत्परिषद्ने जो निश्चय एवं संकल्प किया था, उसकी पूर्णता पर आज हमें प्रसन्नता है। इस संकल्पमें विद्वत्परिषद्के प्रत्येक सदस्यका मानसिक या वाचिक या कायिक सहभाग है। कार्यकारिणीके सदस्योंने अनेक बैठकोंमें सम्मिलित होकर मूल्यवान् विचार-दान किया है। ग्रन्थ-वाचनमें श्रद्धेय पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री और डॉ० ज्योति-प्रसादजीका तथा ग्रन्थको उत्तम बनानेमें स्थानीय विद्वान् प्रो० खुशालचन्द्रजी गोरावाला, पण्डित अमृतलालजी शास्त्री एवं पण्डित उदयचन्द्रजी बौद्धदर्शना-चार्यका भी परामर्शादि योगदान मिला है।

पूज्य मुनिश्री विद्यानन्दजीने 'आद्य मिताक्षर' रूपमें आशीर्वचन प्रदान कर तथा वरिष्ठ विद्वान् श्रद्धेय पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने 'प्राक्कथन' लिखकर अनुगृहीत किया है।

खतौली, भोपाल, बम्बई, दिल्ली, मेरठ, जबलपुर, तेंदूखेड़ा, सागर, वाराणसी, आरा आदि स्थानोंके महानुभावोंने ग्रन्थका अग्रिम ग्राहक बनकर सहायता पहुँचायी है। विद्वत्परिषद्के कर्मठ मंत्री आचार्य पण्डित पन्नालालजी सागरके साथ मैं भी इन सबका हृदयसे आभार मानता हूँ।

वीर-शासन-जयन्ती,
श्रावण कृष्णा १, वी० नि० सं० २५००,
५ जुलाई, १९७४
वाराणसी

दरबारीलाल कोठिया
अध्यक्ष
अखिल भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्

विषय-सूची

प्रथम परिच्छेद

श्रुतधराचार्य

श्रुतधराचार्य

विषय		पृष्ठ

द्वितीय परिच्छेद

सारस्वताचार्य

विषय पृष्ठ

विषय — पृष्ठ

●

खण्ड : २

श्रुतधर और सारस्वताचार्य

प्रथम परिच्छेद

श्रुतधराचार्य

पट्टावलियो, अभिलेखो एव प्रशस्तियोसे श्रुताराधक आचार्योंकी परम्परा-का परिज्ञान प्राप्त होता है। तीर्थंकर महावीरके निर्वाण-गमनके पश्चात् दिगम्बर आचार्यो ने वाड्मयका प्रणयन कर रत्नत्रय धर्मकी ज्योतिको सतत प्रज्वलित किया। आत्मशोधन और आत्म-आराधनके साथ श्रुतके अखण्ड दीपको सदैव प्रज्वलित रहनेके हेतु परम्परासे प्राप्त ज्ञानराशिको मूर्तरूप देकर सरस्वती-का अवतार प्रस्तुत किया। वस्तुत दिगम्बराचार्योंने महावीरकी परम्पराको जीवित रखनेके लिए अगणित ग्रन्थोका प्रणयनकर अपनी साधनामे गुणात्मक परिवर्तन कर परम्पराको जीवन्त रखा है।

आचार्य स्वरूप एवं विवेचन आचार्यकी परिभाषा और स्वरूपके सम्बन्धमे आर्षग्रन्थोमे जो सामग्री उपलब्ध है, उससे स्पष्ट होता है कि आचार्य-के लिये चतुर्दश विद्याका पारगत एव ग्रन्थ-प्रणेता होना आवश्यक है। वह दिगम्बर रूपमे आत्म-साधना करता हुआ निर्व्याज भावसे श्रुतकी साधना करता है। धवला-टीकामे आचार्य वीरसेनने लिखा है "पञ्चविधमाचार चरन्ति

चारयन्तीत्याचार्यः चतुर्दशविद्यास्थानपारगः एकादशाङ्गधरः। आचाराङ्गधरो वा तात्कालिकस्वसमयपरसमयपारगो वा मेरुरिव निश्चलः क्षितिरिव सहिष्णुः सागर इव बहिः क्षिप्तमलः सप्तभयविप्रमुक्त आचार्यः।"[1]

उपर्युक्त उद्धरणसे स्पष्ट है कि जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य इन पाँच आचारोंका स्वयं आचरण करते हैं और दूसरे साधुओंसे आचरण कराते हैं तथा जो चौदह विद्यास्थानोंमें पारगत हैं, ग्यारह अंगके धारी हैं अथवा आचारांग मात्रके ज्ञाता हैं और तत्कालीन स्वसमय-परसमयमें पारगत हैं, वे आचार्य कहलाते हैं। आचार्य मेरुके समान निश्चल, पृथ्वीके समान सहनशील, समुद्रके समान मल अर्थात् दोषोंको फेंकने वाले अचेलक एवं सप्तभयसे मुक्त होते हैं।

आशय यह है कि जो मुनि सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी अधिकताके कारण प्रधान पदको प्राप्तकर संघके नायक बनते हैं तथा मुख्यरूपसे निर्विकल्प-स्वरूपाचरण चारित्रमें मग्न रहते हैं, पर कभी-कभी धर्म-पिपासु जीवोंको रागांशका उदय होनेके कारण करुणाबुद्धिसे उपदेश देते एवं ग्रन्थोंका प्रणयन करते हैं। जो दीक्षा लेनेके इच्छुक हैं उन्हें दीक्षा देना और दोषनिवेदन करने वालोंको प्रायश्चित्त देना भी आचार्यका कार्य है।

धवला-टीकामें आचार्य वीरसेनने कतिपय गाथाएँ उद्धृत की हैं। उनसे अवगत होता है कि परमागमके परिपूर्ण अभ्यास और अनुभवसे जिनकी बुद्धि निर्मल हो गयी है, जो निर्दोष रीतिसे छः आवश्यकोंका पालन करते हैं, जो मेरुपर्वतके समान निष्कम्प हैं, शूरवीर हैं, सिंहके समान निर्भीक हैं, श्रेष्ठ हैं, देश, कुल और जातिसे शुद्ध हैं, सौम्यमूर्ति हैं, अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहसे रहित हैं, आकाशके समान निर्लेप हैं, ऐसे आचार्य होते हैं। ये दीक्षा और प्रायश्चित्त देते हैं, परमागम अर्थके पूर्णज्ञाता और अपने मूलगुणोंमें निष्ठ रहते हैं।[2]

मूलाचारमें आचार्यके स्वरूपका निरूपण करते हुए बताया है कि चौदह

---

१. षट्खण्डागम, जीवस्थान-सत्प्ररूपणा, पुस्तक १, पृष्ठ ४८

२. पवयण-जलहि-जलोयर-ण्हायामल-बुद्धि-सुद्ध-छावासो।
मेरु व्व णिप्पकंपो सूरो पंचाणणो वज्जो ॥२९॥
देस-कुल-जाइ-सुद्धो सोमंगो संग-भंग उम्मुक्को।
गयण व्व णिरुवलेवो आइरियो एरिसो होई ॥३०॥
संगह-णिग्गह-कुसलो सुत्तत्थ-विसारओ पहिय-कित्ती।
सारण-वारण-साहण किरियुज्जुत्तो हु आइरियो ॥३१॥
धवला-टीका, प्रथम पुस्तक, पृष्ठ ४९।

पूर्वोका ज्ञाता, प्रवचनकर्त्ता एव दीक्षित शिष्योके निमित्त सूत्रार्थको विशद करनेवाले ग्रन्थोका ज्ञाता आचार्य होता है। बताया है

"सिस्साणुग्गह-कुसलो धम्मुवदेसो य सघ-वट्टवओ।
मज्जादुवदेसो वि य गण-परिरक्खो मुणेयव्वो॥
सगहणुग्गह-कुसलो सुत्तत्थ-विसारओ पहिय-कित्ती।
किरिआचरण-सुजुत्तो गाहुय आदेज्जवयणो य॥
गभीरो दुद्धरिसो सूरो धम्मप्पहावणा-सीलो।
खिदि-ससि-सायर-सरिसो कमेण त सो दु सपत्तो॥"[1]

मूलाचारके उक्त उद्धरणसे स्पष्ट है कि आचार्य शिष्योका अनुग्रह, धर्मोपदेश, संघ-प्रवर्त्तन, मर्यादोपदेश एव गणपरिरक्षणका कार्य करते हैं। ये सूत्रार्थके विद्वान् होते हुए उसका विशद विवेचन करनेकी क्षमता रखते है। स्वसमय और परसमयके ज्ञाता होनेके कारण आचार्यकी गणना श्रुतविशेषज्ञोमे की जाती है। परम्परासे प्राप्त सूत्रोके अर्थकी यथार्थ जानकारी आचार्यको रहती है।

मूलाराधनामे[2] आचार्यके स्वरूपका प्रतिपादन करते हुए बताया है कि जो पाँच प्रकारके आचारका अतिचाररहित पालन करता है और शिष्योको आचारागका उपदेश देता है वह आचार्य कहा जाता है। विजयोदयाटीकामे आचार्यशब्दकी व्याख्या करते हुए लिखा है "आयार पचविह पचप्रकारं आचार। चरदि विनातिचार चरति। परं वा निरतिचारे पचविधे आचारे प्रवर्तयति। उवदिसदि य आयार उपदिशति च आचार। एसो आयारव णाम एष आचारवान्नाम। एतदुक्त भवति आचाराग स्वय वेत्ति ग्रंथतोऽर्थतश्च, स्वय पचविधे आचारे प्रवर्त्तते प्रवर्त्तयति च। पचाचारवान् इति। पचविधे स्वाध्याये वृत्तिर्ज्ञानाचार। जीवादितत्त्वश्रद्धानपरिणति दर्शनाचार। हिंसादि-निवृत्तिपरिणतिश्च चारित्राचार। चतुर्विधाहारत्यजन, न्यूनभोजनं, वृत्ते परिसख्यान, रसाना त्याग, कायसतापनं विविक्तवास इत्येवमादिकस्तपःसज्ञित आचार। स्वशक्त्यनिगूहन तपसि वीर्याचार। एते पचविधा आचारा॥"[3]

1 मूलाचार, समाचाराधिकार, फलटन-संस्करण, वीर नि० सवत् २४८४, गाथा ३५, ३७, ३८।

2 आयार पचविह चरदि चरावेदि जो णिरदिचार।
उवदिसदि य आयार एसो आयारवं णाम॥४१९॥

3 मूलाराधना ४१९ गाथाकी विजयोदया टीका। तथा मूलाराधनादर्पणनामक टीकामें उद्धृत श्लोक आचार्यके स्वरूपपर विशेष प्रकाश डालता है
सद्दृग्वीवृत्ततपसा मुमुक्षोर्निर्मलीकृतौ। यत्नो विनय आचारो वीर्याच्छुद्धेषु तु॥

जो सूत्र और अर्थका ज्ञाता है, स्वयं स्वाध्यायमें प्रवृत्त है तथा अन्यको स्वाध्यायमें प्रवृत्त करता है, और जो जीवादि तत्त्वोंका श्रद्धानी है, हिंसादि पंचपापोंसे निवृत्त है, जो व्रतोपवास करनेवाला है, रसोंका परित्यागी है, योग-साधक है, कष्टसहिष्णु है, तपस्वी है, एकान्त स्थानमें रहकर ध्यानादि करनेमें संलग्न है वह आचार्य है। आचार्य श्रुताराधना और तपाराधनाके लिए अपनी शक्तिका पूर्ण उपयोग करता है।

इस प्रकार आर्षग्रन्थोंमें आचार्यके स्वरूप, महत्त्व, कर्त्तव्य एवं साधनामार्ग पर विचार किया गया है। आचार्यके स्वरूप-अध्ययनसे निम्नलिखित निष्कर्ष प्रस्तुत होते हैं:

१. निर्विकल्प स्वरूपाचरणका आराधक।
२. चतुर्वर्ग-विद्याओंमें प्रवीण।
३. आचारांगका ज्ञाता।
४. एकादश अंगोंका पाठी।
५. स्वसमय स्वसिद्धान्तका वेत्ता।
६. परसमय विभिन्न दर्शन-सिद्धान्त और परम्पराओंका ज्ञाता।
७. तत्त्वोपदेशक।
८. शास्त्र-प्रणेता करुणाबुद्धिसे संसारके प्राणियोंके हितार्थ तीर्थंकरवाणी-को लिपिबद्ध कर विभिन्नविषयक ग्रन्थोंका कर्त्ता।
९. श्रेष्ठ देश, कुल और जातिसे शुद्ध।
१० सौम्यमूर्ति।
११. विविध दिशाओंसे प्राप्त अनुभूतियोंको मूर्त्तरूप दे बौद्धिक और भावात्मक विचारधाराओंका व्याख्याता।
१२. समयानुसार उत्पन्न समस्याओंका परम्पराके आलोकमें साधक, बाधक और प्रतिक्रियात्मकरूपमें समाधान प्रस्तुतकर्त्ता।

आचार्य प्राचीन परम्पराओंके परिवेशमें जीवनका अध्ययन करता है। वह स्वयं आदर्श जीवन व्यतीत करते हुए शिष्योंको आदर्श जीवन यापनकी ओर प्रेरित करता है। इस क्रममें जब परिस्थितियोंकी प्रतिक्रिया होने लगती है, तब वह पुरातन धारणाओंको नवीन रूपमें "नद्याः नवघटे जलम्" के समान अभिव्यक्त करता है। जिस प्रकार बीज जबतक कागजकी पुड़ियामें बँधा रहता है, तब तक वह फलता फूलता नहीं। किन्तु जब वही बीज उर्वरा भूमिमें पड़ जलवायुका सम्पर्क प्राप्त करता है, तो उसमें रंग-बिरंगे पुष्प प्रस्फुटित हो जाते हैं। इसी प्रकार आचार्य भी अपनी मौलिक प्रतिभा और साधनाके कारण

समय एव परिस्थिति विशेषमे अपनी मौलिक प्रतिभाको वाणीके माध्यमसे व्यक्त करते हैं। वाङ्मयको प्रेरणा व्यक्तिको ऐसी अनुभूति है जो उसके विशिष्ट अनुभवोसे पोषित होकर समस्त सृष्टिको अपनी परिधिमे आबद्ध कर लेती है। इस प्रकार आचार्य वाङ्मयकी धारणाओको व्यष्टिसे समष्टिमे अवतरित करते हैं। फलत समष्टिका सिद्धान्त व्यष्टिके लिये दिशा दर्शक हो जाता है।

सामान्यत आचार्यके समक्ष परम्पराका सरोवर विद्यमान रहता है। इस सरोवरमे अपनी प्रतिभा द्वारा यथार्थ, यथार्थजन्य सघर्ष, क्रिया-प्रतिक्रियामूलक आदर्श एवं जीवन-साधनाके विभिन्न मार्गो का निर्धारण तथा इस निर्धारणके लिये आवश्यक मानदण्डोके सरसिजका विकास करता है। जितने भी आचार्य दिखलाई पड़ते हैं उन सबने परम्पराको मुखरित करनेके लिये ही वाङ्मयका प्रणयन किया है। यह वाङ्मय अनुभूति, ज्ञान एव चिन्तन इन तीनोके समन्वयका प्रतिफल है। आचार्य वस्तु-जगत्मे पदार्थो और उनकी प्रकृतियोका अध्ययन कर उनके सम्बन्धमे विशिष्ट नियमित शृंखलाका निर्धारण करते हैं। आचार्य विश्लेषण द्वारा ही कार्य-कारणसम्बन्धोका निर्धारण कर जीव, जगत् एव उनके विभिन्न सम्बन्धोंका विवेचन करता है। वह गम्भीर दार्शनिक बन प्रकृतिके रहस्योका उद्घाटन भी करता है। श्रेय और प्रेय इन दोनो कूलोका स्पर्श करता हुआ मानव किस प्रकार प्रेयसे श्रेयकी ओर गतिशील होता है, यह विवेचन भी आचार्यकी लेखनी द्वारा निबद्ध किया जाता है। शब्द और अर्थके योगमे स्वानुभूतिके सत्यकी स्थापना कर आचार्य अभिव्यक्तिको एक नया परिवेश प्रदान करता है। इसके द्वारा की गई वीतराग कथा भी पाठक और श्रोताओको अनुरजित करती है। प्रेरणा देनेका कार्य भी आचार्यकी वाणी द्वारा होता है। अत सक्षेपमे यही कहा जा सकता है कि परम्पराके द्वारा वेष्टित रहने पर भी आचार्य अपने स्वतन्त्र चिन्तनसे युगानुकूल स्वसमय और परसमयकी मर्मस्पर्शी व्याख्याएँ प्रस्तुत करता है। जिस सूत्रार्थ ज्ञानको उसने परम्परासे प्राप्त किया है, उसी ज्ञानको सहज रूपमे व्यक्त कर उद्बोधनका कार्य करता है।

आचार्य और वाङ्मय

आचार्यपरम्पराका कार्य श्रुतज्ञानका सरक्षण है। तीर्थंकरके मुखसे निस्सृत वाणीको सर्वसाधारण तक पहुँचानेका कार्य आचार्यपरम्पराद्वारा ही सम्पन्न होता है। परम्परासे मौखिकरूपमे प्राप्त ज्ञानको लिपिवद्ध रूप देना आचार्य-परम्पराका विशिष्ट कार्य है। पचाचारको आराधना द्वारा आत्मोत्थान करना, शिष्योको दीक्षित और अनुशासित करना एव श्रुतपरम्पराके प्रचार और प्रसारके

लिये कृतसकल्प होना आचार्यकी प्रमुख विशेषता है। वाङ्मयके सृजनका दायित्व आचार्यपरम्पराका ही है। यही परम्परा अगणित वर्षों तक तीर्थंकर प्रवचनको जन-मानसमे प्रविष्ट कराती है। अत आचार्यपरम्पराका दिव्य फल वाङ्मय है।

वाङ्मयके अन्तर्गत मानवके सभी प्रकारके आचार-विचार, भावनाओं, मनोवृत्तियो एव उसके समस्त कार्यकलापोकी गणना की जाती है। दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, सैद्धान्तिक, आध्यात्मिक एव सौन्दर्यबोध-सम्बन्धी धारणाओंका समावेश भी वाङ्मयमे होता है। वाङ्मयका विषय-विस्तार उस वटवृक्षके समान है, जो अनेक तनोंके रूपमे विस्तार पाता है। व्यक्तित्वके निर्माणमे जिस साधनाकी आवश्यकता है, उस साधनाका परिज्ञान भी वाङ्मयके द्वारा ही प्राप्त किया जाता है। मानव परिवेशमे रहकर सस्कारोंका अर्जन करता है और इन अर्जित सस्कारोंसे अपनी क्रिया-प्रतिक्रियाओंकी अभिव्यञ्जना करता है। फलत जीवनके विकास और उत्कर्षमे जिस प्रकारके विचारोंकी आवश्यकता होती है, उन विचारोका ग्रहण भी वाङ्मयके धरातलसे किया जाता है। विश्व और जीवनके प्रतिबिम्बकी यथार्थ अभिव्यञ्जना भी वाङ्मयमे होती है। जबतक भाषाका सुगठित रूप विचारोको प्राप्त नही होता, तबतक वाङ्मयकी अवतारणा सभव नही होती। शब्द और अर्थका परस्परमे ऐसा सम्बन्ध है कि अमूर्त्त अर्थ शब्दोकी मूर्तिमे ही जीवन्त होता है। अतएव जीवन-को आन्दोलित, सचालित और क्रियाशील बनानेके लिये वाङ्मयके निर्माणकी आवश्यकता रहती है।

जैनाचार्यो द्वारा रचित वाङ्मय बहुत विशाल और व्यापक है। इसे आगम की भाषामे श्रुतज्ञान कहा गया है। भगवान् महावीरकी वाणीको हृदयगमकर उनके प्रधान शिष्य गौतम गणधरने बारह अगोमे उस वाणीरूप समस्त वाङ्मय-को निबद्ध किया। अत. वाङ्मयके अर्थकर्त्ता तो स्वय महावीर हैं, पर ग्रन्थकर्त्ता गौतम गणधर हैं। षट्खण्डागमकी धवलाटीकामे बताया है[1] कि श्रुतज्ञानके कर्त्ता दो प्रकारके हैं १ अर्थकर्त्ता और २ ग्रन्थकर्त्ता। भावश्रुत और अर्थपदोके कर्त्ता तीर्थंकर हैं। तीर्थंकरके निमित्तसे गौतम इन्द्रभूति गणधर श्रुतपर्यायसे परिणत हुए। अतएव वे द्रव्यश्रुतके कर्त्ता हैं। आशय यह है कि इस युगमे आदि ग्रन्थकर्त्ता गौतम गणधर हैं। और इन्हीसे ग्रन्थ या वाङ्मय लिखनेका कार्य प्रारम्भ हुआ है।

१ षट्खण्डागम, धवला टीका, प्रथम पुस्तक, पृष्ठ ६०, ६५।

तिलोयपण्णत्तीके अध्ययनसे भी उक्त कथनकी सिद्धि होती है। बताया है

महावीर-भासियत्थो तस्सिं खेत्तम्मि तत्थ काले य।
खायोवसम-विवड्ढिद-चउरमल-मईहिं पुण्णेण ॥
लोयालोयाण तहा जीवाजीवाण विविह-विसयेसु।
संदेहणासणत्थं उवगद-सिरिवीर-चलणमूलेण ॥
विमले गोदमगोत्ते जादेण इंदभूदिणामेण।
चउवेद-पारगेण सिस्सेण विसुद्धसीलेण ॥
भावसुद-पज्जयेहिं परिणद-मयिणा अ वारसगाणं।
चोद्दसपुव्वाण तहा एक्कमुहुत्तेण विरचणा विहिदो ॥
इय मूलतंतकत्ता सिरिवीरो इंदभूदिविप्पवरो।
उवतंते कत्तारो अणुतंते सेसआइरिया ॥
णिण्णट्ठ-रायदोसा महेसिणो दिव्वसुत्तकत्तारो।
किं कारणं पभणिदा कहिदुं सुत्तस्स पामण्णं ॥[1]

अर्थात् तीर्थंकर महावीर श्रुतके अर्थकर्त्ता हैं। इनके द्वारा उपदिष्ट पदार्थ-स्वरूप उसी क्षेत्र और उसी कालमें ज्ञानावरणके विशेष क्षयोपशमसे वृद्धिको प्राप्त निर्मल चार बुद्धियोंसे परिपूर्ण, लोक-अलोक और जीवाजीवादि विविध विषयोंमें उत्पन्न हुए सन्देहको नष्ट करनेवाले, शरणागत, निर्मल गौतम गोत्रमें उत्पन्न, प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग, इस प्रकार चार वेदों अथवा ऋक्, यजु, साम और अथर्व इन चारों वेदोंमें पारगत, विशुद्ध शीलके धारक, भावश्रुतरूप पर्यायसे बुद्धिकी परिपक्वताको प्राप्त इन्द्रभूति नामक शिष्य अर्थात् गौतम गणधरने एक मुहूर्त्तमें बारह अंग और चौदह पूर्वो की रचना की। इस प्रकार तीर्थंकर महावीर मूलतन्त्रकर्त्ता, इन्द्रभूति गणधर उपतन्त्रकर्त्ता एवं शेष आचार्य अनुतन्त्रकर्त्ता हैं। स्पष्ट है कि वाङ्मयको मूर्त्तरूप देनेका सर्वप्रथम कार्य इन्द्रभूति गणधरने ही किया है।

जिस प्रकार सूर्यका आलोक प्राप्तकर मनुष्य अपने नेत्रोंसे दूरवर्त्ती पदार्थका भी अवलोकन कर लेता है, उसी प्रकार पूर्वाचार्यों के द्वारा निबद्ध ज्ञानसूर्यका आलोक प्राप्तकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थों का बोध प्राप्त होता है। हरिवंशपुराणमें भी आगमतन्त्रके मूलकर्त्ता तीर्थंकर वर्धमान ही माने गये हैं। उत्तरतंत्रके रचयिता गौतम गणधर हैं और उत्तरोत्तरतन्त्रके कर्त्ता अनेक आचार्य बताये गये हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि ये सभी आचार्य सर्वज्ञकी वाणीके अनुवादक ही हैं।

१. तिलोयपण्णत्ती १।७७-८१।

ये अपनी ओरसे ऐसे किसी नये तथ्यका प्रतिपादन नहीं करते, जो तीर्थंकरकी दिव्यध्वनिसे बहिर्भूत हो। केवल तीर्थंकरद्वारा प्रतिपादित तथ्योंको नये रूप और नयी शैलीमे अभिव्यक्त करते हैं। बताया है

> तथाहि मूलतन्त्रस्य कर्ता तीर्थंकर स्वयम्।
> ततोऽप्युत्तरतन्त्रस्य गौतमाख्यो गणाग्रणी ॥
> उत्तरोत्तरतन्त्रस्य कर्तारो बहव क्रमात् ॥
> प्रमाण तेऽपि न सर्वे सर्वज्ञोक्त्यनुवादिन ॥[1]

अतएव स्पष्ट है कि श्रुतका मूलकर्त्ता तीर्थंकरको ही माना गया है। उत्तरतंत्रकर्त्ता गणधर और उत्तरोत्तरतन्त्रकर्त्ता अन्य आचार्य हैं।

श्रुत या आगमका स्वरूप, भेद एवं विषय

चक्षुरादि इन्द्रियोसे उत्पन्न होनेवाले मतिज्ञानपूर्वक परोपदेश या पर-साधनसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह श्रुतज्ञान कहलाता है। तत्त्वार्थवार्तिक-मे बताया है "श्रुतावरणक्षयोपशमाद्यन्तरङ्गबहिरङ्गहेतुसन्निधाने सति श्रूयते स्मेति श्रुतम्। कर्तरि श्रुतपरिणत आत्मैव शृणोतीति श्रुतम्। भेदविवक्षायां श्रूयतेऽनेनेति श्रुतम् श्रवणमात्रं वा।"[2]

अर्थात् श्रुतावरणकर्मके क्षयोपशम होनेपर जो सुना जाय वह श्रुत है। कर्तृसाधनमे श्रुतपरिणत आत्मा श्रुत है। करणविवक्षामे जिससे सुना जाये, वह श्रुत है। भावसाधनमे श्रवणक्रिया श्रुत है।

आचार्य विद्यानन्दने श्रुतज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमरूप विगम-विशेषसे श्रवण करना श्रुत कहा है। इनके मतसे जो वाच्य अर्थ आप्तवाक्य द्वारा सुना जा चुका है वह अपने और वाच्यार्थको जानने वाला आगमज्ञानरूप श्रुतज्ञान है। श्रुतशब्दके अनेक अर्थ होनेपर भी श्रुतज्ञान या आगमज्ञानके अर्थमे रूढ है। यथा-

> श्रुतेऽनेकार्थतासिद्धे ज्ञानमित्यनुवर्तनात्।
> श्रवण हि श्रुतज्ञान न पुन शब्दमात्रकम् ॥[3]

आशय यह है कि श्रुतज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमविशेषकी अपेक्षासे उत्पन्न हुआ और अविनाभावी अनेक अर्थान्तरोंका निरूपण करने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान

१ हरिवशपुराण प्रथम सर्ग, पद्य ५६,५७।

२ तत्त्वार्थवार्तिक, भारतीय ज्ञानपीठ सस्करण, १।९।२०, पृष्ठ ४४।

३. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, बम्बई, १९१८ ई०, १।९।२०, पृ० १६४।

है। यह श्रुतज्ञान अमृतके समान हितकारी है, विषयवेदनासे सतप्त प्राणीके लिये परमौषधं है। कुन्दकुन्दने बताया है

जिणवयणमोसहमिण विसयसुह-विरेयण अमिदभूय।
जर-मरण-वाहिहरण खयकरण सव्व-दुक्खाण ॥[1]

श्रुतज्ञानका अन्य नाम आगमज्ञान भी है। श्रुतके नामान्तरोमे आगम, जिनवाणी, सरस्वती आदि नाम आये है। आगमके स्वरूपका प्रतिपादन करते हुए बताया है कि आप्तके वचन आदिके निमित्तसे होने वाले अर्थज्ञानको आगम कहते हैं।[2]

आचार्य सोमदेवने अपने उपासकाध्ययनमे बताया है कि जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थो का अवलम्बन लेकर हेय और उपादेय रूपसे त्रिकालवर्ती पदार्थो का ज्ञान कराता है, उसे आगम कहते हैं। तत्त्वज्ञाताओका अभिमत है कि आगममे अविरोधरूपसे द्रव्यो, तत्त्वो और गुण-पर्यायोका कथन रहता है। लिखा है

हेयोपादेयरूपेण चतुर्वर्गसमाश्रयात्।
कालत्रयगतानर्थान्गमयन्नागम स्मृत.॥[3]

यह आगमज्ञान प्रत्यक्षज्ञानके समान ही प्रमाणभूत है, जिस प्रकार प्रत्यक्ष-ज्ञान अविसवादी होनेके कारण प्रमाणभूत है, उसी प्रकार आगमज्ञान भी अपने विषयमे अविसवादी होनेके कारण प्रमाण है। स्वामी समन्तभद्रने केवलज्ञान और स्याद्वादमय श्रुतज्ञानको समस्त पदार्थो का समानरूपसे प्रकाशक माना है। दोनोमे केवल प्रत्यक्ष और परोक्षका ही अन्तर है

स्याद्वाद-केवलज्ञाने सर्वतत्त्व-प्रकाशने।
भेद साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतम भवेत्॥[4]

इसी तथ्यकी पुष्टि सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्रके कथनसे भी होती है

सुदकेवल च णाण दोण्णवि सरिसाणि होति बोहादो।
सुदणाण तु परोक्ख पच्चक्ख केवल णाण ॥[5]

१. दसणपाहुड, गाथा १७।

२ आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागम परीक्षामुख ३।९५।

३. उपासकाध्ययन, भारतीय ज्ञानपीठ सस्करण, पद्य १००।

४. आप्तमीमासा, श्लोक १०५।

५ गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ३६८।

समस्त द्रव्य और पर्यायोको जाननेकी अपेक्षा श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनो ही समान है। अन्तर इतना ही है कि केवलज्ञान द्रव्य और तत्त्वोको प्रत्यक्षरूपसे जानता है और श्रुतज्ञान परोक्षरूपसे। विस्तार और गहनताकी दृष्टिसे दोनोका विषयक्षेत्र तुल्य ही है।

श्रुत या आगमके भेद

श्रुत या आगमके दो भेद है १ द्रव्यश्रुत और २. भावश्रुत। आप्तके उपदेशरूप द्वादशागवाणीको द्रव्यश्रुत और उससे होने वाले ज्ञानको भावश्रुत कहते है। दूसरे शब्दोमे यो कहा जा सकता है कि शब्दको द्रव्यश्रुत और उससे होने वाले ज्ञानको भावश्रुत कहा गया है। सक्षेपमे ग्रन्थरूप श्रुतको द्रव्यश्रुत और अर्थरूप श्रुतको भावश्रुत कहा गया है। ग्रन्थरूप द्रव्यश्रुतके मूलत दो भेद है १ अगबाह्य और २. अगप्रविष्ट। अगप्रविष्टके बारह भेद है १ आचाराग, २. सूत्रकृताग, ३. स्थानाग, ४ समवायाग, ५ व्याख्याप्रज्ञप्ति, ६ ज्ञातृधर्मकथा, ७ उपासकाध्ययनाग, ८ अन्तकृद्दशाग, ९ अनुत्तरोपपादिक, १० प्रश्नव्याकरणाग, ११ विपाकसूत्राग और १२ दृष्टिवादाग।

इस श्रुत या आगमज्ञानको पुरुषके शरीरागकी उपमा दी गयी है। जैसे पुरुषके शरीरमे दो पैर, दो जाँघ, दो ऊरु, दो हाथ, एक पीठ, एक उदर, एक छाती और एक मस्तक ये बारह अग होते है, उसी प्रकार श्रुतज्ञानरूपी पुरुषके भी बारह अग है। तीर्थंकर अपने दिव्यज्ञानद्वारा पदार्थोका साक्षात्कार कर बीजपदोके रूपमे उपदेश देते है और गणधर उन बीजपदोका तथा उनके अर्थका अवधारण कर ग्रन्थरूपमे व्याख्यान करते है। श्रुतज्ञानकी परम्परा अनादि अनवच्छिन्न रूपसे चली आ रही है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवके कालमे श्रुतज्ञानकी जो परम्परा आरम्भ हुई थी, वह पार्श्वनाथ और महावीर तीर्थंकरके कालमे भी गतिशील रही है।

श्रुतज्ञानका विषय

यो तो जीव, अजीव आदि सातो तत्त्वोके विवेचनमे ही श्रुतज्ञानके विषयका समाहार हो जाता है, पर विशेष विवेचनकी दृष्टिसे षट्खण्डागमकी धवलाटीका एव तत्त्वार्थवार्त्तिक आदि ग्रन्थोमे जो विवेचन उपलब्ध होता है उसके आधारपर यह कहा जा सकता है कि उपलब्ध ज्ञान-विज्ञानका समस्त विषय श्रुतज्ञान या आगमके अन्तर्गत है। आचारागमे १८,००० पदो द्वारा मुनियोके आचारका वर्णन रहता है। अर्थात् मुनिको कैसे चलना चाहिए, कैसे खड़ा होना चाहिये, कैसे बैठना चाहिये, कैसे सोना चाहिये, कैसे भोजन करना

चाहिये और कैसे वार्त्तालाप करना चाहिये आदि विषयोका कथन किया गया है। दूसरे सूत्रकृतांगमे ३६,००० पदो द्वारा ज्ञानविनय, प्रज्ञापना, कल्प्य-अकल्प्य, छेदोपस्थापना आदि व्यवहारधर्मकी क्रियाओका वर्णन है तथा इस अंगमे स्वसिद्धान्त और परसिद्धान्तका कथन भी समाविष्ट है। तृतीय स्थानांगमे ४२,००० पद होते हैं। इसमे एकसे लेकर उत्तरोत्तर एक-एक अधिक स्थानोका निरूपण किया जाता है। यथा अपने चैतन्यस्वभावके कारण जीवद्रव्य एक है, ज्ञान और दर्शनके भेदसे दो प्रकारका है। कर्मफलचेतना, कर्मचेतना और ज्ञानचेतनाकी अपेक्षा यह तीन प्रकारका है। अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यकी अपेक्षा तीन भेदरूप है। चार गतियोमे भ्रमण करने वाला होनेसे चार भेदवाला है। औदयिक आदि पाँच भावसे युक्त होनेके कारण, इसके पाँच भेद हैं। भवान्तरमे गमन करते समय पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व एवं अध इस प्रकार षट्अपक्रमसे युक्त होनेके कारण षट् प्रकारका है। अस्ति, नास्ति आदि सप्तभगोसे युक्त होनेके कारण सात भेदवाला है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि कर्मोंके आस्रवसे युक्त होनेकी अपेक्षा जीवके आठ भेद हैं। जीव, अजीव आदि नौ पदार्थरूप परिणमन करनेके कारण यह नौ प्रकारका है। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येक वनस्पतिकायिक, साधारणवनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय तथा पञ्चेन्द्रिय जातिके भेदसे दस प्रकारका है। इस प्रकार जीवादि पदार्थोंके एकाधिक भेदोका निरूपण स्थानांगमे किया गया है।

चतुर्थ समवायांगमे १,६४००० पद, होते है। इसमे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप समवायका चित्रण किया गया है। द्रव्यसमवायकी अपेक्षा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश और एक जीवके प्रदेश समान हैं। क्षेत्रसमवायकी अपेक्षा प्रथम नरकके प्रथम पटलका सीमन्तकबिल, मनुष्यलोक, प्रथम स्वर्गके प्रथम पटलका ऋजु विमान और सिद्धक्षेत्र इन सबका विस्तार तुल्य है। कालकी अपेक्षा उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालगणनाएँ तुल्य है। भावकी अपेक्षा क्षायिकसम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और यथाख्यातचारित्र समान हैं। इस प्रकार समानताकी अपेक्षा जीवादि पदार्थोंके समवायका वर्णन समवायांगमे उपलब्ध होता है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति अगमे २,२८००० पद होते हैं। इसमे ६०,००० प्रश्नो द्वारा जीव, अजीव आदि पदार्थोका विवेचन किया जाता है। ज्ञातृधर्मकथा नामक अगमे ५,५६००० पद होते हैं। इसमे तीर्थंकरोको धर्मदेशना, विविध प्रश्नोत्तर एव पुण्यपुरुषोके आख्यान वर्णित हैं। उपासकाध्ययन अगमे ११,७०,००० पद

है और इसमे श्रावकाचारका निरूपण किया गया है। अन्तकृद्दशांग नामक अंगमे २३,२८००० पद हैं। इसमे प्रत्येक तीर्थंकरके तीर्थकालमे अनेक प्रकारके दारुण उपसर्गो को सहन कर निर्वाण प्राप्त करने वाले दस-दस अन्तकृत केवलियोका वर्णन है। अनुत्तरोपपादिकदशा नामक अंगमे ९२,४४००० पद है और एक-एक तीर्थंकरके तीर्थकालमे नाना प्रकारके दारुण उपसर्गो को सहन कर पॉच अनुत्तर विमानोमे जन्म ग्रहण करनेवाले दस-दस मुनियोका चरित्र अंकित है। प्रश्नव्याकरणमे आक्षेप-प्रत्याक्षेपपूर्वक प्रश्नोका समाधान अंकित है। अथवा आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदिनी और निर्वेदिनी इन चार कथाओका विस्तृत वर्णन है। विपाकसूत्र अंगमे १,८४,००००० पद हैं। इसमें पुण्य और पापरूप कर्मो का फल भोगनेवाले व्यक्तियोका चरित्र निबद्ध है।

बारहवाँ अंग दृष्टिवाद है। इसके पाँच अधिकार हैं १ परिकर्म, २ सूत्र, ३ प्रथमानुयोग, ४ पूर्व और ५. चूलिका। इनमेसे परिकर्मके पाँच भेद हैं १ चन्द्रप्रज्ञप्ति, २ सूर्यप्रज्ञप्ति, ३. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ४ द्वीपसमुद्रप्रज्ञप्ति और ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति। चन्द्रप्रज्ञप्तिमे चन्द्रमाकी आयु, परिवार, ऋद्धि, गति और चन्द्रबिम्बकी ऊँचाई आदिका वर्णन है। सूर्यप्रज्ञप्तिमे सूर्यकी आयु, भोग, उपभोग, परिवार, ऋद्धि, गति और सूर्यबिम्बकी ऊँचाई, दिनकी हानि-वृद्धि, किरणोका प्रमाण और प्रकाश आदिका वर्णन है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिमे भोगभूमि और कर्मभूमिमे उत्पन्न हुए मनुष्य और तिर्यञ्चोका तथा पर्वत, सरोवर, नदी, वेदिका, क्षेत्र, आवास आदिका वर्णन है। द्वीपसमुद्रप्रज्ञप्तिमे द्वीप और समुद्रोका विस्तार, अवगाह, क्षेत्रफल आदिका वर्णन आया है। व्याख्याप्रज्ञप्तिमे पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल एव जीवद्रव्यके भव्यत्व, अभव्यत्वका वर्णन किया गया है।

दृष्टिवाद अंगका द्वितीय भेद सूत्रनामक है। इसमे जीवकी विवेचना विस्तारपूर्वक की गयी है। जीव अबन्धक है, अवलेप है, अकर्त्ता है, अभोक्ता है, निर्गुण है, व्यापक है, अणुप्रमाण है, अस्तिस्वरूप है, नास्तिस्वरूप है, उभयरूप है इत्यादिकी विवेचना विभिन्न सिद्धान्तोके पूर्वपक्षरूपमे की गयी है। इसमे क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद, ज्ञानवाद, वैनयिकवाद आदि तीन सौ तिरेसठ मतोका प्रतिपादन पूर्वपक्षके रूपमे किया गया है। दृष्टिवादका तृतीय अंग प्रथमानुयोग है। इसमे २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलभद्र, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायणोके जीवनवृत्तके साथ विद्याधर, चक्रवर्ती, चारण-ऋद्धिधारी मुनि और राजाओके वंशोका कथन किया गया है।

दृष्टिवादके पञ्चम भेदका नाम चूलिका है। इसके पाँच भेद हैं १. जलगता,

२ स्थलगता, ३ मायागता, ४. रूपगता और ५ आकाशगता। जलगतामे जलमे गमन तथा जलस्तम्भनके कारणभूत मन्त्र-तन्त्र तपश्चर्या आदिका वर्णन है। स्थलगतामे पृथ्वीके भीतरसे गमन करनेके कारणभूत मन्त्र-तन्त्र और तपश्चर्या तथा वास्तुविद्या आदिका वर्णन है। भूमिसम्बन्धी शल्य, शुभाशुभ परिज्ञान, भूमिके रूपगुण, शक्ति आदिका वर्णन भी स्थलगतामे पाया जाता है। रूपगतामे रूपपरिवर्त्तन करनेके तन्त्र-मन्त्र आदि साधनोका निरूपण किया है। मनुष्य किस प्रकार सिंह, व्याघ्र, अश्व, गज, हिरण आदिका आकार धारण कर सकता है, इस प्रकारकी विधियोका निरूपण भी उसमे आया है। चित्र-कर्म, काष्ठकर्म, लेप्यकर्म एव विभिन्न प्रकारकी आकृतियोके निर्माणकी विधियाँ भी कथित हैं। आकाशगता चूलिकामे आकाशगामिनी विद्याका चित्रण आया है।

दृष्टिवादका सबसे महत्त्वपूर्ण भेद पूर्व है। पूर्वके १४ भेद हैं १ उत्पाद-पूर्व, २. अग्रायणीय, ३ वीर्यानुप्रवाद, ४ अस्तिनास्तिप्रवाद, ५. ज्ञानप्रवाद, ६. सत्यप्रवाद, ७ आत्मप्रवाद, ८ कर्मप्रवाद, ९ प्रत्याख्याननामधेय, १०. विद्यानुवाद, ११. कल्याणनामधेय, १२ प्राणावाय, १३. क्रियाविशाल और १४ लोकबिन्दुसार। पूर्वसाहित्य सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसीके आधारपर वर्तमानमे शौरसेनी आगम-साहित्य उपलब्ध होता है। अग्रायणीमे पूर्वान्त, अपरान्त आदि चौदह प्रकरण थे। इनमेसे पञ्चम प्रकरणका नाम चयनलब्धि था, जिसमे बीस पाहुड विद्यमान थे। बीस पाहुडोमेसे चतुर्थ पाहुडका नाम कर्म-प्रकृति था। इस कर्मप्रकृतिपाहुडके कृति, वेदना आदि चौबीस अनुयोगद्वार थे, जिनकी विषयवस्तुको ग्रहण कर षट्खण्डागमके जीवट्ठाण, खुद्दाबन्ध, बन्धस्वा-मित्व-विचय, वेदना, वर्गणा और महाबन्ध इन छह भण्डोकी रचना हुई हैं। इसमे का कुछ अंश सम्यक्त्वोत्पत्तिनामक जीवस्थानकी आठवी चूलिकाको बारहवें अंग दृष्टिवादके द्वितीय भेद सूत्रसे तथा गति-आगतिनामक नवी चूलिकाको व्याख्या-प्रज्ञप्तिसे उत्पन्न बताया गया है। इस प्रकार वर्तमान आगम-साहित्यका सबध दृष्टिवाद अगके साथ है। उत्पादपूर्वमे जीव, पुद्गल, काल आदि द्रव्योके उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका वर्णन है। अग्रायणीय पूर्वमे सात सौ सुनय और दुर्नय, छ द्रव्य, नौ पदार्थ, एव पञ्चास्तिकायोका वर्णन है। वीर्यानुप्रवादमे आत्मवीर्य, परवीर्य, उभयवीर्य, क्षेत्रवीर्य, कालवीर्य, भववीर्य और तपवीर्यका वर्णन आया है। अस्तिनास्तिप्रवादपूर्वमे स्वरूपचतुष्टयकी अपेक्षा समस्त द्रव्योके अस्तित्वका और पररूपचतुष्टयकी अपेक्षा उनके नास्तित्वका वर्णन है। ज्ञानप्रवादपूर्वमे पाँच सम्यग्ज्ञान और तीन कुज्ञान इन आठ ज्ञानोका विस्तारपूर्वक वर्णन है। सत्यप्रवादपूर्वमे दशप्रकारके सत्यवचन, अनेक प्रकारके असत्यवचन और बारह

प्रकारकी भाषाओंका प्रतिपादन किया गया है। विषयवर्णनकी दृष्टिसे आधुनिक मनोविज्ञान ज्ञानप्रवाद और सत्यप्रवादके अन्तर्गत है। आत्मप्रवादपूर्वमें निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयोंकी अपेक्षासे जीवके कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सूक्ष्मत्व, अमूर्त्तत्व आदिका विवेचन किया है। कर्मप्रवादपूर्वमें आठों कर्मोंके स्वरूप, कारण एवं भेद-प्रभेदोंका चित्रण किया है। प्रत्याख्यानपूर्वमें सावद्यवस्तुका त्याग, उपवास-विधि, पंच समिति, तीन गुप्ति आदिका वर्णन है। विद्यानुवादपूर्वमें सात सौ अल्पविद्याओंका और पाँच सौ महाविद्याओंका विवेचन आया है। साथ ही इसमें भौम, अंग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यंजन और चिन्ह इन आठ महानिमित्तोंका विषय भी निबद्ध है। वर्तमान सामुद्रिक शास्त्र, प्रश्नशास्त्र एवं संहितागत विषय इसी पूर्वके अन्तर्गत समाविष्ट हैं। कल्याणवादमें सूर्य, चन्द्र, ग्रह, तारागण आदिके चारक्षेत्र, उपपादस्थान, गति, विपरीतगति और उनके फलोंका निरूपण है। ज्योतिषशास्त्रके गणित और फलित दोनों ही विभाग इसी पूर्वके अन्तर्गत है। प्राणावायपूर्वमें अष्टांग आयुर्वेद, भूतिकर्म, विषविद्या एवं विभिन्न प्रकारके भौतिक विषयोंका परिज्ञान सम्मिलित है। रसायनशास्त्र और भौतिकशास्त्र सम्बन्धी अनेक सिद्धान्त भी इस पूर्वमें समाविष्ट हैं। क्रियाविशालपूर्वमें बहत्तर कलाओं सम्बन्धी चौसठ गुणों, शिक्षा, शिल्प, काव्यसम्बन्धी गुण-दोष एवं छन्दशास्त्रका वर्णन है। लोकबिन्दुसारमें आठ प्रकारके व्यवहार, चार प्रकारके बीज, मोक्ष प्राप्त करानेवाली क्रियाएँ एवं मोक्षके सुखका वर्णन है।

द्रव्यश्रुतके दूसरे भेद अंगबाह्यके चौदह भेद हैं

१ सामायिक, २. चतुर्विंशतिस्तव, ३ वन्दना, ४. प्रतिक्रमण, ५ वैनयिक ६ कृतिकर्म, ७ दशवैकालिक, ८ उत्तराध्ययन, ९ कल्पव्यवहार, १० कल्प्याकल्प्य, ११. महाकल्प्य, १२. पुण्डरीक, १३ महापुण्डरीक और १४. निषिद्धिका।

सामायिकनामक अंगबाह्यमें नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन छ भेदों द्वारा समताभावके विधानका वर्णन है। चतुर्विंशतिस्तवमें तत्तत्काल सम्बन्धी चौबीस तीर्थंकरोंको वन्दना करनेकी विधि, उनके नाम, संस्थान, उत्सेध, पाँच महाकल्याणक, चौंतीस अतिशय प्रभृतिका वर्णन है। वन्दना नामक अंगबाह्यमें एक तीर्थंकर और उस तीर्थंकर सम्बन्धी जिनालयों, वन्दना करनेकी विधि एवं फलका चित्रण है। प्रतिक्रमणमें दैवसिक रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक, ईर्यापथिक और औत्तमार्थिक इन सात प्रकारके प्रतिक्रमणोंका वर्णन आया है। प्रमादसे लगे हुए दोषोंका निराकरण करना प्रतिक्रमण है। वैनयिक नामक अंगबाह्यमें ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्र-

विनय, तप विनय और उपचार विनयोका विशद वर्णन है। कृतिकर्म नामक अंगबाह्यमें अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुकी पूजाविधिका वर्णन है। दशवैकालिक अगबाह्यमे साधुओके आचार, विहार एवं पर्यटन आदिका वर्णन है। उत्तराध्ययनमे चार प्रकारके उपसर्ग और बाईस परिषहोके सहन करनेका विधान एव उनके सहन करनेवालोके जीवनवृत्तका वर्णन रहता है। ऋषियोके करने योग्य जो व्यवहार है उस व्यवहारसे स्खलित हो जानेपर प्रायश्चित्त करना होता है। इस प्रायश्चित्तका वर्णन कल्पव्यवहारमे रहता है। कल्प्याकल्प्यमे साधु और असाधुओके आचरणीय और त्याज्य व्यवहारका वर्णन पाया जाता है। दीक्षाग्रहण, शिक्षा, आत्मसस्कार, सल्लेखना और उत्तम स्थापना रूप आराधनाको प्राप्त हुए साधुओके जो करने योग्य है उसका द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका आश्रय लेकर महाकल्प्य कथन करता है। पुण्डरीक अगबाह्यमे भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, कल्पवासी एव वैमानिक सम्बन्धी देव, इन्द्र, सामानिक आदिमे उत्पत्तिके कारणभूत दान, पूजा, शील, तप, उपवास और अकामनिर्जराका तथा उनके उपपाद-स्थान और भवनोका वर्णन रहता है। महापुण्डरीकमे भवनवासी, व्यन्तर आदि देवो और देवियोमे उत्पत्तिके कारणभूत तप और उपवास आदिका वर्णन है। निषिद्धिकामे अनेक प्रकारकी प्रायश्चित्त-विधियोका कथन आया है।

इस प्रकार अगप्रविष्ट और अगबाह्यके अन्तर्गत आधुनिक सभी विषयोका समावेश तो होता ही है, साथ ही आध्यात्मिक भावना, कर्मबन्धकी विधि और फल, कर्मोके सक्रमण आदि करण, विभिन्न दार्शनिक चर्चाएँ, मतमतान्तर, ज्योतिष, आयुर्वेद, गणित, भौतिकशास्त्र, आचारशास्त्र, सृष्टि-उत्पत्ति विद्या, भूगोल एव पौराणिक मान्यताओका परिज्ञान भी उक्त श्रुत या आगमसे प्राप्त होता है। आगमका यह विषय-विस्तार इतना सघन और विस्तृत है कि इसकी जानकारीसे व्यक्ति श्रुतकेवली पद प्राप्त करता है। ज्ञान या आगमके विषयका परिज्ञान किस प्रकार और किस विधिसे सभव होता है, इसका वर्णन भी पूर्वोक्त आगमग्रन्थोमे आया है।

श्रुत या आगमज्ञानसे सम्बद्ध आचार्य-परम्परा

दिगम्बर पट्टावलियो और प्रशस्तियोसे अवगत होता है कि श्रुतको सुनकर कठस्थ कर लेनेकी परम्परा तीर्थंकर महावीरके निर्वाणलाभके पश्चात् कई शतक तक चलती रही। द्रव्य, गुण, पर्याय, तत्त्वज्ञान, कर्मसिद्धान्त एव आचार सम्बधी मौलिक मान्यताओको परम्परासे प्राप्तकर स्मरण बनाये रखनेकी प्रथा धारावाहिक रूपमे चलती रही। नन्दीसघ-बलात्कारगण-सरस्वतीगच्छकी

पट्टावलिमें बताया है कि गौतम, सुधर्म और जम्बूस्वामीने बासठ वर्षों तक धर्म-प्रचारका कार्य किया। महावीर स्वामीके पश्चात् बारह वर्षों तक गौतम स्वामीने केवलीपद प्राप्त कर धर्मप्रचार किया। इनके पश्चात् बारह वर्षों तक सुधर्माचार्य केवली रहे। अनन्तर अड़तीस वर्षों तक जम्बूस्वामी केवली बने रहे। इस प्रकार बासठ वर्षों तक उक्त तीनों केवलियोंकी ज्ञान-ज्योति प्रकाशित होती रही। तत्पश्चात् पाँच श्रुतकेवली हुए। चौदह वर्षों तक विष्णुने, सोलह वर्षों तक नन्दिमित्रने, बाईस वर्षों तक अपराजितने, उन्नीस वर्षों तक गोवर्द्धनने और उनतीस वर्षों तक भद्रबाहुने ज्ञानदीपको प्रज्वलित रखा। तत्पश्चात् दश वर्षों तक दशपूर्वधारी विशाखाचार्यने, उन्नीस वर्षों तक प्रोष्ठिलाचार्यने, सत्रह वर्षों तक क्षत्रियाचार्यने, इक्कीस वर्षों तक जयसेना-चार्यने, अट्ठारह वर्षों तक नागसेनाचार्यने, सत्रह वर्षों तक सिद्धार्थाचार्यने, अट्ठारह वर्षों तक धृतिसेनाचार्यने, तेरह वर्षों तक विजयाचार्यने, बीस वर्षों तक बुद्धिलिङ्गाचार्यने, चौदह वर्षों तक देवाचार्यने एवं चौदह वर्षों तक धर्मसेनाचार्यने श्रुतका प्रवचन किया। इस प्रकार एकसौ तिरासी वर्षों तक दशपूर्वधारी श्रुतका प्रचार करते रहे। तदनन्तर अट्ठारह वर्षों तक एकादशाग-धारी नक्षत्राचार्यने, बीस वर्षों तक जयपालाचार्यने, उनतालीस वर्षों तक पाण्डवाचार्यने, दश वर्षों तक ध्रुवसेनाचार्यने एवं बत्तीस वर्षों तक कंसाचार्यने श्रुतज्ञानकी ज्योतिको प्रज्वलित किया। इस प्रकार एकादशागधारी उक्त पाँच आचार्योंने श्रुतज्ञानका प्रवचन किया। अनन्तर दशागके ज्ञाता शुभचन्द्राचार्यने छ वर्षों तक, यशोभद्राचार्यने अट्ठारह वर्षों तक, भद्रबाहुने तेईस वर्षों तक और लोहाचार्यने पचास वर्षों तक अंगज्ञानका प्रवचन किया। अनन्तर अट्ठाईस वर्षों तक एकागके धारी अर्हद्बल्याचार्यने, इक्कीस वर्षों तक माघन-न्द्याचार्यने, उन्नीस वर्षों तक धरसेनाचार्यने श्रुतज्ञानको जीवित रखा।[1]

१. अन्तिमजिणणिव्वाणे केवलणाणी य गोयम-मुणिंदो।
बारह वासे य गणी सुधम्मसामी य सजादो ॥ १ ॥
तह बारह वासे पुण सजादो जम्बुसामि मुणिणाहो।
अठतीस वास रहियो केवलणाणी य उक्किट्ठो ॥ २ ॥
बासठि केवल वासे तिण्हि मुणी गोयम सुधम्म जम्बू य।
बारह बारह दो जण तिय दुगहीणं च चालीस ॥ ३ ॥
सुयकेवलि पंच जणा बासठि वासे गये सुसजादा।
पढमं चउदह-वास विण्हुकुमारं मुणेयव्व ॥ ४ ॥

इस प्राकृत पट्टावलीमे प्रत्येक आचार्यका अलग-अलग समय दिया गया है तथा समष्टि रूपमे भी वर्षसंख्या अङ्कित की गयी है। तीन केवलियो और पांच श्रुतकेवलियोका समय एकसौ बासठ वर्ष बताया है। दशपूर्वधारियो-की पृथक्-पृथक् वर्षसंख्या और समष्टिरूप वर्षसंख्या प्राप्त नही होती। इसमें दो वर्षका अन्तर आता है। यथा

नंदिमित्त वास सोलह तिय अपराजिय वास बावीस।
इग-हीण-वीस वास गोवद्धण भद्दबाहु गुणतीस ॥ ५ ॥
सद सुयकेवलणाणी पच जणा विण्हु नंदिमित्तो य।
अपराजिय गोवद्धण तह भद्दबाहु य संजादा ॥ ६ ॥
सद वासट्ठि सुवासे गए सु उप्पण्ण दह सुपुव्वहरा।
सद तिरासि वासाणि य एगादह मुणिवरा जादा ॥ ७ ॥
आयरिय विसाख पोट्ठल खत्तिय जयसेण नागसेण मुणी।
सिद्धत्थ धित्ति विजयं बुद्धिलिंग देव धमसेण ॥ ८ ॥
दह उगणीस य सत्तर इकवीस अट्ठारह सत्तर।
अट्ठारह तेरह वीस चउदह चोदय (सोडस) कमेणेय ॥ ९ ॥
अतिम जिणणिव्वाणे तियसय-पण-चालवास जादेसु।
एगादहगधारिय पच जणा मुणिवरा जादा ॥१०॥
नक्खत्तो जयपालग पंडव धुवसेन कस आयरिया।
अठारह वीसवासं गुणचाल चोद बत्तीस ॥ ११ ॥
सद तेवीस वासे एगादह अगधरा जादा।
वास सत्ताणवदिय दसंग नव अग अट्ठधरा ॥ १२ ॥
सुभद्द च जसोभद्द भद्दबाहु कमेण च।
लोहाचय्य मुणीस च कहिय च जिणागमे ॥ १३ ॥
छह अट्ठारह वासे तेवीस बावण (पणास) वास मुणिणाह।
दस नव अट्ठ गधरा वास दुसदवीस सधेसु ॥ १४ ॥
पचसये पणसठे अतिम-जिण-समय-जादेसु।
उप्पणा पच जणा इयगधारी मुणेयव्वा ॥ १५ ॥
अहिवल्लि माधनदि य धरसेण पुप्फयत भूदवली।
अडवीस इगवीस उगणीस तीस वीस वास पुणो ॥ १६ ॥
इगसय-अठार-वासे इयगधारी य मुणिवरा जादा।
छसय-तिरासिय-वासे णिव्वाणा अंगदित्ति कहिय जिणे ॥ १७ ॥

जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १, किरण ४, पृष्ठ ७१-७४

दशपूर्वधारी

(१)	वीर निर्वाण संवत् १६२	विशाखाचार्य	१० वर्ष
(२)	वीर निर्वाण संवत् १७२	प्रोष्ठिल	१९ वर्ष
(३)	वीर निर्वाण संवत् १९१	क्षत्रिय	१७ वर्ष
(४)	वीर निर्वाण संवत् २०८	जयसेन	२१ वर्ष
(५)	वीर निर्वाण संवत् २२९	नागसेन	१८ वर्ष
(६)	वीर निर्वाण संवत् २४७	सिद्धार्थ	१७ वर्ष
(७)	वीर निर्वाण संवत् २६४	धृतिसेन	१८ वर्ष
(८)	वीर निर्वाण संवत् २८२	विजय	१३ वर्ष
(९)	वीर निर्वाण संवत् २९५	बुद्धिलिङ्ग	२० वर्ष
(१०)	वीर निर्वाण संवत् ३१५	देव	१४ वर्ष
(११)	वीर निर्वाण संवत् ३२९	धर्मसेन	१४ वर्ष (१६ वर्ष)
			१८१ + २ = १८३

आदरणीय डा० हीरालालजीने अनुमान किया है कि धर्मसेनका काल १४ वर्षके स्थान पर १६ वर्ष होना चाहिए। इस प्रकार वर्षगणना करनेपर १८३ वर्ष दशपूर्वधारियोंका समय आ जाता है। इसके पश्चात् पाँच एकादशाङ्ग-धारियोंका समय अन्य स्थानों पर २२० वर्ष बतलाया गया है, पर इस पट्टा-वलीमें उनका समय १२३ वर्ष दिया है, जो यथार्थ प्रतीत होता है।

११ अङ्गके धारक आचार्य

(१)	वीर निर्वाण संवत् ३४५	नक्षत्र	१८ वर्ष
(२)	वीर निर्वाण संवत् ३६३	जयपाल	२० वर्ष
(३)	वीर निर्वाण संवत् ३८३	पाण्डव	३९ वर्ष
(४)	वीर निर्वाण संवत् ४२२	ध्रुवसेन	१४ वर्ष
(५)	वीर निर्वाण संवत् ४३६	कंस	३२ वर्ष
			१२३ वर्ष

अनन्तर दश, नौ और आठ अङ्गके ज्ञाताओंका समय ९७ वर्ष बतलाया है, पर पृथक्-पृथक् वर्षोंका योग ९९ वर्ष आता है। अतः इसमें भी दो वर्षो की भूल प्रतीत होती है।

१०, ९ और ८ अङ्गके ज्ञाता आचार्य

(१)	वीर निर्वाण संवत् ४६८	सुभद्र	६ वर्ष
(२)	,, ,, ,, ४७४	यशोभद्र	१८ ,,
(३)	,, ,, ,, ४९२	भद्रबाहु	२३ ,,
(४)	,, ,, ,, ५१५	लोहाचार्य	५२ ,, (५० वर्ष)
			९९ − २ = ९७

यहाँ लोहाचार्यका समय ५२ वर्षके स्थान पर '१० वर्ष होना चाहिए। इस प्रकार ९९ − २ = ९७ वर्ष अष्टम, नवम और दशम अङ्गधारी आचार्योंका काल है। अनन्तर एकांगधारी पाँच आचार्योंका समय ११८ वर्ष है। यथा

(१) वीर	निर्वाण	संवत्	५६५	अर्हद्वलि	२८ वर्ष
(२) ,,	,,	,,	५९३	माघनन्दि	२१ वर्ष
(३) ,,	,,	,,	६१४	धरसेन	१९ ,,
(४) ,,	,,	,,	६३३	पुष्पदन्त	३० ,,
(५) ,,	,,	,,	६६३	भूतवलि	२० वर्ष
					११८ वर्ष

इस प्रकार इस पट्टावलीके अनुसार अङ्गपरम्पराका कुल काल
६२ + १०० + १८३ + १२३ + ९७ + ११८ = ६८३ वर्ष है।

इन्द्रनन्दिके श्रुतावतार, जिनसेनके हरिवंश पुराण, यतिवृषभकी तिलोयपण्णत्ती एवं वीरसेनकी धवला टीकामें आचार्योंकी जो पट्टावली दी गयी है उसमें लोहाचार्य तक ६८३ वर्ष गिनाये हैं, पर इस पट्टावलीमें अर्हद्वली, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतवलिका ११८ वर्षका समय सम्मिलित है। महावीरकी जो शिष्य-परम्परा अन्यत्र प्राप्त होती है उसमें गौतम, लोहाचार्य और जम्बूस्वामी ये तीन केवली, विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पाँच श्रुतकेवली, विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिसेन, विजय, बुद्धिलिङ्ग, देव और धर्मसेन ये ११ दशपूर्वके ज्ञाता; नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंस ये पाँच आचाराङ्गके ज्ञाता आचार्य हुए हैं। धवलाटीकाके सत्प्ररूपणा और वेदनाखण्डके प्रारम्भमें उक्त आचार्यों की परम्परा दी गयी है। श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० १ और २ में सुधर्मस्वामीके नामके स्थान पर लोहाचार्यका नाम प्राप्त होता है।[1]

तिलोयपण्णत्ती,[2] हरिवंशपुराण,[3] ब्रह्महेमकृत[4] श्रुतस्कन्ध, श्रवणबेलगोल

१ अथ खलु महति महावीर-सवितरि परिनिर्वृते भगवत्परमर्षि-गौतम-गणधर-साक्षाच्छिष्य-लोहार्य्य-जम्बु-विष्णुदेवापराजित-गोवर्द्धन-भद्रबाहु-विशाख-प्रोष्ठिलकृत्ति-कार्यजयनामसिद्धार्थ-धृतिषेणबुद्धिलादि । जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैनग्रन्थमाला, शिलालेख संख्या १, पृष्ठ १–२।

२ जादो सिद्धो वीरो तद्दिवसे गोदमो परमणाणी।
जादो तस्सिं सिद्धे सुधम्मसामी तदो जादो ॥ तिलोयपण्णत्ती ४।१४७६

३ त्रय क्रमात्केवलिनो जिनात्परे द्विषष्टिवर्षान्तरभाविनोऽभवन्।
तत परे पञ्च समस्तपूर्विणस्तपोधना वर्षशतान्तरे गताः ॥ —हरिवंशपुराण ६६।२२

अभिलेख नं० १०५ और इन्द्रनन्दि श्रुतावतारमें सुधर्म स्वामीका नाम उपलब्ध होता है।

जयधवलामें भी लोहाचार्यके स्थान पर सुधर्म स्वामीका ही नाम आता है। अतः यहाँ यह आशङ्का उत्पन्न होती है कि लोहाचार्य और सुधर्म स्वामी एक ही व्यक्ति हैं अथवा भिन्न-भिन्न ? इस शङ्काका समाधान जम्बूदीवपण्णत्ती-से हो जाता है। बताया है

> तेण वि लोहज्जस्स य लोहज्जेण य सुधम्मणामेण।
> गणधरसुधम्मणा खलु जंबूणामस्स णिद्दिट्ठ ॥१०॥
> चदुरमलबुद्धिसहिदे तिण्णेदे गणधरे गुणसमग्गे।
> केवलणाणपईवे सिद्धिं पत्ते णमंसामि ॥११॥[1]

अर्थात् गौतम गणधरने लोहार्यको और लोहार्यने जम्बूस्वामीको उपदेश दिया। ये तीनों केवली निर्मल बुद्धियोंसे सहित गुणोंमें परिपूर्ण और सिद्धिको प्राप्त थे। लोहार्यका अपर नाम सुधर्म स्वामी था। अतः लोहाचार्य और सुधर्म-स्वामी दोनों एक ही व्यक्ति हैं, भिन्न नहीं।

इसी प्रकार विष्णुके नाममें भी भेद पाया जाता है। प्राकृतपट्टावलि और महावीरकी शिष्यपरम्परामें विष्णुके नामका उल्लेख आया है। पर जंबुदीव-पण्णत्ती और तिलोयपण्णत्तीमें इस स्थान पर नन्दी या नन्दीमुनि नाम मिलता है। जंबुदीवपण्णत्तीमें लिखा है

> णंदी य णंदिमित्तो अवराजिदमुणिवरो महातेओ।
> गोवड्ढणो महप्पा महागुणो भद्दबाहू य ॥[2]

तिलोयपण्णत्तीमें बताया है

> णंदी य णंदिमित्तो विदिओ अवराजिदो तइज्जो य।
> गोवद्धणो चउत्थो पंचमओ भद्दबाहु त्ति ॥[3]

उक्त उद्धरणोंसे यह ज्ञात होता है कि विष्णुका ही अपर नाम नंदी रहा

४. सिद्धिं गते वीरजिनेऽनुबद्ध-केवल्यमित्यास्त्रय एव जाताः।
श्रीगौतमस्तौ च सुधर्म-जम्बू यैः केवली वै तादिहानुबद्धम् ॥
जैनशिलालेखसंग्रह प्रथम भाग, अभिलेख १०५।

१. जंबुदीवपण्णत्ती १।१०–११
२. जंबुदीवपण्णत्ती १।१२
३ तिलोयपण्णत्ती ४।१४८२

होगा। वस्तुत आचार्यका नाम विष्णुनन्दी है। इसके दोनो शब्द विष्णु और नन्दी संक्षिप्त रूपमे प्रयुक्त हुए हैं। एक स्थानपर 'विष्णु' शब्दका प्रयोग हुआ है और दूसरे पर 'नन्दी' का। श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० १०५ मे अपराजितका नाम पहले आया है और नन्दिमित्रका पश्चात्। यह क्रमभंग संभवत छन्द निर्वाहके लिए किया गया होगा। अन्य सभी ग्रन्थोमे नन्दिमित्रका पहले नाम आया है और अपराजितका बादमे।

नन्दिसंघकी प्राकृत पट्टावलिमे परम्परासे प्राप्त बुद्धिलके स्थानपर बुद्धिलिङ्ग नाम आया है। इसी प्रकार गंगदेवके स्थानपर केवल देव नाम प्राप्त होता है। जयपालके स्थानपर जयधवलामे जसफल और जम्बुदीवपण्णत्तीमे[1] जसपाल नाम आये है। यथार्थत ये नाम भी एक ही व्यक्तिके है। ध्रुवसेनके स्थानपर इन्द्रनन्दीके श्रुतावतारमे[2] द्रुमसेन और श्रुतस्कन्धमे धुतसेन नाम मिलते हैं।

आचारांगधारी यशोभद्रके स्थानपर इन्द्रनन्दीके श्रुतावतारमे अभयभद्र नाम आया है। इसी प्रकार यशोबाहुके स्थानपर जयधवलामे जहबाहू, श्रुतावतारमें जयबाहु; नन्दिसंघकी प्राकृत पट्टावलि और आदिपुराणमे[3] भद्रबाहु नाम आये है। संभवत नन्दिसंघकी प्राकृत पट्टावलिके भद्रबाहु द्वितीय हैं।

प्राकृत पट्टावलिमे तीन केवलियो, पाँच श्रुतकेवलियो और ग्यारह दशपूर्वियोका समय तो क्रमश ६२ + १०० + १८३ वर्ष बतलाया गया है, जिसका योगफल ३४५ वर्ष आता है। इसके पश्चात् जिन पाँच एकादशांगधारियोका समय अन्यत्र २२० वर्ष बतलाया है, यहाँ उनका समय १२३ वर्ष ही कहा है। इसके पश्चात् आगे जिन चार आचार्योंको अन्यत्र आचारांगधारी कहा गया है, उन्हे इस पट्टावलीमे १०, ९ और ८ अंगका धारी कहा है तथा इनका समय ११८ वर्षके स्थानमे ९९ वर्ष (९७) कहा है। पट्टावलीकी कालगणनाके अनुसार वीर निर्वाणसे ६२ + १०० + १८३ + १२३ + २४ = ४९२ वर्षके पश्चात् द्वितीय भद्रबाहु हुए। इनका काल २३ वर्ष बतलाया है। गणनानुसार ५२७–४९२ = ३५ अर्थात् ई० सन्से ३५ वर्ष पूर्व द्वितीय भद्रबाहु हुए हैं।

पट्टावलीमे 'तदुक्त विक्रमप्रबन्धे' लिखकर जो दो गाथाये उद्धृत की गयी

---

१. णक्खत्तो जसपालो पडू धुवसेण कंसआयरिओ।
एयारसंगधारी पंच जणा होंति णिद्दिट्ठा॥ जम्बूदीवपण्णत्ती १।१६

२ इन्द्रनन्दि श्रुतावतार, सूरत संस्करण, पृष्ठ १३।

३. सुभद्रश्च यशोभद्रो भद्रबाहुर्महायशा।
लोहार्यश्चेत्यमी ज्ञेया प्रथमाङ्गाब्धिपारगा॥ महापुराण २।१४९

हैं, उनमे बतलाया है कि वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष पश्चात् विक्रमका जन्म हुआ। अतएव ४९२ – ४७० = २२ अर्थात् विक्रमके जन्मसे २२ वर्ष पीछे सुभद्राचार्यका अन्त हुआ। तत्पश्चात् भद्रबाहु द्वितीय पट्टासीन हुए। स्पष्ट है कि वि० स० २२ से वि० स० ४५ तक भद्रबाहु द्वितीयका समय आता है।

सरस्वतीगच्छकी पट्टावलीमे इन्हे जातिसे ब्राह्मण बताया है और इनकी आयु ७७ वर्षकी कही गयी है। इस पट्टावलीमें भद्रबाहुके तीन शिष्योंके नाम आये हैं गुप्तिगुप्त, अर्हद्बलि और विशाखाचार्य। श्रुतकेवली भद्रबाहुके शिष्यका नाम भी विशाखाचार्य था। नन्दिसघकी पट्टावलीमे भद्रबाहु द्वितीयके शिष्यका नाम लोहाचार्य बताया गया है। द्वितीय भद्रबाहु और उनके शिष्य गुप्तिगुप्तकी स्थिति सर्वथा असदिग्ध नही है। अतएव श्वेताम्बर परम्पराके द्वितीय भद्रबाहु दिगम्बर परम्पराके भद्रबाहु द्वितीयसे सर्वथा भिन्न है। दिगम्बर भद्रबाहु वराहमिहिरके भाई नहीं हैं।

श्रुतकेवली भद्रबाहुके गुरुका नाम गोवर्धनाचार्य है। ये ही दिगम्बर मुनियोका सघ लेकर दक्षिणकी ओर गये थे और इन्हीका शिष्य चन्द्रगुप्त मौर्य था। चन्द्रगुप्त मौर्यके सम्बन्धमे हरिषेणकथाकोषमे भद्रबाहुका आख्यान आया है। इसमे चन्द्रगुप्तको उज्जयिनीका राजा बतलाया गया है। शिशुनाग वश और नन्दवशके राज्यमे भी उज्जयिनीका राज्य सम्मिलित था। यद्यपि चन्द्रगुप्त मौर्यकी प्रधान राजधानी पाटलिपुत्रमे थी, पर पश्चिम खण्डकी राजधानी उज्जयिनीमे स्थित थी। जब भद्रबाहु उज्जयिनीमे पधारे उस समय उस नगरमे महान् श्रावक राजा चन्द्रगुप्त था। इससे अवगत होता है कि उस समय चन्द्रगुप्त उज्जयिनीमे गया हुआ था। यह जैन श्रमणोका बड़ा भक्त था और उनका यथोचित आदर-सत्कार करता था। मि० जॉर्ज सी० एम० वर्ल्डवुकने लिखा है "चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार दोनो जैन थे, किन्तु चन्द्रगुप्तके पौत्र अशोकने बौद्धधर्म स्वीकार किया था।"[1]

तिलोयपण्णत्तीमे बताया है कि मुकुटधर राजाओमे अन्तिम राजा चन्द्रगुप्तने जिनदीक्षा ग्रहण की थी। इसके पश्चात् अन्य कोई मुकुटधर दीक्षित नही हुआ।

मउडधरेसु चरिमो जिणदिक्ख धरदि चदगुत्तो य।
तत्तो मउडधरा दुप्पव्वज्ज णेव गेण्हति ॥[2]

१, कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैन साहित्यका इतिहास, पूर्व पीठिका, वर्णी ग्रन्थमाला वाराणसी, पृष्ठ ३५२।

२ तिलोयपण्णत्ती ४।१४८१

तिलोयपण्णत्तिके इस सन्दर्भसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्तका उल्लेख जिस प्रसगमे आया है वह प्रसग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। केवली और श्रुत-केवलियोके मध्यमे चन्द्रगुप्तका निर्देश सामान्य नही है। अन्तिम केवलज्ञानी श्रीधर कुण्डलगिरिसे सिद्धिको प्राप्त हुए। चारणऋषियोंमे अन्तिम सुपार्श्वचन्द्र नामक ऋषि हुए। अन्तिम प्रज्ञाश्रमण वज्रयश और अन्तिम अवधिज्ञानी श्रीनामक ऋषि हुए। इसके पश्चात् मुकुटधरोमे अन्तिम चन्द्रगुप्तने जिनदीक्षा ग्रहण की। चन्द्रगुप्तका निर्देश करनेवाली गाथाके पश्चात् श्रुतकेवली भद्रबाहुका नाम आया है। अतएव यह स्पष्ट है कि अन्तिम श्रुतकेवली और मौर्य चन्द्रगुप्त ये दोनो समकालीन हैं।

खारवेलके हाथी गुम्फावाले अभिलेखकी सोलहवी पंक्तिका जायसवाल साहबने अध्ययन कर लिखा है "जैन आगमोके इतिहासके और अधिक गहरे अध्ययनसे हम निर्णय करनेमे समर्थ होगे कि उक्त पंक्तिके किये गये तीन अर्थोमेसे कौन-सा अर्थ ग्राह्य है। किन्तु चन्द्रगुप्त मौर्यके समयमे जैन मूलग्रन्थोके विनाशको लेकर जैनपरम्परामे जो विवाद चलता है उसका लेखके उक्त पाठसे आश्चर्यजनक समर्थन होता है। इससे स्पष्ट है कि उडीसा जैनधर्मके उस सम्प्रदायका अनुयायी था, जिसने चन्द्रगुप्तके राज्यमे पाटलिपुत्रमे होनेवाली वाचनामे सकलित आगमोको स्वीकार नही किया था।"[1]

जायसवालजीके उपर्युक्त कथनसे यह ध्वनित होता है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परामे भद्रबाहु श्रुतकेवलीके समयसे श्रुतका विच्छेद होनेकी जो अनुश्रुतियाँ हैं वे मौर्यकालसे सम्बद्ध हैं। अतएव भद्रबाहु श्रुतकेवलीका अस्तित्व चन्द्रगुप्त मौर्यके समयमे सिद्ध है।

नन्दिसघकी प्राकृत पट्टावलीसे भी उक्त कथनकी पुष्टि होती है। पट्टावलीमे वीरनिर्वाणसे लोहाचार्य तक ५६५ वर्षोका समय बताया है। अन्य ग्रन्थोमे यह काल ६८३ वर्ष है। इस प्रकार कालगणनामे ११८ वर्षोका अन्तर आता है। यद्यपि तीन केवली, पाँच श्रुतकेवली और ग्यारह दशपूर्वधारी आचार्योंकी कालगणनामे कोई अन्तर नही है। तो भी अर्हद्बलिसे भूतबलि पर्यन्त पाँच आचार्योंके दिये गये ११८ वर्षों मे ५० वर्ष श्रुतकेवलियोके भी सम्मिलित कर दिये जाये तो श्रुतकेवली भद्रबाहु और चन्द्रगुप्तमौर्यकी सम-कालीनता बन जाती है।

हरिषेणकृत वृहत्कथाकोषमे[2] श्रुतकेवली भद्रबाहुका जो आख्यान आया है उसमे बताया है कि 'दुर्भिक्षके कारण श्रुतकेवली भद्रबाहु नवदीक्षित अपने

१ Journal of Bihar Orissa Research Society Patna vol. 13 P. 236

२. वृहत्कथाकोष, भारतीय विद्याभवन बम्बई, सन्, १९४३, पृ० ३१७-३१९

शिष्य चन्द्रगुप्त सहित दक्षिणकी ओर चले। चन्द्रगुप्तका दीक्षा नाम विशाखाचार्य पड़ा। जब दुर्भिक्ष समाप्त हो गया तो विशाखाचार्य समस्त संघके साथ दक्षिणापथसे मध्यदेशमे लौट आया। रामिल्ल, स्थविर और स्थूलभद्राचार्य तीनो दुर्भिक्षकालमे सिन्धुदेशमे चले गये थे। उन्होने वहाँसे लौटकर बतलाया कि उस देशके निवासी दुर्भिक्ष पीड़ितोके भयसे दिनमें भोजन नही कर पाते थे। अतएव वे रात्रिमे भोजन करते थे। उन्होने हमसे कहा कि आप लोग भी रात्रिके समय हमारे घरसे पात्र लेकर आहार ले जाया करें। उन लोगोके इस अनुरोधपर हमलोग रात्रिमे आहार लाकर, दिनमे भोजन करने लगे। एक दिन एक कृशकाय निर्ग्रंथ साधु हाथमे भिक्षापात्र लेकर श्रावकके घर गया। अन्धकारमे उस नग्नमुनिको देखकर एक गर्भिणी श्राविकाका भयके कारण गर्भपात हो गया। इसपर श्रावकोने आकर साधुओसे प्रार्थना की "समय बडा खराब है। जबतक स्थिति ठीक नही होती, तबतक आपलोग बाँयें हाथसे अर्द्धफालक-अर्धवस्त्रको आगे करके दाहिने हाथमे भिक्षापात्र लेकर रात्रिमे आहार लेने आया करें। जब सुभिक्ष हो जाय तब प्रायश्चित्त लेकर पुन अपने तपमे सलग्न हो जाये।" श्रावकोका उक्त वचन सुनकर यतिगण वैसा करने लगे।

जब सुभिक्ष हो गया तो रामिल्ल, स्थविर और स्थूलभद्राचार्यने सकल संघको बुलाकर अर्द्ध वस्त्र छोड़ देनेका आदेश दिया और सभी विशाखाचार्यके पास गये और नैर्ग्रन्थ्यरूप धारण किया। जिनको गुरुके वचन रुचिकर प्रतीत नही हुए उन शक्तिहीनोने जिनकल्प और स्थविरकल्पका भेद करके अर्द्ध-फालक सम्प्रदायका प्रचलन किया।'

उपर्युक्त आख्यानका अन्य ऐतिहासिक संदर्भो मे अध्ययन करनेपर अवगत होता है कि स्थविर और स्थूलभद्र भद्रबाहुके समकालीन हैं। दिगम्बर परपरामे श्रुतकेवली भद्रबाहुको जो स्थान प्राप्त है, श्वेताम्बर परम्परामे वही स्थान स्थूलभद्रको प्राप्त है। श्वेताम्बर सम्प्रदायकी आचार्यपरम्पराका प्रारम्भ श्रुतकेवली भद्रबाहुसे न होकर स्थूलभद्राचार्यसे होता है। अतएव सक्षेपमे यही कहा जा सकता है कि दिगम्बर आरातियोकी परम्परा श्रुतकेवली भद्रबाहुसे प्रारम्भ होती है। इस परम्पराके आचार्योमे भेद करना शक्य नही है, क्योकि सभी आचार्यो ने गौतम गणधर द्वारा ग्रथित श्रुतका ही विवेचन किया है। विषयवस्तु वही रही है, जिसका निरूपण तीर्थंकर महावीरकी दिव्यध्वनि द्वारा हुआ है। विभिन्न समयोमे उत्पन्न होनेके कारण इन आचार्योने केवल द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके अनुसार अभिव्यञ्जना शक्तिका ही रूपान्तर किया है। तथ्य समान होते हुए भी कथन करनेकी प्रक्रिया भिन्न है। हम सुविधाकी दृष्टिसे

दिगम्बर आरातियोंकी परम्पराको निम्नलिखित पाँच भागोमे विभक्त कर विवेचन उपस्थित करेंगे।

१ श्रुतधराचार्य।
२. सारस्वताचार्य।
३ प्रबुद्धाचार्य।
४. परम्परापोषकाचार्य।
५. कवि और लेखक आचार्य तुल्य।

१ **श्रुतधराचार्यसे** अभिप्राय हमारा उन आचार्यों से है, जिन्होने सिद्धान्त, साहित्य, कर्मसाहित्य, अध्यात्मसाहित्यका ग्रथन दिगम्बर आचार्यो के चारित्र और गुणोका जोवनमे निर्वाह करते हुए किया है। यो तो प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोगका पूर्व परम्पराके आधारपर ग्रन्थरूपमे प्रणयन करनेका कार्य सभी आचार्य करते रहे हैं, पर केवली और श्रुतकेवलियोकी परम्पराको प्राप्त कर जो अग या पूर्वो के एकदेशज्ञाता आचार्य हुए हैं उनका इतिवृत्त श्रुतधर आचार्यो को परम्पराके अन्तर्गत प्रस्तुत किया जायगा। अतएव इन आचार्योंमे गुणधर, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतवलि, यतिवृषभ, उच्चारणाचार्य, आर्यमक्षु, नागहस्ति, कुन्दकुन्द, गृद्धपिच्छाचार्य और वप्पदेवकी गणना की जा सकती है।

श्रुतधराचार्य युगसस्थापक और युगान्तरकारी आचार्य हैं। इन्होने प्रतिभाके क्षीण होनेपर नष्ट होती हुई श्रुतपरम्पराको मूर्त्त रूप देनेका कार्य किया है। यदि श्रुतधर आचार्य इस प्रकारका प्रयास नही करते तो आज जो जिनवाणी अवशिष्ट है, वह दिखलायी नही पडती। श्रुतधराचार्य दिगम्बर आचार्यो के मूलगुण और उत्तरगुणोसे युक्त थे और परम्पराको जीवित रखनेकी दृष्टिसे वे ग्रन्थ-प्रणयनमे सलग्न रहते थे। श्रुतकी यह परम्परा अर्थश्रुत और द्रव्यश्रुतके रूपमे ई० सन् पूर्वकी शताब्दियोसे आरम्भ होकर ई० सन्की चतुर्थ-पचम शताब्दी तक चलती रही है। अतएव श्रुतधर परम्परामे कर्मसिद्धान्त, लोकानुयोग एव सूत्र रूपमे ऐसा निबद्ध साहित्य, जिसपर उत्तरकालमे टीकाएँ, विवृत्तियाँ एव भाष्य लिखे गये हैं, का निरूपण समाविष्ट रहेगा।

२ **सारस्वताचार्यसे** हमारा अभिप्राय उन आचार्योसे है, जिन्होने प्राप्त हुई श्रुतपरम्पराका मौलिक ग्रन्थप्रणयन और टीका साहित्य द्वारा प्रचार और प्रसार किया है। इन आचार्यो मे मौलिक प्रतिभा तो रही है, पर श्रुतधरोके समान अग और पूर्व साहित्यका ज्ञान नही रहा है। इन आचार्यो मे समन्तभद्र पूज्यपाद-देवनन्दि, पात्रकेसरी, जोइन्दु, ऋषिपुत्र, अकलक, वीरसेन, जिनसेन,

मानतुंग, एलाचार्य, जटासिंहनन्दि, वीरनन्दि, विद्यानन्द आदि आचार्य परिगणित हैं।

३ प्रबुद्धाचार्यसे हमारा अभिप्राय ऐसे आचार्योंसे है, जिन्होंने अपनी प्रतिभा द्वारा ग्रन्थप्रणयनके साथ विवृत्तियाँ और भाष्य भी रचे हैं। यद्यपि सारस्वताचार्य और प्रबुद्धाचार्य दोनोंमें ही प्रतिभाका बाहुल्य है, पर दोनोंकी प्रतिभाके तारतम्यमें अन्तर है। जितनी सूक्ष्म निरूपणशक्ति सारस्वताचार्यों-में पायी जाती है, उतनी सूक्ष्म निरूपणशक्ति प्रबुद्धाचार्यों में नहीं है। कल्पना-की रमणीयता या कल्पनाकी उडान प्रबुद्धाचार्यों में अधिक है, और इस श्रेणीके सभी आचार्य प्राय कवि हैं। इनका गद्य और पद्य भी अलकृत शैलीका है। अत अभिव्यञ्जनाकी सशक्त काव्यशक्तिके रहनेपर भी सिद्धान्तनिरूपणकी वह क्षमता नहीं है, जो क्षमता सारस्वताचार्य या श्रुतधराचार्यों में पायी जाती है। इस श्रेणीके आचार्यों में जिनसेन प्रथम, प्रभाचन्द्र, नरेन्द्रसेन, भावसेन, अर्थिनन्दि, नेमिचन्द्रगणि, पद्मनन्दि, वादीभसिंह, हरिषेण, वादिराज, पद्मनन्दि-जम्बूद्वीपपण्णत्तीकार, महासेन, सोमदेव, हस्तिमल्ल, रामसिंह, नयनन्दि, माधवचन्द्र-त्रैविद्य, विश्वसेन, जयसेनाचार्य द्वितीय, अनन्तवीर्य एव इन्द्रनन्दि आदिकी गणना की जा सकती है। इन आचार्यो ने पदयात्रा द्वारा भारतका भ्रमण किया और अपभ्रंश एव संस्कृत आदि भाषाओमे ग्रन्थ-रचना की।

४. परम्परापोषक आचार्योंसे हमारा अभिप्राय उन भट्टारकोसे है जिन्होंने दिगम्बर परम्पराकी रक्षाके लिए प्राचीन आचार्यों द्वारा निर्मित ग्रन्थोके आधार पर अपने नवीन ग्रन्थ लिखे। सारस्वताचार्य और प्रबुद्धाचार्यमे जैसी मौलिक प्रतिभा समाविष्ट थी, वैसी मौलिक प्रतिभा परम्परापोषक आचार्यों में नहीं पायी जाती। नयी सम्भावनाओंका विकास इन आचार्यों द्वारा नहीं हो सका है। पिष्टपेषणका कार्य ही इन आचार्योंके द्वारा हुआ है। यों तो संस्कृति निर्माताओंके रूपमे अनेक परम्परापोषक आचार्य आते हैं, पर वाङ्मयसृजनकी मौलिक प्रतिभा और अध्ययनगाम्भीर्य प्रायः इन्हे प्राप्त नहीं था। धनी-मानी शिष्योंसे वेष्टित रहकर, मन्त्र-तन्त्र या जादू-टोनेकी चर्चाएँ कर, जनसाधारण-को ये अपनी ओर आकृष्ट करते रहते थे। धर्मप्रचार करना, जनसाधारणको धर्मके प्रति श्रद्धालु बनाये रखना एव सरस्वतीका सरक्षण करना प्राय परम्परा-पोषक आचार्योंका लक्ष्य हुआ करता था। यही कारण है कि इन आचार्यों द्वारा गद्दियों पर समृद्ध ग्रन्थागार स्थापित किये गये। मौलिक ग्रन्थ-प्रणयनके साथ आर्ष और मान्य कवियों एव श्रुतधरो द्वारा रचित वाङ्मय, काव्य एव आध्यात्मसाहित्यकी प्रतिलिपियाँ भी इनके तत्त्वावधानमे प्रस्तुत की गयी हैं।

परम्परापोषक आचार्यो ने युगानुसार रचनाएँ न लिखकर धर्मप्रचारार्थ कथाकाव्य या दर्शनसम्बन्धी ग्रन्थोका प्रणयन किया है। धर्म और सस्कृतिके दायित्वका निर्वाह लगभग पाँच छह सौ वर्षो तक इन आचार्यों के द्वारा होता रहा है। ये आचार्य आरम्भमे निश्चयत निस्पृही, त्यागी, ज्ञानी एव जितेन्द्रिय थे। स्वय विद्वान् होनेके साथ मनीषी विद्वान्का सम्पोषण भी इन्हीकी गद्दियोसे होता था। परम्परापोषक आचार्यो का लक्ष्य ग्रन्थोके सख्याबाहुल्यपर था, मौलिक रचनाकी ओर नही।

इस श्रेणीके आचार्यो में भास्करनन्दि, सकलकीर्ति, वामदेव, सिंहसूरि, मल्लिषेण, श्रुतसागर, अजितसेन, वर्द्धमानभट्टारक, ज्ञानकीर्ति, ब्रह्मनेमिदत्त, वादिचन्द्र, सोमकीर्ति, विबुधश्रीधर, अमरकीर्ति, देवचन्द्र, यश कीर्ति, हरिचन्द्र, तेजपाल, पूर्णभद्र, दामोदर, त्रिविक्रम, ज्ञानकीर्ति, विद्यानन्दि, ब्रह्मश्रुतसागर, पद्मनन्दि, नेमिचन्द्र, सहस्रकीर्ति, जिनेन्द्रभूषण, धर्मभूषण, गुणचन्द्र, शुभचन्द्र, शुभकीर्ति, देवेन्द्रकीर्ति, चारित्रभूषण, नागदेव, चन्द्रकीर्ति, जयकीर्ति, सुमतिसागर, अरुणमणि, श्रीनन्दि, श्रीचन्द्र, कमलकीर्ति आदि प्रमुख है। इन आचार्यो ने निम्नलिखित रूपमे वाड्मयकी सेवा की है

१. पौराणिक चरित-काव्य
२. लघुप्रबन्ध कथाकाव्य
३ दूत-काव्य
४ न्याय-दर्शन विषयक साहित्य
५ अध्यात्म-साहित्य
६ प्रबन्धात्मक प्रशस्तिमूलक ऐतिहासिक काव्य
७. सन्धान-काव्य
८ सूक्ति, आचारमूलक काव्य
९ स्तोत्र और पूजाभक्ति साहित्य
१० नाटक
११. विविध विषयक समस्यापूर्त्यात्मक काव्य
१२ सहिता-विषयक साहित्य

कवि और लेखक—दिगम्बर परम्पराके श्रुतका सरक्षण और विस्तार आचार्यो के अतिरिक्त गृहस्थ लेखक और कवियोने भी किया है। पंडित आशाधर जैसे बहुश्रुतज्ञ विद्वान् इस परम्परामे हुए हैं। जिन्होने मौलिक रचनाओके साथ अनेक ग्रन्थोके टीका और टिप्पण भी लिखे है। महाकवि रइधू, असग, हरिचन्द आदिने भी रचनाएँ लिखकर आरातीय परम्पराके विकासमे योगदान

दिया है। आचार्य जिनसेन, महाकवि पुष्पदन्तकी परम्पराका विकास विभिन्न भाषाओं द्वारा रचित वाङ्मयके आधारपर किया है। प्रवुद्ध आचार्योंने जिन पौराणिक महाकाव्योंके रचनातन्त्रका प्रारंभ किया था, उस रचनातन्त्रका सम्यक् विकास इन कवियोंके द्वारा हुआ। संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड, तमिल, तेलगु आदि भाषाओंमें कवियों और लेखकोंने सिद्धान्त और आचारविषयक रचनाएँ लिखकर श्रुतपरंपराका विकास किया है। ये लेखक और कवि भी वाङ्मयके स्रष्टा और संवर्द्धक हैं।

इस श्रेणीके कवि और लेखकोंमें असग, हरिचन्द, अर्हद्दास आशाधर, धर्मधर, दोडय्य, जगन्नाथ, लक्ष्मीचन्द्र, रामचन्द्र मुमुक्षु, पद्मनाभ कायस्थ, बनारसीदास, पंडित रामचन्द्र, ब्रह्मकामराज, रूपचन्द्र, रूपचन्द्र पाण्डेय, हरपाल, केशवसेन, अक्षयराम, देवदत्त, पंडित धरसेन, शिवभिराम, ब्रह्मराजमल आदि प्रमुख हैं। साधारणतः इन कवि और लेखकोंमें अधिकांशका सम्बन्ध भट्टारकोंके साथ है। यह भी संभव है कि इनमेंसे दो चार कवि या लेखक भट्टारक भी रहे हों, पर रचनाओंसे इनका जीवन सांसारिक गृहस्थके समान ही प्रतीत होता है। इसी कारण हमने इनकी गणना कवि और लेखकोंमें की है।

श्रुतधराचार्य

आचार्य गुणधर और उनकी रचनाएँ

श्रुतधराचार्यो की परंपरामें सर्वप्रथम आचार्य गुणधरका नाम आता है। गुणधर और धरसेन दोनों ही श्रुत-प्रतिष्ठापकके रूपमें प्रसिद्ध हैं। गुणधर आचार्य धरसेनकी अपेक्षा अधिक ज्ञानी थे। गुणधरको 'पञ्चमपूर्वगत पेज्जदोसपाहुड' का ज्ञान प्राप्त था और धरसेनको 'पूर्वगत कम्मपयडिपाहुड' का। इतना ही नहीं, किन्तु गुणधरको 'पेज्जदोसपाहुड'के अतिरिक्त 'महाकम्मपयडिपाहुड'का भी ज्ञान प्राप्त था, जिसका समर्थन 'कसायपाहुड'से होता है। 'कसायपाहुड'में बन्ध, संक्रमण, उदय और उदीरणा जैसे पृथक् अधिकार दिये गये हैं। ये अधिकार 'महाकम्मपयडिपाहुड'के चौबीस अनुयोगद्वारोंमेंसे क्रमशः षष्ठ, द्वादश और दशम अनुयोगद्वारोंसे संबद्ध हैं। 'महाकम्मपयडिपाहुड'का चौबीसवाँ अल्पबहुत्व नामक अनुयोगद्वार भी 'कसायपाहुड'के सभी अर्थाधिकारोंमें व्याप्त है। अतः स्पष्ट है कि आचार्य गुणधर 'महाकम्मपयडिपाहुड'के ज्ञाता होनेके साथ 'पेज्जदोसपाहुड' के ज्ञाता और 'कसायपाहुड'के रूपमें उसके उपसंहारकर्त्ता भी थे। पर 'छक्खंडागम'की धवला-टीकाके अध्ययनसे ऐसा ज्ञात नहीं होता कि धरसेन 'पेज्जदोसपाहुड'के ज्ञाता थे। अतएव आचार्य गुणधरको दिगंबर परंपरामें लिखित रूपमें प्राप्त श्रुतका प्रथम श्रुतकार माना जा सकता है। धरसेनने किसी ग्रन्थकी

रचना नही की। जबकि गुणधरने 'पेज्जदोसपाहुड'की रचना की है। जयधवलाके मंगलाचरणके पद्यसे ज्ञात होता है कि आचार्य गुणधरने कसायपाहुडका गाथाओ द्वारा व्याख्यान किया है।

जेणिह कसायपाहुडमणेयणयमुज्जलं अणतत्थं।
गाहाहि विवरिय त गुणहरभडारय वदे॥ ६॥

इसके अनन्तर आचार्य वीरसेनने लिखा है ज्ञानप्रवादपूर्वके निर्मल दसवें वस्तु अधिकारके तृतीय कसायपाहुडरूपी समुद्रके जलसमूहसे प्रक्षालित मति-ज्ञानरूपी नेत्रधारी एव त्रिभुवन-प्रत्यक्षज्ञानकर्ता गुणधर भट्टारक हैं और उनके द्वारा उपदिष्ट गाथाओमे सम्पूर्ण कसायपाहुडका अर्थ समाविष्ट है। आचार्य वीरसेनने उसी सदर्भमे आगे लिखा है कि तीसरा कषायप्राभृत महासमुद्रके तुल्य है और आचार्य गुणधर उसके पारगामी है।

वीरसेनाचार्यके उक्त कथनसे यह ध्वनित होता है कि आचार्य गुणधर पूर्व-विदोकी परम्परामे सम्मिलित थे, किन्तु धरसेन पूर्वविद् होते हुए भी पूर्वविदो-की परम्परामे नही थे। एक अन्य प्रमाण यह भी है कि धरसेनकी अपेक्षा गुणधर अपने विषयके पूर्ण ज्ञाता थे। अत यह माना जा सकता है कि गुणधर ऐसे समय-मे हुए थे जब पूर्वो के आशिक ज्ञानमे उतनी कमी नही आयी थी, जितनी कमी धरसेनके समयमे आ गयी थी। अतएव गुणधर धरसेनके पूर्ववर्ती हैं।

समय-विचार

आचार्य गुणधरके समयके सम्बन्धमे विचार करनेपर ज्ञात होता है कि इनका समय धरसेनके पूर्व है। इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारमे लोहार्य तककी गुरु-परम्पराके पश्चात् विनयदत्त, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हद्दत्त इन चार आचार्यों-का उल्लेख किया गया है। ये सभी आचार्य अगो और पूर्वो के एकदेशज्ञाता थे। इनके पश्चात् अर्हद्बलिका नाम आया है। अर्हद्बलि बडे भारी सघनायक थे। इन्हे पूर्वदेशके पुण्ड्रवर्धनपुरका निवासी कहा गया है। इन्होने पञ्चवर्षीय युगप्रतिक्रमणके समय बडा भारी एक यति-सम्मेलन किया, जिसमे सौ योजन तकके यति सम्मिलित हुए। इन यतियोकी भावनाओसे अर्हद्बलिने ज्ञात किया कि अब पक्षपातका समय आ गया है। अतएव इन्होने नन्दि, वीर, अपराजित, देव, पञ्चस्तूप, सेन, भद्र, गुणधर, गुप्त, सिंह, चन्द्र आदि नामोसे भिन्न-भिन्न संघ स्थापित किये, जिससे परस्परमे धर्मवात्सल्यभाव वृद्धिगत हो सके।

सघके उक्त नामोसे यह स्पष्ट होता है कि गुणधरसघ आचार्य गुणधरके नाम पर ही था। अत गुणधरका समय अर्हद्बलिके समकालीन या उनसे भी

पूर्व होना चाहिए। इन्द्रनन्दिको गुणधर और धरसेनका पूर्व या उत्तरवर्त्तित्व ज्ञात नही है। अतएव उन्होने स्वय अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए लिखा है

गुणधरधरसेनान्वयगुर्वो पूर्वापरक्रमोऽस्माभि ।
न ज्ञायते तदन्वयकथकागममुनिजनाभावात् ॥ १५१ ॥[1]

अर्थात् गुणधर और धरसेनकी पूर्वापर गुरुपरम्परा हमे ज्ञात नही है क्योकि इसका वृत्तान्त न तो हमे किसी आगममे मिला और न किसी मुनिने ही बतलाया।

स्पष्ट है कि इन्द्रनन्दिके समय तक आचार्य गुणधर और धरसेनका पूर्वापर-वर्त्तित्व स्मृतिके गर्भमें विलीन हो चुका था। पर इतना स्पष्ट है कि अर्हद्वलि द्वारा स्थापित सघोमे गुणधरसघका नाम आया है। नन्दिसघकी प्राकृत पट्टावली मे अर्हद्वलिका समय वीर निर्वाण स० ५६५ अथवा वि० सं० ९५ है। यह स्पष्ट है कि गुणधर अर्हद्वलिके पूर्ववर्त्ती हैं, पर कितने पूर्ववर्त्ती है, यह निर्णयात्मक रूपसे नही कहा जा सकता। यदि गुणधरको परम्पराको ख्याति प्राप्त करनेमे सौ वर्षका समय मान लिया जाय तो 'छक्खडागम' प्रवचनकर्त्ता धरसेनाचार्य-से 'कसायपाहुड'के प्रणेता गुणधराचार्यका समय लगभग दो सौ वर्ष पूर्व सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार आचार्य गुणधरका समय वि० पू० प्रथम शताब्दी सिद्ध होता है।

हमारा यह अनुमान केवल कल्पना पर आधृत नही है। अर्हद्वलिके समय तक गुणधरके इतने अनुयायी यति हो चुके थे कि उनके नामपर उन्हे सघकी स्थापना करनी पडी। अतएव अर्हद्वलिको अन्य सघोके समान गुणधर सघका भी मान्यता देनी पडी। प्रसिद्धि प्राप्त करते और अनुयायी बनानेमे कमसे कम सौ वर्षका समय तो लग ही सकता है। अत गुणधरका समय धरसेनसे कमसे कम दो सौ वर्ष पूर्व अवश्य होना चाहिये।

इनके गुरु आदिके सम्बन्धमे कोई जानकारी प्राप्त नही होती है। गुणधरने इस ग्रन्थकी रचना कर आचार्य नागहस्ति और आर्यमक्षुको इसका व्याख्यान किया था। अतएव इनका समय उक्त आचार्योसे पूर्व है। छक्खडागमके सूत्रो-के अध्ययनसे भी यह अवगत होता है कि 'पेज्जदोसपाहुड'का प्रभाव इसके सूत्रो पर है। भाषाकी दृष्टिसे भी छक्खडागमकी भाषा कसायपाहुडकी भाषाकी

---

१ इन्द्रनन्दि, श्रुतावतार पद्य १५१.

अपेक्षा अर्वाचीन है। अत गुणधरका समय वि० पू० प्रथम शताब्दी मानना सर्वथा उचित है। जयधवलाकारने लिखा है

"पुणो ताओ चेव सुत्तगाहाओ आइरियपरंपराए आगच्छमाणीओ अज्जमखुणागहत्थीण पत्ताओ। पुणो तेसि दोण्ह पि पादमूले असीदिसदगाहाण गुणहरमुहकमलविणिग्गयाणमत्थ सम्म सोऊण जयिवसहभडारएण पवयणवच्छलेण चुण्णिसुत्त कय।"[1]

अर्थात् गुणधराचार्यके द्वारा १८० गाथाओमे कसायपाहुडका उपसहार कर दिये जाने पर वे ही सूत्रगाथाएँ आचार्यपरम्परासे आती हुई आर्यमक्षु और नागहस्तिको प्राप्त हुईं। पश्चात् उन दोनो ही आचार्योके पादमूलमे बैठकर गुणधराचार्यके मुखकमलसे निकली हुई उन १८० गाथाओके अर्थको भले प्रकारसे श्रवण करके प्रवचनवात्सल्यसे प्रेरित हो यतिवृषभ भट्टारकने उनपर चूर्णिसूत्रोकी रचना की। इस उद्धरणसे यह स्पष्ट है कि आचार्य गुणधरने महान् विषयको सक्षेपमे प्रस्तुत कर सूत्रप्रणालीका प्रवर्त्तन किया। गुणधर दिगम्बर परम्पराके सबसे पहले सूत्रकार हैं।

रचना

गुणधराचार्यने 'कसायपाहुड', जिसका दूसरा नाम 'पेज्जदोसपाहुड' भी है, की रचना की है। १६००० पद प्रमाण कसायपाहुडके विषयको सक्षेपमे एकसौ अस्सी गाथाओमे ही उपसहृत कर दिया है।

'पेज्ज' शब्दका अर्थ राग है। यत यह ग्रन्थ राग और द्वेषका निरूपण करता है। क्रोधादि कषायोकी रागद्वेष परिणति और उनकी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग एव प्रदेशबन्ध सम्बन्धी विशेषताओका विवेचन ही इस ग्रन्थका मूल वर्ण्य विषय है। यह ग्रन्थ सूत्रशैलीमे निबद्ध है। गुणधरने गहन और विस्तृत विषयको अत्यन्त सक्षेपमे प्रस्तुत कर सूत्रपरम्पराका आरभ किया है। उन्होने अपने ग्रन्थके निरूपणकी प्रतिज्ञा करते हुए गाथाओको सुत्तगाहा कहा है

गाहासदे असीदे अत्थे पण्णरसधा विहत्तम्मि।
वोच्छामि सुत्तगाहा जयि गाहा जम्मि अत्थम्मि॥ २॥[2]

स्पष्ट है 'कसायपाहुड'की शैली गाथासूत्र शैली है। प्रश्न यह है कि इन गाथाओको सूत्रगाथा कहा जाय अथवा नही? विचार करनेसे ज्ञात होता है कि 'कसायपाहुड' की गाथाओमे सूत्रशैलीके सभी लक्षण समाहित है। इस

१ कसायपाहुडसुत्त, भाग १ पृ० ८८

१ कसायपाहुडसुत्त, गाथा २

ग्रन्थकी जयधवला-टीकामें आचार्य वीरसेनने आगमदृष्टिसे सूत्रशैलीका लक्षण बतलाते हुए लिखा है

सुत्तं गणहरकहियं तहेय पत्तेयबुद्धकहियं च।
सुदकेवलिणा कहियं अभिण्णदसपुव्विकहियं च ॥[1]

अर्थात् जो गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली और अभिन्नदसपूर्वियों द्वारा कहा जाय वह सूत्र है।

अब यहाँ प्रश्न यह है कि गुणधर भट्टारक न तो गणधर है, न प्रत्येकबुद्ध हैं, न श्रुतकेवली हैं और न अभिन्नदशपूर्वी है। अत पूर्वोक्त लक्षणके अनुसार इनके द्वारा रचित गाथाओंको सूत्र कैसे माना जाय? इस शकाका समाधान करते हुए आचार्य वीरसेनने लिखा है कि आगमदृष्टिसे सूत्र न होने पर भी शैलीकी दृष्टिसे ये सभी गाथाएँ सूत्र हैं 'इदि वयणादो णेदाओ गाहाओ सुत्त गणहर-पत्तेयबुद्ध-सुदकेवलि-अभिण्णदसपुव्वीसु गुणहरभडारयस्स अभावादो; ण, णिद्दोसप्पक्खरसहेउपमाणेहि सुत्तेण सरिसत्तमत्थि त्ति सुत्तत्तुवलंभादो।' अर्थात् गुणधर भट्टारककी गाथाएँ निर्दोष, अल्पाक्षर एव सहेतुक होनेके कारण सूत्रके समान हैं।

सूत्रशब्दका वास्तविक अर्थ बीजपद है। तीर्थंकरके मुखसे निस्सृत बीजपदोंको सूत्र कहा जाता है और इस सूत्रके द्वारा उत्पन्न होनेवाला ज्ञान सूत्रसम कहलाता है

'इदि वयणादो तित्थयरवयणविणिग्गयबीजपद सुत्त। तेण सुत्तेण सम वट्टदि उप्पज्जदि त्ति गणहरदेवम्मि ट्ठिदसुदणाण सुत्तसम'।[2]

वर्न्धन अनुयोगद्वारमें सूत्रका अर्थ श्रुतकेवली या द्वादशागरूप शब्दागम लिया गया है और श्रुतकेवलीके समान श्रुतज्ञानको भी सूत्रसम कहा है, पर कृतिअनुयोगद्वारमें जो सूत्रकी परिभाषा बतलायी गयी है उसके अनुसार द्वादशागका सूत्रागममें अन्तर्भाव न होकर ग्रन्थागममें अन्तर्भाव होता है। यत. कृतिअनुयोगद्वारमें गणधर द्वारा रचे गये द्रव्यश्रुतको ग्रन्थागम कहा है।

आचार्य वीरसेनका अभिमत है कि सूत्रकी समग्र परिभाषा जिनेन्द्र द्वारा कथित अर्थपदोंमें ही पायी जाती है, गणधरदेवके द्वारा ग्रथित द्वादशागमें नही। इस विवेचनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि गुणधर आचार्य द्वारा विरचित 'कसायपाहुड' में आगमसम्मत सूत्रकी परिभाषा घटित नही होती, पर

1 जयधवलाटीका, प्रथम खण्ड, पृ० १५३

२. कृति अ० ध० आ० पृ० ५५६।

सूत्रशैलीके समस्त लक्षण इसमें समाहित हैं। आचार्य वीरसेनने जयधवलामे 'कसायपाहुड' को सूत्रग्रन्थ सिद्ध करते हुए लिखा है

"एव सव्व पि सुत्तलक्खण जिणवयणकमलविणिग्गयअत्थपदाण चेव सभवइ, ण गणहरमुहविणिग्गयगथरयणाए, तत्थ महापरिमाणत्तुवलभादो; ण; सच्च (सुत्त) सारिच्छमस्सिदूण तत्थ वि सुत्तत्त पडि विरोहाभावादो।"[1]

अर्थात् सूत्रका सम्पूर्ण लक्षण तो जिनदेवके मुखकमलसे निस्सृत अर्थपदोमे ही सभव है, गणधरके मुखकमलसे निकली हुई रचनामे नही; क्योकि गणधरकी रचनाओमें महापरिमाण पाया जाता है। इतना होनेपर भी गणधरके वचन भी सूत्रके समान होनेके कारण सूत्र कहलाते है। अत उनकी ग्रन्थरचनामे भी सूत्रत्वके प्रति कोई विरोध नही है। गणधरवचन भी बीजपदोके समान सूत्ररूप है। अतएव गुणधर भट्टारककी रचना 'कसायपाहुड'मे सूत्रशैलीके सभी प्रमुख लक्षण घटित होते हैं। यहाँ विश्लेषण करनेपर निम्नलिखित सूत्रलक्षण उपलब्ध है

१ अर्थमत्ता
२ अल्पाक्षरता
३ असदिग्धता
४. निर्दोषता
५. हेतुमत्तता
६ सारयुक्तता
७ सोपस्कारता
८ अनवद्यता
९. प्रामाणिकता

स्पष्ट है कि कसायपाहुडकी गाथाओकी शैली सूत्रशैली है। इस ग्रन्थमें १८० + ५३ = २३३ गाथाएँ हैं। इनमे १२ गाथाएँ सम्बन्धज्ञापक हैं, छ गाथाएँ अद्धापरिमाणका निर्देश करती हैं और ३५ गाथाएँ सक्रमणवृत्तिसे सम्बद्ध है। जयधवलाके अनुसार ये समस्त २३३ गाथाएँ आचार्य गुणधर द्वारा विरचित हैं। यहाँ यह शका स्वभावत उत्पन्न होती है कि जब ग्रन्थमे २३३ गाथाएँ थी, तो ग्रन्थके आदिमे गुणधराचार्यने १८० गाथाओका ही क्यो निर्देश किया ? आचार्य वीरसेनने इस शकाका समाधान करते हुए बताया है कि १५ अधिकारोमे विभक्त होनेवाली गाथाओकी सख्या १८० रहनेके कारण गुणधराचार्यने

१ जयधवला, प्रथम भाग, पृ० १५४

१८० गाथाओंको संख्या निर्दिष्ट की है। सम्बन्धगाथाएँ तथा अद्धापरिमाण-निर्देशक गाथाएँ इन १५ अधिकारोंमें सम्मिलित नहीं हो सकती हैं। अत उनकी संख्या छोड़ दी गयी है।

आचार्य वीरसेनने पुन शका उपस्थित की है कि संक्रमण-सम्बन्धी ३५ गाथाएँ बन्धक नामक अधिकारमें समाविष्ट हो सकती हैं, तब क्यों उनकी गणना उपस्थित नहीं की? इस शकाका समाधान करते हुए उन्होंने लिखा है कि प्रारम्भके पाँच अर्थाधिकारोंमें केवल तीन ही गाथाएँ हैं और इन तीन गाथाओंसे निबद्ध हुए पाँच अधिकारोंमेंसे बन्धक नामक अधिकारसे ही उक्त ३५ गाथाएँ सम्बद्ध हैं। अत इन ३५ गाथाओंको १८० गाथाओंकी संख्यामें सम्मिलित करना कोई महत्त्वकी बात नहीं है। हमारा अनुमान है कि जिन ५३ गाथाओंकी गणना आचार्य गुणधरने नहीं की है वे गाथाएँ सभवत नाग-हस्तिद्वारा विरचित होनी चाहिए। हमारे इस अनुमानकी पुष्टि जयधवलासे भी होती है। जयधवलामें[1] मतान्तरसे उक्त ५३ गाथाओंको नागहस्तिकृत माना है।

एक बात यह भी विचारणीय है कि सम्बन्धनिर्देशक १२ गाथाओं और अद्धापरिमाणनिर्देशक छह गाथाओं पर यतिवृषभके चूर्णिसूत्र भी उपलब्ध नहीं हैं। यदि ये गाथाएँ गुणधर भट्टारक द्वारा विरचित होती तो यतिवृषभ इनपर अवश्य ही चूर्णिसूत्र लिखते। दूसरी बात यह कि संक्रमणसे सम्बद्ध ३५ गाथाओं-मेंसे १३ गाथाएँ शिवशर्म रचित कर्मप्रकृतिमें भी पायी जाती हैं। यह सत्य है कि उक्त तथ्योंसे ५३ गाथाओंके रचयिता नागहस्ति सिद्ध नहीं होते, पर इसमें आशंका नहीं कि उक्त ५३ गाथाएँ गुणधर भट्टारक द्वारा विरचित नहीं। यद्यपि आचार्य वीरसेनने व्याख्याकारोंके मतोंको स्वीकार नहीं किया है तो भी समीक्षाकी दृष्टिसे ५३ गाथाओंको गुणधर भट्टारक द्वारा विरचित नहीं माना जा सकता है। रचनाशैलीकी दृष्टिसे १८० गाथाओंकी अपेक्षा ५३ गाथाओंकी शैली भिन्न प्रतीत होती है। एक अनुमान यह भी है कि आचार्य गुणधरने १८० गाथाओंको १५ अधिकारोंमें विभक्त करनेवाली प्रतिज्ञा नहीं की है। उनकी प्रतिज्ञा तो यह होनी चाहिए थी कि सोलह हजार पद प्रमाण कषायप्राभृतको एक-सौ अस्सी गाथाओंमें संक्षिप्त करता हूँ। वस्तुत गुणधराचार्य कषाय-

1 'असीदिसदगाहाओ मोत्तूण अवसेससंबंधद्धापरिमाणणिद्देससंकमणगाहाओ जेण णागहत्थिआइरियकयाओ तेण 'गाहासदे असीदे' त्ति भणिदूण णागहत्थिआइरिएण पइण्णा कदा इदि के वि वक्खाणाइरिया भणंति, तण्ण घडदे।' कसायपाहुड, प्रथम भाग, पृ० १८३

प्राभृतको उपसंहृत करनेके लिए प्रवृत्त हुए थे, स्वरचित गाथाओंको अधिकारोमे विभक्त करनेके लिए नही।

'सत्तेदा गाहाओ', 'एदाओ सुत्त गाहाओ' आदि पदोंसे यह ध्वनित होता है कि इन गाथाओकी रचनासे पूर्व मूलगाथाओ और भाष्यगाथाओकी रचना हो चुकी थी। अन्यथा अमुक गाथासूत्र है, इस प्रकारका कथन सभव ही नही था। अतएव व्याख्याकारोके, 'गाहासदे असीदे' प्रतिज्ञावाक्य नागहस्तिका है, इस अभिमतको सर्वथा उपेक्षणीय नही माना जा सकता है।

कसायपाहुडमे १५ अधिकार हैं जो निम्न प्रकार है

१ प्रकृति-विभक्ति अधिकार
२ स्थिति-विभक्ति अधिकार
३ अनुभाग-विभक्ति अधिकार
४. प्रदेश-विभक्ति-झीणाझीण-स्थित्यन्तिक
५ बधक अधिकार
६ वेदक अधिकार
७ उपयोग अधिकार
८ चतु स्थान अधिकार
९ व्यञ्जन अधिकार
१० दर्शनमोहोपशमना अधिकार
११. दर्शनमोहक्षपणा अधिकार
१२. सयमासयमलब्धि अधिकार
१३. सयमलब्धि अधिकार
१४ चारित्रमोहोपशमना
१५ चारित्रमोहक्षपणा

१ प्रकृति-विभक्ति अधिकारका अन्य नाम 'पेज्जदोस-विभत्ति' है। यत कषाय पेज्ज राग या द्वेषरूप होती है। चूर्णिसूत्रोमे क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायोका विभाजन राग और द्वेषमे किया है। नैगम और सग्रहनयकी दृष्टिसे क्रोध और मान द्वेषरूप है तथा माया और लोभ रागरूप है। व्यवहारनय मायाको भी द्वेषरूप मानता है। यत लोकमे मायाचारीकी निन्दा होती है। ऋजुसूत्रनय क्रोधको द्वेषरूप तथा लोभको रागरूप मानता है। मान और माया न तो रागरूप हैं और न द्वेषरूप ही, क्योकि मान क्रोधोत्पत्तिके द्वारा द्वेषरूप है तथा माया लोभोत्पत्तिके कारण रागरूप है स्वय नही। अत. इस परम्पराका व्यवहार ऋजुसूत्रनयकी सीमामे नही आता।

तीनों शब्दनय चारों कषायोंको द्वेषरूप मानते हैं क्योंकि उनसे कर्मों का आस्रव होता है। राग और द्वेषोंका विवेचन द्वादश अनुयोगद्वारोंमे किया गया है एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्व, काल और अन्तर तथा नाना जीवोंकी अपेक्षा भंगविचय, सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भागाभागानुगम और अल्पबहुत्वानुगम।

२. स्थिति-विभक्ति—आत्माकी शक्तियोंको आवृत्त करनेवाला कर्म कहलाता है। यह पुद्गलरूप होता है। इस लोकमे सूक्ष्म कर्मपुद्गलस्कन्ध भरे हुए हैं जो इस जीवकी कायिक, वाचनिक और मानसिक प्रवृत्तिके साथ आकृष्ट होकर स्वत आत्मासे बद्ध हो जाते हैं। कर्मपरमाणुओंको आकृष्ट करनेका कार्य योग द्वारा होता है। यह योग मन, वचन, काय रूप है। इस योगकी जैसी शुभाशुभ या तीव्र-मन्दरूप परिणति होती है उसीप्रकार कर्मों का आस्रव होता है। कषायके कारण कर्मोंमे स्थिति और अनुभाग उत्पन्न होते हैं। जब कर्म अपनी स्थिति पूरी होनेपर उदयमे आते हैं तो इष्ट या अनिष्ट फल प्राप्त होता है। इसप्रकार जीव पूर्वबद्ध कर्मके उदयसे क्रोधादि कषाय करता है और उससे नवीन कर्मका बन्ध करता है। कर्मसे कषाय और कषायसे कर्मबन्धकी परम्परा अनादि है।

कर्मबन्धके चार भेद हैं १. प्रकृतिबन्ध, २. स्थितिबन्ध, ३ अनुभागबन्ध, ४. प्रदेशबन्ध। कर्मोंमे ज्ञान-दर्शनादिको रोकने और सुख-दु:खादि देनेका जो स्वभाव पडता है उसे प्रकृतिबन्ध कहते हैं। कर्म बन्धनेपर कितने समय तक आत्माके साथ बद्ध रहेंगे उस समयकी मर्यादाका नाम स्थितिबन्ध है। कर्म तीव्र या मन्द जैसा फल दे उस फलदानकी शक्तिका पड़ना अनुभागबन्ध है। कर्मपरमाणुओंकी संख्याके परिमाणका नाम प्रदेशबन्ध है। प्रकृति और प्रदेशबन्ध योग मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिसे होते हैं। तथा स्थिति और अनुभागबन्ध कषायसे होते हैं।

स्थिति-विभक्तिनामक इस द्वितीय अधिकारमे स्थितिबन्धके साथ प्रकृतिबन्धका भी कथन सम्मिलित है। प्रकृति और स्थितिबन्धका एक जीवकी अपेक्षा कथन स्वामित्व, काल, अन्तर, नानाजीवोंकी अपेक्षा भंगविचय, काल, अन्तर, भागाभाग और अल्पबहुत्वकी दृष्टिसे किया है। कसायपाहुडमे मोहनीयकर्मका वर्णन विशेष रूपसे आया है। इस अधिकारमे प्रकृति-विभक्तिके दो भेद किये हैं। प्रथम भेद मूलप्रकृति मोहनीयकर्म है और द्वितीय भेद उत्तरप्रकृतिमे मोहनीयकर्मकी उत्तरप्रकृतियाँ ग्रहण की गई हैं। इसप्रकार विभिन्न अनुयोगों द्वारा स्थिति-विभक्तिमे चौदह मार्गणाओंका आश्रय लेकर मोहनीयके २८ भेदोंकी

जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति बतलायी गई है। अद्धाच्छेद, सर्वविभक्ति, नोसर्वविभक्ति, उत्कृष्टविभक्ति, अनुत्कृष्टविभक्ति, जघन्यविभक्ति, अजघन्यविभक्ति, सादिविभक्ति, अनादिविभक्ति, ध्रुवविभक्ति, अध्रुवविभक्ति आदिका कथन किया है।

३ अनुभाग-विभक्ति अधिकारमे कर्मोकी फलदान-शक्तिका विवेचन किया गया है। आचार्यने यहाँ उस अनुभागका विचार किया है जो बन्धसे लेकर सत्ताके रूपमे रहता है। वह जितना बन्धकालमें हुआ उतना भी हो सकता है और हीनाधिक भी सभव है। उसके दो भेद हैं १ मूलप्रकृति-अनुभागविभक्ति और २ उत्तरप्रकृति-अनुभागविभक्ति। इस सबका वर्णन सक्षेपमें किया है। इस अधिकारमे सज्ञाके दो भेद किये हैं १. घातिसंज्ञा और २. स्थानसज्ञा। मोहनीयकर्मकी घातिसज्ञा है क्योकि वह जीवके गुणोका घातक है। घातीके दो भेद है सर्वघाती और देशघाती। मोहनीयकर्मका उत्कृष्ट अनुभाग सर्वघाती है और अनुत्कृष्ट अनुभाग सर्वघाती और देशघाती दोनों प्रकारका है। इसी तरह जघन्य अनुभाग और अजघन्य अनुभाग देशघाती और सर्वघाती दोनो प्रकारका है। स्थान अनुभागके चार प्रकार है एकस्थानिक, द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक। इस प्रकार अनुभाग-विभक्तिमे अनुभागके विभिन्न भेद-प्रभेदोका कथन किया है।

४ प्रदेश-विभक्ति कर्मोका बन्ध होनेपर तत्काल बन्धको प्राप्त कर्मोको जो द्रव्य मिलता है उसे प्रदेश कहते हैं। इसके दो भेद हैं प्रथम बन्धके समय प्राप्त द्रव्य और द्वितीय बन्ध होकर सत्तामे स्थित द्रव्य। कसायपाहुडमे इस द्वितीयका ही निरूपण आया है। मोहनीय कर्मको लेकर स्वामित्व, काल, अन्तर, भगविचय आदि दृष्टियोसे विचार किया है। अनुभागके दो प्रकार हैं—जीवभागाभाग और प्रदेशभागाभाग। पहलेकी चर्चामे कहा है कि उत्कृष्ट-प्रदेश-विभक्ति वाले जीव सब जीवोके अनन्तमे भाग प्रमाण हैं। और अनुत्कृष्ट-प्रदेश-विभक्ति वाले जीव सब जीवोके अनन्त बहुभाग प्रमाण हैं। इस प्रकार इस प्रदेश-विभक्ति अधिकारमे उत्कर्षण, अपकर्षण, सक्रमण प्रभृति कर्मोकी स्थितियोका भी विचार किया गया है।

५ बधक—अधिकारमे कर्मवर्गणाओका, मिथ्यात्व, अविरति आदिके निमित्तसे प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशके भेदसे चार प्रकारके कर्मरूप परिणमनका कथन आया है। इस अधिकारमे बन्ध और सक्रम इन दो विषयोका व्याख्यान किया है। गुणधर भट्टारकने इस बन्धक अधिकारमे सक्रमका भी अन्तर्भाव किया है। बन्धके दो भेद बताये हैं १. अकर्मबन्ध और २ कर्मबन्ध। जो कार्मणवर्गणाएँ कर्मरूप परिणत नही हैं उनका कर्मरूप परिणत होना अकर्म-

बन्ध है और कर्मरूप परिणत पुद्गलस्कन्धोका एक कर्मसे अपने सजातीय अन्य कर्मरूप परिणमन करना कर्मबन्ध है। यह द्वितीय कर्मबन्ध भेद ही सक्रमरूप है। यही कारण है कि इस बन्धक अधिकारमे बन्ध और सक्रम इन दोनोका समावेश हो जाता है। आचार्यने 'कदि पयडीओ बन्धदि' आदि २३ सख्यक गाथामे इस अधिकारका वर्णन किया है।

६ वेदक अधिकार इस अधिकारमे बताया है कि यह ससारी जीव मोह-नीयकर्म और उसके अवान्तर भेदोका कहाँ कितने काल तक सान्तर या निर-न्तर किस रूपमे वेदन करता है। इस अधिकारके दो भेद है उदय और उदीरणा। उदीरणा सामान्यत उदयविशेष ही है, किन्तु इन दोनोमे अन्तर यह है कि कर्मो का जो यथाकाल फलविपाक होता है उसकी उदयसज्ञा है और जिन कर्मो का उदयकाल प्राप्त नही हुआ उनको उपायविशेषसे पचाना उदीरणा है। इस अधिकारको गुणधरने चार गाथासूत्रोमे निबद्ध किया है। यहाँ उदीरणा, उदय और कारणभूत बाह्य सामग्रीका निर्देश किया गया है। प्रथम पाद द्वारा उदीरणा सूचित की गयी है। द्वितीय पाद द्वारा विस्तार सहित उदय सूचित किया है और शेष दो पादो द्वारा उदयावलिके भीतर प्रविष्ट हुई उदय-प्रकृतियो और अनुदयप्रकृतियोको ग्रहण कर प्रवेशसज्ञावाले अर्थाधिकारका सूचन किया है।

गाथाके पूर्वार्द्धका स्पष्टीकरण करनेके पश्चात् उत्तरार्द्धमे बताया है कि क्षेत्र, भव, काल और पुद्गलोको निमित्त कर कर्मो का उदय और उदीरणारूप फलविपाक होता है। यहाँ क्षेत्रपदसे नरकादिगतियोका क्षेत्र, भवपदसे एक-इन्द्रियादि पर्यायोका, कालपदसे वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा आदिका एव पुद्गल-पदसे ग्रन्थ, ताम्बूल, वस्त्र, आभरण आदि पुद्गलोका ग्रहण किया है।

उदीरणाके समग्र विवेचनके पश्चात् गाथाके उत्तरार्द्धमे उदयका कथन किया है। उदीरणाके मूलप्रकृति उदीरणा और उत्तरप्रकृति उदीरणा ये दो भेद किये गये हैं। उत्तरवर्ती टीकाकारोने १७ अनुयोगद्वारोका आश्रय लेकर उदीरणाओका विस्तृत विवेचन किया है।

वेदक अधिकारको दूसरी गाथाका दूसरा पाद है 'को व केय अणुभागे' अर्थात् कौन जीव किस अनुभागमे मिथ्यात्व आदि कर्मो का प्रवेशक है। गाथासूत्रके इस पादको व्याख्या चूर्णिसूत्रकार और टीकाकारोने विस्तारपूर्वक की है।

७ उपयोगाधिकार-मे जीवके क्रोध, मान, मायादिरूप परिणामोको उपयोग कहा है। इस अधिकारमे चारो कषायोके उपयोगका वर्णन किया गया है। और बतलाया है कि एक जीवके एक कषायका उदय कितने काल तक रहता

है और किस गतिके जीवके कौन-सी कषाय बारबार उदयमे आती है। एक भवमे एक कषायका उदय कितने बार होता है और एक कषायका उदय कितने भवो तक रहता है। जितने जीव वर्तमान समयमे जिस कषायसे उपयुक्त है क्या वे उतने ही पहले उसी कषायसे उपयुक्त थे ? और आगे भी क्या उपयुक्त रहेगे ? आदि कषायविषयक ज्ञातव्य बातोका विवेचन इस अधिकारमे किया है।

८. चतुःस्थान अधिकार घातियाकर्मोकी फलदानशक्तिका विवरण लता, दारु, अस्थि और शैलरूप उपमा देकर किया गया है। इन्हे क्रमशः एक-स्थान, द्विस्थान, त्रिस्थान और चतुःस्थान भी कहा गया है।

इस प्रस्तुत अधिकारके नामकरणका कारण भी उक्त चार स्थानोका रहना ही है। उपमाओ द्वारा क्रोधको पाषाणरेखाके समान, पृथ्वीरेखाके समान, बालुरेखाके समान और जलरेखाके समान बताया है। जिस प्रकार जलमे खीची हुई रेखा तुरन्त मिट जाती है और बालु, पृथ्वी और पाषाणपर खीची गई रेखाएँ उत्तरोत्तर अधिक समयमे मिटती है, उसी प्रकार हीनाधिक कालकी अपेक्षासे क्रोधके भी चार स्थान है। इसी क्रमसे मान, माया और लोभके भी चार-चार स्थानोका निरूपण किया है। इसके अतिरिक्त चारो कषायोके सोलह स्थानोमेसे कौन-सा स्थान किस स्थानसे अधिक होता है और कौन किससे हीन होता है, कौन स्थान सर्वघाती है, कौन स्थान देशघाती है ? आदिका विचार किया गया है।

९ व्यञ्जन अधिकार व्यञ्जनका अर्थ पर्यायवाची शब्द है। इस अधिकार-मे क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारो ही कषायोके पर्यायवाचक शब्दोका प्रतिपादन किया गया है। क्रोधके पर्याय रोष, अक्षमा, कलह, विवाद आदि बतलाये है। मानके पर्याय, मान, मद, दर्प, स्तम्भ, परिभव तथा मायाके, माया, निकृति, वचना, सातियोग और अनऋजुता आदि बतलाये गये है। लोभके पर्यायोमे लोभ, राग, निदान, प्रेयस्, मूर्च्छा आदि बतलाये गये है। इस प्रकार विभिन्न पर्यायवाची शब्दो द्वारा कषायविषयोपर विचार-विमर्श किया गया है।

१० दर्शनमोहोपशमनाधिकार जिस कर्मके उदयमे आनेपर जीवको अपने स्वरूपका दर्शन साक्षात्कार और यथार्थ प्रतीति न हो उसे दर्शनमोहकर्म कहते हैं। इस कर्मके परमाणुओका एक अन्तर्मुहूर्तके लिए अभाव करने या उपशान्त-रूप अवस्थाके करनेको उपशम कहते हैं। इस दर्शनमोहके उपशमनकी अवस्थामे

जीवको अपने वास्तविक स्वरूपका एक अन्तर्मुहूर्तके लिए साक्षात्कार हो जाता है। इस साक्षात्कारकी स्थितिमे जो उसे आनन्द प्राप्त होता है वह अनिर्वचनीय है। दर्शनमोहके उपशमन करने वाले जीवके परिणाम कैसे होते हैं, उसके कौन-सा योग होता, कौन-सा उपयोग रहता है। कौन-सी कषाय होती है और कौन-सी लेश्या, आदि बातोका निरूपण करते हुए उन परिणाम-विशेषोका विस्तारसे वर्णन किया गया है। दर्शनमोहके उपशमको चारो गतियोके ही जीव कर सकते हैं; पर उन्हे सज्ञी, पञ्चेन्द्रिय और पर्याप्तक होना चाहिए। इस अधिकारके अन्तमे प्रथमोपशम-सम्यक्त्वीके विशिष्ट कार्यों और अवस्थाओका वर्णन भी आया है।

११. दर्शनमोहक्षपणा अधिकार दर्शनमोहकी उपशम अवस्था अन्तर्मुहूर्त तक ही रहती है। इसके पश्चात् वह समाप्त हो जाती है। और जीव पुन. आत्मदर्शनसे वचित हो जाता है। आत्मसाक्षात्कार सर्वदा बना रहे, इसके लिए दर्शनमोहका क्षय आवश्यक है। इसके लिये जिन प्रमुख बातोकी आवश्यकता होती है उन सबका विवेचन इस अधिकारमे किया गया है। दर्शनमोहके क्षयका प्रारम्भ कर्मभूमिमे उत्पन्न मनुष्य ही कर सकता है और इसकी पूर्णता चारो गतियोमे की जा सकती है। दर्शनमोहके क्षपणका काल अन्तर्मुहूर्त है। इस क्षपणक्रियाके समाप्त होनेके पूर्व ही यदि उस मनुष्यकी मृत्यु हो जाय तो वह अपनी आयुबन्धके अनुसार यथासभव चारो ही गतियोमे उत्पन्न हो सकता है। दर्शनमोहके क्षपणका प्रारम्भ करने वाला मनुष्य अधिक-से-अधिक तीन भव और धारण करके मुक्तिलाभ करता है। इस अधिकारमे दर्शनमोहके क्षपणकी प्रक्रिया और तत्सम्बन्धी साधन-सामग्रीका निरूपण किया गया है।

१२ सयमासयमलब्धि अधिकार आत्मस्वरूपका साक्षात्कार होते ही जीव मिथ्यात्वरूप पकसे निकलकर निर्मल सरोवरमे स्नान कर आनन्दमे निमग्न हो जाता है। उसकी विचारधारा सांसारिक विषयवासनासे दूर हो संयमासयमकी प्राप्तिकी ओर अग्रसर होती है। शास्त्रीय परिभाषाके अनुसार अप्रत्याख्यानावरणकषायके उदयके अभावसे देशसयमको प्राप्त करने वाले जीवके जो विशुद्ध परिणाम होते हैं उसे सयमासंयमलब्धि कहते हैं। इसके निमित्तसे जीव श्रावकके व्रतोको धारण करनेमे समर्थ होता है। इस अधिकारमे सयमासयमलब्धिके लिये आवश्यक साधन-सामग्रियोका विस्तारपूर्वक कथन किया है।

१३ सयमलब्धि अधिकार प्रत्याख्यानावरणकषायके अभाव होनेपर आत्मामे सयमलब्धि प्रकट होती है, जिसके द्वारा आत्माकी प्रवृत्ति हिंसादि

पाँच पापोसे दूर होकर अहिंसादि महाव्रतोके धारण और पालनकी होती है। संयमासंयम अधिकारकी गाथा ही इस अधिकारकी गाथा है। संयमके प्राप्त कर लेनेपर भी कषायके उदयानुसार जो परिणामोका उतार-चढाव होता है उसका प्ररूपण अल्पबहुत्व आदि भेदो द्वारा किया गया है। इस लब्धिका वर्णन चूर्णिसूत्रकारने अध करण और अपूर्वकरणके विवेचन द्वारा किया है, जो अध्यात्म-प्रेमी उपशमसम्यक्त्वके साथ संयमासंयम धारण करते हैं उनके तीनो करण होते हैं, पर जो वेदकसम्यक्दृष्टि संयमासंयमको धारण करते हैं उनके दो ही करण होते है। संयमको धारण करनेके लिये आवश्यक सामग्रीका भी कथन किया गया है।

१४ चारित्रमोहोपशमनाधिकार इस अधिकारमे प्रथम आठ गाथाएँ आती है। पहली गाथाके द्वारा उपशमना कितने प्रकारकी होती है, किस-किस कर्मका उपशम होता है आदि प्रश्न किये गये है। दूसरी गाथाके द्वारा निरुद्ध चारित्रमोहप्रकृतिकी स्थितिके कितने भागका उपशम करता है, कितने भागका संक्रमण करता है और कितने भागकी उदीरणा करता है इत्यादि प्रश्नोकी अवतारणा की गयी है। तीसरी गाथाके द्वारा चारित्रमोहनीयका उपशम कितने कालमे किया जाता है उसी उपशमित प्रकृतिकी उदीरणा-संक्रमण कितने काल तक करता है इत्यादि प्रश्न किये गये है। चौथी गाथाके द्वारा आठ करणोमेसे उपशामकके कब, किस करणसे व्युच्छित्ति होती है या नही इत्यादि प्रश्नोका अवतार किया गया है। इस प्रकार चार गाथाओके द्वारा उपशामकके और शेष चार गाथाओके द्वारा उपशामकके पतनके सम्बन्धमे प्रश्न किये गये हैं।

१५. चारित्रमोहक्षपणाधिकार- यह अन्तिम अधिकार बहुत विस्तृत है। इसमे चारित्रमोहनीयकर्मके क्षयका वर्णन विस्तारसे किया है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि चारित्रमोहनीयका क्षय अध करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणके बिना संभव नही है। इस अधिकारमे २८ मूलगाथाएँ हैं और ८६ भाष्यगाथाएँ हैं। इस प्रकार कुल ११४ गाथाओमे यह अधिकार व्याप्त है। इनमेसे चार सूत्रगाथाएँ अधःप्रवृत्तिकरणके अन्तिम समयसे प्रतिबद्ध हैं। इनके आधारपर चूर्णिसूत्रो और जयधवलामे योग और कषायोकी उत्तरोत्तर विशुद्धिका चित्रण किया गया है। आशय यह है कि चारित्रमोहनीयकर्मकी प्रकृतियोका क्षय किस क्रमसे होता है और किस-किस प्रकृतिके क्षय होनेपर कहाँपर कितना स्थितिबन्ध और स्थितिसत्त्व रहता है इत्यादि बातोका वर्णन इस अधिकारमे आया है। ध्यान और कषायक्षयकी प्रक्रिया भी इस अधिकारमे वर्णित है।

गुणधरकी रचना-शक्ति और प्रतिभा

कषायपाहुडका विषय आचार्य गुणधरको तीर्थंकर महावीरकी आरातीय-परम्परासे प्राप्त हुआ है। वीरसेनाचार्यने जयधवला-टीकामे लिखा है

"एदम्हादो विउलगिरिमत्थयत्थवड्ढमाणदिवायरादो विणिग्गमिय गोदम-लोहज्ज-जवुसामियादि-आइरियपरपराए आगतूण गुणहराइरियं पाविय गाहास-रूवेण परिणमिय" अर्थात् विपुलाचलके शिखरपर विराजमान वर्धमान दिवाकरसे प्रकट होकर गौतम, लोहाचार्य, जम्बूस्वामी आदिकी आचार्यपरम्परासे आकर गुणधरको 'कम्मपयडिपाहुड'का ज्ञान प्राप्त हुआ और उन्होने गाथारूपमें इस ज्ञान-का प्रतिपादन किया। स्पष्ट है कि आचार्य गुणधरको केवलियोकी परम्परासे ज्ञान प्राप्त हुआ था। आचार्य गुणधर सूत्ररचनाशैलीके प्रकाण्ड विद्वान् हैं। धवला-टीकामे आचार्य वीरसेनने उन्हे वाचक कहा है और वाचकका अर्थ पूर्वविद् लिया है। अतएव इनकी रचना-प्रतिभा मजुल अर्थको सक्षेपमे प्रस्तुत करनेकी थी। वस्तुत आचार्य गुणधर 'कम्मपयडिपाहुड'के ज्ञाता होनेके साथ ही अत्यन्त प्रतिभाशाली और विषयविशेषज्ञ विद्वान् थे। इनके कसायपाहुडकी प्रत्येक गाथाके एक-एक पदको लेकर एक-एक अधिकारका रचा जाना तथा तीन गाथाओका पाँच अधिकारोमे निबद्ध होना ही इनकी प्रतिभाकी गभीरता और अनन्त-अर्थगर्भिताकी अभिव्यक्तिको सूचित करता है। वेदक अधिकारको 'जो ज सका-मेदि य' (गाथाङ्क ६२) गाथाके द्वारा चारो प्रकारके वन्ध, चारो प्रकारके सक्र-मण, चारो प्रकारके उदय, चारो प्रकारकी उदीरणा और चारो प्रकारके सत्त्व-सम्वन्धी अल्पबहुत्वकी सूचना निश्चयत. उसके गाम्भीर्य और अनन्तार्थगर्भित्वकी साक्षी है। अर्थबहुलताकी दृष्टिसे गुणधरकी शैली अत्यन्त गभीर है। गुणधरके इस ग्रन्थपर यदि चूर्णिसूत्र न लिखे जाते तो उनका अर्थ पश्चाद्वर्त्ती व्यक्ति-योके लिये दुर्वोध हो जाता।

आचार्य शिवशर्मके 'कम्मपयडि' और 'सतक' नामक दो ग्रन्थ आज उप-लब्ध हैं। इन दोनो ग्रन्थोका उद्गम स्थान 'महाकम्मपयडिपाहुड' है। 'कम्म-पयडि'के साथ जब हम गुणधरके 'कषायपाहुड'की तुलना करते है तो हमे इन दोनोमे मौलिक अन्तर प्रतीत होता है। कम्मपयडिमे महाकम्मपयडिपाहुडके चौवीस अनुयोगद्वारोका समावेश नही है। किन्तु वन्धन, उदय और सक्रम-णादि कुछ अनुयोगद्वार ही प्राप्त हैं। गुणधरने अपने 'कषायपाहुड'मे समस्त 'पेज्जदोपपाहुड'का उपसहार किया है। अत यह स्पष्ट है कि 'कम्मपयडि'की रचना शिवशर्मने गुणधरके पश्चात् ही की है। 'कम्मपयडि' और 'सतक' इन दोनो ग्रन्थोके अन्तमे अपनी अल्पज्ञता प्रकट करते हुए शिवशर्मने दृष्टिवादके ज्ञाता आचार्यो से उसे शुद्ध कर लेनेकी प्रार्थना की है।

वस्तुत 'कम्मपयडि' एक सग्रह-ग्रन्थ है क्योंकि उसमे विभिन्न स्थानोपर आई हुई प्राचीन गाथाएँ दृष्टिगोचर होती है। कम्मपयडिकी चूर्णिमे उसके कर्त्ताने उसे 'कम्मपयडिसग्रहिणी' नाम दिया है। इसी प्रकार 'सतक' चूर्णिमे भी उसे संग्रह-ग्रन्थ कहा है। गुणधरकी यह रचना मौलिक है तथा कर्म-सिद्धान्तको वीजरूपमे प्रस्तुत करती है।

कषायपाहुड कम्मपयडिसे पूर्ववर्त्ती है। कम्मपयडिके सक्रमकरणमे कषाय-पाहुडके सक्रमअर्थाधिकारकी १३ गाथाएँ साधारण पाठभेदके साथ अनुक्रमसे ज्यो-की-त्यो उपलब्ध होती हैं। इसी प्रकार कम्मपयडिके उपशमकरणमे कषाय-पाहुडके दर्शनमोहोपशमना अर्थाधिकारकी चार गाथाएँ कुछ पाठभेदके साथ पायी जाती हैं। इससे स्पष्ट है कि आचार्य गुणधर केवली और श्रुतकेवलियोके अनन्तर पहले पूर्वविद् हैं, जिन्होने 'महाकम्मपयडिपाहुड'का सक्षेपमे उपसहार किया। महान् अर्थको अल्पाक्षरोमे निवद्ध करनेकी प्रतिभा उनमे विद्यमान थी। यही कारण है कि कसायपाहुडका उत्तरकालीन सभी वाड्मयपर प्रभाव है।

आचार्य धरसेन

धवलामे वताया गया है कि छक्खडागम विषयके ज्ञाता आचार्य धरसेन थे। सौराष्ट्र देशके गिरिनगर नामके नगरकी चन्द्रगुफामे रहने वाले अष्टाग-महानिमित्तके पारगामी, प्रवचनवत्सल और अङ्गश्रुतके विच्छेदकी आशका-से भीत धरसेनाचार्यने किसी धर्मोत्सव आदिके निमित्तसे महिमानामकी नगरीमे सम्मिलित हुए दक्षिणापयके आचार्यों के पास एक पत्र लिखा। इस पत्रमे उन्होने यह इच्छा व्यक्त की कि योग्य शिष्य उनके पास आकर षट्खण्डागमका अध्य-यन करे। दक्षिण देशके आचार्यो ने शास्त्रके अर्थग्रहण और धारणमे समर्थ देश, कुल, शील, और जातिसे उत्तम, समस्त कलाओमे पारगत दो आचार्योको वेणा नदीके तटसे आन्ध्रदेशसे भेजा। इन दोनोने वहाँ पहुँचकर आचार्य धरसेनको तीन प्रदक्षिणाएँ दी और उनके चरणोमे बैठकर सविनय नमस्कार किया। आचार्य धरसेनने उन दोनो योग्य शिष्योकी परीक्षा ली और परीक्षामे उत्तीर्ण होनेके पश्चात् उन्हे सिद्धान्तकी शिक्षा दी। ये दोनो मुनि पुष्पदन्त और भूत-वलि नामके थे। यह शिक्षा आषाढ शुक्ला एकादशीको ज्यो ही पूर्ण हुई, वर्षा कालके समीप आ जानेसे उसी दिन अपने पाससे धरसेनने उन्हे विदा कर दिया। दोनो शिष्यो ने गुरुकी आज्ञा अनुल्लघनीय मानकर उसका पालन किया और वहाँसे चलकर अकलेश्वरमे चातुर्मास किया।

इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार और विबुध श्रीधरकृत श्रुतावतारमे लिखा है कि

धरसेनाचार्यको ज्ञात हुआ कि उनकी मृत्यु निकट है। अतएव इन्हे उस कारण क्लेश न हो, इस लिए उन्होने उन मुनियोको तत्काल अपने पाससे विदा कर दिया।

"आत्मनो निकटमरण ज्ञात्वा धरसेन एतयोर्मा क्लेशो भवतु इति मत्वा तन्मुनिविसर्जन करिष्यति।"[1]

सभव है कि भूतबलि और पुष्पदन्तके वहाँ रहनेसे आचार्यके ध्यान और तपमे विघ्न होता और विशेषत उस स्थितिमे जबकि वे श्रुतरक्षाका अपना कर्त्तव्य पूरा कर चुके थे। आचार्य धरसेनकी यह इच्छा रही होगी कि उनके योग्य शिष्य यहाँसे जाकर श्रुतका प्रचार करे। जो भी हो, धवलामे आचार्य वीरसेनने धरसेनका सक्षिप्त परिचय उक्त प्रकारसे प्रस्तुत किया है।

धवलाटीकासे[2] आचार्य धरसेनके गुरुके नामका पता नही चलता। इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारमे लोहार्य तककी गुरुपरपराके पश्चात् विनयदत्त, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हद्दत्त इन चार आचार्योका उल्लेख आया है। ये सभी आचार्य अगो और पूर्वोके एकदेशज्ञाता थे। तदनन्तर अर्हद्बलिका उल्लेख आता है। ये बडे भारी सघनायक थे और इन्होने सघोकी स्थापना की थी। अर्हद्बलिके पश्चात् श्रुतावतारमे माघनन्दिका नाम आया है। इन माघनन्दिके पश्चात् ही धरसेनके नामका उल्लेख आया है। इस प्रकार श्रुतावतारमे अर्हद्बलि, माघनन्दि और धरसेन इन तीन आचार्योका उल्लेख मिलता है। इन तीनोका परस्परमे गुरुशिष्य सम्बन्ध था या नही, इसका निर्देश इन्द्रनन्दिने नही किया है।

नन्दिसघकी प्राकृतपट्टावलीसे यह अवगत होता है कि अर्हद्बलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि एक दूसरेके उत्तराधिकारी हैं। अतएव धरसेनके दादागुरु अर्हद्बलि और गुरु माघनन्दि सभव हैं। नन्दिसघकी संस्कृत

१ सिद्धान्तसारादिसग्रह, श्रुतावतार, ग्रन्थाक २१, पृष्ठ ३१६

२ तेण वि सोरट्ठ-विसय-गिरिणयर-पट्टण चदगुहा-ठिएण अट्ठग महाणिमित्त-पारएण गथ-वोच्छेदो होहदि त्ति जाद-भएण पवयण-वच्छलेण दक्खिणावहाइरियाणं महिमाए मिलियाण लेहो पेसिदो 'सुट्ठु भद्द' त्ति भणिऊण धरसेण-भडारएण दो वि आसासिदा। तदो चिंतिद भयवदा पुणो तद्दिवसे चेव पेसिदा सतो 'गुरुवयणमलघणिज्ज' इदि चितिऊणागदेहि अकुलेसरे वरिसावासो कओ।"

पट्खण्डागम, प्रथम पुस्तक, पृ० ६७-७१

गुर्वावलिमें माघनन्दिका नाम आया है। गुर्वावलीके[1] आरम्भमे भद्रबाहु और उनके शिष्य गुप्तिगुप्तकी वन्दना की गयी है, किन्तु उनके नामके साथ सघ आदिका निर्देश नही है। वन्दनाके अनन्तर मूलसंघमे नन्दिसघ-बलात्कारगणके उत्पन्न होनेके साथ ही माघनन्दिका नाम आया है। बहुत सभव है कि सघभेदव्यवस्थापक अर्हद्‌बलिने इन्हे ही नन्दिसघका अग्रणी बनाया हो। माघनन्दिके नामके साथ नन्दिपद भी नन्दिसघका द्योतक है। गुर्वावलीमे धरसेनका निर्देश नही है। अत. इस गुर्वावलिके आधारपर यह निश्चितरूपसे नही कहा जा सकता है कि धरसेनके गुरु माघनन्दि थे। यह सत्य है कि धरसेन विद्यानुरागी थे और शास्त्राभ्यासमे सलग्न रहनेके कारण सघका नायकत्व माघनन्दिके अन्य शिष्य जिनचन्द्रपर पडा हो। धरसेनने पुष्पदन्त और भूतबलिको सिद्धान्त-आगमका अध्ययन कराकर अपनी एक नयी परम्परा स्थापित की हो। माघनन्दिका निर्देश जबुदीवपण्णत्तीमे भी पाया जाता है।

> गयरायदोसमोहो सुदसायरपारओ मइपगब्भो।
> तवसजमसपण्णो विक्खाओ माघणदिगुरू॥ १५४॥
> तस्सेव य वरसिस्सो निम्मलवरणाणचरणसजुत्तो।
> सम्मद्दसणसुद्धो सिरिणदिगुरू त्ति विक्खाओ॥ १५६॥[2]

उपर्युक्त गुर्वावली और प्रशस्तिसे ध्वनित होता है कि धरसेनके गुरु सभवत माघनन्दि थे। इन माघनन्दिके सम्बन्धमे एक किंवदती भी प्रसिद्ध है, जिसमे उन्हे श्रुतका विशेषज्ञ तथा किसी कारणवश चरित्रस्खलनके पश्चात् पुनः दीक्षित होनेका निर्देश किया है। अस्तु, प्राकृतपट्टावली एव इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारके आधारपर धरसेनाचार्यके गुरु माघनन्दि और दादा गुरु अर्हद्‌बलि होने चाहिए।

समय-निर्णय

नन्दिसघकी प्राकृतपट्टावलीके अनुसार आचार्य धरसेनका समय वीर निर्वाण स० ६१४के पश्चात् आता है। धरसेनके एक 'जोणिपाहुड' ग्रन्थका उल्लेख वृहट्टिप्पणि[3] नामक सूचीमे आया है। इस ग्रन्थका निर्माण वीर नि०

१ श्रीमानशेषनरनायकवन्दिताङ्घ्रि श्रीगुप्तिगुप्त इति विश्रुतनामधेय।
यो भद्रबाहुमुनिपुगवपट्टपद्मसूर्य स वो दिशतु निर्मलसघवृद्धिम्॥१॥
श्रीमूलसघेऽजनि नन्दिसघ तस्मिन्बलात्कारगणोऽतिरम्य।
तत्राभवत् पूर्वपदाशवेदी श्रीमाघनन्दीऽमरदेववद्य.॥२॥
जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १, किरण ४, पृ० ५१.

२ जम्बूदीवपण्णत्ती १३।१५४, १५६।

३. 'योनिप्राभृत वीरात् ६०० धारसेनम्, जैन साहित्य सशोधक १,२ (परिशिष्ट)

सं० ६००के पश्चात् हुआ माना गया है। इसी ग्रन्थकी एक पाण्डुलिपि भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूनामे है। इस प्रतिमे ग्रन्थका नाम तो 'योनिप्राभृत' ही लिखा है, किन्तु कर्त्ताका नाम 'पण्हसवण' मुनि बताया है। इन महामुनिने कुसुमाण्डिनी देवीसे इस ग्रन्थके ज्ञानको प्राप्त किया था। और उसे अपने शिष्य पुष्पदन्त एवं भूतबलिके लिए लिखा था। इस कथनसे ग्रन्थके धरसेनरचित होनेकी सम्भावना व्यक्त होती है। प्रज्ञाश्रमणत्व एक ऋद्धिका नाम है। सम्भवतया धरसेनाचार्य इस ऋद्धिके धारी थे। अतएव उन्हे प्रज्ञाश्रमण कहा गया है। षट्खण्डागममें प्रज्ञाश्रमणोको नमस्कार किया गया है

णमो पण्णसमणाणं[1]

प्रज्ञा चार प्रकारकी होती है (१) औत्पत्तिकी, (२) वैनयिकी, (३) कर्मजा और (४) पारिणामिकी। इनमे पूर्वजन्मसम्बंधी चार प्रकारकी निर्मलबुद्धिके बलसे विनयपूर्वक बारह अगोका अवधारण कर जो प्रथमत देवगतिमे और तत्पश्चात् अविनष्ट संस्कारके साथ मनुष्योमे उत्पन्न होते हैं उनके औत्पत्तिकी प्रज्ञा कही है। प्रज्ञाका उक्त संस्कार अवशिष्ट रहनेके कारण चौदह पूर्वो का उत्तर देनेमे वे समर्थ रहते है। विनयपूर्वक द्वादश अगोके अध्ययनसे जो बुद्धि उत्पन्न होती है वह वैनयिकी प्रज्ञा है। गुरूपदेशके बिना तपश्चरणके प्रभावसे उत्पन्न होने वाली प्रज्ञा कर्मजा कहलाती है। इस प्रकारकी प्रज्ञा औषधसेवनसे भी उत्पन्न होती है। जातिविशेषसे उत्पन्न बुद्धि पारिणामिकी कहलाती है।

धरसेनको प्रज्ञाश्रमणका पूर्वीज्ञान था। अतः 'योनिप्राभृत' ग्रन्थ धरसेनाचार्य द्वारा रचित हो, तो कोई आश्चर्य नही। इस आधारपर इनका समय वीर-निर्वाण-संवत् ६०० संभव है।

प्राकृतपट्टावलीके अनुसार वीर-निर्वाण-संवत् ६१४ ६८३के बीच धरसेनका समय होना चाहिए। पट्टावलीमें धरसेनका आचार्य-काल १९ वर्ष बतलाया है। इससे सिद्ध होता है कि वीर-निर्वाण संवत् ६३३ तक धरसेन जीवित रहे हैं और वीर-निर्वाण संवत् ६३० या ६३१मे पुष्पदन्त और भूतबलिको श्रुतका अध्ययन कराया है। इस आधारपर धरसेनका समय ई० सन् ७३ १०६ ई० तक आता है।

अहिवल्लि माघनंदि य धरसेण पुप्फयंत भूदबली।
अडवीस इगवीस उगणीस तीस वीस वास पुणो ॥[2]

अर्थात् अर्हद्बलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलिका आचार्य-

१. षट्खण्डाग, वेदनाखण्ड, ४।१।१८

२ जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग-१, किरण-४, पृ० ७३, पद्य-१६

काल क्रमशः २८वर्ष, २१वर्ष, १९ वर्ष, ३० वर्ष और २० वर्ष है। इस उल्लेखसे धरसेनका समय स्पष्टत. ई० सन्‌की प्रथम शताब्दी है।

डा० हीरालालजी जैन, सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, पं० हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्री आदि भी धरसेनका प्राय: यही समय मानते हैं।

एक अन्य अभिलेखीय प्रमाणसे भी धरसेनके समयपर प्रकाश पडता है। उपलब्ध पुरातत्वके आधारपर कहा जाता है कि आचार्य धरसेन गिरिनगरकी जिस गुफामे रहते थे वह गुफा बाबा प्यारा मठके निकट होनी चाहिए। इस गुफामे स्वस्तिक, भद्रासन, नन्दिपद, मीनयुगल और कलशके चिह्न खुदे हुए है। एक शिलालेख भी यहाँ प्राप्त हुआ है, जिसमे क्षत्रप नरेश चष्टण और जयदामनके अतिरिक्त गिरिनगरमे देवासुर, नाग, यक्ष, राक्षस, केवलज्ञान, जरामरण, चैत्रशुक्ल पञ्चमी ये सर्व शब्द भी पढे जाते है। बीच-बीचमे अभिलेखके खण्डित होनेके कारण समस्त लेखका सार ज्ञात नही किया जा सकता है। जो शब्दावली पढी जा सकती है उसमे उक्त क्षत्रप राजवशके कालमे किसी बडे ज्ञानी जैन मुनिके देहत्यागका वृत्तान्त प्रतीत होता है। अभिलेखमे तिथिका निर्देश नही है, पर क्षत्रप कालीन राजवशके साथ सम्बन्ध रहनेसे शककी प्रथम शताब्दी होना चाहिए। डा० ज्योतिप्रसादजीने लिखा है

"The Junagarh Jaina stone inscription, originally discovered in That very Candragupha of girinagar which tradition makes the abode of Dharsena, throws interesting light on the lower limit of the date of these redactors of the canon. The inscription is undated, but us author is mentioned as the great grandson of Castana, the grandson of Jayadaman and the son of . how could the traditon take such a legendary character"[1]

अर्थात् इस शिलालेखके आधारपर धरसेनका समय ई० सन् १५०के पूर्व होना चाहिये। यतः जयदामनके पुत्र रुद्रदामनका सुप्रसिद्ध सस्कृत-लेख गिरनारकी ऐतिहासिक शिलापर खुदा हुआ शक स० ७२का है। अतएव यह प्राय: सभव है कि उक्त अभिलेख धरसेनके समाधिमरणकी स्मृतिमे उत्कीर्ण किया गया हो।

१ The Jaina sources of the History of Ancient India page 112

इस प्रकार अभिलेखीय प्रमाणके आधारपर धरसेनका समय ई० सन्‌की प्रथम शताब्दी आता है। आचार्य धरसेन अपने समयके श्रुतज्ञ विद्वान्‌ थे। प्राकृत पट्टावली और इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारके आधारपर भी धरसेनका समय वीर नि० स० ६०० अर्थात् ई० सन्‌ ७३के लगभग आता है।

धरसेनका पाण्डित्य

आचार्य धरसेन सिद्धान्तशास्त्रके ज्ञाता थे। उनके चरणोमे बैठकर आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलिने कर्मशास्त्र और सिद्धान्तका अध्ययन किया। वे सफल शिक्षक और आचार्य थे। आचार्य वीरसेनने धरसेनकी विद्वत्ता और पाण्डित्यका वर्णन करते हुए बताया है कि वे परवादिरूपी हाथीके समूहके मदका नाश करनेके लिए श्रेष्ठ सिंहके समान है, सिद्धान्तरूपी श्रुतका पूर्णतया मन्थन करने वाले हैं। अतएव श्रुतके पाण्डित्यके कारण वे महनीय यशके धारी विद्वान हैं। वीरसेनने लिखा है -

"पसियउ महु धरसेणो पर-वाइ-गओह-दाण-वरसीहो
सिद्धतामिय-सायर-तरंग-सघाय-धोय-मणो"[1] ॥

स्पष्ट है कि धरसेन आचार्य सिद्धान्तविषयके प्रौढ विद्वान थे। श्रुतको नष्ट होती हुई परम्पराकी रक्षा इन्हीके द्वारा हुई है। इनके विषयमे 'षट्खण्डागम' टीकासे जो तथ्य उपलब्ध होते है, उनसे ऐसा ज्ञात होता है कि धरसेनाचार्य मन्त्र-तन्त्रके भी ज्ञाता थे। इनका 'योनिप्राभृत' नामक मन्त्रशास्त्रसबन्धी कोई ग्रन्थ अवश्य रहा है। इस योनिप्राभृतका निर्देश 'धवलाटीका'मे भी प्राप्त होता है

"जोणिपाहुडे भणिद-मत-तत-सत्तीओ पोग्गलाणुभागो त्ति घेत्तव्वो" ।[2]

अतएव 'बृहट्टिप्पणिका'के साथ धवलाटीकामे भी 'योनिप्राभृत'का निर्देश उपलब्ध होता है। इस आलोकमे धरसेनरचित 'योनिप्राभृत' ग्रथपर अविश्वास नही किया जा सकता है। धवलाटीकामे बताया गया है कि पुष्पदन्त और भूतबलिको बुद्धि-परीक्षाके हेतु धरसेनाचार्यने दो मन्त्र दिये थे। उनमे एक मन्त्र अधिक अक्षर वाला था और दूसरा हीनाक्षर था। गुरुने दो दिनके उपवासके पश्चात् उन मन्त्रोको सिद्ध करनेका आदेश दिया। शिष्य मन्त्रसाधनामे सलग्न हो गये। जब मन्त्रके प्रभावसे उनकी अधिष्ठात्री देवियाँ उपस्थित हुई तो एक देवीके दाँत बाहर निकले हुए थे और दूसरी कानी थी। देवता विकृताङ्ग नही

१ धवलाटीकासमन्वित षट्खण्डागम, प्रथम जिल्द, पृ० ६।

२ धवलाटीका, जिल्द १, प्रस्तावना, पृ० ३०,

होते; इस प्रकार निश्चय कर उन दोनोने मन्त्रसम्बन्धी व्याकरणशास्त्रके आधारपर उन मन्त्रोका शोधन किया और मन्त्रोको शुद्धकर पुन साधनामे संलग्न हुए। वे देवियाँ पुनः सुन्दर और सौम्य रूपमे प्रस्तुत हुईं। सिद्धिके अनन्तर वे दोनो शिष्य गुरुके समक्ष उपस्थित हुए। और विनयपूर्वक विद्यासिद्धि सम्बन्धी समस्त वृत्तान्त निवेदित कर दिया। गुरु धरसेनाचार्य शिष्योके ज्ञान से प्रभावित हुए और उन्होने शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र और शुभ वारमे सिद्धान्तका अध्यापन प्रारम्भ किया।[1]

धवलाग्रंथके इस उल्लेखसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि धरसेनाचार्य मन्त्र-तन्त्रके ज्ञाता थे। अत. उनका मन्त्रशास्त्रसम्बन्धी 'योनिप्राभृत' ग्रन्थ अवश्य रहा है।

आगमसम्बन्धी ज्ञानके लिए षट्खण्डागम ग्रन्थ ही प्रमाणरूप है। इस ग्रन्थका समस्त विषय उन्हीके द्वारा प्रतिपादित है। पुष्पदन्त और भूतवलिने उनसे ही सिद्धान्तविषयक ज्ञान प्राप्त कर षट्खण्डागमके सूत्रोकी रचना की है।

धवलाटीकासे धरसेनाचार्यके सम्बन्धमे निम्नलिखित जानकारी प्राप्त होती है

१ धरसेन सभी अंग और पूर्वो के एकदेश ज्ञाता थे।
२ अष्टाग-महानिमित्तके पारगामी थे।
३. लेखनकलामे प्रवीण थे।
४ मन्त्र-तन्त्र आदि शास्त्रोके वेत्ता थे।
५ महाकम्मपयडिपाहुडके[2] वेत्ता थे।
६. प्रवचन और शिक्षण देनेकी कलामे पटु थे।
७ प्रवचनवत्सल थे।

१ 'तदा ताण तेण दो विज्जाओ दिण्णाओ। तत्थ एया अहियक्खरा, अवरा विहीणक्खरा। एदाओ छट्ठोववासेण साहेहु त्ति। तदो ते सिद्धविज्जा विज्जा-देवदाओ पेच्छंति, एया उद्दतुरिया अवरेया काणिया। एसो देवदाणं सहावो ण होदि त्ति चिंतिऊण मंत-व्वायरण-सत्थ-कुसलेहिं हीणाहिय-क्खराण छुहणावणयण-विहाणं काऊण पढतेहि दो वि देवदाओ सहावरूव-ट्ठियाओ दिट्ठाओ। पुणो तेहि धरसेण-भयवतस्स जहावित्तेण विणएण णिवेदिदे सुट्ठु, तुट्ठेण धरसेण-भडारएण सोम-तिहि-णक्खत्त-वारे गथो पारद्धो'

षट्खण्डागमधवलाटीका, प्रथम पुस्तक, पृ० ७०।

२. जयउ धरसेणणाहो जेण महाकम्मपयडिपाहुडसेलो।
बुद्धिसिरेणुद्धरिओ समप्पिओ पुप्फयतस्स ॥

धवला

८ प्रश्नोत्तरशैलीमें शंका-समाधानपूर्वक शिक्षा देनेमें कुशल थे।

९ महनीय विषयको संक्षेपमें प्रस्तुत करना भी उन्हें आता था।

१० आग्रायणीयपूर्वके पञ्चम वस्तुके चतुर्थ प्राभृतके व्याख्यानकर्त्ता थे।

११ पाठन, चिंतन एवं शिष्य-उद्बोधनकी कलामें पारंगत थे।

पुष्पदन्त और उनकी रचना

पुष्पदन्त और भूतबलिका नाम साथ-साथ प्राप्त होता है, पर प्राकृत पट्टावलीमें पुष्पदन्तको भूतबलिसे ज्येष्ठ माना गया है। धरसेनके पश्चात् पुष्पदन्तका कार्य-काल ३० वर्षका बताया है। पुष्पदन्त और भूतबलि दोनों ही धरसेनाचार्यके निकट श्रुतकी शिक्षा प्राप्त करने गये थे। शिक्षा-समाप्तिके पश्चात् सुन्दर दाँतोंके कारण इनका नाम पुष्पदन्त पडा था।

विबुध श्रीधरके श्रुतावतारमें भविष्यवाणीके रूपमें जो कथा दी गई है उससे पुष्पदन्त और भूतबलिके जीवनपर प्रकाश पडता है, पर इस श्रुतावतारमें जिन तथ्योंकी विवेचना की गई है वे विचारणीय हैं। बताया है भरत क्षेत्रके वामिदेश ब्रह्मदेशमें वसुन्धरा नामकी नगरी होगी। वहाँके राजा नरवाहन और रानी सुरूपा पुत्र न होनेके कारण खेद-खिन्न होंगे। उस समय सुबुद्धि नामका सेठ उन्हें पद्मावतीकी पूजा करनेका उपदेश देगा। तदनुसार देवीकी पूजा करनेपर राजाको पुत्रलाभ होगा और उस पुत्रका नाम पद्म रखा जायगा। तदनन्तर राजा सहस्रकूटचैत्यालयका निर्माण करायेगा और प्रतिवर्ष यात्रा करेगा। सेठ भी राजकृपासे स्थान-स्थानपर जिनमन्दिरोंका निर्माण करायेगा। इसी समय वसन्त ऋतुमें समस्त संघ यहाँ एकत्र होगा और राजा सेठके साथ जिनपूजा करके रथ चलावेगा। इसी समय राजा अपने मित्र मगधसम्राट्को मुनीन्द्र हुआ देख सुबुद्धि सेठके साथ विरक्त हो दिगम्बरी दीक्षा धारण करेगा। इसी समय एक लेखवाहक वहाँ आयेगा। वह जिनदेवको नमस्कार कर मुनियोंकी तथा परोक्षमें धरसेन गुरुकी वन्दना कर लेख समर्पित करेगा। वे मुनि उसे वाचेंगे कि गिरिनगरके समीप गुफावासी धरसेन मुनीश्वर आग्रायणीय पूर्वकी पञ्चमवस्तुके चौथे प्राभृतशास्त्रका व्याख्यान आरम्भ करने वाले हैं। धरसेन भट्टारक कुछ दिनोंमें नरवाहन और सुबुद्धि नामके मुनियोंको पठन, श्रवण और चिन्तन कराकर आसाढ़ शुक्ला एकादशीको शास्त्र समाप्त करेंगे। उनमेंसे एककी भूत रात्रिको बलिविधि करेंगे और दूसरेके चार दाँतोंको सुन्दर बना देंगे। अतएव भूत-बलिके प्रभावसे नरवाहन मुनिका नाम भूतबलि और चार दाँत समान हो जानेसे सुबुद्धिमुनिका नाम पुष्पदन्त होगा।[1]

1 श्रुतावतार, माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थाङ्क २१, सिद्धान्तसारादिसंग्रह पृ० ३१६-३१७

इस आख्यानमे अन्य कुछ तथ्य हो या न हो, पर इतना यथार्थ है कि पुष्प-दन्तका प्रारंभिक नाम कुछ और रहा होगा। धवलाटीकामे भी पुष्पदन्तके नामका उल्लेख करते हुए लिखा है

"अवरस्स वि भूदेहि पूजिदस्स अत्थवियत्थ-ट्ठिय-दंत-पंतिमोसारिय भूदेहि समीकय-दंतस्स 'पुप्फयंतो' त्ति णाम कयं।"[1]

अर्थात् देवोने पूजा कर जिनकी अस्तव्यस्त दतपक्तिको दूर कर सुन्दर बना दिया उनकी धरसेन भट्टारकने पुष्पदन्त सज्ञा की। स्पष्ट है कि पुष्पदन्त यह आरंभिक नाम नही है। गुरुने यह नामकरण किया है। दक्षिणापथसे जिन दो साधुओके आनेका उल्लेख किया गया है उनके आरंभिक नामोका कथन नही आया है। यह सत्य है कि पुष्पदन्त भी भूतवलिके समान ही प्रतिभाशाली और ग्रन्थ-निर्माणमें पटु हैं।

इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमे लिखा है कि वर्षावास समाप्त कर पुष्पदन्त और भूतवलि दोनोने ही दक्षिणकी ओर विहार किया। और दोनो करहाटक[2] पहुँचे। वहाँ उनमेसे पुष्पदन्त मुनिने अपने भानजे जिनपालितसे भेंट की और उसे दीक्षा देकर अपने साथ ले वनवास देशको चले गये। तथा भूतवलि द्रविड देशकी मधुरा नगरीमे ठहर गये।

करहाटकको कुछ विद्वानोने सितारा जिलेका आधुनिक करहाड या कराड और कुछने महाराष्ट्रका कोल्हापुर नगर वतलाया है। करहाटक नगर प्राचीन समयमे वहुत प्रसिद्ध था। स्वामी समन्तभद्र[3] भी इस नगरमे पधारे थे। शिलालेखोसे ज्ञात होता है कि उस समय यह नगर विद्या और वीरता दोनो के लिए प्रसिद्ध था।

उपर्युक्त चर्चासे एक तथ्य यह प्रसूत होता है कि पुष्पदन्तके भानजे जिन-

१ षट्खण्डागमधवलाटीका, प्रथम पुस्तक, पृ० ७१

२ जग्मतुरथ करहाटे तयो स य पुष्पदन्त नाम मुनि ।
जिनपालिताभिधान दृष्ट्वाऽसौ भगिनेय स्व ॥
दत्वा दीक्षा तस्मै तेन सम देशमेत्य वनवासम् ।
तस्थौ भूतवलिरपि मधुरायां द्रविडदेशेऽस्थात् ॥

श्रुतावतार, पद्य १३२-१३३

३. प्राप्तोऽहं करहाटक वहुभट विद्योत्कट संकट ।

मल्लिषेण-प्रशस्ति-शिलालेख ५४ श्लोक ७

पालित करहाटकके निवासी थे। अत पुष्पदन्तका भी जन्मस्थान करहाटके आसपास ही होना चाहिए।

धरसेनाचार्यने महिमा नगरीमे सम्मिलित हुए दक्षिणापथके आचार्योके पास अपना पत्र भेजा था, जिसके फलस्वरूप आन्ध्रदेशकी वेणा नदीके तटसे पुष्पदन्त और भूतवलि उनके पास पहुचे थे। वर्तमानमे सतारा जिलेमे वेष्या नामकी नदी प्रवाहित होती है और उसी जिलेमे महिमानगढ नामक ग्राम भी है। वहुत सभव है कि यह ग्राम ही प्राचीन महिमा नगरी रहा हो। अतएव सतारा जिलेका करहाड ही करहाटक हो तो इसमे कोई आश्चर्य नही है।

वनवास देश उत्तर कर्णाटकका प्राचीन नाम है। यहाँ कदम्बवशके राजाओकी राजधानी थी। इस वनवास देशमे ही आचार्य पुष्पदन्तने जिनपालितको पढानेके लिए 'वीसदि' सूत्राकी रचना की। और इन सूत्रोको भूतवलिके पास भेजा। भूतवलिने उन सूत्रोका अवलोकन किया और यह जानकर कि पुष्पदन्त आचार्यकी अल्पायु अवशिष्ट है, अत महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका विच्छेद न हो जाय, इस भयसे उन्होने द्रव्यप्रमाणानुगमको आदि लेकर ग्रन्थरचना की। अतएव यह स्पष्ट है कि षट्खण्डागमसिद्धान्तका प्रारभिक भाग वनवास देशमे रचा गया और शेष ग्रन्थ द्रविड देशमे।

समय-निर्धारण

यह हम पहले ही लिख चुके है कि पुष्पदन्त भूतवलिसे आयुमे ज्येष्ठ थे। आचार्य वीरसेनने मगलाचरण-सदर्भमे भूतवलिसे पूर्व पुष्पदन्तका स्तवन किया है। लिखा है

पणमामि पुप्फयतं दुण्णयधयार-रविं।
भग्ग-सिव-मग्ग-कटयमिसि-समिइ-वइ सया दत ॥[1]

अर्थात् जो पापोका अन्त करने वाले हैं, कुनयरूप अधकारके नाश करनेके लिये सूर्य तुल्य हैं, जिन्होने मोक्षमार्गके विघ्नोको नष्ट कर दिया है, जो ऋषियोकी समिति अर्थात् सभाके अधिपति हैं और जो निरन्तर पञ्चेन्द्रियोका दमन करने वाले हैं ऐसे पुष्पदन्त आचार्यको मैं प्रणाम करता हूँ।

उपर्युक्त उद्धरणमे 'इसि-समिइ-वइ' विचारणीय है। इस पदका अर्थ यह है कि पुष्पदन्त अपने समयके आचार्योमे अत्यन्त मान्य थे और इसीलिये वे मुनिसमितिके सभापति कहलाते थे।

नदिसघकी प्राकृत-पट्टावलीके अनुसार पुष्पदन्त भूतवलिसे पूर्ववर्ती हैं।

१ षट्खण्डागमधवलाटीका, पुस्तक १, पृष्ठ ७, मंगलगाथा ५।

इसके अनुसार इनका समय वीर नि० स० ६३३के[1] पश्चात् ई० सन् प्रथम-द्वितीय शताब्दीके लगभग होना चाहिए। डा० ज्योतिप्रसाद जैनने पुष्पदन्त-का समय ई० सन् ५०-८० माना है।[2]

रचनाशक्ति और प्रतिभा

धवलामे आचार्य वीरसेनने बतलाया है कि बीस प्रकारकी प्ररूपणाएँ सूत्रोके द्वारा की गयी हैं। अत पुष्पदन्ताचार्यने जो 'विसदिसुत्त' कहा है उसका अभिप्राय सत्प्ररूपणाके सूत्रोमे आगमोक्त बीस प्ररूपणाओके कथनसे है। धवला-कारने सत्प्ररूपणाके सूत्रोकी व्याख्या समाप्त करनेके पश्चात् लिखा है कि सत्सूत्रोका विवरण समाप्त हो जानेके अनन्तर उनकी प्ररूपणा करेगे। इससे स्पष्ट है कि आचार्य पुष्पदन्तने सत्सूत्रोकी ही रचना की है, उसकी प्ररूपणाका कथन नही किया। यद्यपि उन्होने अनुयोगद्वारका नाम "सतपरूवणा" ही रखा है। ऐसी स्थितिमे पुष्पदन्ताचार्यके द्वारा रचे गये सूत्रोको 'सतसुत्त' कहना अधिक उचित था, पर इस शब्दका प्रयोग न कर 'वीसदिसुत्त' क्यो कहा, इस सम्बन्धमे कोई सन्तोषजनक समाधान प्राप्त नही होता है।

इन्द्रनन्दिने[3] लिखा है कि पुष्पदन्तने सौ सूत्रोको पढ़ाकर जिनपालितको भूतवलिके पास भेजा, किन्तु सत्प्ररूपणाके सूत्रोकी सख्या १७७ है। अत उनका यह कथन भी सतर्क प्रतीत नही होता। यह सत्य है कि सत्प्ररूपणाके १७७ सूत्र पुष्पदन्ताचार्य द्वारा रचे गये है। अत उत्थानिकामे धवलाकारने पुष्पदन्तका ही नामोल्लेख किया है।

इस ग्रन्थकी रूपरेखाका निर्माण पुष्पदन्तके द्वारा ही हुआ होगा। यत ग्रन्थ-निर्माणका आरभ पुष्पदन्तने किया है। इन्होने चौदह जीवसमासो और गुणस्थानोके निरूपणके लिये आठ अनुयोगद्वारोको ही जानने योग्य बतलाया है। ये आठ अनुयोगद्वार हैं १ सतपरूवणा, २ द्रव्यप्रमाणानुगम, ३. क्षेत्रानुगम, ४ स्पर्शानुगम, ५ कालानुगम, ६ अन्तरानुगम, ७ भावानुगम, और

१ प्राकृत-पट्टावलीमें अर्हद्वलिका काल २८ वर्ष, माघनन्दिका २१ वर्ष, धरसेनका १९ वर्ष और पुष्पदन्तका ३० वर्ष माना है। इस प्रकार वीर नि० स० ६६३ समय आता है।

२. The Jaina Sources of the History of Ancient India, p. 114

३. सूत्राणि तानि शतमध्याप्य ततो भूतवलिगुरोः पार्श्वम्।
तदभिप्राय ज्ञातु प्रस्थापयदगमदेषोऽपि ॥
श्रुतावतार, श्लोक सख्या १३६।

८ अल्पबहुत्वानुगम। जीवस्थान नामक प्रथम खण्डके ही ये आठ अधिकार हैं। इन अधिकारोके अनन्तर जीवस्थानकी चूलिका है। इस चूलिकाको भी जीवस्थानका भाग सिद्ध करनेके लिए धवलाकारको शका-समाधान करना पडा है और अन्तमे उन्होने बताया है कि चूलिकाका अन्तर्भाव आठ अनुयोगद्वारोमे होता है। अत चूलिका जीवस्थानसे भिन्न नही है। धवलाकारकी इस चर्चासे यह स्पष्ट है कि पुष्पदन्त आचार्य द्वारा आठ अनुयोगद्वारोमे जो बाते कथन करनेसे छूट गई थी उनसे सम्बद्ध बातोका कथन चूलिका अधिकारमे किया गया है। धवलाके अध्ययनसे यह प्रतीत होता है कि चूलिका अधिकार पुष्पदन्त द्वारा रचित नही है। पुष्पदन्तने केवल जीवस्थान नामक खण्डका ही उक्त सूत्रोमे ग्रथन किया है।

इन्द्रनन्दि[1] ने लिखा है 'पुष्पदन्त मुनिने अपने भानजे जिनपालितको पढानेके लिए कर्मप्रकृतिप्राभृतका छ खण्डोमे उपसहार किया है। और जीवस्थानके प्रथम अधिकारकी रचना की और उसे जिनपालितको पढाकर भूतबलिका अभिप्राय अवगत करनेके लिए उनके पास भेजा। जिनपालितसे सत्प्ररूपणाके सूत्रोको सुनकर भूतबलिने पुष्पदन्त गुरुका षट्खण्डागम-रचनाका अभिप्राय जाना।

जीवस्थानके अवतारका कथन करते हुए धवलाटीकाकार आचार्य वीरसेनने जो विमर्श प्रस्तुत किया है उससे आचार्य पुष्पदन्तकी रचनाशैली, पाण्डित्य एवं प्रतिभा पर पूरा प्रकाश पडता है। लिखा है "दूसरे आग्रायणीय पूर्वके अन्तर्गत चौदह वस्तु-अधिकारोमे एक चयन लब्धि नामक पाँचवाँ वस्तु-अधिकार है। उसमे बीस प्राभृत हैं। उनमेसे चतुर्थ प्राभृत कर्मप्रकृति है। उस कर्मप्राभृतप्रकृतिके २४ अर्थाधिकार हैं। उनमे छठा अधिकार बन्धन नामक है। इस अधिकारके भी चार भेद हैं

१ बन्ध, २ बन्धक, ३ बन्धनीय और ४ बन्धविधान। इनमेसे बन्धक अधिकारके ग्यारह अनुयोगद्वार हैं। उनमे पञ्चम अनुयोगद्वार द्रव्यप्रमाणानुगम है। इस जीवस्थान नामक खण्डमे जो द्रव्यप्रमाणानुगम नामक अधिकार है वह इसी बन्धक नामक अधिकारसे निस्सृत है। बन्धविधानके भी चार भेद है प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। इन चारो बन्धोमेसे प्रकृतिबन्धके दो भेद है मूलप्रकृतिबन्ध और उत्तरप्रकृतिबन्ध। उत्तर-

१. अथ पुष्पदन्तमुनिरप्यध्यापयितु स्वभागिनेय तम्।
कर्मप्रकृतिप्राभृतमुपसहार्यैव षड्भिरिह खण्डै ॥

श्रुतावतार, श्लोकसख्या १३४।

बन्धके दो भेद हैं एकैकोत्तर प्रकृतिबन्ध और अव्वोगाढोत्तरप्रकृतिबन्ध। एकैकोत्तरप्रकृतिबन्धके २४ अनुयोगद्वार हैं। उनमेंसे जो समुत्कीर्तन नामक अधिकार है उसमेंसे प्रकृतिसमुत्कीर्तन, स्थान-समुत्कीर्तन और तीन महादण्डक निस्सृत हैं। तेईसवें भावानुगमसे भावानुगम निकला है। अव्वोगाढ उत्तरप्रकृतिबन्धके दो भेद हैं भुजगारबन्ध और प्रकृतिस्थानबन्ध। प्रकृतिस्थानबन्धके आठ अनुयोगद्वार हैं- सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम। इन आठ अनुयोगद्वारोंमेंसे छ: अनुयोग-द्वार निकले हैं सत्प्ररूपणा, क्षेत्रप्ररूपणा, स्पर्शनप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा और अल्पबहुत्वप्ररूपणा। ये छ और बन्धक अधिकारके ग्यारह अधिकारोंमेंसे निस्सृत द्रव्यप्रमाणानुगम तथा तेईसवें अधिकारसे निस्सृत भावानुगम ये सब मिलकर जीवस्थानके आठ अनुयोगद्वार हैं। इस विवेचनसे ज्ञात होता है कि आचार्य पुष्पदन्तने 'एत्तो[1]' इत्यादि सूत्र उक्त आधारको ग्रहण कर ही कहा है।

उक्त समस्त विमर्शके[2] अध्ययनसे निम्नलिखित निष्कर्ष उपस्थित होते हैं

१ षट्खंडागमका आरंभ आचार्य पुष्पदन्तने किया है।

२ सत्प्ररूपणाके सूत्रोंके साथ उन्होंने षट्खंडागमकी कोई रूपरेखा भी भूतबलिके निकट पहुँचायी होगी।

३ पुष्पदन्तने अपनी रचना जिनपालितको पढ़ायी और तदनन्तर अपनेको अल्पायु समझकर गुरुभाई भूतबलिको अवशिष्ट कार्यको पूर्ण करनेके लिये प्रेरित किया होगा।

४ पुष्पदन्त महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके अच्छे ज्ञाता एवं उसके व्याख्याताके रूपमें प्रसिद्ध रहे हैं। यद्यपि सूत्रोंके रचयिताओंका नाम नहीं मिलता है, पर धवलाटीकाके आधारपर सत्प्ररूपणाके सूत्रोंके रचयिता पुष्पदन्त हैं।

५ पुष्पदन्तने अनुयोगद्वार और प्ररूपणाओंके विस्तारको अनुभव कर ही सूत्रोंकी रचना प्रारम्भ की होगी।

भूतबलि और उनकी रचना

पुष्पदन्तके नामके साथ भूतबलिका भी नाम आता है। दोनोंने एक साथ

१ एत्तो इमेसिं चोद्दसण्हं जीवसमासाणं मग्गणट्ठदाए तत्थ इमाणि चोद्दस चेव ट्ठाणाणि णायव्वाणि भवंति।—षट्ख० १।२

२ षट्खण्डागम, धवलाटीका, प्रथम पुस्तक, पृ० १२३–१३०।

धरसेनाचार्यसे सिद्धान्त-विषयका अध्ययन किया था। भूतवलिने अंकुलेश्वरमे चातुर्मास समाप्त कर द्रविड देशमे जाकर श्रुतका निर्माण किया। धवलाटीकामे आचार्य वीरसेनने पुष्पदन्तके पश्चात् भूतवलिको नमस्कार किया है।

पणमह कय-भूय-वलि भूयवलि केस-वास-परिभूय-वलि।
विणिहय-वम्मह-पसरं वड्ढाविय-विमल-णाण-वम्मह-पसर ॥[1]

अर्थात् जो भूत प्राणीमात्रके द्वारा पूजे गये हैं अथवा भूत नामक व्यन्तर जातिके देवो द्वारा पूजित हैं, जिन्होने अपने केशपाश अर्थात् सुन्दर वालोंसे वलि जरा आदिसे उत्पन्न होने वाली शिथिलताको परिभूत तिरस्कृत कर दिया है। जिन्होने कामदेवके प्रसारको नष्ट कर दिया है और निर्मल ज्ञानके द्वारा ब्रह्मचर्य-को वृद्धिगत कर लिया है उन भूतवलि नामक आचार्यको प्रणाम करो।

उपर्युक्त गाथामे भूतवलिके शारीरिक और आत्मिक तेजका वर्णन किया है। भूतवलिकी आन्तरिक ऊर्जा इतनी वढी हुई थी, जिससे ब्रह्मचर्यजन्य सभी उपलब्धियाँ उन्हे हस्तगत हो गई थी। ऋद्धि और तपस्याके कारण प्राणीमात्र उनकी पूजा प्रतिष्ठा करता था। इस प्रकार आचार्य वीरसेनने आचार्य भूतवलीके व्यक्तित्वकी एक स्पष्ट रेखा अकित की है। सौम्य आकृतिके साथ भूतवलिके केश अत्यन्त सयत और सुन्दर थे। केशोकी कृष्णता और स्निग्धताके कारण वे युवा ही प्रतीत होते थे।

श्रवणवेलगोलके एक शिलालेखमे पुष्पदन्तके साथ भूतवलिको भी अर्हद्-वलिका शिष्य कहा है। इस कथनसे ऐसा ज्ञात होता है कि भूतवलिके दीक्षा-गुरु अर्हद्वलि और शिक्षागुरु धरसेनाचार्य रहे होगे। लिखा है

य पुष्पदन्तेन च भूतवल्याख्येनापि शिष्य-द्वितयेन रेजे।
फलप्रदानाय जगज्जनाना प्राप्तोऽङ्कुराभ्यामिव कल्पभूज ॥
अर्हद्वलिस्सङ्घचतुर्विध स श्रीकोण्डकुन्दान्वयमूलसङ्घ।
कालस्वभावादिह जायमानद्वेषेतराल्पीकरणाय चक्रे ॥[2]

इन अभिलेखीय पद्योके आधारपर अर्हद्वलिको भूतवलिका गुरु मान लिया जाय तो कोई हानि नही है। समयक्रमानुसार अर्हद्वलि और पुष्पदन्तके समयमे २१ + १९ = ४०वर्षका अन्तर पडता है जिससे अर्हद्वलिका भूतवलि और पुष्पदन्तके समसामयिक होनेमे कोई वाधा नही है।

१ षट्खण्डागम, धवलाटीका, प्रथम पुस्तक, श्लोक ६.
२ श्रवणवेलगोल अभिलेख संख्या १०५, पद्य २५–२६

भूतबलिके व्यक्तित्व और ज्ञानके सम्बन्धमे धवलाटीकासे पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। बताया है 'भूतबलि भट्टारक असबद्ध बात नही कह सकते। यत' महाकर्मप्रकृति प्राभृत रूपी अमृतपानसे उनका समस्त राग-द्वेष-मोह दूर हो गया है।

"ण चासबद्ध भूदबलिभडारओ परूवेदि महाकम्मपयडिपाहुड-अमियवाणेण ओसारिदा सेसरागदोसमोहत्तादो।"[1]

इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि भूतबलि महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके पूर्ण ज्ञाता थे। इसलिये उनके द्वारा रचित सिद्धान्तग्रन्थ सर्वथा निर्दोष और अर्थपूर्ण हैं। इन्होने २४ अनुयोगद्वारस्वरूप महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका ज्ञान प्राप्त किया था। बताया है

"चउवीसअणियोगद्दारसरूवमहाकम्मपयडिपाहुडपारयस्स भूदवलि-भयवतस्स।"[2]

समय-निर्धारण

भूतबलिका समय आचार्य पुष्पदन्तका समय ही है। दोनोने एक साथ धर-सेनाचार्यसे सिद्धान्त-ग्रन्थोका अध्ययन किया और अकुलेश्वरमे साथ-साथ वर्षा-वास किया। पुष्पदन्त द्वारा रचित प्राप्त सूत्रोके पश्चात् भूतबलिने षट्खण्डागमके शेष भागकी रचना की। डा० ज्योतिप्रसादने भूतबलिका समय ई० सन् ६६–९० तक माना है और षट्खण्डागमका सकलन ई० सन् ७५ स्वीकार किया है।[3] प्राकृतपट्टावली, नन्दिसघकी गुर्वावली आदि प्रमाणोके अनुसार भूतबलिका समय ई० सन्की प्रथम शताब्दीका अन्त और द्वितीय शताब्दीका आरभ आता है। डा० हीरालाल जैनने धवलाकी प्रस्तावनामे वीर नि०स० ६१४ और ६८३के बीच उक्त आचार्यो का काल निर्धारित किया है।[4] अतएव भूतबलिका समय ई० सन् प्रथम शताब्दीका अन्तिम चरण (ई ८७के लगभग) अवगत होता है।

रचना-शक्ति और पाण्डित्य

इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारसे ज्ञात होता है कि भूतबलिने पुष्पदन्त विरचित सूत्रोको मिलाकर पाँच खण्डोंके छ हजार सूत्र रचे और तत्पश्चात् महाबन्ध नामक छठे खण्डकी तीस हजार सूत्रग्रथरूप रचना की।[5]

१ षट्खण्डागम, धवलाटीका, पुस्तक १०, पृ० २७४–२७५।
२ वही, पुस्तक १४, पृ० १३४।
३. The Jaina Sources of the History of Ancient India, p 114
४ षट्खण्डागम, धवलाटीका, पुस्तक १, प्रस्तावना पृ० २२–३१
५ श्रुतावतार, पद्य १३९

छक्खडागमके सूत्रोके अवलोकनसे प्रकट होता है कि प्रथम खण्ड जीवस्थानके आदिमे सत्प्ररूपणासूत्रोके रचयिता पुष्पदन्ताचार्यने मगलाचरण किया है और तदनुसार धवलाटीकाकार वीरसेन स्वामीने भी श्रुतावतार आदिका कथन किया है। षट्खण्डागमके रचयिता भूतवलिने चौथे खण्ड वेदनाके आदिमे पुन: मगल किया है और धवलाकारने भी जीवस्थानके समान ही कर्त्ता, निमित्त, श्रुतावतार आदिकी पुन चर्चा की है। इससे यह षट्खण्डागमग्रन्थ दो भागोमे विभक्त प्रतीत होता है। पहले भागमे आदिके तीन खण्ड हैं और द्वितीय भागमे अन्तके तीन खण्ड हैं। इस द्वितीय भागमे ही महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके २४ अधिकारोंका वर्णन किया गया है। डा० हीरालालजीने इस द्वितीय खण्डकी विशेष सज्ञा सत्कर्मप्राभृत बतायी है। वस्तुत आचार्य भूतवलिने षट्खण्डागमके जीवस्थानको छोडकर शेष समस्त खण्डोंकी रचना की है। कृतिअनुयोगद्वारके आदिमे ग्रन्थावतारका वर्णन करते हुए वीरसेन स्वामीने लिखा है कि धरसेनाचार्यने गिरिनगरकी चन्द्रगुफामे भूतवलि और पुष्पदन्तको समग्र महाकर्मप्रकृतिप्राभृत समर्पित कर दिया। तत्पश्चात् भूतवलि भट्टारकने श्रुत-नदीके प्रवाहके विच्छेदके भयसे भव्य जीवोंके उद्धारके लिये महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका उपसहार करके छ खण्ड किये।[1]

इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमे यह लिखा है कि भूतवलि आचार्यने षट्खण्डागमकी रचना कर उसे ग्रन्थरूपमे निबद्ध किया और ज्येष्ठ शुक्ला पचमीको उसकी पूजा की और इसी कारण यह पञ्चमी श्रुतपञ्चमीके नामसे विख्यात हुई। तत्पश्चात् भूतवलिने उस षट्खण्डागमसूत्रके साथ जिनपालितको पुष्पदन्त गुरुके पास भेजा। जिनपालितके हाथमे षट्खण्डागमग्रन्थको देखकर मेरे द्वारा चिन्तित कार्य सम्पन्न हुआ, यह अवगत कर पुष्पदन्त गुरुने भी श्रुतभक्तिके अनुरागसे पुलकित होकर श्रुत-पचमीके दिन उक्त ग्रन्थकी पूजा की।

श्रुतावतारके उक्त कथनसे यही प्रमाणित होता है कि पुष्पदन्ताचार्यने षट्खण्डागमकी रूपरेखा निर्धारित कर सत्प्ररूपणाके सूत्रोकी रचना की थी और शेष भागको भूतवलिने समाप्त किया था।

छक्खडागमके अवलोकनसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि दूसरे खण्ड खुद्दाबन्धसे छठे खण्ड तक यह भूतवलि द्वारा रचा गया है। चतुर्थ खण्ड वेदनाके

१. 'तदो भूतवलिभडारएण सुदणईपवाहवोच्छेदभीएण भवियलोगाणुग्गहट्ठ महाकम्मपयडिपाहुडमुवसहरिऊण छक्खडाणि कयाणि।'

षट्खण्डा०, धवला, पुस्तक ९, पृ० १३३।

अन्तर्गत कृतिअनुयोगद्वारके आदिमे सूत्रकारने ४४ मगलसूत्र लिखे है और ४५ वें सूत्रसे ग्रन्थकी उत्थानिकाके रूप आग्रायणीय पूर्वके पञ्चम वस्तु अधिकार-के अन्तर्गत कर्मप्रकृतिप्राभृतके २४ अनुयोगद्वारोका निर्देश किया है। वीर-सेन स्वामीने इन मगलसूत्रोको लेकर एक लम्बी चर्चा की है।[1] इस चर्चासे तीन निष्कर्ष निकलते है

१. भूतवलिने मंगलसूत्रोकी रचना स्वय नही की। परम्परासे प्राप्त महा-कर्मप्रकृतिप्राभृतके मगलसूत्रोका सकलन किया है।

२ षट्खण्डागममे महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके अर्थका ही निवन्धन नही किया है, अपितु शब्द भी ग्रहण किये गये हैं।

३ भूतवलि कर्त्ता नही, प्ररूपक हैं। अत. षट्खण्डागमका द्वादशाग वाणी-के साथ साक्षात् सम्बन्ध है।

इस तरह स्पष्ट है कि आचार्य भूतवलि महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके ज्ञानी एव मर्मज्ञ विद्वान् थे।

छक्खण्डागमका वर्ण्य विषय एवं संक्षिप्त विवेचन

यह ग्रन्थ छह खण्डोमे विभक्त है

१ जीवट्ठाण।

२ खुद्दाबन्ध।

३ वधसामित्तविचय।

४. वेयणा।

५ वग्गणा।

६. महावध।

१ 'जीवट्ठाण' नामक प्रथम-खण्डमे जीवके गुण-धर्म और नानावस्थाओका वर्णन आठ प्ररूपणाओमे किया गया है। ये आठ प्ररूपणाएँ सत्, सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व है। इसके अनन्तर नौ चूलिकाएँ हैं, जिनके नाम प्रकृतिसमुत्कीर्त्तन, स्थानसमुत्कीर्तन, प्रथम महादण्डक, द्वितीय महा-दण्डक, तृतीयमहादण्डक, उत्कृष्टस्थिति, जघन्यस्थिति, सम्यक्त्वोत्पत्ति और गति-अगति हैं। सत्प्ररूपणाके प्रथम सूत्रमे पञ्चनमस्कार मन्त्रका पाठ है। इस प्ररूपणाका

१ "तत्थेद किं णिवद्धमाहो अणिवद्धमिदि तदो सिद्ध णिवद्धमगलत्तपि। उवरि उच्चमाणेसु तिसु खडेसु इत्यादि।"

षट्खण्डागम, धवला टीका, पुस्तक ९, पृ० १०३-१०४।

विषयनिरूपण ओघ और आदेश क्रमसे किया गया है। ओघमे मिथ्यात्व, सासादन आदि १४ गुणस्थानोका और आदेशमे गति, इन्द्रिय, काय आदि १४ मार्गणाओका विवेचन उपलब्ध होता है। सत्प्ररूपणामे १७७ सूत्र हैं। इनमे ४०वें सूत्रसे ४५वें सूत्र तक छह कायके जीवोका विस्तारपूर्वक वर्णन आया है। जीवोके बादर और सूक्ष्म भेदोके पर्याप्त एव अपर्याप्त भेद किये गये है। वनस्पति कायके साधारण और प्रत्येक ये दो भेद बतलाये हैं और इन्ही भेदोके बादर और सूक्ष्म तथा इन दोनो भेदोके पर्याप्त और अपर्याप्त उपभेद कर विषयका निरूपण किया है। स्थावर और त्रसकायसे रहित जीवोको अकायिक कहा है।

जीवट्ठाणखण्डकी दूसरी प्ररूपणा द्रव्यप्रमाणानुगम है। इसमे १९२ सूत्रो द्वारा गुणस्थान और मार्गणाक्रमसे जीवोकी सख्याका निर्देश किया है। इस प्ररूपणाके सख्यानिर्देशको प्रस्तुत करनेवाले सूत्रोमे शतसहस्रकोटि, कोडाकोड़ी, सख्यात, असख्यात, अनन्त और अनन्तानन्त सख्याओका कथन उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त सातिरेक, हीन, गुण, अवहारभाग, वर्ग, वर्गमूल, घन, अन्योन्याभ्यस्त राशि, आदि गणितकी मौलिक प्रक्रियाओके निर्देश मिलते हैं। कालगणनाके प्रसगमे आवली, अन्तर्मुहूर्त, अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी, पल्योपम आदि एव क्षेत्रकी अपेक्षा अगुल, योजन, श्रेणी, जगत्प्रतर एव लोकका उल्लेख आया है।

क्षेत्रप्ररूपणामे ९२ सूत्रो द्वारा गुणस्थान और मार्गणाक्रमसे जीवोके क्षेत्रका कथन किया गया है। उदाहरणार्थ कुछ सूत्र उद्धृत कर यह बतलाया जायगा कि सूत्रकर्त्ताकी शैली प्रश्नोत्तरके रूपमे कितनी स्वच्छ है और विषयको प्रस्तुत करनेका क्रम कितना मनोहर है। यथा

"सासणसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति केवडि खेत्ते ? लोगस्स असखेज्जदिभाए।"

सजोगिकेवली केवडि खेत्ते ? लोगस्स असखेज्जदिभागे असखेज्जेसु वा भागेसु सव्वलोगे वा।[1]

आदेसेण गदियाणुवादेण णिरयगदीए णेरइएसु मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव असजदसम्माइट्ठि त्ति केवडि खेत्ते ? लोगस्स असखेज्जदिभागे।

एव सत्तसु पुढवीसु णेरइया।

तिरिक्खगदीए तिरिक्खेसु मिच्छाइट्ठी केवडि खेत्ते ? सव्वलोए।[2]

१ षट्खण्डागम, जीवस्थान, क्षेत्रप्रमाणानुगम, सूत्र ३-४।

२ षट्खण्डागम, जीवस्थान, क्षेत्रप्रमाणानुगम, सूत्र ५, ६, ७

अर्थात् सासादनसम्यक्दृष्टि गुणस्थानसे लेकर अयोगिकेवली गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थानवर्ती जीव कितने क्षेत्रमे रहते हैं ? लोकके असंख्यात भाग-प्रमाण क्षेत्रमे रहते हैं।

सयोगकेवली, जीव कितने क्षेत्रमे रहते हैं ? लोकके असख्यातवें भाग-प्रमाण क्षेत्रमे अथवा लोकके असंख्यात वहुभागप्रमाण क्षेत्रमे अथवा सर्व-लोकमे रहते हैं।

आदेशकी अपेक्षा गतिके अनुवादसे नरकगतिमे नारकियोमे मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर असयतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थानवर्ती जीव कितने क्षेत्रमे रहते है ? लोकके असख्यातवें भागप्रमाण क्षेत्रमे रहते हैं।

इसी प्रकार सातो पृथिवियोमे नारकी जीव लोकके असख्यातवे भागप्रमाण क्षेत्रमे रहते हैं।

तिर्यञ्चगतिमे तिर्यञ्चोमे मिथ्यादृष्टि जीव कितने क्षेत्रमे रहते हैं ? सर्व-लोकमे रहते हैं।

स्पष्ट है कि एक ही सूत्रमे प्रश्न और उत्तर इन दोनोकी योजना की गयी है। वास्तवमे यह लेखककी प्रतिभाका वैशिष्ट्य है कि उसने आगमके गभीर विषयको सक्षेपमे प्रश्नोत्तररूपमे उपस्थित किया है। इस प्ररूपणाका प्रमुख वर्ण्य विषय मार्गणा और गुणस्थानकी अपेक्षासे जीवोंके स्पर्शनक्षेत्रका कथन करना है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि जिस मार्गणामे अनन्त सख्यावाली एके-न्द्रिय जीवोकी राशि आती है, उस मार्गणावाले जीव सर्वलोकमे रहते है और शेष मार्गणावाले लोकके असख्यातवें भागमे। केवलज्ञान, केवलदर्शन, यथाख्यात सयम आदि जिन मार्गणाओमे सयोगीजिन आते हैं, वे साधारण दशामे तो लोकके असख्यातवे भागमे रहते हैं किन्तु प्रतरसमुद्घातकी दशामे लोकके असख्यात वहुभागोमे तथा लोकपूर्णसमुद्घातकी दशामे सर्वलोकमे रहते हैं। वादर वायुकायिक जीव लोकके सख्यातवें भागमे रहते हैं।

स्पर्शन-प्ररूपणामे १८५ सूत्र हैं। इनमे, नानागुणस्थान और मार्गणावाले जीव स्वस्थान, समुद्घात एव उपपात सम्वन्धी अनेक अवस्थाओ द्वारा कितने क्षेत्रका स्पर्श करते हैं, का विवेचन किया है। जीव जिस स्थानपर उत्पन्न होता है या रहता है वह उसका स्वस्थान कहलाता है। और उस शरीरके द्वारा जहाँ तक वह आता जाता है वह विहारवत्-स्वस्थान कहलाता है। प्रत्येक जीवका स्वस्थानकी अपेक्षा विहारवत्-स्वस्थानका क्षेत्र अधिक होता है। जैसे सोलहवें स्वर्गके किसी भी देवका क्षेत्र स्वस्थानकी अपेक्षा तो लोकका असंख्यातवां भाग है, पर वह विहार करता हुआ नीचे तृतीय नरक तक

जा-आ सकता है। अत उसके द्वारा स्पर्श किया क्षेत्र आठ राजु लम्बा हो जाता है। विहारके समान समुद्घात और उपपादकी अपेक्षा भी जीवोका क्षेत्र बढ जाता है। वेदना, कषाय आदि किसी निमित्तविशेषसे जीवके प्रदेशोका मूल शरीरके साथ सम्बन्ध रहते हुए भी बाहर फैलना समुद्घात कहलाता है। समुद्घातके सात भेद हैं। समुद्घातकी अवस्थामे जीवका क्षेत्र शरीरकी अवगाहनाके क्षेत्रसे अधिक हो जाता है।

जीवका अपनी पूर्वपर्यायको छोडकर अन्य पर्यायमे जन्म ग्रहण करना उपपाद है। इस प्रकार इस प्ररूपणामे स्वस्थान-स्वस्थान, विहारवत्-स्वस्थान, वेदना, कषाय, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, मारणान्तिक, केवलिसमुद्घात और उपपाद इन दश अवस्थाओकी अपेक्षा किस गुणस्थानवाले और किस मार्गणावाले जीवोने कितने क्षेत्रका स्पर्श किया है, यह विवेचन किया गया है।

कालानुयोगमे ३४२ सूत्र है। इस प्ररूपणामे एक जीव और नाना जीवोके एक गुणस्थान और मार्गणामे रहनेकी जघन्य एवं उत्कृष्ट मर्यादाओकी कालावधिका निर्देश किया है। मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्वगुणस्थानमे कितने काल पर्यन्त रहते है? उत्तर देते हुए बताया है कि नाना जीवोकी अपेक्षा सर्वकाल, पर एक जीवकी अपेक्षा अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त हैं। तात्पर्य यह है कि अभव्य जीव अनादि अनन्त तथा भव्य जीव अनादि-सान्त और सादि-सान्त हैं। जो जीव एक बार सम्यक्त्व ग्रहणकर पुन मिथ्यात्वगुणस्थानमे पहुँचता है, उस जीवका वह मिथ्यात्व सादि-सान्त कहलाता है।

सूत्रकारने बडे ही स्पष्ट रूपमे मिथ्यात्वके तीनो कालोका एक जीवकी अपेक्षा और अनेक जीवोकी अपेक्षा निरूपण किया है। जब कोई जीव पहलीबार सम्यक्त्व प्राप्त कर अतिशीघ्र मिथ्यात्वको प्राप्त हो जाता है तो वह अधिक-से-अधिक मिथ्यात्व गुणस्थानमे अर्द्धपुद्गल परावर्त्तन काल तक ही रहेगा। इसके अनन्तर वह नियमसे सम्यक्त्वको प्राप्तकर सयम धारण कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

अन्तर-प्ररूपणामे ३९७ सूत्र हैं। इस शब्दका अर्थ विरह, व्युच्छेद या अभाव है। किसी विवक्षित गुणस्थानवर्ती जीवका उस गुणस्थानको छोडकर अन्य गुणस्थानमे चले जाने पर पुन उसी गुणस्थानकी प्राप्तिके पूर्व तकका काल अन्तरकाल या विरहकाल कहलाता है। सबसे कम विरह-कालको जघन्य अन्तर और सबसे बड़े विरहकालको उत्कृष्ट अन्तर कहा है। इस प्रकारके अन्तरकालकी प्ररूपणा करने वाली यह अन्तर-प्ररूपणा है। यह अन्तरकाल सामान्य और विशेषकी अपेक्षासे दो प्रकारका होता है। सूत्रकारने

एक जीव और नाना जीवोकी अपेक्षासे एक ही गुणस्थान और मार्गणामे रहनेकी जघन्य और उत्कृष्ट कालावधिका निर्देश करते हुए अन्तरकालका निरूपण किया है। मिथ्यादृष्टि जीवका अन्तरकाल कितना है, इस प्रश्नका उत्तर देते हुए बताया है कि नानाजीवोकी अपेक्षा कोई अन्तर नही है। ऐसा कोई काल नही जब ससारमे मिथ्यादृष्टि जीव न पाये जायें, एक जीवकी अपेक्षा मिथ्यात्वका जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर १३२ सागरोपम काल है। तात्पर्य यह है कि मिथ्यादृष्टि जीव परिणामोकी विशुद्धिसे सम्यक्त्वको प्राप्त होकर कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त्त कालमे सक्लिष्ट परिणामो द्वारा पुन मिथ्यादृष्टि हो सकता है। अथवा अनेक मनुष्य और देवगतियोमे सम्यक्त्व सहित भ्रमणकर अधिक-से-अधिक १३२ सागरोपमको पूर्णकर पुन मिथ्यात्वको प्राप्त हो सकता है। तीव्र और मन्द परिणामोके स्वरूपका विवेचन भी इस प्ररूपणाके अन्तर्गत आया है। नानाजीवोकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि, असयत सम्यग्दृष्टि, सयतासयत, प्रमत्त-सयत, अप्रमत्तसयत और सयोगकेवली ये छ गुणस्थान इस प्रकारके है, जिनमे अन्तराल उपस्थित नही होता।

मार्गणाओमे उपशमसम्यक्त्व, सूक्ष्मसापरायसयम, आहारककाययोग, आहारकमिश्रकाययोग, वैक्रियिकमिश्रकाययोग, लब्ध्यपर्याप्तमनुष्य, सासादन-सम्यक्त्व और सम्यक्मिथ्यात्व ऐसी अवस्थाएँ हैं, जिनमे गुणस्थानोका अन्तर-काल सभव होता है। इनका जघन्य अन्तरकाल एक समयमात्र और उत्कृष्ट अन्तरकाल सात दिन या छ मास आदि बतलाया गया है। इन आठ मार्गणाओके अतिरिक्त शेष सभी मार्गणाओवाले जीव सदा ही पाये जाते है।

भाव-प्ररूपणामे ९३ सूत्र हैं। इनमे विभिन्न गुणस्थानो और मार्गणास्थानोमे होनेवाले भावोका निरूपण किया गया है। कर्मोंके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम आदिके निमित्तसे जीवके उत्पन्न होनेवाले परिणामविशेषोको भाव कहते है। ये भाव पाँच हैं 1 औदयिक भाव, २ औपशमिक भाव, ३. क्षायिक भाव, ४ क्षायोपशमिक भाव और ५ पारिणामिक भाव।

इन भावोमेसे किस गुणस्थान और किस मार्गणास्थानमे कौन-सा भाव होता है, इसका विवेचन इस भावप्ररूपणामे किया गया है। मिथ्यात्वगुण-स्थानमे उत्पन्न होनेवाले मिथ्यादृष्टिको औदयिक भाव होता है। दूसरे गुण-स्थानमे अन्य भावोंके रहते हुए भी, पारिणामिक भाव रहते है। जिस प्रकार जीवत्व आदि पारिणामिक भावोके लिये कर्मोंका उदय, उपशम आदि कारण नही है उसी प्रकार सासादनसम्यक्त्वरूप भावके लिये दर्शनमोहनीयकर्मका उदय, उपशमादि कोई भी कारण नही है।

तीसरे गुणस्थानमे क्षायोपशमिक भाव होता है। यतः इस गुणस्थानमें सम्यक्-मिथ्यात्वप्रकृतिके उदय होनेपर श्रद्धान और अश्रद्धानरूप मिश्रभाव उत्पन्न होता है। उसमे जो श्रद्धानांश है वह सम्यक्त्वगुणका अंश है और जो अश्रद्धानांश है वह मिथ्यात्वका अंश है। अतएव सम्यक्मिथ्यात्वभावको क्षायोपशमिक माना गया है। चतुर्थ गुणस्थानमे औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ये तीन भाव पाये जाते हैं। यतः यहाँ पर दर्शनमोहनीयकर्मका उपशम, क्षय और क्षयोपशम ये तीनो ही संभव हैं।

आदिके चार गुणस्थान दर्शनमोहनीयकर्मके उदय, उपशम, क्षय आदि से उत्पन्न होते हैं। अतएव इन गुणस्थानोमे अन्य भावोके पाये जानेपर भी दर्शन-मोहनीयकी अपेक्षासे भावोकी प्ररूपणा की गई है। चतुर्थ गुणस्थान तक जो असयमभाव पाया जाता है वह चारित्रमोहनीयकर्मके उदयसे उत्पन्न होनेके कारण औदयिक भाव है। पर यहाँ उसकी विवक्षा नही की गयी है।

पञ्चम गुणस्थानसे द्वादश गुणस्थान तक आठ गुणस्थानोके भावोका कथन चारित्रमोहनीयकर्मके क्षयोपशम, उपशम और क्षयकी अपेक्षासे किया गया है। पञ्चम, षष्ठ और सप्तम गुणस्थानमे चारित्रमोहके क्षयोपशमसे क्षायोपशमिक भाव होते हैं। अष्टम, नवम, दशम और एकादश इन चार उपशामक गुणस्थानोमे चारित्रमोहके उपशमसे औपशमिक भाव तथा क्षपकश्रेणी सम्बन्धी अष्टम, नवम, दशम और द्वादश इन चार गुणस्थानोमे चारित्रमोहनीयके क्षयसे क्षायिक भाव होता है। त्रयोदश और चतुर्दश गुणस्थानोमे जो क्षायिक भाव पाये जाते हैं वे घातियाकर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हुए समझना चाहिए। गुणस्थानोके समान ही मार्गणास्थानोमे भी भावोका प्रतिपादन किया गया है।

अल्पबहुत्व-प्ररूपणामे ३८२ सूत्र है। नानागुणस्थान और मार्गणागुण-स्थानवर्ती जीवोकी सख्याका हीनाधिकत्व इस प्ररूपणामे वर्णित है। अपूर्व-करण, अनिवृत्तिकरण और सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमे उपशमसम्यक्त्वी जीव अन्य सब स्थानोकी अपेक्षा प्रमाणमे अल्प और परस्पर तुल्य होते हैं। इनसे अपूर्वकरणादि तीन गुणस्थानवर्ती क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव सख्यात गुणित हैं। क्षीणकषाय जीवोकी सख्या भी इतनी ही है। सयोगकेवली संयमको अपेक्षा प्रविश्यमान जीवोसे सख्यात गुणित हैं।

उपर्युक्त आठ प्ररूपणाओके अतिरिक्त जीवस्थानकी नौ चूलिकाएँ हैं। प्रकृतिसमुत्कीर्त्तन नामकी चूलिकामे ४६ सूत्र हैं। जीवके गति, जाति आदिके रूपमे जो नाना भेद उपलब्ध होते है उनका कारण कर्म है। कर्मका विस्तार-पूर्वक विवेचन इस चूलिकामे आया है।

दूसरी चूलिका स्थानसमुत्कीर्तन नामकी है। इसमे ११७ सूत्र है। प्रत्येक मूलकर्मकी कितनी उत्तरप्रकृतियाँ एक साथ बाँधी जा सकती हैं और उनका बन्ध किस-किस गुणस्थानमे करता है, इसका सुस्पष्ट विवेचन किया गया है। तृतीय चूलिका प्रथम महादण्डक नामकी है। इसमे दो सूत्र है। प्रथमसम्यक्त्व-को ग्रहण करनेवाला जीव जिन ७३ प्रकृतियोका बन्धकर्ता है, उन प्रकृतियोंकी गणना की गई है। इन प्रकृतियोका बन्धकर्त्ता सज्ञी पञ्चेन्द्रिय मनुष्य या तिर्यञ्च होता है। द्वितीय महादण्डक नामकी चौथी चूलिकामे भी केवल दो सूत्र है। इनमे ऐसी कर्मप्रकृतियोकी भी गणना की गई है जिनका बन्ध प्रथमसम्यक्त्वके अभिमुख हुआ देव और छ पृथ्वियोके नारकी जीव करते हैं। तृतीय दण्डक नामक पाँचवी चूलिकामे दो सूत्र है। और इन सूत्रोमे सातवी पृथ्वीके नारकी जीवोके सम्यक्त्वाभिमुख होनेपर बन्धयोग्य प्रकृतियोका निर्देश किया गया है। छठी उत्कृष्टस्थिति नामक चूलिकामे ४४ सूत्र हैं। इसमे बन्धे हुए कर्मोकी उत्कृष्ट स्थितिका निरूपण किया गया है। आशय यह है कि सूत्रकर्त्ता आचार्यने यह बतलाया है कि बन्धको प्राप्त विभिन्न कर्म अधिक-से-अधिक कितने कालतक जीवोसे लिप्त रह सकते है और बन्धके कितने समय बाद आबाधाकालके पश्चात् विपाक आरम्भ होता है। एक कोडाकोडी वर्षप्रमाण बन्धकी स्थितिपर १०० वर्षका आबाधाकाल होता है। और अन्त कोड़ाकोड़ी सागारोपम स्थितिका आबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त होता है। परन्तु आयुकर्मका आबाधाकाल इससे भिन्न है। क्योकि वहाँ आबाधा अधिक-से-अधिक एक पूर्व-कोटि आयुके तृतीयाश प्रमाण होती है। सातवी जघन्यस्थिति नामक चूलिकामे ४३ सूत्र हैं। इस चूलिकामे कर्मोकी जघन्य स्थितिका निरूपण किया गया है। परिणामोकी उत्कृष्ट विशुद्धि जघन्य स्थितिबन्धका और सक्लेश उत्कृष्ट कर्म-स्थितिबन्धका कारण है।

आठवी चूलिका सम्यक्त्वोत्पत्तिमे १६ सूत्र है। इस चूलिकामे सम्यक्त्वोत्पत्ति-योग्य कर्मस्थिति, सम्यक्त्वके अधिकारी आदिका निरूपण है। जीवन-शोधनके लिए सम्यक्त्वकी कितनी अधिक आवश्यकता है, इसकी जानकारी भी इससे प्राप्त होती है। नवमी चूलिका गति-अगति नामकी है। इसमे २४३ सूत्र हैं। विषयवस्तुकी दृष्टिसे इसे चार भागोमे विभक्त किया जा सकता है। सर्वप्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके बाहरी कारण किस गतिमे कौन-कौनसे सम्भव हैं, इसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। तदनन्तर चारो गतिके जीव मरणकर किस-किस गतिमे जा सकते हैं और किस-किस गतिसे किस-किस गतिमे आ सकते हैं, का विस्तारपूर्वक वर्णन पाया जाता है। देव मरकर देव नही हो सकता और न नारकी ही हो सकता है। इसी तरह नारकी जीव मरकर न

नारकी हो सकता है और न देव ही। इन दोनो गतियोके जीव मरणकर मनुष्य या तिर्यञ्चगति प्राप्त करते हैं। देव और नारकी मरकर मनुष्य या तिर्यञ्च ही होते हैं। मनुष्य और तिर्यञ्चगतिके जीव चारो ही गतियोमे जन्म ग्रहण कर सकते है।

तदनन्तर किस गुणस्थानमे मरणकर कौन-सी गति किस-किस जीवको प्राप्त होती है, इसपर विशेष विचार किया है। तत्पश्चात् बतलाया गया है कि नरक और देवगतियोसे आये हुए जीव तीर्थंकर हो सकते हैं। अन्य गतियोसे आये हुए नही। चक्रवर्त्ती, नारायण, प्रतिनारायण और बलभद्र केवल देवगतिसे आये हुए जीव ही होते है, शेष गतियोसे आये हुए नही। चक्रवर्त्ती मरणकर स्वर्ग और नरक इन दोनो गतियोमे जाते हैं और कर्मक्षयकर मोक्ष भी प्राप्त कर सकते हैं। बलभद्र स्वर्ग या मोक्षको जाते हैं। नारायण और प्रतिनारायण मरणकर नियमसे नरक जाते है। तत्पश्चात् बतलाया गया है कि सातवें नरकका निकला जीव तिर्यञ्च ही हो सकता है, मनुष्य नही। छठे नरकसे निकले हुए जीव तिर्यञ्च और मनुष्य दोनो हो सकते हैं। पञ्चम नरकसे निकले हुए जीव मनुष्यभवमे सयम भी धारण कर सकते है, पर उस भवसे मोक्ष नही जा सकते। चौथे नरकसे निकले हुए जीव मनुष्य होकर और सयम धारण कर केवलज्ञानको उत्पन्न करते हुए निर्वाण भी प्राप्त कर सकते है। तृतीय नरकसे निकले हुए जीव तीर्थंकर हो सकते हैं। इस प्रकार जीवट्ठाण नामक प्रथम खण्डमे कुल २,३७५ सूत्र हैं और यह आठ प्ररूपणाओ और नौ चूलिकाओमे विभक्त है।

२ खुद्दाबन्ध (क्षुद्रकबन्ध)

इसमे मार्गणास्थानोके अनुसार कौन जीव बन्धक है और कौन अबन्धक, का विवेचन किया है। कर्मसिद्धान्तकी दृष्टिसे यह द्वितीय खण्ड बहुत उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है। इसका विशद विवेचन निम्नलिखित ग्यारह अनुयोगो द्वारा किया गया है

१. एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्व
२. एक जीवकी अपेक्षा काल
३. एक जीवकी अपेक्षा अन्तर
४ नानाजीवोकी अपेक्षा भगविचय
५ द्रव्यप्रमाणानुगम
६ क्षेत्रानुगम
७ स्पर्शानुगम
८ नानाजीवोकी अपेक्षा काल

९ नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर
१० भागाभागानुगम
११ अल्पबहुत्वानुगम

इन ग्यारह अनुयोगोके पूर्व प्रास्ताविक रूपमे बन्धकोके सत्त्वको प्ररूपणा की गई है और अन्तमे ग्यारह अनुयोगद्वारोकी चूलिकाके रूपमे महादण्डक दिया गया है। इस प्रकार इस खण्डमे १३ अधिकार हैं।

प्रास्ताविक रूपमे आई बन्ध-सत्त्वप्ररूपणामे ४३ सूत्र हैं। गतिमार्गणाके अनुसार नारकी और तिर्यञ्च बन्धक हैं। मनुष्य बन्धक भी है और अबन्धक भी। सिद्ध अबन्धक हैं। इन्द्रियादि मार्गणाओको अपेक्षा भी बन्धके सत्त्वका विवेचन किया है। जबतक मन, वचन और कायरूप योगको क्रिया विद्यमान रहती है तबतक जीव बन्धक रहता है। अयोगकेवली और सिद्ध अबन्धक होते हैं।

स्वामित्व नामक अनुगममे ९१ सूत्र हैं, जिनमे मार्गणाओके अनुक्रमसे कौन-से गुण या पर्याय जीवके किन भावोंसे उत्पन्न होते है तथा जीवको लब्धियोकी प्राप्ति किस प्रकार होती है, आदिका प्रश्नोत्तरके रूपमे प्ररूपण किया गया है। इस अनुगममे सिद्धगति, अनिन्द्रियत्व, अकायत्व, अलेश्यत्व, अयोगत्व, क्षायिक-सम्यक्त्व, केवलज्ञान और केवलदर्शन तो क्षायिकलब्धिसे उत्पन्न होते हैं। एके-न्द्रियादि पाँच जातियाँ मन, वचन, काय ये तीन योग, मति, श्रुत, अवधि और मन पर्यय ये चार ज्ञान, तीन अज्ञान, परिहारविशुद्धिसयम, चक्षु, अचक्षु और अवधिदर्शन, वेदकसम्यक्त्व, सम्यक्-मिथ्यादृष्टित्व और सज्ञित्वभाव ये क्षायो-पशमिकलब्धिसे उत्पन्न होते है। अपगतवेद, कषाय, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यातसयम ये औपशमिक तथा क्षायिकलब्धिसे उत्पन्न होते हैं। सामायिक और छेदोपस्थापनासयम, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिकलब्धिसे उत्पन्न होते हैं। औपशमिक सम्यग्दर्शन औपशमिकलब्धिसे उत्पन्न होता है, भव्यत्व, अभव्यत्व और सासादनसम्यग्दृष्टित्व ये पारिणामिक भाव हैं। शेष गति आदि समस्त मार्गणान्तर्गत जीवपर्याय अपने-अपने कर्मो के उदयसे होते हैं। अनाहारकत्व कर्मोके उदयसे भी होता है और क्षायिकलब्धिसे भी।

कालानुगममे २१६ सूत्र हैं। इस अनुगममे गति, इन्द्रिय, काय आदि मार्ग-णाओमे जीवकी जघन्य और उत्कृष्ट कालस्थितिका विवेचन किया है। जीव-स्थान खण्डमे प्ररूपित कालप्ररूपणाकी अपेक्षा यह विशेषता है कि यहाँ गुणस्थानका विचार छोडकर प्ररूपणा की गई है।

अन्तरप्ररूपणामे १५१ सूत्र हैं। मार्गणाक्रमसे जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर-कालका विशद विवेचन किया गया है।

भगविचयमे २३ सूत्र हैं। किन मार्गणाओमे कौन-से जीव सदैव रहते और कौन-से जीव कभी नही रहते, का वर्णन किया है। बताया गया है कि नरकादि गतियोमे जीव सदैव नियमसे निवास करते हैं। किन्तु मनुष्य अपर्याप्त कभी होते हैं और कभी नही भी होते। इसी प्रकार वैक्रियिकमिश्र आदि जीवोकी मार्गणाएँ भी सान्तर हैं।

द्रव्यप्रमाणानुगममे १७१ सूत्र हैं। गुणस्थानको जोडकर मार्गणाक्रमसे जीवोकी सख्या, उसीके आश्रयसे काल एव क्षेत्रका प्ररूपण किया गया है।

क्षेत्रानुगममे १२४ और स्पर्शानुगममे २७९ सूत्र है। इन दोनोमे अपने-अपने विषयके अनुसार जीवोका विवेचन किया गया है।

कालानुगममे ५५ सूत्र हैं। इसमे कालकी अपेक्षासे नाना जीवोके कालका वर्णन किया है। अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त, सादि-अनन्त एव सादि-सान्त रूपसे कालप्ररूपणा की गई है।

नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तरका वर्णन करनेवाले अन्तरानुगममे ६८ सूत्र हैं। बन्धकोके जघन्य और उत्कृष्ट अन्तरकालकी प्ररूपणा की गई है।

भागाभागानुगममे ८८ सूत्र हैं। इस अनुगममे मार्गणानुसार अनन्तवें भाग, असख्यातवें भाग, सख्यातवें भाग तथा अनन्त बहुभाग, असख्यात बहुभाग, सख्यात बहुभाग, रूपसे जीवोका सर्वजीवोकी अपेक्षा प्रमाण बतलाया गया है। एक प्रकारसे इस अनुगममे जीवोकी सख्याओपर प्रकाश डाला गया है तथा परस्पर तुलनात्मक रूपसे सख्या बतायी गई है। यथा नारकी जीवोका विवेचन करते हुए कहा गया है कि वे समस्त जीवोकी अपेक्षा अनन्तवें भाग है। इस प्रकार परस्परमे तुलनात्मक रूपसे जीवोकी भाग-अभागानुक्रममे संख्या बतलायी गई है।

अल्पबहुत्व-अनुगममे १०६ सूत्र हैं, जिनमे १४ मार्गणाओके आश्रयसे जीव-समासोका तुलनात्मक द्रव्यप्रमाण बतलाया गया है। गतिमार्गणामे मनुष्य सबसे थोड़े हैं। उनसे नारकी असख्यगुणे हैं। देव नारकियोसे असख्यगुणे हैं। देवोसे सिद्ध अनन्तगुणे हैं तथा तिर्यंच देवोसे भी अनन्तगुणे हैं।

अन्तिम चूलिका महादण्कके रूपमे है। इसमे ७९ सूत्र हैं। इस चूलिकामे मार्गणाविभागको छोडकर गर्भोपक्रान्तिक मनुष्य-पर्याप्तसे लेकर निगोद जीवो तकके जीवसमासोका अल्पबहुत्व प्रतिपादित है। जीवोकी सापेक्षिक राशिके ज्ञानको प्राप्त करनेके लिए यह चूलिका उपयोगी है।

इस प्रकार समस्त खुद्दाबन्धमे १, ५८२ सूत्र है। इनमे कर्मप्रकृतिप्राभृतके बन्धक अधिकारके बन्ध, अबन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान नामक चार अनुयोगोमेसे बन्धकका प्ररूपण किया गया है। इसे खुद्दबन्ध कहनेका कारण यह है कि महाबन्धको अपेक्षा यह बन्धप्रकरण छोटा है।

३ बंधसामित्तविचय (बन्धस्वामित्वविचय)

इस तृतीय खण्डमे कर्मोकी विभिन्न प्रकृतियोके बन्ध करनेवाले स्वामियो-का विचार किया गया है। यहाँ विचयशब्दका अर्थ विचार, मीमासा और परीक्षा है। यहाँ इस बातका विवेचन किया है कि कौन-सा कर्मबन्ध किस गुणस्थान और मार्गणामे सभव है। अर्थात् कर्मबन्धके स्वामी कौनसे गुण-स्थानवर्ती और मार्गणास्थानवर्ती जीव हैं। इस खण्डमे कुल ३२४ सूत्र है। इनमे आरम्भके ४२ सूत्रोमे गुणस्थान-क्रमसे बन्धक जीवोका प्ररूपण किया है। कर्मसिद्धान्तकी अपेक्षा किस गुणस्थानमे भेद और अभेद विवक्षासे कितनी प्रकृतियोका कौन जीव स्वामी होता है, इसका विशद विवेचन किया गया है।

४ वेदनाखण्ड

कर्मप्राभृतके २४ अधिकारोमेसे कृति और वेदना नामक प्रथम दो अनु-योगोका नाम वेदना-खण्ड है। सूत्रकारने प्रारभमे मगलाचरण किया है तथा इसी चतुर्थ खण्डके प्रारभमे पुन भी मगलसूत्र मिलते हैं। अत' यह अनुमान सहजमे लगाया जा सकता है कि प्रथम बारका मगल प्रारभके तीन खण्डोका है और द्वितीय बारका मगल शेष तीन खण्डोका। ग्रन्थके आदि और मध्यमे मगल करनेका जो सिद्धान्त प्रतिपादित है उसका समर्थन भी इससे हो जाता है। कृतिअनुयोगद्वारमें ७५ सूत्र है, जिनमे ४४ सूत्रोमे मगलस्तवन किया गया है। शेष सूत्रोमे कृतिके नाना भेद बतलाकर मूलकरण कृतिके १३ भेदोका स्वरूप बतलाया गया है।

द्वितीय प्रकरणका १६ अधिकारोमे विवेचन किया गया है। अधिकारोकी नामावली सूत्रानुसार निम्न प्रकार है

१. निक्षेप ३ सूत्र
२ नय ४ सूत्र
३ नाम ४ सूत्र
४. द्रव्य १३ सूत्र
५ क्षेत्र ९९ सूत्र
६ काल २७९ सूत्र
७ भाव ३१४ सूत्र

८ प्रत्यय १६ सूत्र
९ स्वामित्व १५ सूत्र
१० वेदनाविधान ५८ सूत्र
११ गति १२ सूत्र
१२. अनन्तर ११ सूत्र
१३ सन्निकर्ष ३२० सूत्र
१४ परिमाण ५३ सूत्र
१५ भागाभाग २१ सूत्र
१६ अल्पबहुत्व २७ सूत्र

वस्तुत यह वेदना अनुयोगद्वार बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। निक्षेप अधिकारमे नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपो द्वारा वेदनाके स्वरूपका स्पष्टीकरण किया गया है। नय अधिकारमे उक्त निक्षेपोमे कौन-सा अर्थ यहा है, यह नैगम प्रकृत सग्रह आदि नयोके द्वारा समझाया गया है। नामविधान अधिकारमे नैगमादि नयोके द्वारा ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मो मे वेदनाकी अपेक्षा एकत्व स्थापित किया गया है। द्रव्यविधान अधिकारमे कर्मो के द्रव्यका उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य, सादि, अनादि स्वरूप समझाया गया है। क्षेत्रविधानसे ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मरूप पुद्गलद्रव्यको वेदना मानकर समुद्घातादि विविध अवस्थाओमे जीवके प्रदेशक्षेत्रकी प्ररूपणा की गई है। कालविधान अधिकारमें पदमीमासा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व अनुयोगद्वारमे कालके स्वरूपका विवेचन किया गया है। भावविधानमे पूर्वोक्त पदमीमासादि तीन अनुयोगो द्वारा ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मो की उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट भावात्मक वेदनाओ पर प्रकाश डाला गया है। वेदना प्रत्ययमे नयोके आश्रय द्वारा वेदनाके कारणोका विवेचन किया है। वेदना स्वामित्वमे आठो कर्मो के स्वामियोका प्ररूपण किया है। वेदना वेदन अधिकारमे आठो कर्मो के बध्यमान, उदीरणा और उपशान्त स्वरूपोका एकत्व और अनेकत्वकी अपेक्षा कथन किया है। वेदना गतिविधान अनुयोगद्वारमे कर्मो की स्थिति, अस्थिति अथवा स्थित्यस्थिति अवस्थाओका निरूपण किया है। अनन्तरविधान अनुयोगद्वारमे कर्मो की अनन्तपरम्परा एव बन्धप्रकारोका विचार किया है। कर्मो की वेदना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा किस प्रकार उत्कृष्ट और जघन्य होती है, का विवेचन वेदना सन्निकर्षमे किया गया है। वेदना परिमाणविधान अधिकारमे आठो कर्मो की प्रकृत्यर्थता, समयवद्धार्थता और क्षेत्रप्रत्यासकी प्ररूपणा की गई है। भागाभागमे कर्मप्रकृतियोंके भाग और अभागका विवेचन आया है। अल्प-

बहुत्वविधानमें कर्मोके अल्पबहुत्वका निरूपण किया है। इस प्रकार वेदना-खण्डमें कुल १,४४९ सूत्र है।

५ वर्गणाखण्ड

इसमे स्पर्श, कर्म और प्रकृति नामक तीन अनुयोगद्वारोका प्रतिपादन किया गया है। स्पर्श-अनुयोगद्वारमे स्पर्शनिक्षेप, स्पर्शनयविभाषणता, स्पर्शनाम-विधान और स्पर्शद्रव्यविधान आदि १६ अधिकारोमे स्पर्शका विचार किया गया है। कर्म-अनुयोगद्वारमें नामकर्म, स्थापनाकर्म, द्रव्यकर्म, प्रयोगकर्म, सामावदानकर्म, अध करणकर्म, ईर्यापथकर्म, तप.कर्म, क्रियाकर्म और भावकर्म-का प्ररूपण है। प्रकृति-अनुयोगद्वारमे प्रकृतिनिक्षेप आदि १६ अनुयोगद्वारोका विवेचन है। इन तीनो अनुयोगद्वारोमे क्रमशः ६३, ३१, और १४२ सूत्र है।

बन्धनके चार भेद हैं १ बन्ध, २ बन्धक, ३ बन्धनीय और ४ बन्ध-विधान। बन्ध और बन्धनीयका विवेचन ७२७ सूत्रोमे किया गया है। बन्ध-प्रकरण ६४ सूत्रोमे समाप्त हुआ है। बन्धनीयका स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि विपाक या अनुभव करनेवाले पुद्गल-स्कन्ध ही बन्धनीय होते हैं और वे वर्गणारूप हैं।

६ महाबन्ध

बन्धनीय अधिकारकी समाप्तिके पश्चात् प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थिति-बन्ध और अनुभागबन्धका विवेचन छठे खण्डमे अनेक अनुयोगद्वारोमे विस्तार-पूर्वक किया गया है। प्रकृतिका शब्दार्थ स्वभाव है। यथा- चीनीकी प्रकृति मधुर और नीमकी प्रकृति कटुक होती है। इसी प्रकार आत्माके साथ सम्बद्ध हुए कर्मपरमाणुओमे आत्माके ज्ञान-दर्शनादि गुणोको आवृत करने या सुखादि गुणोके घात करनेका जो स्वभाव पडता है उसे प्रकृतिबन्ध कहते है। वे आये हुए कर्मपरमाणु जितने समयतक आत्माके साथ बँधे रहते हैं उतने कालकी मर्यादाको स्थितिबन्ध कहते है। उन कर्मपरमाणुओमे फलप्रदान करनेका जो सामर्थ्य होता है उसे अनुभागबन्ध कहते है। आत्माके साथ बँधनेवाले कर्म-परमाणुओके ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूपसे और उनकी उत्तरप्रकृतियोके रूपसे जो बँटवारा होता है उसे प्रदेशबन्ध कहते हैं। इस षष्ठ खण्डमे इन चारो बन्धोका प्रकृतिसमुत्कीर्त्तन, सर्वबन्ध, नोसर्वबन्ध, उत्कृष्टबन्ध, अनुत्कृष्टबन्ध आदि २४ अनुयोगद्वारो द्वारा प्ररूपण किया गया है।

आचार्य आर्यमक्षु और नागहस्ति

ये दोनो आचार्य दिगम्बर एव श्वेताम्बर दोनो परम्पराओमे प्रतिष्ठित हैं।

श्वेताम्बर परम्परामें आर्यमक्षुको आर्यमगु नामसे उल्लिखित किया है। मगु और मक्षु एकार्थक शब्द हैं। अतः ये दोनों एक ही व्यक्तिके लिए प्रयुक्त हैं। 'धवला' टीकामें इन दोनोंको महाश्रमण और महावाचक लिखा है

"कम्मट्ठिदि त्ति अणियोगद्दारे हि भण्णमाणे वे उवएसा होंति। जहण्णमुक्कस्सट्ठिदीणं पमाणपरूवणा कम्मट्ठिदिपरूवण त्ति णागहत्थि-खमासमणा भणंति। अज्जमखु-खमासमणा पुण कम्मट्ठिदिपरूवेणे त्ति भणंति। एवं दोहि उवएसेहि कम्मट्ठिदिपरूवणा कायव्वा।" "एत्थ दुवे उवएसा 'महावाचयाणमज्जमंखुखवणाणमुवएसेण लोगपूरिदे आउगसमाणं णामा-गोद-वेदणीयाणं ठिदिसंतकम्मं ठवेदि। महावाचयाणं णागहत्थि-खवणाणमुवएसेण लोगे पूरिदे णामा-गोद-वेदणीयाणं ट्ठिदिसंतकम्मं अंतोमुहुत्तपमाणं होदि।"[1]

इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि आर्यमक्षु और नागहस्ति क्षमाश्रमण और महावाचक पदोंसे विभूषित थे। इससे इन दोनोंकी सिद्धान्तविषयक विद्वत्ताका पता चलता है। जयधवलामें आर्यमक्षु और नागहस्तिका उल्लेख करते हुए इन दोनोंको आरातीय परम्पराका अभिज्ञ माना है। लिखा है

"एदम्हादो विउलगिरिमत्थयत्थवड्ढमाणदिवायरादो विणिग्गमिय गोदमलोहज्ज-जंबुसामियादि-आइरियपरंपराए आगंतूण गुणहराइरियं पाविय गाहासरूवेण परिणमिय अज्जमखु-णागहत्थीहिंतो जइवसहायरियमुवणमिय चुण्णिसुत्तायारेण परिणददिव्वज्झुणिकिरणादो णव्वदे।"[2]

अर्थात् विपुलाचलके ऊपर स्थित भगवान् महावीररूपी दिवाकरसे निकलकर गौतम, लोहार्य, जम्बूस्वामी आदि आचार्यपरम्परासे आकर गुणधराचार्यको प्राप्त होकर वहाँ गाथारूपसे परिणमन करके पुनः आर्यमक्षु और नागहस्ति आचार्यके द्वारा आर्य यतिवृषभको प्राप्त होकर चूर्णिसूत्ररूपसे परिणत हुई दिव्यध्वनि किरणरूपने अज्ञान अन्धकारको नष्ट करती है। इससे स्पष्ट है कि ये दोनों आचार्य अपने समयके कर्मसिद्धान्तके महान् वेत्ता और आगमके पारगामी थे। जयधवलाकार आचार्य वीरसेनने टीकाके प्रारम्भमें उक्त दोनों आचार्योंकी महत्ता प्रदर्शित की है। धवला और जयधवला टीकाओंके आधार पर इन दोनों आचार्योंको सिद्धान्तका मर्मज्ञ और व्याख्याता माना जा सकता है। वीरसेनने लिखा है

गुणहर-वयण-विणिग्गयगाहाणत्थोऽवहारियो सव्वो।
जेणज्जमखुणा सो सणागहत्थी वरं देऊ ॥७॥

1. षट्खण्डागम १ प्र० पृ० ५७, पुरातन जैन वाक्य-सूची पृ० ३० पर उद्धृत।
2. कसायपाहुड, पञ्चम भाग, पृष्ठ ३८८।

जो अज्जमखुसीसो अंतेवासी वि णागहत्थिस्स ।
सो वित्तिसुत्तकत्ता जइवसहो मे वरं देऊ ॥८॥[1]

अर्थात् जिन आर्यमक्षु और नागहस्तिने गुणधराचार्यके मुखकमलसे विनिर्गत कसायपाहुडकी गाथाओके समस्त अर्थको सम्यक्प्रकार ग्रहण किया, वे हमे वर प्रदान करें । चूर्णिसूत्ररचयिता यतिवृषभ आर्यमक्षुके शिष्य और नागहस्तिके अन्तेवासी हैं ।

इन गाथाओसे निम्नलिखित तथ्य प्रसूत होते है

१ आर्यमक्षु और नागहस्तिकी समकालीनता

२ कसायपाहुडकी विज्ञता

३. यतिवृषभके गुरुके रूपमे मान्यता

यतिवृषभने अपने चूर्णिसूत्रोमे आर्यमक्षु और नागहस्तिको गुरुके रूपमे उल्लिखित नही किया है और न अन्य किसी आचार्यका ही अपनेको शिष्य बताया है । यद्यपि कुछ ऐसे स्थल उपलब्ध होते है, जिनसे उक्त दोनोका गुरुत्व व्यक्त हो जाता है । उन्होने "एत्थ वे उवएसा" कहकर दो उपदेशकोकी सूचना दी है । ये उपदेशक अपने समयके दो महान् ज्ञानी गुरु थे । जयधवलामे लिखा है

"पुणो तेसिं दोण्ह पि पादमूले असीदिसदगाहाण गुणहरमुहकमलविणिग्गयाणमत्थ सम्म सोऊण जयिवसहभडारएण पवयणवच्छलेण चुण्णिसुत्त कय ।"[2]

अर्थात् गुणधरके मुखकमलसे निकली हुई गाथाओके अर्थको जिनके पादमूलमे सुन कर यतिवृषभने चूर्णिसूत्र रचा ।

इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारमे आर्यमक्षु और नागहस्तिको गुणधराचार्यका शिष्य बताया गया है । अतएव इन दोनोके गुरु गुणधराचार्य हैं और शिष्य यतिवृषभ

एव गाथासूत्राणि पचदशमहाधिकाराणि ।
प्रविरच्य व्याचख्यौ स नागहस्त्यार्यमक्षुभ्याम् ॥[3]

अर्थात् गुणधराचार्यने कसायपाहुडकी सूत्रगाथाओको रचकर स्वय उनकी व्याख्या करके आर्यमक्षु और नागहस्तिको पढाया ।

जयधवलाके एक अन्य उल्लेखसे अवगत होता है कि आचार्यपरम्परासे प्राप्त गाथाओको शिक्षा गुणधरने आर्यमक्षु और नागहस्तिको दी थी

१ जयधवलाटीका, मगलाचरण पद्य ७-८ ।

२ कसायपाहुड, जयधवला टीका, भाग १, पृ० ८८ ।

३ श्रुतावतार, पद्य १५४ ।

'पुणो ताओ सुत्तगाहाओ आइरिय-परंपराए आगच्छमाणाओ अज्जमंखुणाग-हत्थीण पत्ताओ।''

अर्थात् गुणधराचार्यकी उक्त सूत्रगाथाएँ आचार्यपरम्परासे चली आती हुई आर्यमक्षु और नागहस्तिको प्राप्त हुई।

इस उद्धरणसे एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकलता है कि इन दोनो आचार्योका गुणधरके साथ सीधा सम्बन्ध नही था; पर आरम्भमे जयधवलाकारने गुणधरका आर्यमक्षु और नागहस्तिके साथ सीधा सम्बन्ध माना है। श्रुतावतारसे भी गुणधराचार्यके साथ इन दोनोका साक्षात् सम्बन्ध घटित होता है।

आर्यमक्षु और नागहस्तिके व्यक्तित्वके सम्बन्धमे श्वेताम्बर परम्परासे भी पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। नन्दिसूत्रकी पट्टावलीमे आचार्य आर्यमंक्षुका परिचय देते हुए लिखा है

भणगं करगं झरगं पभावगं णाणदंसणगुणाणं।
वंदामि अज्जमंगुं सुयसागरपारगं धीरं ॥[1]

अर्थात् जो सूत्रोके अर्थव्याख्याता हैं, साधुपदोचित क्रियाकलापके करनेवाले है, धर्मध्यानके ध्याता या विशिष्ट अभ्यासी हैं, ज्ञान और दर्शन गुणके महान् प्रभावक हैं, धीर-वीर हैं, परीषह और उपसर्गोके सहन करनेवाले हैं एवं श्रुतसागरके पारगामी है, ऐसे आचार्यको मैं वन्दना करता हूँ।

श्वेताम्बर पट्टावलीमे इन्हे आर्यसमुद्रका शिष्य कहा गया है। इसी पट्टावलीमे नागहस्तिका परिचय भी प्राप्त होता है।

वड्ढउ वायगवंसो जसवंसो अज्जणागहत्थीणं।
वागरण-करणभंगिय-कम्मपयडिपहाणाणं ॥[2]

जो संस्कृत और प्राकृत भाषाके व्याकरणोके वेत्ता है, करणभगी अर्थात् पिण्डशुद्धि, समिति, भावना, प्रतिमा, इन्द्रियनिरोध, प्रतिलेखन और अभिग्रहकी नानाविधियोके ज्ञाता हैं और कर्मप्रकृतियोके प्रधान रूपसे व्याख्याता है, ऐसे आर्य नागहस्तिका यशस्वी वाचक वंश वृद्धिको प्राप्त हो। इन्हे आर्य नन्दिल क्षपणकका शिष्य बतलाया गया है।

उक्त दोनो गाथाओपरसे आर्यमक्षु और नागहस्तिके व्यक्तित्वके सम्बन्धमे निम्नलिखित निष्कर्ष फलित होते हैं

---

१ नन्दिसूत्र पट्टावली, गाथा २८।
२ नन्दिसूत्रपट्टावली, गाथा ३०।

१ ये दोनो आचार्य सिद्धान्तके मर्मज्ञ थे।

२ श्रुतसागरके पारगामी थे।

३ सूत्रोंके अर्थव्याख्याता थे।

४ गुप्ति, समिति और व्रतोके पालनमे सावधान तथा परीषह और उपसर्गोंके सहन करनेमे पटु थे।

५ वाचक और प्रभावक भी थे।

समय-निर्णय

श्वेताम्बर पट्टावलियोमेसे कल्पसूत्र-स्थविरावली और पट्टावली-सारोद्धारमे तो उक्त दोनो आचार्योका नाम नही मिलता है। अन्य पट्टावलियोमेसे किसीमे केवल आर्यमक्षुका नाम और किसीमे आर्यनाग हस्तिका नाम आता है। जहाँ इन दोनो आचार्यो के नाम हैं, वहाँ भी बीचमे किसी अन्य आचार्यका नाम आ गया है।

यह तो निर्विवाद है कि पट्टावलियोमे उल्लिखित आर्यमक्षु और नागहस्ति ही धवला और जयधवलामे उल्लिखित आर्यमक्षु और नागहस्ति है। वि० स० १३२७के लगभग धर्मघोषने 'सिरि-दुममाकाल-समणसघ-थय' नामक पट्टावली सगृहीत की है, जिसमे' वइर' के पश्चात् ही नागहत्थिका नाम आया है। यथा

बीए निवीस वइर च नागहत्थि च रेवईमित्त।
सीह नागज्जुण भूइदिन्निय कालय वदे॥[1]

ये वइर, वइर द्वितीय या कल्पसूत्र-पट्टावलीके उक्कोसिय गोत्रीय वइरसेन हैं, जिनका समय इसी पट्टावलीकी अवचूरीमे राजगणनासे तुलना करते हुए वीर नि० स० ६१७के पश्चात् बतलाया गया है।

पुष्पमित्र (दुर्बलिका पुष्पमित्र २० ॥ तथा राजा नाहड ॥१०॥ एव ६०५ शाकसावत्सर ॥ अत्रान्तरे बोटिका निर्गता। इति ६१७॥ प्रथमोदय.। वायसरेण ३ नागहस्ति ६९ रेवतिमित्र ५९ बभदीवग सिंह ७८ नागार्जुन ७८।

पणसयरी सयाइ तिन्नि-सय-समन्निआइ अइकमऊ।
विक्कमकालाओ तओ वहुली (वलभी) भंगो समुप्पन्नो॥

उक्त उद्धरणके अनुसार वीर नि० स० के ६१७ वर्ष पश्चात् वइरसेनका काल तीन वर्ष और उनके अनन्तर नागहस्तिका काल ६९ वर्ष पाया जाता है। कल्पसूत्र-स्थविरावलीमे एक वइरको गौतम-गोत्री और दूसरेको उक्कोसी-

१. पट्टावलीसमुच्चय पृ० १६।

यगोत्री कहा है और उन्हे परस्परमें गुरु-शिष्य बतलाया है, किन्तु अन्य पीछे-की पट्टावलियोमें उनके नामोके बीच एक दो नाम और जुडे हुए मिलते हैं। प्रथम अज्जवइरके समयका उल्लेख वीर नि० स० ५८४ वर्ष पाया जाता है। और द्वितीय अज्जवइरका वीर नि० स० ६१७ पाया जाता है। इन दोनो आचार्योंसे पूर्व आर्यमक्षुका उल्लेख है तथा इन दोनोके अनन्तर नागहस्तिका निर्देश है। अत इन चारो आचार्योंका समय निम्न प्रकार है-

आर्यमक्षु	४६७	वी० नि०
आर्यवज्र	४९६-५८४	,,
आर्य वज्रसेन	६१७-६२०	,,
आर्य नागहस्ति	६२०-६८९	,,

दिगम्बर वाङ्मयके अनुसार उक्त दोनो आचार्य यतिवृषभके गुरु और गुणधरके शिष्य होनेके कारण गुणधराचार्यके समकालीन हैं।

मथुराके सरस्वती-आन्दोलनके सम्बन्धमे कहा जाता है कि मथुरा सघने पुस्तकधारिणी सरस्वती देवीकी विशाल प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित की थी। दूसरी शती ई० के पूर्वार्द्धमे कुषाण नरेशोके शासन-कालमे आचार्य नागहस्ति द्वारा प्रस्थापित सरस्वती देवीकी जो खण्डित मूर्ति मथुराके ककाली टीलेसे प्राप्त हुई है वह सबसे अधिक प्राचीन है। यह सरस्वती-आन्दोलन अर्थात् ग्रन्थ लिखनेका आन्दोलन ई० पू० ५० से ई० सन् १०० तक रहा है। नागहस्ति या हस्त-हस्तिका नाम मथुराके शिलालेखमे आया है। अत डा० ज्योतिप्रसादजीने नागहस्तिकी तिथि ई० सन् १३०-१३२ निर्धारित की है और आर्यमक्षुको नागहस्तिसे पूर्ववर्ती मानकर उनका समय ई० सन् ५० माना है।[1]

श्वेताम्बर पट्टावलियोके आधारपर आर्यमक्षु और नागहस्तिके समयमे १३० वर्षका अन्तर पडता है। अत वे दोनो समकालीन नही हैं, पर दिगम्बर उल्लेखोके अनुसार ये दोनो आचार्य महावीर स्वामीकी परम्पराकी २८ वी पीढीपर आते हैं जिसका अर्थ है कि वीर नि० स० सातवी शताब्दी इनका समय है। श्वेताम्बर पट्टावलियोके अनुसार आर्यमक्षुका काल वीर नि० स० पाँचवी शताब्दी और नागहस्तिका सातवी शताब्दी है। धवला और जयधवलामे आर्यमक्षु और नागहस्तिका उल्लेख जिस क्रमसे आया है उससे भी यह ध्वनित होता है कि आर्यमक्षु नागहस्तिसे ज्येष्ठ थे। इसीलिए उनका नाम प्रथम रखा

1 The Taina Sources of The History of Ancient India P 116.

गया है और नागहस्तिका पश्चात्। यहाँ यह अवश्य विचारणीय है कि धवला एव जयधवलामे उल्लिखित आर्यमक्षु और नागहस्ति श्वेताम्बर पट्टावलियोके ही आचार्य हैं तो दोनो परम्पराओमे इतना अन्तर क्यो है ?

श्रुताभिज्ञता और पाण्डित्य

आर्यमक्षु और नागहस्ति 'महाकम्मपयडिपाहुड' के ज्ञाता थे। इनसे यतिवृषभने 'कसायपाहुड'के सूत्रोका व्याख्यान प्राप्तकर चूर्णिसूत्रोकी रचना की है। अत ये दोनो आचार्य पेज्जदोसपाहुडके भी उत्कृष्ट ज्ञाता थे। धवला टीकाकार आचार्य वीरसेनने आर्यमक्षु और नागहस्तिके उपदेशका वर्णन करते हुए लिखा है कि आर्यमंक्षु और नागहस्तिके उपदेश प्रवाहक्रमसे आये हुए थे। उन उपदेशको 'पवाइज्जमाण' कहा है।

"तेसिं चेव भयवताणमज्जमखु-णागहत्थीण पवाइज्जतेणुवएसेण चोद्दस जीवसमासेसु जहण्णुक्करसपदविसेसिदो अप्पाबहुअदडओ एत्तो भणिहिदि भणिष्यत इत्यर्थ ।"[1]

इस उद्धरणसे यह स्पष्ट है कि आचार्य वीरसेन उक्त दोनो आचार्योंके उपदेशको परम्परासे प्राप्त प्रवाह्यमान कहा है। जो तथ्य आरातीयपरम्परासे प्राप्त होते हैं वे ही तथ्य यथार्थ कहे जाते हैं और उन्हीको प्रवाह्यमान कहा जाता है।

आगे चलकर इसी जिल्दमे आचार्य वीरसेनने कषायोके सयोगके वर्णन-प्रसगमे आर्यमक्षुके उपदेशको 'अपवाइज्जमाण' और नागहस्तिके उपदेशको 'पवाइज्जत' कहा है। बताया है

"एत्तो पवाइज्जतोवएसमलविय एदिस्से चउत्थीए सुत्तगाहाए अत्थविहासणा कीरदि त्ति वुत्त होइ। को वुण पवाइज्जतोवएसो णाम? वुच्चदे वुत्तमेद सव्वाइरियसम्मदो चिरकालमवोच्छिण्णसपदायकमेणागच्छमाणो जो सिस्सपरपराए पवाइज्जदे पण्णविज्जदे सो पवाइज्जतोवएसो त्ति भण्णदे। अयवा अज्जमखुभयवताणमुवएसो एत्थापवाइज्जमाणो णाम। णागहत्थिखवणाणमुवएसो पवाइज्जतओ त्ति घेत्तव्वो।"[2]

जो सब आचार्योंके द्वारा सम्मत है। चिरकालसे अत्रुटित सम्प्रदायक्रमसे चला आ रहा है और जो शिष्यपरम्पराके द्वारा प्रवाहित किया जाता है या ज्ञापित किया जाता है, वह प्रवाह्यमान उपदेश कहलाता है। आर्यमक्षु

१ कसायपाहुड, जयधवलाटीका, जिल्द १२, पृ० २३

२ कसायपाहुड, जयधवला टीका, जिल्द १२, पृ० ७२

आचार्यका उपदेश प्रकृत, कषायसयोगवर्णन क्रममे अप्रवाह्यमान है और नागहस्ति क्षमाश्रमणका उपदेश प्रवाह्यमान है ।

उपर्युक्त सदर्भसे यह निष्कर्ष निकलता है कि उपदेशकी दो परम्पराएँ विद्यमान थी । एक 'पवाइज्जत' और दूसरी 'अपवाइज्जमाण' । वीरसेनने आर्य-मक्षुके उपदेशको 'अपवाइज्जमाण' और नागहस्तिके उपदेशको 'पवाइज्जत' कहा है। उपयोगाधिकारकी चतुर्थ गाथाको विभाषा करते हुए चूर्णिकारने इन गाथाकी विभाषाके विषयमे दो उपदेश बताये है । एक उपदेशके द्वारा व्याख्यान समाप्त करके लिखा है कि अब 'पवाइज्जत' उपदेशके द्वारा चौथी गाथाकी विभाषा करते है । साधारणत आर्यमक्षु और नागहस्तिके उपदेशमे कोई अन्तर नही था, पर क्वचित्-कदाचित् उपदेशमे अन्तर रहनेके कारण 'पवाइज्जत' और 'अपवाइज्जमाण' का उल्लेख आया है ।

आर्यमक्षुका उपदेश 'अपवाइज्जमाण' क्यो था, इस सम्बन्धमे श्वेताम्बर परम्परासे कुछ प्रकाश पडता है । इस परम्परामे बताया है कि आचार्य आर्यमक्षु विहार करते हुए मथुरापुरी पहुँचे । यहाँ पर श्रद्धालु 'भक्त' और शुश्रूषारत शिष्योके व्यामोहके कारण वही रहने लगे । रसगारवके वे इतने वशीभूत थे, जिससे विहार छोडकर वही रहने लगे । शनै शनै उनका श्रामण्य शिथिल होने लगा और वही उन्होने समाधिमरण प्राप्त किया ।[1]

वज्रयश

'तिलोयपण्णत्ती'मे आचार्य वज्रयशका उल्लेख है और उन्हे अन्तिम प्रज्ञा-श्रमण बताया गया है । लिखा है

> पण्णसमणेसु चरिमो वइरजसो णाम ओहिणाणीसु ।
> चरिमो सिरिणामो सुदविणयसुसीलादिसपण्णो ॥[2]

यहाँ प्रज्ञाश्रमणोमे अन्तिम प्रज्ञाश्रमण वज्रयश या 'वइरजस'का स्पष्ट निर्देश है। यदि ये 'वइरजस' श्वेताम्बर पट्टावलियोमे उल्लिखित वज्रयश ही हो, तो कोई आश्चर्य नही । तत्त्वार्थवार्तिकमे[3] पदानुसारित्व और प्रज्ञाश्रमणत्व इन दो ऋद्धियोको एक ही बुद्धि-ऋद्धिके उपभेद कहा है । षट्खण्डागमके वेदना खण्डमे निबद्ध गौतम स्वामीकृत मगलाचरणमे इन दोनो ऋद्धियोंके धारक आचार्योंको नमस्कार किया है

१ राजेन्द्र अभिधानका 'अज्जमगु' शब्द ।
२ तिलोयपण्णत्ती ४।१४८० ।
३ त० पृ० १४३ ।

१ 'णमो पदाणुसारीणं ।'[1]

पदानुसारी ऋद्धिके धारकोको नमस्कार हो। पदानुसारी बुद्धिके तीन भेद हैं १ पदानुसारी बुद्धि, २ प्रतिसारी बुद्धि और ३ तदुभयसारी बुद्धि। जो बुद्धि बीजपदके अधस्तन पदोको बीजपदस्थित हेतुरूपसे जानती है वह पदानुसारी बुद्धि है। जो उसके विपरीत उससे उपरिम पदोको ही जानती है वह प्रतिसारी बुद्धि कहलाती है। जो उक्त बीजपदके पार्श्वभागोमे स्थित पदोको नियमसे अथवा बिना नियम भी जानती है उसे तदुभयसारी बुद्धि कहते हैं।

२ 'णमो पण्णसमणाणं'[2]

प्रज्ञाश्रमणोको नमस्कार हो। प्रज्ञा चार प्रकारकी होती है १ औत्पत्तिकी, २ वैनयिकी, ३ कर्मजा और ४ पारिणामिकी। जो पूर्वजन्मसम्बन्धी चार प्रकारकी निर्मलबुद्धिके बलसे विनयपूर्वक बारह अगो का अवधारण, पठन, श्रवण आदि करते है वे औत्पत्तिकी प्रज्ञाश्रमण कहलाते है। छ मासके उपवाससे कृश होते हुए भी अपनी बुद्धिके प्रभावसे चौदहपूर्वोके विषयका भी उत्तर देते हैं तथा विनयपूर्वक बारह अगोको पढते हैं उन्हे वैनयिकीप्रज्ञाश्रमण कहते हैं। परोपदेशसे उत्पन्न बुद्धि भी वैनयिकी प्रज्ञा कहलाती है। गुरु उपदेशके विना तपश्चरणके प्रभावसे जो बुद्धि उत्पन्न होती है उसका नाम कर्मजा प्रज्ञा है। जातिविशेषसे उत्पन्न हुई बुद्धि पारिणामिकी कहलाती है।

इस प्रकार तिलोयपण्णत्तीके अनुसार वज्रयश एक बडे आचार्य हुए है, जो प्रज्ञाश्रमण ऋद्धिके धारक थे और जिनका बडी श्रद्धासे नामोल्लेख किया जाता था।

समय-निर्धारण

आचार्य 'वज्रयश' या 'वइरजस' उनका उल्लेख करनेवाले आचार्य यति वृषभके पूर्ववर्त्ती हैं।

चिरन्तनाचार्य

चिरन्तनाचार्यका उल्लेख जयधवलाटीकामे प्राप्त होता है। इसमे बताया है

"भेदाभावादो चिरतणाइरियवक्खाण पि एत्थ अप्पणो पढमपुढविवक्खाणसमाण[3]।"

१ वेदनाखण्ड, कृति अनुयोग द्वार, सूत्र ८।

२ षट्खण्डागम, वेदनाखण्ड, कृति अनुयोगद्वार, सूत्र १८।

३. जयधवला, भाग १, पृ० ५३४।

अर्थात् चिरतनाचार्यका व्याख्यान प्रथम पृथ्वीके समान है। चिरन्तनाचार्यका एक अन्य उल्लेख और प्राप्त होता है, जिसमे उन्हे चिरन्तन व्याख्यानाचार्य कहा गया है

"सपहि चिरतणवक्खाणाइरियाणमप्पाबहुअ वत्तइस्सामो ।"[1]

इनका समय वप्पदेवाचार्यसे कुछ पूर्व होना चाहिये। 'कसायपाहुड' पर चूर्णिसूत्रोके पश्चात् उच्चारणवृत्ति-पद्धतिके आधार पर तुम्वलूराचार्यने षट्खण्डागमके प्रारम्भिक पाँच खण्डो पर तथा 'कषायपाहुड' पर ८४००० श्लोक प्रमाण चूडामणि नामकी टीका रची। शामकुण्डाचार्यने पद्धति नामक टीका १२००० श्लोक प्रमाण लिखी। बताया है

"चतुरधिकाशीतिसहस्रग्रन्थरचनाया युक्ताम् ।
कर्णाटभाषयाऽकृत महती चूडामणि व्याख्याम् ॥'[2]
"प्राकृतसंस्कृतकर्णाटभाषया पद्धति परा रचिता ॥"[3]

चूर्णिसूत्रकार यतिवृषभ और उनकी रचनाएँ

जयधवला टीकाके निर्देशानुसार आचार्य यतिवृषभने आर्यमक्षु और नागहस्तिसे कसायपाहुडकी गाथाओका सम्यक् प्रकार अध्ययनकर अर्थ अवधारण किया और कसायपाहुडपर चूर्णिसूत्रोकी रचना की। जयधवलामे वृत्तिसूत्रका लक्षण बताते हुए लिखा है

"सुत्तस्सेव विवरणाए सखित्तसद्दरयणाए सगहियसुत्तासेसत्थाए वित्तिसुत्तववएसादो ।"

अर्थात् जिसकी शब्दरचना सक्षिप्त हो और जिसमे सूत्रगत अशेष अर्थोका सग्रह किया गया हो ऐसे विवरणको वृत्तिसूत्र कहते हैं।

जयधवलाटीकमे अनेकस्थलोपर यतिवृषभका उल्लेख किया है। लिखा है

"एवं जइवसहाइरियदेसामासियसुत्तत्थपरूवण काऊण सपहि जइवसहाइरियसूचिदत्थमुच्चारणाए भणिस्सामो ।"[4]

अर्थात् यतिवृषभ आचार्य द्वारा लिखे गये चूर्णिसूत्रोका अवलम्बन लेकर उक्तार्थ प्रस्तुत किया गया।

१ जयधवला भाग १, पृ० ५३२।
२ इन्द्रनन्दि श्रुतावतार, पद्य १६६।
३ वही, पद्य १६४।
४. कसायपाहुड, भाग २, पृ० १४।

इन उद्धरणोसे स्पष्ट है कि यतिवृषभने चूर्णिसूत्रोकी रचना संक्षिप्त शब्दावलीमे प्रस्तुत कर महान् अर्थको निबद्ध किया है। यदि आचार्य यतिवृषभ चूर्णिसूत्रोकी रचना न करते, तो बहुत संभव है कि कसायपाहुडका अर्थ ही स्पष्ट न हो पाता। अत: दिगम्बर परम्परामे चूर्णिसूत्रोके प्रथम रचयिता होनेके कारण यतिवृषभका अत्यधिक महत्त्व है। चूर्णिसूत्रकी परिभाषापर षट्खण्डागमकी धवलाटीकासे भी प्रकाश पडता है। वीरसेन आचार्यने षट्खण्डागमके सूत्रोको[1] भी 'चुण्णिसुत्त' कहा है। यहाँ उन्ही सूत्रोंको चूर्णिसूत्र कहा है जो गाथाके व्याख्यानरूप हैं। वेदनाखण्डमे कुछ गाथाएँ भी आती हैं जो व्याख्यानरूप है। धवलाकारने उन्हे चूर्णिसूत्र कहा है।

धवलाकारने यतिवृषभाचार्यके चूर्णिसूत्रोको वृत्तिसूत्र भी कहा है। वृत्तिसूत्रका पूर्वमे लक्षण लिखा जा चुका है। श्वेताम्बर परम्परामे चूर्णिपदकी व्याख्या करते हुए लिखा है-

अत्थबहुल महत्थ हेउ-निवाओवसग्गगभीर।
बहुपायमवोच्छिन्न गय-णयसुद्धं तु चुण्णपय ॥[2]

अर्थात् जिसमे महान् अर्थ हो, हेतु, निपात और उपसर्गसे युक्त हो, गम्भीर हो, अनेकपद समन्वित हो, अव्यवच्छिन्न हो और तथ्यकी दृष्टिसे जो धाराप्रवाहिक हो, उसे चूर्णिपद कहते है।

आशय यह है कि जो तीर्थंकरकी दिव्यध्वनिसे निरसृत बीजपदोका अर्थोद्घाटन करनेमे समर्थ हो वह चूर्णिपद है। यथार्थत चूर्णिपदोमे बीजसूत्रोको विवृत्यात्मक सूत्र-रूप रचना की जाती है और तथ्योको विशेषरूपमे प्रस्तुत किया जाता है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि श्वेताम्बर परम्पराकी चूर्णियोसे इन चूर्णिसूत्रोकी शैली और विषयवस्तु बहुत भिन्न है। यतिवृषभ द्वारा विरचित चूर्णिसूत्र कहलाते हैं, चूर्णियाँ नही। इसका अर्थ यह है कि यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोका महत्त्व 'कसायपाहुड' की गाथाओसे किसी तरह कम नही है। गाथासूत्रोमे जिन अनेक विषयोके संकेत उपलब्ध होते हैं, चूर्णिसूत्रोमे उनका उद्घाटन मिलता है। अत 'कसायपाहुड' और चूर्णिसूत्र' दोनो ही आगमविषयकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण हैं।

---

१ एदस्स गाहासुत्तस्स विवरणभावेण रचिदउवरिमचुण्णिसुत्तादो।

षट्खण्डागम, पुस्तक १२, पृ० ४१।

२ अभिधान राजेन्द्र, चण्णपद।

आचार्य वीरसेनके उल्लेखानुसार चूर्णिसूत्रकारका मत 'कसायपाहुड' और 'षट्खण्डागम' के मतके समान ही प्रामाणिक एवं महत्त्वपूर्ण है। वि० की ग्यारहवीं शताब्दीमें आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्त्तीने 'लब्धिसार' नामक ग्रन्थमें पहले यतिवृषभके मतका निर्देश किया है। तदनन्तर भूतबलिके मतका। इससे स्पष्ट है कि यतिवृषभके चूर्णिसूत्र मूलग्रन्थोंके समान ही महत्त्वपूर्ण और उपयोगी थे।

यह सत्य है कि यतिवृषभाचार्यका व्यक्तित्व आगमव्याख्याताकी दृष्टिसे अत्यधिक है। इन्होंने आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार इन पाँच उपक्रमोंकी दृष्टिसे सूत्ररूप अर्थोद्घाटन किया है। यतिवृषभ विभाषा-सूत्र, अवयवार्थ एवं पदच्छेदपूर्वक व्याख्यान करते गये हैं।

चूर्णिसूत्रकार यतिवृषभके व्यक्तित्वमें निम्नलिखित विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं

१ यतिवृषभ आठवें कर्मप्रवादके ज्ञाता थे।

२ नन्दिसूत्रके प्रमाणसे ये कर्मप्रकृतिके भी ज्ञाता सिद्ध होते हैं।

३. आर्यमंक्षु और नागहस्तिका शिष्यत्व इन्होंने स्वीकार किया था।

४ आत्मसाधक होनेके साथ ये श्रुताराधक हैं।

५ धवला और जयधवलामें भूतबलि और यतिवृषभके मतभेद परिलक्षित होते हैं।

६ व्यक्तित्वकी महनीयताकी दृष्टिसे यतिवृषभ भूतबलिके समकक्ष हैं। इनके मतोंकी मान्यता सार्वजनीन है।

७ चूर्णिसूत्रोंमें यतिवृषभने सूत्रशैलीको प्रतिबिम्बित किया है।

८. परम्परासे प्रचलित ज्ञानको आत्मसात् कर चूर्णिसूत्रोंकी रचना की गई है।

९ यतिवृषभ आगमवेत्ता तो थे, ही पर उन्होंने सभी परम्पराओंमें प्रचलित उपदेशशैलीका परिज्ञान प्राप्त किया और अपनी सूक्ष्म प्रतिभाका चूर्णिसूत्रोंमें उपयोग किया।

समय-निर्णय

चूर्णिसूत्रकार आचार्य यतिवृषभके समयके सम्बन्धमें विचार करनेसे ज्ञात होता है कि ये षट्खण्डागमकार भूतबलिके समकालीन अथवा उनके कुछ ही उत्तरवर्त्ती हैं। कुन्दकुन्द तो इनसे अवश्य प्राचीन हैं। बताया गया है कि प्रवचनवात्सल्यसे प्रेरित होकर इन्होंने गुणधरके 'कसायपाहुड' पर चूर्णि-

सूत्रोकी रचना की। यतिवृषभके ग्रन्थो के अवलोकनसे यह ज्ञात होता है कि इनके समक्ष षट्खण्डागम, लोकविनिश्चय, सगाइणी और लोकविभाग (प्राकृत) जैसे ग्रन्थ विद्यमान थे। इन ग्रन्थों का सम्यक् अध्ययनकर इन्हो ने चूर्णिसूत्रो की रचना की।

'तिलोयपण्णत्ती'मे

> "जलसिहरे विक्खभो जलणिहिणो जोयणा दससहस्सा।
> एव सगाइणिए लोयविभाए विणिद्दिट्ठ ॥
> लोयविणिच्छय-गथे लोयविभागम्मि सव्वसिद्धाणं।
> ओगाहण-परिमाण भणिद किंचूणचरिमदेहसमो ॥"[1]

इन गाथाओमे लोकविभागका उल्लेख आया है। यह लोकविभाग ग्रन्थ सभवत आचार्य सर्वनन्दि द्वारा विरचित होना चाहिए। पर यतिवृषभके समक्ष यही लोकविभाग था, इसका कोई निश्चय नही। लोकानुयोगके ग्रन्थ प्राचीन हैं और सभवत यतिवृषभके समक्ष कोई प्राचीन लोकविभाग रहा होगा। इन सर्वनन्दिने काञ्चीके राजा सिहवर्माके राज्यके बाईसवे वर्षमे जव शनिश्चर उत्तराषाढा नक्षत्र पर स्थित था, बृहस्पति वृष राशिमे और चन्द्रमा उत्तराफाल्गुणी नक्षत्रमे अवस्थित था, इस ग्रन्थकी रचना की। यह ग्रन्थ शक स० ३८० (वि० स० ५१५) मे पाणराष्ट्रके पाटलिक ग्राममे पूरा किया गया। सर्वनन्दिके इस लोकविभागका निर्देश सिहसूर्यके सस्कृत लोकविभागकी प्रशस्तिमे पाया जाता है।

> वैश्वे स्थिते रविसुते वृषभे च जीवे
> राजोत्तरेषु सितपक्षमुपेत्य चन्द्रे।
> ग्रामे च पाटलिकनामनि पाणराष्ट्रे
> शास्त्र पुरा लिखितवान् मुनिसर्वनन्दी ॥
> संवत्सरे तु द्वाविंशे काञ्चीशं सिहवर्मण।
> अशीत्यग्रे शकाब्दाना सिद्धमेतच्छतत्रये ॥[2]

इस प्रशस्तिसे आचार्य जुगलकिशोर मुख्तारने यह निष्कर्ष निकाला है कि सिहसूर्यका यह लोकविभाग सर्वनन्दिके प्राकृत लोकविभागका अनुवादमात्र है। उन्होने भाषाका परिवर्तन ही किया है, मौलिक कुछ नही लिखा। पर इस लोकविभागके अध्ययनसे उक्त निष्कर्ष पूर्णतया निर्भ्रान्त प्रतीत नही होता,

१. तिलोयपण्णत्तीकी गाथाएँ, पुरातन जैन वाक्यसूची की प्रस्तावना पृ० ३१ पर उद्धृत।
२. लोकविभाग, जैन सस्कृति सरक्षक सघ, शोलापुर, सन् १९६२, ११।५२-५३

क्योकि सिंहसूर्यके प्रकाशित इस लोकविभागमे 'तिलोयपण्णत्ती', 'हरिवंश' एव 'आदिपुराण' आदि ग्रन्थोका आधार भी प्राप्त होता है। सस्कृत-लोक विभागके पञ्चम विभाग सम्बन्धी ३८वे पद्यसे १३७वें पद्यका कुल चौदह कुलकरोका प्रतिपादन आदिपुराणके श्लोको या श्लोकाशो द्वारा किया गया है। इसी प्रकार 'तिलोयपण्णत्तो'की अपेक्षा वातवलयोके विस्तारमे भी नवीनता प्रदर्शित की गई है। 'तिलोयपण्णत्ती' मेतीनो वातवलयोका विस्तार क्रमश $1\frac{1}{2}$, $1\frac{1}{6}$एव $11\frac{1}{2}$ कोश निर्दिष्ट किया है, पर सिंहसूर्यने दो कोश, एक और १५७५ धनुष वतलाया है। इसी प्रकार तिलोयपण्णत्ती'मे 'ज्योतिषियो'के नगरोका वाहुल्य और विस्तार समान कहा गया है, पर इस ग्रन्थमे उसका कथन नही किया है। इस प्रकार सस्कृत लोकविभागके अन्तरग अध्ययनसे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ सर्वनन्दिके लोकविभागका अनुवादमात्र नही है। यह संभव है कि सर्वनन्दिने कोई लोकविभाग सम्बन्धी ग्रन्थ लिखा हो और उसका आधार ग्रहणकर सिंहसूर्यने प्रस्तुत लोकविभागकी रूप-रेखा निर्धारित की हो। 'तिलोयपण्णत्ती'मे 'सगाइणी' और 'लोकविनिश्चिय' जैसे ग्रन्थोका भी निर्देश आया है। हमारा अनुमान है कि सिंहसूर्यके लोकविभागमे भी 'तिलोयपण्णत्तो'के समान ही प्राचीन आचार्योके मतोका ग्रहण किया गया है। सिंहसूर्यका मुद्रित लोकविभाग वि० स० की ग्यारहवी शताव्दीकी रचना है। अत. इसके पूर्व 'तिलोयपण्णत्तो'का लिखा जाना स्वत सिद्ध है। कुछ लोगोने यह अनुमान किया है कि सर्वनन्दिके लोकविभागका रचनाकाल विक्रमकी पाँचवी शताव्दी है। अत. यतिवृषभका समय उसके वाद होना चाहिए। पर इस सम्वन्धमे हमारा विनम्र अभिमत यह है कि यतिवृषभका समय इतनी दूर तक नही रखा जा सकता है।

आचार्य यतिवृषभने अपने 'तिलोयपण्णत्ती' ग्रन्थमे भगवान् महावीरके निर्वाणसे लेकर १००० वर्ष तक होने वाले राजाओके कालका उल्लेख किया है। अत. उसके वाद तो उनका होना सभव नही है। विशेषावश्यकभाष्यकार श्वेताम्वराचार्य श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने अपने विशेषावश्यकभाष्यमे चूर्णिसूत्रकार यतिवृषभके आदेश कषायविषयक मतका उल्लेख किया है और विशेषावश्यकभाष्यकी रचना शक सवत् ५३१ (वि० सं० ६६६) मे होनेका उल्लेख मिलता है। अत यतिवृषभका समय वि० स० ६६६ के पश्चात् नही हो सकता।

आचार्य यतिवृषभ पूज्यपादसे पूर्ववर्ती हैं। इसका कारण यह है कि उन्होने अपने सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थमे उनके एक मतविशेषका उल्लेख किया है

"अथवा येषा मते सासादन एकेन्द्रियेषु नोत्पद्यते तन्मतापेक्षया द्वादशभागा न दत्ता ।"[1]

अर्थात् जिन आचार्योके मतसे सासादनगुणस्थानवर्त्ती जीव एकइन्द्रिय जीवोमे उत्पन्न नही होता है उनके मतकी अपेक्षा $\frac{12}{14}$ भाग स्पर्शनक्षेत्र नहीं कहा गया है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि सासादन गुणस्थानवाला मरण कर नियमसे देवोमे उत्पन्न होता है। यह आचार्य यतिवृषभका ही मत है। लब्धि-सार-क्षपणासारके कर्त्ता आचार्य नेमिचन्द्रने स्पष्ट शब्दोमे कहा है

जदि मरदि सासणो सो णिरय-तिरिक्ख णरं ण गच्छेदि ।
णियमादेव गच्छदि जइवसहमुणिदवयणेण ॥[2]

अर्थात् आचार्य यतिवृषभके वचनानुसार यदि सासादनगुणस्थानवर्ती जीव मरण करता है तो नियमसे देव होता है।

'आचार्य यतिवृषभने चूर्णिसूत्रोमे अपने इस मतको निम्न प्रकार व्यक्त किया है

'आसाण पुण गदो जदि मरदि, ण सक्को णिरयगदिं तिरिक्खगदिं मणुसगदिं वा गतु। णियमा देवगदिं गच्छदि।'[3]

इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि आचार्य यतिवृषभ पूज्यपादके पूर्ववर्त्ती है और आचार्य पूज्यपादके शिष्य वज्रनन्दिने वि० स० ५२६ मे द्रविडसघकी स्थापना की है। अतएव यतिवृषभका समय वि० स० ५२६ से पूर्व सुनिश्चित है।

कितना पूर्व है, यह यहाँ विचारणीय है। गुणधर, आर्यमक्षु और नागहस्तिके समयका निर्णय हो जानेपर यह निश्चितरूपसे कहा जा सकता है कि यतिवृषभका समय आर्यमक्षु और नागहस्तिसे कुछ ही बाद है।

आधुनिक विचारकोने 'तिलोयपण्णत्ती' के कर्त्ता यतिवृषभके समयपर पूर्णतया विचार किया है। पडित नाथूराम प्रेमी और श्री जुगलकिशोर मुख्तारने यतिवृषभका समय लगभग पाँचवी शताब्दी माना है। डा० ए० एन० उपाध्येने भी प्राय. इसी समयको स्वीकार किया है। प० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीने वर्तमान तिलोयपण्णत्तीके सस्करणका अध्ययन कर उसका रचनाकाल वि० की नवी शताब्दी स्वीकार किया है। पर यथार्थत यतिवृषभका समय अन्त.साक्ष्यके आधारपर नागहस्तिके थोडे अनन्तर सिद्ध

१ सर्वार्थसिद्धि ।
२ लब्धिसार-क्षपणासार गाथा संख्या ३४६ ।
३ कसायपाहुड, अधिकार १४, सूत्र ५४४ ।

होता है। यतिवृषभने तिलोयपण्णत्तीके चतुर्थ अधिकारमे बताया है कि भगवान् महावीरके निर्वाण होनेके पश्चात् ३ वर्ष, आठ मास और एक पक्षके व्यतीत होनेपर पञ्चम काल नामक दुषम कालका प्रवेश होता है। इस कालमें वीर नि० सं० ६८३ तक केवली, श्रुतकेवली और पूर्वधारियोकी परम्परा चलती है। वीर-निर्वाणके ४७१ ? वर्ष पश्चात् शक राजा उत्पन्न होता है। शकोंका राज्य-काल २४२ वर्ष बतलाया है।[1] इसके पश्चात् यतिवृषभने गुप्तोके राज्यकालका उल्लेख किया है। और इनका राज्यकाल २५५ वर्ष बतलाया है। इसमे ४२ वर्ष समय कल्किका भी है। इस प्रकरणके आगेवाली गाथाओमे आन्ध्र, गुप्त आदि नृपतियोके वशो और राज्यवर्षोंका निर्देश किया है। इस निर्देशपरसे डा० ज्योतिप्रसादजीने निष्कर्ष निकालते हुए लिखा है[2]

'आचार्य यतिवृषभ ई० सन् ४७८, ४८३, या ई० सन् ५०० मे वर्तमान रहते, जैसा कि अन्य विद्वानोंने माना है, तो वे गुप्तवशके ई० सन् ४३१ मे समाप्तिकी चर्चा नही करते। उस समय (ई० सन् ४१४-४५५ ई०) कुमारगुप्त प्रथमका शासनकाल था, जिसका अनुसरण उसके वीर पुत्र स्कन्दगुप्त (ई० ४५५-४६७) ने किया। इतिहासानुसार यह राजवश ५५० ई० सन् तक प्रति-ष्ठित रहा है। 'तिलोयपण्णत्ती' की गाथाओ द्वारा यह प्रकट होता है कि गुप्तवंश २०० या १७६ ई० सन् मे प्रारम्भ हुआ। यह कथन भी भ्रान्तिमूलक प्रतीत होता है क्योकि इसका प्रारम्भ ई० सन् ३१९-३२० मे हुआ था। इस प्रकार गुप्तवशके लिए कुल समय २३१ वर्ष या २५५ वर्ष यथार्थ घटित होता है। शकोका राज्य निश्चय ही वीर नि० सं० ४६१ (ई० पू० ६६) मे प्रारभ हो गया था और यह ई० सन् १७६ तक वर्तमान रहा। ई० सन् ५वी शतीका लेखक अपने पूर्वके नाम या कालके विषयमें भ्रान्ति कर सकता है, पर समसा-मयिक राजवंशोंके कालमे इस प्रकारकी भ्रान्ति सभव नही है।

अतएव इतिहासके आलोकमे यह निस्सकोच माना जा सकता है कि 'तिलोयपण्णत्ती' की ४।१४७४-१४९६ और ४।१४९९-१५०३ तथा उसके आगे-की गाथाएँ किसी अन्य व्यक्ति द्वारा निबद्ध की गई है। निश्चय ही ये गाथाएँ ई० सन् ५०० के लगभगकी प्रक्षिप्त हैं।

'तिलोयपण्णत्ती'का प्रारम्भिक अशरूप सैद्धान्तिक तथ्य मूलत. यतिवृषभ-के है, जिनमे उन्होने महावीर नि० स० ६८३ या ७०३ (ई० सन् १५६-१७६)

१. "णिव्वाणगदे वीरे चउसदइगिसट्ठिवासविच्छेदे।
जा दो यसगणरिंदो रज्ज वसस्स दुसयबादाला॥" —तिलोयपण्णत्ती ४।१५०३।

२ The Jaina sources of the history of Ancient India, p 140-141

तककी सूचनाएँ दी हैं। 'तिलोयपण्णत्ती' के अन्य अंशोंके अध्ययनसे यह प्रतीत होता है कि यतिवृषभ द्वारा विरचित इस ग्रन्थका प्रस्तुत संस्करण किसी अन्य आचार्यने सम्पादित किया है। यही कारण है कि सम्पादनकर्त्तासे इतिहास सम्बन्धी कुछ भ्रान्तियाँ हुई है। यतिवृषभका समय शक सं० के निर्देशके आधार-पर 'तिलोयपण्णत्ती'के आलोकमे भी ई० सन् १७६ के आसपास सिद्ध होता है।

यतिवृषभ अपने युगके यशस्वी आगमज्ञाता विद्वान् थे। ई० सन् सातवी शतीके तथा उत्तरवर्त्ती लेखकोने इनकी मुक्तकण्ठसे प्रशसा की है। इनके गुरुओ-के नामोमे आर्यमक्षु और नागहस्तिकी गणना है। ये दोनो आचार्य श्वेता-म्बर और दिगम्बर परम्पराओद्वारा समानरूपसे सम्मानित थे। आर्यमक्षुका समय ई० सन् प्रथम शताब्दी और नागहस्तिका समय ई० सन् १००-१५० तक माना गया है। यतिवृषभ नागहस्तिके अन्तेवासी बताये गये है। अत यह सभव है कि 'चूर्णिसूत्रो' को रचनाके पश्चात् 'तिलोयपण्णत्ती' की रचना इन्होने-की। मथुरामे सचालित सरस्वती-आन्दोलनका प्रभाव इनपर भी रहा हो और ये भी ई० सन् १५०-१८० तक सम्मिलित रहे हो, तो इसमे कोई आश्चर्य नही। इन्होने ग्रन्थरूपमे सरस्वतीका अवतरण कर परम्पराको जीवित रखा है।

'तिलोयपण्णत्ती' के वर्तमान सस्करणमे भी कुछ ऐसी गाथाएँ समाविष्ट है जो आचार्य कुन्दकुन्दके ग्रन्थोमे पाई जाती है। इस समतासे भी उनका समय कुन्दकुन्दके पश्चात् आता है।

विचारणीय प्रश्न यह है कि यतिवृषभके पूर्व यदि 'महाकर्मप्रकृतिप्राभृत' का ज्ञान समाप्त हो गया होता, तो यतिवृषभको कर्मप्रकृतिका ज्ञान किससे प्राप्त होता ? अत यतिवृषभका स्थिति-काल ऐसा होना चाहिए, जिसमे 'कर्म-प्रकृतिप्राभृत' का ज्ञान अवशिष्ट रहा हो। दूसरी बात यह है कि 'षट्खण्डागम' और 'कषायप्राभृत' मे अनेक तथ्योमे मतभेद है और इस मतभेदको तन्त्रा-न्तर कहा है। धवला और जयधवलामे भूतबलि और यतिवृषभके मतभेदकी चर्चा आई है। इससे भी यतिवृषभको भूतबलिसे बहुत अर्वाचीन नही माना जा सकता है।

रचनाएँ

निर्विवादरूपसे यतिवृषभकी दो ही कृतियाँ मानी जाती है १ 'कसाय-पाहुड' पर रचित 'चूर्णिसूत्र' और २. 'तिलोयपण्णत्ती'। तिलोयपण्णत्तीकी अन्तिम गाथामे चूर्णिसूत्रका उल्लेख आया है। बताया है

चुण्णिसरूवट्ठवकरणसरूवपमाण होइ किं जत्तं।
अट्ठसहस्सपमाणं तिलोयपण्णत्तिणामाए ॥[1]

इससे स्पष्ट है कि 'तिलोयपण्णत्ती' मे चूर्णिसूत्रोकी सख्या आठ हजार मानी है। पर इन्द्रनन्दिके 'श्रुतावतार' के अनुसार चूर्णिसूत्रोका परिमाण छ हजार श्लोक प्रमाण है; पर इससे यह स्पष्ट नही होता कि चूर्णिसूत्र कितने थे। जयधवलाटीकासे इन सूत्रोका प्रमाण ज्ञात किया जा सकता है। सूत्रसख्या निम्न प्रकार है

अधिकारनाम	सूत्रसख्या	अधिकारनाम	सूत्रसख्या
प्रेयोद्वेपविभक्ति	११२	वेदक	६६८
प्रकृतिविभक्ति	१२९	उपयोग	३२१
स्थितिविभक्ति	४०७	चतु.स्थान	२५
अनुभागविभक्ति	१८९	व्यजन	२
प्रदेशविभक्ति	२९२	दर्शनमोहोपशामना	१४०
क्षीणाक्षीणाधिकार	१४२	दर्शनमोहक्षपणा	१२८
स्थित्यन्तिक	१०६	सयमासयमलब्धि	९०
वन्धक	११	सयमलब्धि	६६
प्रकृतिसक्रमण	२६५	चारित्रमोहोपशामना	७०६
स्थितिसक्रमण	३०८	चारित्रमोहक्षपणा	१५७०
अनुभागसक्रमण	५४०	पश्चिमस्कन्ध	५२
प्रदेशसक्रमण	७४०		
	३२४१		३७६८

कुल ३२४१ + ३७६८ = ७००९

चूर्णिसूत्रकारने प्रत्येक पदको वीजपद मानकर व्याख्यारूपमे सूत्रोकी रचना की है। इन्होने अर्थवहुल पदो द्वारा प्रमेयका प्रतिपादन किया है। आचार्य वीरसेनके आधारपर चूर्णिसूत्रोको सात वर्गोंमे विभक्त किया जा सकता है

१ उत्थानिकासूत्र विषयकी सूचना देने वाले सूत्र।

२ अधिकारसूत्र अनुयोगद्वारके आरम्भमे लिखे गये अधिकारवोधक-सूत्र।

३ शका सूत्र -विषयके विवेचन करनेके हेतु शकाओको प्रस्तुत करने वाले सूत्र।

१ तिलोयपण्णत्ती, दूसरी जिल्द, पृ० ८८२, गाथा ७७।

४. पृच्छासूत्र—वक्तव्यविशेषकी जिज्ञासा प्रकट करने वाले सूत्र।
५. विवरणसूत्र विषयका विवेचन या व्याख्यान करनेवाले सूत्र।
६ समर्पणसूत्र उच्चारणाचार्यो द्वारा व्याख्यान करनेके हेतु समर्पित सूत्र।
७. उपसंहारसूत्र प्रकृत विषयका उपसंहार करनेवाले सूत्र।

चूर्णिसूत्रोमे प्रयुक्त 'भणियव्वा', 'णेदव्वा', 'कायव्वा', 'परूवेयव्वा' आदि पद इस बातके द्योतक हैं कि उच्चारणाचार्य इस प्रकारके पदोका अर्थबोध कराते थे। चूर्णिकार यतिवृषभ जिस अर्थका व्याख्यान विस्तारभयसे नही कर सके उनके व्याख्यानका दायित्व उन्होने उच्चारणाचार्यो या व्याख्यानाचार्यो पर छोडा है। निश्चयत: चूर्णिसूत्रकारने 'कसायपाहुड' के गम्भीर अर्थको बड़े ही सुन्दर और ग्राह्यरूपमे निबद्ध किया है। गाथासूत्रोमे जिन अनेक विषयोके संकेत दिये गये हैं उनका प्रतिपादन चूर्णिसूत्रोमे किया गया है। चूर्णिसूत्रकारने अपने स्वतन्त्र मतका भी यत्र तत्र प्रतिपादन किया है। इन्होने चूर्णिसूत्रमे जिन १५ अर्थाधिकारोका निर्देश किया है. उनमे गुणधर द्वारा निर्दिष्ट अर्थाधिकारोसे अन्तर पाया जाता है। जयधवलामे विवेचन करते हुए लिखा है कि गुणधर भट्टारकके द्वारा कहे गये १५ अधिकारोके रहते हुए इन अधिकारोको अन्य-रूपमे प्रतिपादन करनेके कारण गुणधर भट्टारकके यतिवृषभ दोष-दर्शक क्यो नही कहलाते ? वीरसेन स्वामीने लिखा है कि यतिवृषभने गुणधराचार्यके द्वारा कहे गये अधिकारोका निषेध नही किया; किन्तु उनके कथनको ही प्रकारान्तरसे व्यक्त किया है। गुणधर द्वारा कथित १५ अधिकारोका अर्थ यह नही है कि ये ही अधिकार हो सकते हैं, अन्य तरहसे वर्णन नही हो सकता। चूर्णिसूत्रकारने निम्नलिखित १५ अधिकारोका कथन किया है

१. प्रेयोद्वेष
२ प्रकृति-स्थिति-अनुभाग-प्रदेश-क्षीण-स्थित्यन्तक
३ बन्धक
४ संक्रम
५ उदयाधिकार
६ उदीर्णाधिकार
७ उपयोगाधिकार
८ चतु:स्थानाधिकार
९ व्यञ्जनाधिकार
१० दर्शनमोहनीयउपशमनाधिकार
११. दर्शनमोहनीयक्षपणाधिकार

१२. देशविरति-अधिकार

१३ चारित्रमोहनीयउपशमनाधिकार

१४ चारित्रमोहनीयक्षपणाधिकार

१५ अद्धापरिमाणनिर्देशकअधिकार

'कसायपाहुड' की दो गाथाओमे १५ अधिकारोके नाम आये हैं। उनका अन्तिम पद 'अद्धापरिमाणनिद्देसो' है। कुछ आचार्य इसे अद्धापरिमाणनिर्देश पन्द्रहवाँ अधिकार मानते हैं; किन्तु जिन १८० गाथाओमे १५ अधिकारोके वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की है उनमे अद्धापरिमाणका निर्देश करनेवाली छ गाथाएँ नही आई है तथा १५ अधिकारोमे गाथाओका विभाग करते हुए ६ की प्रकारकी कोई सूचना भी नही दी गई है। इससे अवगत होता है कि गुणधराचार्यको अद्धापरिमाणनिर्देश अधिकार अभीष्ट नही था, किन्तु यतिवृषभने इसे एक स्वतन्त्र अधिकार माना है।

चूर्णिसूत्रोके अध्ययनसे ज्ञात होता है कि यतिवृषभने १५ अधिकारोका निर्देश करके भी अपने चूर्णिसूत्रोकी रचना गुणधराचार्यके द्वारा निर्दिष्ट अधिकारोके अनुसार ही की है। यह स्मरणीय है कि यतिवृषभने अधिकारके लिए अनुयोगद्वारका प्रयोग किया है। यह आगमिक शब्द है। अतएव उन्होने आगमशैलीमे ही सूत्रोकी रचना कर 'कसायपाहुड' के विषयका स्पष्टीकरण किया है। चूर्णिसूत्रोका विषय 'कसायपाहुड' का ही विषय है, जिसमे उन्होने राग और द्वेषका विशिष्ट विवेचन अनुयोगद्वारोके आधारपर किया है।

तिलोयपण्णत्ती : विषय-विवेचन

तिलोयपण्णत्ती' मे तीन लोकके स्वरूप, आकार, प्रकार, विस्तार, क्षेत्रफल और युगपरिवर्तन आदि विषयोका निरूपण किया गया है। प्रसगवश जैन सिद्धान्त, पुराण और भारतीय इतिहास विषयक सामग्री भी निरूपित है। यह ग्रन्थ ९ महाधिकारोमे विभक्त है

१. सामान्य जगत्स्वरूप, २ नारकलोक, ३. भवनवासलोक, ४. मनुष्यलोक, ५ तिर्यक्लोक, ६ व्यन्तरलोक, ७. ज्योतिर्लोक, ८ सुरलोक और ९. सिद्धलोक।

इन नौ महाधिकारोके अतिरिक्त अवान्तर अधिकारोकी सख्या १८० है। द्वितीयादि महाधिकारोके अवान्तर अधिकार क्रमश १५, २४, १६, १६, १७, १७, २१, ५ और ४९ हैं। चतुर्थ महाधिकारके जम्बूद्वीप, धातकीखण्डद्वीप और पुष्करद्वीप नामके अवान्तर अधिकारोमेसे प्रत्येकके सोलह-सोलह अन्तर अधिकार हैं। इस प्रकार इस ग्रन्थका विषय-विस्तार अत्यधिक है।

इस ग्रन्थमे भूगोल और खगोलका विस्तृत निरूपण है। प्रथम महाधिकारमे २८३ गाथाएँ हैं और तीन गद्य-भाग हैं। इस अधिकारमे १८ प्रकारकी महाभाषाएँ और ७०० प्रकारकी क्षुद्र भाषाएँ उल्लिखित है। राजगृहके विपुल, ऋषि शैल, वैभार, छिन्न और पाण्डु नामके ५ शैलोका उल्लेख है। दृष्टिवाद-सूत्रके आधारपर त्रिलोककी मोटाई, चौडाई और ऊँचाईका निरूपण किया है।

दूसरे महाधिकारमे ३६७ गाथाएँ है, जिनमे नरकलोकके स्वरूपका वर्णन है। तीसरे महाधिकारमे २४३ गाथाएँ हैं। इनमे भवनवासी देवोके प्रासादोमे जन्मशाला, अभिषेकशाला, भूषणशाला, मैथुनशाला, औषधशाला परिचर्यागृह और मन्त्रशाला आदि शालाओ तथा सामान्यगृह, गर्भगृह, कदलीगृह, चित्रगृह, आसनगृह, नादगृह एव लतागृह आदिका वर्णन है। अश्वत्थ, सप्तपर्ण, शाल्मलि, जम्बू, वेतस, कदम्ब, प्रियगु, शिरीष, पलाश और राजद्रुम नामके दश चैत्य-वृक्षोका उल्लेख है। चतुर्थ महाधिकारमे २९६१ गाथाएँ है। इसमे मनुष्यलोकका वर्णन करते हुए विजयार्द्धके उत्तर और दक्षिण अवस्थित नगरियोका उल्लेख है। आठ मगलद्रव्योमे भृगार, कलश, दर्पण, व्यजन, ध्वजा, छत्र, चमर और सुप्रतिष्ठके नाम आये हैं। भोग-भूमिमे स्थित दश कल्पवृक्ष, नरनारियोके आभूषण, तीर्थंकरोकी जन्मभूमि, नक्षत्र आदिका निर्देश किया गया है। बताया गया है कि नेमि, मल्लि, महावीर, वासुपूज्य और पार्श्वनाथ कुमारावस्थामे और शेष तीर्थंकर राज्यके अन्तमे दीक्षित हुए हैं। समवशरणका ३० अधिकारोमे विस्तृत वर्णन है। पाँचवें महाधिकारमे ३२१ गाथाएँ है। इसमे गद्य-भाग भी है। जम्बूद्वीप, लवण समुद्र, घातकीखण्ड, कालोद समुद्र, पुष्करवर द्वीप आदिका विस्तार सहित वर्णन है। छठे महाधिकारमे १०३ गाथाएँ है, जिनमे १७ अन्तराधिकारोका समावेश है। इनमे व्यन्तरोके निवास क्षेत्र, उनके अधिकार क्षेत्र, उनके भेद, चिह्न, उत्सेध, अवधिज्ञान आदिका वर्णन है। सातवें महाधिकारमे ६१९ गाथाएँ है, जिनमे ज्योतिषी देवोका वणन है। आठवें महाधिकारमे ७०३ गाथाएँ हैं, जिनमे वैमानिक देवोके निवास स्थान, आयु, परिवार, शरीर, सुखभोग आदिका विवेचन है। नवम महाधिकारमे सिद्धोके क्षेत्र, उनकी सख्या, अवगाहना और सुखका प्ररूपण किया गया है। मध्यमे सूक्तिगाथाएँ भी प्राप्त होती हैं। यथा

> अन्धो णिवडइ कूवे बहिरो ण सुणोदि साधु-उवदेस।
> पेच्छतो णिसुणतो णिरए ज पडइ त चोज्ज ॥

अर्थात् अन्धा व्यक्ति कूपमे गिर सकता है, वधिर साधुका उपदेश नही सुनता है, तो इसमे आश्चर्यकी वात नही। आश्चर्य इस वातका है कि जीव देखता और सुनता हुआ नरकमे जा पडता है।

इस ग्रन्थमें आये हुए गद्य-भाग धवलाकी गद्यशैलीके तुल्य हैं। गद्यांशोंसे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि ये गद्यांश धवलासे 'तिलोयपण्णत्ती'में आये हैं, बल्कि 'तिलोयपण्णत्ती'से ही धवलामें पहुँचे हैं

"एसा तप्पाओग्गसंखेज्जरूवाहियजंबूदीवछेदणयसहिददीवसायररूपमेत्त-रज्जुच्छेदपमाणपरिक्खाविही ण अण्णाइरिओवएसपरंपराणुसारिणी केवलं तु तिलोयपण्णत्तिसुत्ताणुसारिजोदिसियदेवभागहारपदुप्पाइदसुत्तावलंबिजुत्तिबलेण पयदगच्छसाहणट्ठमम्हेहि परूविदा।"

यह गद्यांश धवला स्पर्शानुयोगद्वार पृ० १५७ पर भी उद्धृत है। उसमें 'एसा'के स्थानपर 'अम्हेहि' रूप पाया जाता है। उपर्युक्त गद्य भागमें एक राजुके जितने अर्द्धच्छेद बतलाये हैं उनकी समता 'तिलोयपण्णत्ती'के अर्द्धच्छेदोंसे नहीं होती। इसीपर मुख्तार साहबका अनुमान है कि धवलासे यह गद्यांश 'तिलोय-पण्णत्ती'में लिया गया है, पर हमें ऐसा प्रतीत नहीं होता। हमारा अनुमान है कि धवलाकारके समक्ष यतिवृषभकी 'तिलोयपण्णत्ती' रही है, जिसके आधारपर यत्किञ्चित् परिवर्तनके साथ 'तिलोयपण्णत्ती'का प्रस्तुत संस्करण निबद्ध किया गया है।

यतिवृषभकी अन्य रचनाएँ

पं० हीरालालजी शास्त्रीके[1] मतानुसार आचार्य यतिवृषभकी एक अन्य रचना 'कम्मपयडि' चूर्णि भी है। यतिवृषभके नामसे करणसूत्रोंका निर्देश भी प्राप्त होता है, पर आज इन करणसूत्रोंका संकलित रूप प्राप्त नहीं है।

उच्चारणाचार्य

उच्चारणाचार्यका निर्देश कसायपाहुडकी जयधवला-टीकामें अनेक स्थानों पर आया है। मौखिकरूपसे चली आयी श्रुतपरम्पराको शुद्ध उच्चरित रूप बनाये रखनेके लिए उच्चारणकी शुद्धतापर विशेष जोर दिया जाने लगा। बहुत दिनों तक उच्चारणाचार्योंकी यह परम्परा मौखिक रूपमें चलती रही। गाथासूत्रों-की रचना करके उनके रचयिता आचार्य अपने सुयोग्य शिष्योंको उन सूत्रोंके द्वारा सूचित अर्थके उच्चारण करनेकी विधि और व्याख्यान करनेका प्रकार बतला देते थे, और वे लोग जिज्ञासु जनोंको गुरु-प्रतिपादित विधिसे उन गाथा-सूत्रोंका उच्चारण और व्याख्यान किया करते थे। इस प्रकारके गाथासूत्रोंके

१ कसायपाहुडसुत्त चूर्णिसूत्रसमन्वित, वीरशासन संघ कलकत्ता, १९५५, प्रस्ता-वना पृ० ३८

उच्चारण व व्याख्यान करनेवाले आचार्योको उच्चारणाचार्य व व्याख्यानाचार्य कहा जाने लगा।

जयधवलामे अनेक स्थानो पर उच्चारणाचार्य नामके व्यक्तिविशेषका उल्लेख आया है। इस उल्लेखके अध्ययनसे अवगत होता है कि उच्चारणाचार्यने यतिवृषभ द्वारा रचित चूर्णिसूत्रोकी विशेष उच्चारणविधि और व्याख्यानका प्रवर्तन किया है। लिखा है "सपहि मदबुद्धिजणाणुग्गहट्ठमुच्चारणाइरियमुहविणिग्गयमूलपयडिविवरण भणिस्सामो।"[1] अर्थात् मूलप्रकृति विभक्तिके विषयमे आठ अनुयोगद्वार हैं। आचार्य यतिवृषभने सुगम होनेके कारण आठ अर्थाधिकारोंका विवरण नही किया, पर मदबुद्धिजनोके उपकारहेतु उच्चारणाचार्यके मुखसे निकले हुए मूलप्रकृतिके विवरणको कहते हैं, समुत्कीर्तना, सादि विभक्ति, अनादिविभक्ति, ध्रुवविभक्ति, अध्रुव विभक्ति, एकजीवकी अपेक्षा स्वामित्व, काल और अन्तर तथा नाना जीवोकी अपेक्षा भगविचय, भागाभाग, परिमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्प-बहुत्वका निर्देश किया जायेगा।

स्पष्ट है कि यतिवृषभाचार्यने अपने चूर्णिसूत्रोमे जिन सुगम तथ्योकी विवरणवृत्ति नही लिखी है, उनका स्पष्टीकरण उच्चारणाचार्यने किया है।

उच्चारणाचार्य और यतिवृषभाचार्यके विषय-निरूपणमे भी यत्र-तत्र अन्तर दिखलायी पड़ता है। इस अन्तरका समाधान वीरसेन स्वामीने विभिन्न नयोकी अपेक्षा किया है। बताया है "उच्चारणाइरिएहि मूलपयडिविहत्तीए अत्थाहियारा जइवसहाइरियेण अट्ठेव अत्थाहियारा परूविदा। कथमेदेसि दोण्ह वक्खाणाण ण विरोहो ? ण, पज्जवट्ठिय-दव्वट्ठियणयावलबणाए विरोहाभावादो।"[2] अर्थात् उच्चारणाचार्यने मूलप्रकृतिविभक्तिके विषयमे सत्रह अर्थाधिकार कहे हैं, और यतिवृषभाचार्यने आठ ही अर्थाधिकार बतलाये है। अतएव इन दोनो व्याख्यानोमे विरोध क्यो नही आता ?

पर्यायार्थिकनय और द्रव्यार्थिकनयका अवलम्बन करने पर उन दोनोमे कोई विरोध नही है। यतिवृषभका कथन द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे है और उच्चारणाचार्यका पर्यायार्थिक नयको अपेक्षासे।

इसी प्रकार यतिवृषभाचार्यने ग्यारह अनुयोगद्वार और उच्चारणाचार्यने चौवीस अनुयोगद्वार बतलाकर मोहनीयविभक्तिवाले जीवोका विवेचन किया है। इस सन्दर्भमे भी यतिवृषभाचार्य और उच्चारणाचार्यके कथनमे कोई

१ जयधवलासहित कसायपाहुड, भाग २, पृ० २३।

२. जयधवलासहित कसायपाहुड, भाग २, पृ० २२।

विरोध नही है, क्योकि यतिवृषभाचार्यका कथन द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे है और उच्चारणाचार्यका पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे ।[1]

यतिवृषभाचार्य और उच्चारणाचार्यके कथनमे कई स्थानो पर मतभेद है। यतिवृषभके दो उपदेश है, उनमेसे कृतकृत्यवेदक जीव मरण नही करता है। इस उपदेशका आश्रय लेकर 'बावीसाए विहत्तीओ को होदि' सूत्र प्रवृत्त हुआ है। इसलिए मनुष्य ही बाईस प्रकृतिक स्थानके स्वामी होते है, यह बात सिद्ध होती है। आशय यह है कि कृतकृत्यवेदक जीव यदि कृतकृत्य होनेके प्रथम समयमे मरण करता है तो नियमसे देवोमे उत्पन्न होता है। किन्तु जो कृतकृत्यवेदक जीव नारको, तिर्यंच और मनुष्योमे उत्पन्न होता है, वह नियमसे अन्तर्मुहूर्त्त कालतक कृतकृत्यवेदक ही रहकर मरता है, ऐसा यतिवृषभ द्वारा कहे गये चूर्णि-सूत्रसे जाना जाता है। परन्तु उच्चारणाचार्यके उपदेशानुसार 'कृतकृत्य-वेदक-सम्यग्दृष्टि जीव' नही ही मरता है, ऐसा नियम नही है, क्योकि उच्चारणाचार्यने चारो ही गतियोमे बाईस प्रकृतिक विभक्ति स्थानका सत्व स्वीकार किया है। इस प्रकार जयधवला टीकामे आये हुए यतिवृषभ और उच्चारणाचार्यके मत-वैविध्योसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उच्चारणाचार्यकी उच्चारणवृत्ति चूर्णिसूत्रोपर अवश्य रही है। यही कारण है कि धवला टीकामे उच्चारणाचार्यका मत जहाँ तहाँ दिखलायी पड़ता है। निःसन्देह उच्चारणाचार्य सिद्धान्तग्रन्थ, उनकी उच्चारणविधि एव उनकी व्याख्यानप्रक्रियासे परिचित थे। आर्यमक्षु और नागहस्तिसे ज्ञान प्राप्तकर यतिवृषभने चूर्णिसूत्रोका प्रणयन किया, और उच्चारणाचार्यने यतिवृषभ द्वारा सूचित अर्थको पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे विवृत किया है। धवला-टीकामे आये हुए उच्चारणाचार्यके मतोसे यह स्पष्ट व्यञ्जित होता है कि उच्चारणाचार्य कसायपाहुडके मर्मज्ञ थे। उन्होने उच्चारणकी विधियोका ही प्ररूपण नही किया है, अपितु अर्थोंका मौलिक व्याख्यान एव गाथासूत्रोमे निहित तत्त्वका स्फोटन भी किया है।

उच्चारणाचार्यका समय-निर्धारण

यतिवृषभ द्वारा सूचित अर्थका व्याख्यान करनेके कारण उच्चारणाचार्यका समय यतिवृषभके पश्चात् होना चाहिये। धवला-टीकामे लिखा है "सपहि जइवसहाइरियसूइदाण दोण्हमत्थाहियाराणमुच्चारणाइरियपरूविदमुच्चारण वत्तइस्सामो"[2] एव चुण्णिसुत्तोघ परूविय सपहि जहण्णाजहण्णट्ठिदीण काल-

१ जयधवला सहित कषायपाहुड, भाग २, पृ० ८१।

२ जयधवला सहित कसायपाहुड, भाग २, पृ० ४२५।

परूवणट्ठमुच्चारणाइरियवक्खाण भणिस्सामो ।"[1]

अर्थात् यतिवृषभ द्वारा सूचित अर्थका उच्चारणाचार्यने व्याख्यान किया है। चूर्णिसूत्रकी अपेक्षा ओघका कथन करके जघन्य और अजघन्य स्थितियोके कालानुसार उच्चारणाचार्य द्वारा अभिमत व्याख्यान करते है।

इस कथनसे दो तथ्य नि सृत होते हैं। प्रथम यह कि यतिवृषभके पश्चात् उच्चारणाचार्यने अपनी व्याख्या उपस्थित की। दूसरा यह कि यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोके आधारपर उच्चारणाचार्यने अपना व्याख्यान अकित किया। इससे यह अवगत होता है कि उच्चारणाचार्यका समय यतिवृषभके पश्चात् अथवा उनके समकालीन है।

यतिवृषभका समय ई० सन् की द्वितीय शती है। अतएव उच्चारणाचार्यका समय भी ई० सन् की द्वितीय शतीका अतिम पाद अथवा तृतीय शतीका प्रथम पाद सभव है।

वप्पदेवाचार्य

श्रुतधराचार्यो मे शुभनन्दि, रविनन्दि और वप्पदेवाचार्यके नाम भी आते हैं। शुभनन्दि और रविनन्दि नामके दो आचार्य अत्यन्त कुशाग्रबुद्धिके हुए हैं। इनसे वप्पदेवाचार्यने समस्त सिद्धान्तग्रन्थका अध्ययन किया। यह अध्ययन भीमरथि और कृष्णामेख नदियोके मध्यमे स्थित उत्कलिकाग्रामके समीप मगणवल्लि ग्राममे हुआ था। भीमरथि कृष्णानदीकी शाखा है और इनके बीचका प्रदेश अब वेलगाँव या धारवाड कहलाता है। वप्पदेवाचार्यने यहीपर उक्त दोनो गुरुओसे सिद्धान्तका अध्ययन किया होगा। इस अध्ययनके पश्चात् उन्होने महाबन्धको छोड़ शेष पाँच खण्डोपर व्याख्याप्रज्ञप्तिनामकी टीका लिखी है और छठे खण्डकी सक्षिप्त विवृति भी लिखी है। इन छहो खण्डोके पूर्ण हो जानेके पश्चात् उन्होने कषायप्राभृतकी भी टीका रची। उक्त पाँचो खण्डो और कषायप्राभृतकी टीकाका परिमाण ६०००० और महाबन्धकी टीकाका ५ अधिक ८००० बताया जाता है। ये सभी रचनाएँ प्राकृत भाषामे की गयी थी। इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमे लिखा है

> एव व्याख्यानक्रममवाप्तवान् परमगुरुपरम्परया।
> आगच्छन् सिद्धान्तो द्विविधोऽप्यतिनिशितबुद्धिम्याम्॥
> शुभ-रविनन्दिमुनिभ्या भीमरथि-कृष्णमेखयो सरितो।
> मध्यमविषये रमणीयोत्कलिकाग्रामसामीप्यम्॥

१ जयधवला सहित कसायपाहुड, भाग ३, पृ० २९२।

विख्यातमगणवल्लीग्रामेऽथ विशेषरूपेण।
श्रुत्वा तयोश्च पार्श्वे तमशेषं वप्पदेवगुरुः॥
अपनीय महाबन्धं षट्खण्डाच्छेषपञ्चखण्डे तु।
व्याख्याप्रज्ञप्तिं च षष्ठं खण्डं च ततः संक्षिप्य॥
षण्णां खण्डानामिति निष्पन्नानां तथा कषायाख्य-।
प्राभृतकस्य च षष्ठिसहस्रग्रन्थप्रमाणयुताम्॥
व्यलिखत्प्राकृतभाषारूपां सम्यक्पुरातनव्याख्याम्।
अष्टसहस्रग्रन्थां व्याख्यां पञ्चाधिकां महाबन्धे[1]॥

इन पद्योंमें प्राकृतभाषारूप पुरातन व्याख्या लिखनेका निर्देश आया है। द्वितीय पद्यमें गुरुओंके नाम दिये गये हैं। श्रुतावतारके आगेवाले पद्योंके अध्ययनसे ऐसा प्रतीत होता है कि व्याख्याप्रज्ञप्तिको मिलाकर छः खण्ड किये गये थे। षट्खण्डोंमेंसे महाबन्धको पृथक् कर शेष पाँच खण्डोंमें व्याख्याप्रज्ञप्तिको मिलाकर वप्पदेवने षट्खण्ड निष्पन्न किये और उनपर टीका लिखी। वीरसेन स्वामीने उक्त षट्खण्डोंमेंसे व्याख्याप्रज्ञप्तिको प्राप्त कर सत्कर्म नामक छठे खण्डको मिलाकर छः खण्डोंपर धवला टीका लिखी है। यह सत्कर्म १५वीं पुस्तकमें प्रकाशित है। इसपर सत्कर्मपंजिका भी है, जो उसीके साथ परिशिष्टरूपमें प्रकाशित है। इसके प्रारम्भमें पंजिकाकारने लिखा है कि महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके चौबीस अनुयोग हैं, उनमेंसे कृति और वेदनाका वेदनाखण्डमें और स्पर्श, कर्म प्रकृतिका वर्गणाखण्डमें कथन किया है। बन्धन अनुयोगद्वार बन्ध, बन्धनीय, बन्धक और बन्धविधान इन चार अवान्तर अनुयोगद्वारोंमें विभक्त है। इनमेंसे बन्ध और बन्धनीय अधिकारोंकी प्ररूपणा वर्गणाखण्डमें, बन्धन अधिकारकी प्ररूपणा खुद्दाबन्धक नामक दूसरे खण्डमें और बन्धविधानका कथन महाबन्ध नामक छठे खण्डमें है। शेष १८ अनुयोगद्वारोंकी प्ररूपणा मूल षट्खण्डागममें नहीं है। किन्तु आचार्य वीरसेनने वर्गणाखण्डके अन्तिम सूत्रको देशामर्शक मानकर, उसकी प्ररूपणा धवलाके अन्तमें की है। उसीका नाम सत्कर्म है। इसका ज्ञान उन्होंने ऐलाचार्यसे प्राप्त किया था। धवलाके अध्ययनसे ऐसा ज्ञात होता है कि व्याख्याप्रज्ञप्ति प्राकृतभाषारूप पुरातन व्याख्या रही है। यह वप्पदेव द्वारा लिखित नहीं है। इस कथनकी सिद्धि सम्यक्पुरातनपद द्वारा होती है। इस पदका अर्थ है पर्याप्त प्राचीन। अतः सम्यक्पुरातनको व्याख्याप्रज्ञप्तिका विशेषण माननेपर यह प्राचीन व्याख्या सिद्ध हो जाती है। षट्खण्डागममें आये हुए मतभेदसे भी उक्त तथ्य पुष्ट होता

१. इन्द्रनंदि श्रुतावतार, पद्य १७१-१७६।

है "एदेण वियाहपण्णत्तिसुत्तेण सह कध ण विरोहो ? ण, एदम्हादो तस्स पुधभूदस्स आइरियभेएण भेदमावण्णस्स एयत्ताभावादो"[1] इस व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्रके साथ विरोध क्यो नही है ? आचार्यभेदसे भिन्नता होनेके कारण इन दोनोमे एकत्व नही हो सकता।

इस कथनमे व्याख्याप्रज्ञप्तिके वचनोको सूत्र कहा है और आचार्यभेदसे भिन्न कहा है। अत यह व्याख्याप्रज्ञप्ति विचारणीय है। सम्भवत· यह वही हो, जिसका इन्द्रनन्दिने उल्लेख किया है और जो वीरसेन स्वामीको प्राप्त थी। आचार्य अकलकदेवने अपने तत्त्वार्थवार्तिकमे भी दो स्थलोपर २।४९।८ और ४।२६।५ मे व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकका उल्लेख किया है और दोनो ही स्थानो-मे षट्खण्डागमसे उसका भेद बतलाया है। अतएव हमारा अनुमान है कि व्याख्याप्रज्ञप्ति अन्य किसी आचार्यकी कृति है, वप्पदेवकी नही। वप्पदेवने व्याख्याप्रज्ञप्तिको जोडकर षट्खण्डोपर अपनी टीका लिखी है। यह सत्य है कि वप्पदेव सिद्धान्तविषयके मर्मज्ञ विद्वान् थे।

समय-विचार

वप्पदेवका समय वीरसेन स्वामीके पूर्व है। वीरसेनाचार्यके समक्ष वप्पदेव-की व्याख्या वर्तमान थी। वीरसेनका समय डॉ० हीरालालजीके मतानुसार ई० सन् ८१६ है, अत इसके पूर्व वप्पदेवका समय सुनिश्चित है। वप्पदेवने शुभ-नन्दि और रविनन्दिसे आगमग्रन्थोका अध्ययन किया है और इन दोनो आचार्योंकी प्राचीनता श्रुतधरोके रूपमे प्रसिद्ध है। एलाचार्यका समय ई० सन् ७६६-७७६ है, और इनसे पूर्व वप्पदेवका समय होना चाहिए। इस क्रमसे हम यतिवृषभ और आर्यमक्षु-नागहस्तिके समकालीन वप्पदेवको मान सकते हैं। सक्षेपमे वप्पदेवका समय ५ वी–६ वी शती है।

वप्पदेवका वैदुष्य और प्रतिभा

वप्पदेवकी रचना कोई भी उपलब्ध नही है। धवला एव जयधवलामे इनके नामसे जो उद्धरण आते हैं, उनसे इनके वैदुष्यपर प्रकाश पडता है। षट्-खण्डागममे इनका यत्र-तत्र उल्लेख है। अतएव आचार्यके रूपमे वप्पदेव-प्रतिष्ठित हैं। जयधवलामे इनकी मतभिन्नताका उल्लेख करते हुए कहा है

'चुण्णिसुत्तम्मि वप्पदेवाइरियलिहिदुच्चारणाए अतोमुहुत्तमिति भणिदो। अम्हेहि तिहिदुच्चारणाए पुण जह० एगसमयो उक्क० सखेज्जा समया त्ति

१. षट्खण्डागम, पु० १०, पृ० २३८।

पक्वविदो' ।[1]

उच्चारणसम्बन्धी इस मतभेदसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि आचार्य वप्पदेवके अभिमतका प्रचार पृथक् रूपमे वर्तमान था । वप्पदेवकी जिन सिद्धान्तोमे मत-भिन्नता वर्त्तमान थी, उसका निर्देश यथास्थान जयधवला और धवलाटीकामे प्राप्त है ।

आचार्य कुन्दकुन्द और उनका साहित्य

श्रुतधर आचार्योकी परम्परामे कुन्दकुन्दाचार्यका स्थान महत्त्वपूर्ण है। इनकी गणना ऐसे युगसंस्थापक आचार्यके रूपमे की गयी है, जिनके नामसे उत्तरवर्ती परम्परा कुन्दकुन्द-आम्नायके नामसे प्रसिद्ध हुई है । किसी भी कार्यके प्रारम्भमे मगलरूपमे इनका स्तवन किया जाता है। मङ्गलस्तवनका प्रसिद्ध पद्य निम्न प्रकार है

मङ्गल भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमो गणी ।
मगल कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मगलम् ।।

जिसप्रकार भगवान् महावीर, गौतम गणधर और जैनधर्म मङ्गलरूप हैं, उसी प्रकार कुन्दकुन्द आचार्य भी । इन जैसा प्रतिभाशाली अध्यात्म और द्रव्यानुयोगके क्षेत्रमे प्राय दूसरा आचार्य दिखलाई नही पडता ।

इनकी रचनाओसे इनके जीवन-वृत्तके सम्बन्धमे कुछ भी निश्चित जानकारी प्राप्त नही होती । इन्होने 'वारसअणुवेक्खा' ग्रन्थमे अपने नामका निर्देश किया है । लिखा है-

इदि णिच्छय-ववहार ज भणिय कुन्दकुन्दमुणिणाहे ।
जो भावइ सुद्धमणो सो पावइ परमणिव्वाण ।।[2]

'इस प्रकार कुन्दकुन्द मुनिराजने निश्चय और व्यवहारका अवलम्बन लेकर जो कथन किया है, उसकी शुद्ध हृदयसे जो भावना करता है वह परम-निर्वाणको प्राप्त कर लेता है ।'

स्पष्ट है कि 'वारसअणुवेक्खा'मे कुन्दकुन्दके नामका उल्लेख मिलता है। कुन्दकुन्दके टीकाकार जयसेन और श्रुतसागरसूरिने भी कुन्दकुन्दकी रचनाएँ वतलाती हैं । बोधपाहुडमे कुन्दकुन्दने अपने गुरुका नाम भद्रवाहु वतलाया है । गाथाएँ निम्न प्रकार हैं

१ जयधवलाटीका, पृ० १८५ ।
२. वारसअणुवेक्खा, गाथा ९१, कुन्दकुन्दभारती संस्करण ।

सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं ।
सो तह कहियं णाय सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥
बारसअंगवियाण चउदसपुव्वंगविउलवित्थरण ।
सुयणाणिभद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयओ[1] ॥

अर्थात् कुन्दकुन्दने अपनेको श्रुतकेवली भद्रबाहुका शिष्य कहा है ।

इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमे 'कसायपाहुड' और षट्खण्डागम' नामक सिद्धान्तग्रन्थोकी रचनाका इतिवृत्त अकित करनेके पश्चात् लिखा है कि ये दोनो सिद्धान्तग्रन्थ कौण्डकुन्दपुरमे पद्मनन्दिमुनिको प्राप्त हुए और उन्होने षट्खण्डागमके प्रथम तीन खण्डोपर साठ हजार श्लोक प्रमाण 'परिकर्म' नामक ग्रन्थकी रचना की[2] । दर्शनसारमे देवसेनने भी आचार्य पद्मनन्दिकी प्रशसा करते हुए लिखा है

जइ पउमणदिणाहो सीमधरसामिदिव्वणाणेण ।
ण विवोहइ तो समणा कह सुमग्ग पयाणति ॥[3]

अर्थात् पद्मनन्दि स्वामीने सीमन्धर स्वामीसे दिव्यज्ञान प्राप्तकर अन्य मुनियोको प्रबोधित किया । यदि वे इस प्रबोधन कार्यको न करते तो श्रमण किस प्रकार सुमार्गको प्राप्त करते ।

कुन्दकुन्दके ग्रन्थोके दो आचार्य टीकाकार हैं अमृतचन्द्र और जयसेन । अमृतचन्द्रने अपने मूलग्रन्थकर्त्ताके सम्बन्धमे कुछ भी निर्देश नही किया है, पर जयसेनने लिखा है "पद्मनन्दि जयवन्त हो, जिन्होने महातत्त्वोका कथन करनेवाले समयप्राभृतरूपी पर्वतको बुद्धि उद्धार करके भव्यजीवोको अर्पित किया ।"[4]

पञ्चास्तिकायकी[5] टीका प्रारम्भ करते हुए भी जयसेनने कुन्दकुन्दका

१ वोधपाहुड, गाथा ६०-६१, कुन्दकुन्दभारती सस्करण ।

२. श्रुतावतार, पद्य १६०-१६१.

३ दर्शनसार, गाथा ४३

४. जयउ रिसिपउमणदी जेण महातच्चपाहुडसेलो ।
बुद्धिसिरेणुद्धरिओ समप्पिओ भव्वलोयस्स ॥
समयसार, स्याद्वादाधिकार, अहिंसा-मन्दिर प्रकाशन १, दरियागज, दिल्ली-६ टीकाका अन्तिम पद्य ।

५ पञ्चास्तिकाय, जयसेनटीका, 'अथश्रीकुमारनन्दिसिद्धान्तदेवशिष्यैः 'प्रथम पृष्ठ, ग्रन्थारम्भ ।

अपरनाम पद्मनन्दि बताया है। इनके उल्लेखानुसार कुन्दकुन्द कुमारनन्दि सिद्धान्तदेवके शिष्य थे।

जयसेनने टीकाके प्रारम्भमे कुन्दकुन्दके पूर्व विदेहमे जानेकी कथाकी ओर भी संकेत करते हुए लिखा है कि इन्होने पूर्वविदेहमे वीतराग सर्वज्ञ सीमन्धर स्वामीके दर्शन किये थे। और उनके मुखकमलसे निस्सृत दिव्यवाणीको सुनकर अध्यात्मतत्त्वका सार ग्रहण कर वे वापस लौट आये थे। उन्होने अन्तस्तत्त्व और बाह्यतत्त्वकी मुख्यता एवं गौणताका ज्ञान करानेके लिये शिवकुमार महाराज आदि संक्षेप रुचिवाले शिष्योके प्रतिबोधनार्थ पञ्चास्तिकायप्राभृत शास्त्रकी रचना की।

कुन्दकुन्दके जीवनवृत्त एवं व्यक्तित्वके सम्बन्धमे अबतक प्राप्त सूचनाओमे ऐसी दो कथाएँ प्राप्त हैं, जिनसे उनके जीवनपर प्रकाश पडता है। कथाओमे कितना अंश सत्य और तथ्य है, यह तो नही कहा जा सकता है, पर इतना स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द अध्यात्मशास्त्रके महान् प्रणेता एवं युगसंस्थापक आचार्य थे।

प्रथम कथा ब्रह्मनेमिदत्त विरचित आराधनाकथाकोषमे शास्त्रदानके फल-स्वरूप आई है।

दूसरी कथा 'ज्ञानप्रबोध' नामक ग्रन्थमे आई है, जिसका प्रकाशन प० नाथूराम जी प्रेमीने जैन हितैषीमे[1] किया था। कथामें बताया है कि मालव देशके वारापुर नगरमे कुमुदचन्द्र नामका राजा राज्य करता था। उसकी रानीका नाम कुमुदचन्द्रिका था। इस राजाके राज्यमे कुन्दश्रेष्ठी अपनी पत्नी कुन्दलताके साथ निवास करता था। इनके कुन्दकुन्द नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। वह शिशु शैशवसे ही गभीर, चिन्तनशील और प्रतिभाशाली था। जब यह ग्यारह वर्षका था, उस समय नगरके उद्यानमे एक मुनिराज आये। उनका उपदेश सुननेके लिए नगरके नरनारी एकत्र हुए। कुन्दकुन्द भी उसमें सम्मिलित हुआ था। मुनिराजका उपदेश सुनकर विरक्त हो गया और दिगम्बर दीक्षा ग्रहण कर मुनि बन गया। ३३ वर्षकी अवस्थामे इन्हे आचार्य-पद मिला। इनके गुरुका नाम जिनचन्द्र बताया गया है।

एक दिन आचार्य कुन्दकुन्द आगमग्रन्थोका स्वाध्याय कर रहे थे कि उनके मनमे एक शंका उत्पन्न हुई। वे ध्यानमग्न हो गये और विदेह क्षेत्रमें स्थित सीमन्धरस्वामीके प्रति एकाग्र हुए। सीमन्धरस्वामीने 'सद्धर्मवृद्धिरस्तु' कहकर आशीर्वाद दिया। समवशरणमे स्थित व्यक्तियोको इस आशीर्वादको सुनकर

१ जैन हितैषी, भाग १०, पृ० ३६९

बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने जिज्ञासा प्रकट की कि आपने किसको आशीर्वाद दिया है ? उत्तरमे बताया गया कि भरतक्षेत्रमे स्थित कुन्दकुन्द मुनिको आशीर्वाद दिया है। वहाँपर कुन्दकुन्दके पूर्वजन्मके चारणऋद्धिधारी दो मित्र-मुनि उपस्थित थे। वे वारापुर गये और वहाँसे आकाशमार्ग द्वारा कुन्दकुन्दको ले आये। आकाशमार्गमे जाते समय उनकी मयूरपिच्छी गिर गई और उन्होने गृद्धपिच्छीसे अपना काम चलाया। कुन्दकुन्द वहाँ एक सप्ताह तक रहे और अपनी शकाका समाधान किया। लौटते समय वे अपने साथ एक तन्त्रमन्त्रका ग्रन्थ भी लाये थे, किन्तु वह मार्गमे लवणसमुद्रमे गिर गया। कुन्दकुन्दने भरतक्षेत्रमे अपना धार्मिक उपदेश प्रारम्भ किया और इनके सहस्रो अनुयायी हो गये। तत्पश्चात् गिरिनार पर्वतपर श्वेताम्बरोके साथ उनका विवाद हो गया और वहाँकी ब्राह्मी देवीके मुखसे यह कहलवाया गया कि दिगम्बर निर्ग्रन्थ मार्ग ही सच्चा है। उन्होने अपना आचार्यपद अपने शिष्य उमास्वाति-को प्रदान किया और सल्लेखनापूर्वक शरीर त्याग किया।

'ज्ञानप्रबोध' की इस कथाका परीक्षण करनेपर अवगत होता है कि 'जम्बू-दीवपण्णत्ती' के कर्ता पद्मनन्दिका कुन्दकुन्दसे अभिन्न समझकर उनका स्थान वारापुरनगर बताया है। माता-पिताके नाम कुन्दलता और कुन्दश्रेष्ठि भी कल्पित प्रतीत होते है। विदेहगमनकी कथा जो पहलेसे प्रचलित थी उसे भी जोडकर प्रामाणिकता लानेका प्रयास किया गया है।

कुन्दकुन्दके जीवन-परिचयके सम्बन्धमे विद्वानोने सर्वसम्मतिसे जो स्वीकार किया है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये दक्षिण भारतके निवासी थे। इनके पिताका नाम कर्मण्डु और माताका नाम श्रीमती था। इनका जन्म 'कौण्डकुन्दपुर' नामक स्थानमे हुआ था। इस गाँवका दूसरा नाम कुरुमरई' भी कहा गया है। यह स्थान पेदथनाडु नामक जिलेमे है। कहा जाता है कि कर्मण्डुदम्पतिको बहुत दिनो तक कोई सन्तान नही हुई। अनन्तर एक तपस्वी ऋषिको दान देनेके प्रभावसे पुत्ररत्नकी प्राप्ति हुई, जिसका नाम आगे चलकर ग्रामके नामपर कुन्दकुन्द प्रसिद्ध हुआ। बाल्यावस्थासे ही कुन्द-कुन्द प्रतिभाशाली थे। इनकी विलक्षण धारणशक्ति और कुशाग्र बुद्धिके कारण ग्रन्थाध्ययनमे इनका अधिक समय व्यतीत नही हुआ। युवावस्थामे इन्होने दीक्षा ग्रहणकर आचार्य-पद प्राप्त किया।

कुन्दकुन्दका वास्तविक नाम क्या था, यह अभी तक विवादग्रस्त है। द्वादशअनुप्रेक्षाकी अन्तिम गाथामे उसके रचयिताका नाम कुन्दकुन्द दिया हुआ है। जयसेनाचार्यने समयसारकी टीकामे पद्मनन्दिका जयकार किया है। इन्द्र-

नन्दिने भी अपने श्रुतावतारमे कौण्डकुन्दपुरके पद्मनन्दिका निर्देश किया है ? श्रवणवेलगोलके शिलालेख न० ४० मे तथा ४२, ४३, ४७ और ५० वें अभिलेखमे भी उक्त कथन पुनरावृत्त हुआ है। लिखा है

> तस्यान्वये भू-विदिते वभूव य. पद्मनन्दिप्रथमाभिधान ।
> श्रीकोण्डकुन्दादि-मुनीश्वराख्यस्सत्सयमादुद्गत-चारणर्द्धिः ॥[1]

स्पष्ट है कि इनका पद्मनन्दि नाम था। पर वे जन्मस्थानके नामपर कुन्दकुन्दनामसे अधिक प्रसिद्ध हुए।

कुन्दकुन्दके षट्प्राभृतोके टीकाकार श्रुतसागरने प्रत्येक प्राभृतके अन्तमे जो पुष्पिका अकित की है उसमे इनके पद्मनन्दि, कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य और गृद्धपिच्छ ये नाम दिये हैं। जैन सिद्धान्त भास्कर भाग १ किरण ४ मे शक स० १३०७ का विजयनगरका एक अभिलेखाश प्रकाशित है, जिसमे लिखा है

> "आचार्य कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामुनि ।
> एलाचार्यो गृद्धपिच्छ इति तन्नाम पचधा ॥"

पद्मनन्दि, कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य और गृद्धपिच्छ ये पाँच नाम कुन्दकुन्दके वताये है। डा० हार्नलेने दिगम्वर पट्टावलियोके सम्वन्धमे एक निवन्ध लिखा था, जिसमे उन्होने कुन्दकुन्दके पॉच नाम वताये थे। अत इतना स्पष्ट है कि कुन्दकुन्दके दो नामोकी प्रवृत्ति तो निस्सदेह रही है, पर शेष तीन नामोके सम्वन्धमे विवाद है। शिलालेखोसे तथा अन्य प्रमाणोसे न तो वक्रग्रीव और न एलाचार्य या गृद्धपिच्छ नाम की ही सिद्धि होती है। वक्रग्रीवका उल्लेख ई० सन् ११२५ के ४९३ सख्यक अभिलेखमे द्रविड सघ और अरुगलान्वयके आचार्योकी नामावलीमे आता है, किन्तु उसमे उनके सम्वन्धमे कोई विवरण प्राप्त नही होता। ११२९ ई० के श्रवणवेलगोलाभिलेख न० ५४ मे वक्रग्रीव नाम आया है, पर इस अभिलेखसे यह कुन्दकुन्दका नामान्तर है, ऐसा सिद्ध नहीं होता।

श्रवणवेलगोलके अभिलेख न० ३०५ मे समन्तभद्र और पात्रकेसरीके पश्चात् वक्रग्रीवका नाम आया है और इन्हे द्रमिल सघका अग्रेसर कहा है। इसी प्रकार अभिलेख न० ३४७ और ३१९ मे भी वक्रग्रीवका नाम अकित है, पर इन सभी अभिलेखोसे कुन्दकुन्दके साथ वक्रग्रीवका सम्वन्ध नही सिद्ध होता।

श्रवणवेलगोलके शिलालेखोसे एलाचार्यके सम्वन्धमे भी कतिपय तथ्य प्राप्त होते हैं, पर यह कुन्दकुन्दका नामान्तर सिद्ध नही होता। इसी प्रकार गृद्धपिच्छ

१ जैन शिलालेख-संग्रह, प्रथम भाग, लेख नं० ४०, पृ० २४।

भी कुन्दकुन्दका नामान्तर घटित नही होता है। संभवतः यह नाम उमास्वातिका रहा है। संक्षेपमे कुन्दकुन्दका अपर नाम पद्मनन्दि अवश्य प्रमाणित होता है।

गुरु-परम्परा

आचार्य कुन्दकुन्दके गुरुका क्या नाम था और उन्होने किस गुरु-परम्पराको सुशोभित किया, इसके सम्बन्धमे संक्षेपमे विचार करना आवश्यक है।

कुन्दकुन्द-ग्रन्थोके टीकाकार जयसेनाचार्यके मतानुसार ये कुमारनन्दि सिद्धान्तदेवके शिष्य थे। नन्दिसघकी[1] पट्टावलीके अनुसार कुन्दकुन्दके गुरु जिन-चन्द्र थे। कुन्दकुन्दने स्वय अपने गुरुका नाम भद्रबाहु माना है।

मथुरासे प्राप्त एक अभिलेखमे उच्चनागर शाखाके एक कुमारनन्दिका निर्देश प्राप्त होता है। यह अभिलेख हुविष्क वर्ष सत्तासीका है। इस आधार पर भी कुमारनन्दिका गुरु-शिष्यत्व कुन्दकुन्दके साथ घटित नही होता। यत उच्च-नागर शाखाके साथ कुन्दकुन्दका सम्बन्ध नही है। इसी प्रकार नन्दिसघकी पट्टावलिमे माघनन्दि, जिनचन्द्र और कुन्दकुन्दका क्रमश उल्लेख आता है। इससे यह फलित होता है कि माघनन्दिके पश्चात् जिनचन्द्र और जिनचन्द्रके पश्चात् कुन्दकुन्दको उत्तराधिकार प्राप्त हुआ होगा। अत हमारा अनुमान है कि कुन्दकुन्दके गुरुका नाम 'जिनचन्द्र' होना चाहिए।

कुन्दकुन्दने अपने 'बोधपाहुड' मे अपनेको भद्रबाहुका शिष्य कहा है। पर इस सन्दर्भमे यह विचारणीय है कि कुन्दकुन्द श्रुतकेवली भद्रबाहुके साक्षात् शिष्य थे या पारम्पर्य? कुन्दकुन्दने लिखा है

सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु ज जिणे कहिय।
सो तह कहिय णाय सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥६१॥
बारसअगवियाण चउदसपुव्वगविउलवित्थरण।
सुयणाणिभद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयऊ ॥६२॥[2]

जिनेन्द्रने तीर्थंकर महावीरने अर्थरूपसे जो कथन किया है वह भाषा-सूत्रोमे शब्दविकारको प्राप्त हुआ है अनेक प्रकारके शब्दोमे ग्रथित हुआ है। भद्रबाहुके मुझ शिष्यने उन भाषासूत्रोपरसे उसको उसी रूपमे जाना है। और बारह अङ्गो एव चौदह पूर्वोके विपुल विस्तारके ज्ञाता श्रुतकेवली भद्रबाहुको 'गमकगुरु' कह कर उनका कुन्दकुन्दने जयघोष किया है।

१ जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १, किरण ४, पृ० ७८, यह पट्टावलि मूलत इन्डियन एन्टीक्वयरीमें प्रकाशित हुई है।

२. बोधपाहुड, गाथा ६१-६२।

द्वितीय गाथाके आलोकमें प्रथम गाथाका अध्ययन करनेसे यह स्पष्ट होता है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु कुन्दकुन्दके साक्षात् गुरु नही थे, 'गमक गुरु' थे। आचार्य श्रीजुगलकिशोर मुख्तारने उक्त दोनो गाथाओमे प्रथम गाथाका सम्बन्ध द्वितीय भद्रबाहुके साथ और द्वितीय गाथाका सम्बन्ध श्रुतकेवली भद्रबाहुके साथ बतलाया है। उन्होने लिखा है "इकसठवी गाथामे कुन्दकुन्दने अपनेको भद्रबाहुका शिष्य प्रकट किया है। जो सभवत भद्रबाहु द्वितीय जान पडते हैं। क्योकि भद्रबाहु श्रुतकेवलीके समयमे जिनकथित श्रुतमे ऐसा विकार उपस्थित उपस्थित नही हुआ था, जिसे उक्त गाथामे 'सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु ज जिणे कहिय' इन शब्दो द्वारा सूचित किया गया है वह अविच्छिन्न चला आया था। परन्तु दूसरे भद्रबाहुके समयमे ऐसी स्थिति नही थी कितना ही श्रुतज्ञान लुप्त हो चुका था और जो अवशिष्ट था, वह अनेक भाषासूत्रोमे परिवर्तित हो गया था। इससे इकसठवी गाथाके भद्रबाहु द्वितीय ही जान पडते हैं। बासठवी गाथामे उसी नामसे प्रसिद्ध होनेवाले प्रथम भद्रबाहुका, जो कि बारह अङ्गो और चौदह पूर्वोके ज्ञाता श्रुतकेवली थे, अन्त्य मगलके रूपमे जयघोष किया गया और उन्हे साफ तौर पर गमकगुरु लिखा है। इस तरह अन्तकी दोनो गाथाओमे दो अलग-अलग भद्रबाहुओका उल्लेख होना अधिक युक्तियुक्त और बुद्धिगम्य जान पडता है।"[1] मुख्तार साहबका उक्त कथन विचारणीय है। यहाँ दो भद्रबाहुओका कथन न कर कुन्दकुन्दने पूर्व गाथामे प्रतिपादित भद्रबाहुके कथित गुरुत्वका गमक गुरुके रूपमे उल्लेख आया है। 'गमक' शब्दका अर्थ शब्दकल्पद्रुममे 'गमयति, प्रापयति, बोधयति वा गमक', √गम् + णिच् + ण्वल् बोधक मात्र या सुझाव देनेवाला अथवा तत्प प्राप्तिके लिए प्रेरणा करनेवाला बतलाया है। मातगलीलामे[2] 'गमक-पाण्डित्यवैदग्ध्ययो', अर्थात् पाण्डित्य या वैदग्ध्य प्राप्तिको गमक कहते हैं। यहाँ पर 'गमक' शब्द 'परम्परया' या 'प्रेरणया' के रूपमे प्रयुक्त है। अतएव 'गमक' शब्द परम्पराप्राप्त श्रुतकेवलीके लिए ही व्यवहृत हुआ है। दो भद्रबाहुओकी कल्पना किसी भी प्रकार सम्भव नही है। भद्रबाहु श्रुतकेवली कुन्दकुन्दके साक्षात् गुरु न होकर 'गमक गुरु' या प्रेरक गुरु थे। श्री प० कैलाशचन्द्र शास्त्रीने भी इसी तथ्यकी पुष्टि की है।[3]

श्रवणबेलगोलाके अभिलेखोंसे भी इस तथ्यको पुष्ट किया जा सकता है। यत श्रुतकेवली भद्रबाहु अपने शिष्य सम्राट् चन्द्रगुप्तके साथ दक्षिण भारत गये थे और वहाँ श्रवणबेलगोला स्थानमे समाधिमरण प्राप्त किया था। अत दक्षिणमे

१. जैन साहित्य और इतिहासपर विशद प्रकाश, पृ० ९३।

२ मातगलीला ११७।

३. कुन्दकुन्दप्राभृतसग्रह, प्रस्तावना, पृ० ११-१२।

श्रुतकेवली भद्रबाहुकी परम्पराका अस्तित्व सिद्ध होता है। कुन्दकुन्द मूल संघके आचार्य थे और दक्षिण भारतके निवासी। अत इन्हे श्रुतकेवली भद्र-बाहुकी परम्परा प्राप्त हुई थी। इसी कारण कुन्दकुन्दने उन्हे 'गमकगुरु' कहा है। पट्टावलीके अनुसार इनके गुरुका नाम जिनचन्द्र और दादा गुरुका नाम माघनन्दि है।

कुन्दकुन्दके जीवनमे घटित घटनाएं

आचार्य कुन्दकुन्दके जीवनमे प्रमुख दो घटनाओके घटित होनेकी कथा प्रसिद्ध है। एक है विदेहयात्रा और दूसरी है गिरनार पर्वतपर हुए दिगम्बर-श्वेताम्बर वाद-विवादमे उनकी विजय।

जहाँ तक विदेहयात्राकी बात है, उसके साधक यद्यपि अभिलेखीय या अन्य ऐतिहासिक प्रमाण अभीतक उपलब्ध नही हुए, किन्तु आचार्य देवसेन, आचार्य जयसेन और श्रुतसागरसूरिके उल्लेख बतलाते है कि आचार्य कुन्दकुन्द विदेह गये थे और वहाँसे भगवान् सीमन्धर स्वामीका उपदेश ग्रहण कर लौटे थे तथा सीमन्धरस्वामीसे प्राप्त दिव्यज्ञानका श्रमणोको उपदेश दिया था। देवसेन (ई० सन् ९ वी शती) ने दर्शनसारमे लिखा है

> जइ पउमणदिणाहो सीमधरसामिदिव्वणाणेण।
> ण विबोहइ तो समणा कह सुमग्ग पयाणति ॥४३पू

इसमे कहा गया है कि यदि पद्मनन्दिनाथ सीमन्धरस्वामीद्वारा प्राप्त दिव्य ज्ञानसे बोध न देते, तो श्रमण मुनिजन सच्चे मार्गको कैसे जानते।

देवसेनका यह उल्लेख काफी प्राचीन है और उसपर सहसा अविश्वास नही किया किया जा सकता।

इसी तरह आचार्य जयसेन (ई० सन् १२ वी शती) ने भी पञ्चास्तिकाय-की टीकाके आरम्भमे आचार्य कुन्दकुन्दके विदेहगमनको 'प्रसिद्धकथान्याय' बतलाते हुए उसकी स्पष्ट चर्चा की है।

षट्प्राभृतके सस्कृत-टीकाकार श्रुतसागरसूरिने भी टीकाके अन्तमे कुन्द-कुन्दस्वामीके विदेहगमनका उल्लेख किया है।

ये उल्लेख अकारण नही हो सकते। वे अवश्य विचारणीय है।

दिगम्बर-श्वेताम्बर वाद-विवादमे विजयप्राप्तिके भी उल्लेख मिलते है। शुभचन्द्राचार्यने पाण्डवपुराणमे लिखा है कि कुन्दकुन्दगणीने ऊर्ज्जयन्तगिरि-पर अपने प्रभावसे पाषाण-निर्मित सरस्वतीको वादिता शास्त्रार्थकर्त्री बना दिया था। यथा

कुन्दकुन्दगणी येनोर्ज्जयन्तगिरिमस्तके ।
सोऽवताद् वादिता ब्राह्मी पाषाणघटिता कलौ ॥[1]

जिन्होंने कलिकालमें ऊर्जयन्त गिरिके मस्तक पर गिरनार पर्वतके ऊपर पाषाणनिर्मित ब्राह्मीकी मूर्तिको बुलवा दिया ।

इसी तरहका उल्लेख शुभचन्द्रकी गुर्वावलिके अन्तमें निबद्ध उन दो पद्योंमें भी है, जो निम्न प्रकार हैं

पद्मनन्दी गुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणी ।
पाषाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती ॥
उर्ज्जयन्तगिरौ तेन गच्छ सारस्वतोऽभवत् ।
अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नमः श्रीपद्मनन्दिने ॥[2]

बलात्कारगणाग्रणी पद्मनन्दी गुरु हुए । जिन्होंने ऊर्जयन्तगिरि पर पाषाण-निर्मित सरस्वतीकी मूर्तिको वाचाल कर दिया था । उससे सारस्वत गच्छ हुआ । अतः उन पद्मनन्दी मुनीन्द्रको नमस्कार हो ।

कवि वृन्दावनके एक उल्लेखसे भी ज्ञात होता है, कि कुन्दकुन्दस्वामी सघ सहित गिरनारकी यात्राके लिए गये । वहाँ पर उन दिनों श्वेताम्बरोंका भी सघ ठहरा हुआ था । दोनों सघोमें वादविवाद हुआ और इसकी मध्यस्थता अम्बिका देवीने की । उसने प्रकट होकर कहा कि दिगम्बर निर्ग्रंथ पन्थ ही सच्चा है ।

श्री नाथूरामजी प्रेमीने 'तीर्थोंके झगड़ों पर ऐतिहासिक दृष्टिसे विचार' शीर्षक निबन्धमें बताया है "जान पड़ता है, गिरनार पर्वत पर दिगम्बरों और श्वेताम्बरोंके बीच वह विवाद कभी न कभी अवश्य हुआ, जिसका उल्लेख धर्मसागर उपाध्यायने किया है । यह कोई ऐतिहासिक घटना अवश्य है, क्योंकि इसका उल्लेख दिगम्बर साहित्यमें भी एक दूसरे रूपमें मिलता है ।"[3]

इस सबपर विचार करनेसे प्रतीत होता है कि श्वेताम्बर और दिगम्बरोंका शास्त्रार्थ तो अवश्य हुआ है, पर यह शास्त्रार्थ नन्दिसंघके आचार्य पद्मनन्दि, जिनका अपर नाम कुन्दकुन्द था, के साथ नहीं हुआ है । यह अन्य पद्मनन्दिके साथ हुआ होगा, जिनका समय विक्रमकी १४वीं शताब्दी है ।

१ पाण्डवपुराण ।
२ जैनसिद्धान्त भास्कर, भाग १, किरण ४, पृ० ५८ ।
३ जैन साहित्य और इतिहास, प्रथम संस्करण, पृ० २४५ ।

समय-निर्धारण

आचार्य कुन्दकुन्दके समय पर विचार करने वालोमे श्री प० नाथूरामजी प्रेमी, श्री पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार, डॉ० के०बी० पाठक, प्रो० ए० चक्रवर्ती, और डॉ० ए० एन० उपाध्येके नाम उल्लेखनीय हैं। डॉ० उपाध्येने सभी मतोकी समीक्षा कर अपने मतकी सस्थापना की है। हम यहाँ सक्षेपमे उक्त विद्वानोके मतोकी विवेचना करेगे।

प्रेमीजीने इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारके आधार पर बताया है कि गुणधर, यतिवृषभ और उच्चारणाचार्य द्वारा रचित गाथासूत्र, चूर्णिसूत्र और उच्चारण-सूत्रोके रूपमे 'कसायपाहुड' निबद्ध हुआ। धरसेनकी परम्परामे पुष्पदन्त और भूतबलिने षट्खण्डागमकी रचना की। इन दोनो ग्रन्थोको कुन्दकुन्दपुरमे पद्म-नन्दि मुनिने गुरुपरम्परासे प्राप्त किया और षट्खण्डागमके प्रथम तीन खण्डो पर १२००० श्लोकप्रमाण परिकर्मनामक ग्रन्थकी रचना की। प्रेमीजीने इस आधार पर निष्कर्ष निकाला है कि वीरनिर्वाण सवत् ६८३ के पश्चात् कुन्द-कुन्द हुए हैं। धरसेन, उच्चारणाचार्य आदिके समयको पचास-पचास वर्ष मान लेने पर कुन्दकुन्दका समय विक्रमकी तीसरी शताब्दीका अन्तिम चरण सिद्ध होता है।

प्रेमीजीने एक अन्य प्रमाण यह भी दिया है कि ऊर्ज्जयन्तगिरिपर श्वेता-म्बरोके साथ कुन्दकुन्दका ही शास्त्रार्थ हुआ था। उनके सुत्तपाहुडसे भी यह प्रकट है। देवसेनके दर्शनसारके अनुसार विक्रमकी मृत्युके १३६ वर्ष बीतनेपर यह सघभेद हुआ। प्रेमीजीने इसे शालिवाहन शकाब्द मानकर १३६ + १३५ = २७१ विक्रम स० मे सघभेद माना है। इस कालका श्रुतावतार-मे उल्लिखित समयके साथ समन्वय हो जाता है। अतएव प्रेमीजीके मतानुसार कुन्दकुन्दका समय विक्रमकी तृतीय शताब्दीका अन्तिम चरण है।

डा० पाठकको[1] राष्ट्रकूट नरेश गोविन्दराज तृतीयके दो ताम्रपत्र प्राप्त हुए हैं। उनमेसे एक शक स० ७१९ का है और दूसरा शक स० ७२४ का है। इनमे कोण्डकोन्दान्वयके तोरणाचार्यके शिष्य पुष्पनन्दिका तथा उसके शिष्यका निर्देश किया है। डॉ०पाठकका अभिमत है कि प्रभाचन्द्र शक स० ७१९ मे और उनके दादागुरु तोरणाचार्य शक स० ६०० मे हुए होगे। कुन्दकुन्दको इनसे डेढ सौ वर्ष पूर्व माना जा सकता है। अतएव कुन्दकुन्दका समय शक स० ४५० के लगभग है।

डॉ० पाठकने अपने इस अनुमानका समर्थन एक अन्य आधारसे भी किया है।

१ समयप्राभृत, काशी सस्करण, सस्कृत-प्रस्तावना।

उन्होने बताया है कि चालुक्यनरेश कीर्तिवर्मा शक सं० ५०० मे राज्यसिंहासनपर आसीन थे। उन्होने बादामीको जीता और कदम्ब राज्यवंशको नष्ट कर दिया। अत यह निश्चित हुआ कि कदम्ब राजवंशका शिवमृगेश वर्मा लगभग ५० वर्ष पूर्व अर्थात् शक स० ४५० के आस-पास विद्यमान था। बालचन्द्रने पचास्तिकायकी कनड़ी टीका और जयसेनने सस्कृतटीकामे बताया है कि कुन्दकुन्दने शिवकुमार महाराजके सम्बोधनके लिए यह ग्रन्थ लिखा। यह शिवकुमार महाराज कदम्बवशी शिवमृगेश वर्मा ही प्रतीत होता है। अत कुन्दकुन्दका समय शक स० ४५० (ई० सन् ५२८) आता है।

विचार करनेपर डॉ० पाठकका उक्त मत नितान्त असमीचीन है। आज इस मतको कोई भी प्रामाणिक नही मानता है।

प्रो० ए० चक्रवर्तीने[1] डॉ० हारनले द्वारा प्रकाशित सरस्वती-गच्छकी दिगम्बर पट्टावलिके आधारपर कुन्दकुन्दके आचार्यपदपर प्रतिष्ठित होनेका काल ई० पूर्व ८ माना है और उनका जन्म ई० पूर्व ५२ बतलाया है। चक्रवर्तीने डॉ० पाठकके मतका विरोध किया है और पौराणिक प्रमाणोके आधारपर कुन्दकुन्दका पट्टावलि-उल्लिखित समय बतलाया है।

इन्होने पल्लवराजवंशके शिवस्कन्दको शिवकुमार माननेपर जोर दिया है। क्योकि स्कन्द और कुमार पर्यायवाची शब्द है। अन्य परिस्थितियोसे भी उन्होने एकरूपता सिद्ध की है। पल्लवोकी राजधानी 'काजीपुरम्' मे थी। ये 'थोण्डमण्डलम्' पर शासन करते थे। यह प्रदेश विद्वानोकी भूमि माना जाता था। 'काजीपुरम्' के शासक ज्ञानके भी सरक्षक थे। ईसाकी प्रारम्भिक शताब्दियोसे लेकर आठवी शताब्दी तक 'काजीपुरम्' के चारो ओर जैनधर्मका प्रचार होता रहा है। इसके अतिरिक्त 'मयीडवोलु' दानपत्रकी भाषा प्राकृत है। इस दानपत्रको शिवस्कन्दवर्माने प्रचारित किया है। इसकी विषयवस्तु और भाषा मथुराके अभिलेखोसे मिलती-जुलती है। अत. प्रो० चक्रवर्तीने यह निष्कर्ष निकाला है कि कुन्दकुन्दने जिस शिवकुमार महराजके लिए प्राभृतत्रय लिखे थे, वह सम्भवत पल्लववशका शिवस्कन्द वर्मा है।

आचार्य श्री जुगलकिशोर मुख्तारने[2] समन्तभद्रके समयविचार-प्रसगमे लिखा है कुन्दकुन्दाचार्य वीर नि० स० ६८३ से पहले नही हुए, किन्तु पीछे हुए हैं। परन्तु कितने पीछे, यह अस्पष्ट है। यदि अन्तिम आचारागधारी लोहाचार्यके बाद होनेवाले विनयधारी आदि चार आरातीय मुनियोका एकत्र समय

१. पचास्तिकायके अग्रेजी अनुवादकी प्रस्तावना।

२. रत्नकरण्डश्रावकाचारकी प्रस्तावना, पृ० १५८–१८७।

२० वर्षका और अर्हद्वलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतवलि तथा कुन्दकुन्दके गुरुका स्थूल समय दश-दश वर्षका ही मान लिया जाय, जिसका मान लेना कुछ अधिक नही है, तो यह सहजमे ही कहा जा सकता है कि कुन्दकुन्द उक्त समयसे ८० वर्ष अथवा वीर नि० ७६३ (६८३ + २० + ६०) वर्ष बाद हुए हैं और यह समय उस समयके करीब पहुँच जाता है जो 'विद्वज्जनवोधक' से उद्धृत किये हुए उक्त पदमे दिया है, और इसलिए इसके द्वारा उसका बहुत कुछ समर्थन होता[1] है।"

मुख्तारसाहव पट्टावलिपर विश्वास नही करते। पट्टावलिमे कुन्दकुन्दका समय वि० सवत् ४९ दिया गया है। इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारमे वर्णित दोनो सिद्धात-ग्रन्थोकी उत्पत्तिकी कथा तथा गुरुपरिपाटीसे दोनो सिद्धातग्रन्थोका अध्ययन कर कुन्दकुन्दके द्वारा षट्खण्डागमके प्रथम तीन खण्डोपर १२००० श्लोक प्रमाण टीका लिखनेकी वातको आधार मानकर यही निष्कर्ष निकलता है कि कुन्दकुन्द वीर निर्वाण सवत् ६७० के लगभग हुए हैं।

मुख्तारसाहवने शिवकुमार महाराजवाली चर्चाको उठाकर डॉ० पाठकके मतका निरसन किया है और प्रो० चक्रवर्तीके मतको भी मान्य नही ठहराया है। इस प्रकार मुख्तारसाहवने कुन्दकुन्दका समय वीर निर्वाण सवत् ६०८-६९२ के मध्य माना है।

कुन्दकुन्दके समयपर विस्तारसे विचार करनेवाले डॉ० ए० एन० उपाध्ये हैं। उन्होने अपनी प्रवचनसारकी विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावनामे अपनेसे पूर्व प्रचलित सभी मतोकी समीक्षा करते हुए स्वमतका निर्धारण किया है। डॉ० उपाध्येने अपने मतके निर्णयके हेतु निम्नलिखित तथ्योपर विचार किया है

१. भद्रबाहुका शिष्यत्व

२ श्रुतावतारानुसार षट्खण्डागमका टीकाकारित्व

३ सघभेदानन्तर प्राप्त सूचनाओका आधारत्व

४. जयसेन एव बालचन्द्रके उल्लेखानुसार शिवकुमार महाराजका समकालीनत्व

५ कुरलकर्तृत्व

१. डॉ० उपाध्येका विचार है कि कुन्दकुन्द दिगम्बर-श्वेताम्बर सघभेद उत्पन्न होनेके पश्चात् ही हुए हैं। यदि वे पहले हुए होते तो अचेलकत्वका समर्थन और स्त्रीमुक्तिका निषेध नही करते, यत सघभेदकी उत्पत्ति चन्द्रगुप्त मौर्यके समकालीन श्रुतकेवली भद्रबाहुके समयमे हो चुकी थी। यही कारण है कि कुन्दकुन्दने अपने ग्रन्थोमे श्वेताम्बर प्रवृत्तियोका निषेध किया है।

१. रत्नकरण्डश्रावकाचारकी प्रस्तावना पृ० १६१।

२ प्रथम तथ्यपर विचार करते हुए कुन्दकुन्दको श्रुतकेवली भद्रबाहुका परम्परा शिष्य माना है। डॉ० उपाध्येने बतलाया है कि दक्षिणमे जो मुनिसंघ आया था, उनमे प्रधान भद्रबाहु श्रुतकेवली थे। अत उनके सन्यासमरणके पश्चात् भी प्रधान गुरुके रूपमे उनकी मान्यता प्रचलित रही। दक्षिणमे जो साधुसघ था उसे धार्मिक ज्ञान उत्तराधिकारके रूपमें भद्रबाहुसे ही प्राप्त हुआ था। अत सुदूर दक्षिण देशवासी कुन्दकुन्दने उन्हे अपना गुरु माना, तो इसमे कोई आश्चर्यकी बात नही। यह यथार्थ है कि कुन्दकुन्द श्रुतकेवली भद्रबाहुके साक्षात् शिष्य नही है, यत. उनका नामोल्लेख अगधारियोमे नही मिलता है और न ऐसी कोई किवदन्ती ही प्राप्त होती है, जिसके आधारपर कुन्दकुन्दको श्रुतकेवली भद्रबाहुका समकालीन माना जा सके।

३. श्रुतावतारमे आया है कि कोण्डकुन्दपुरके पद्मनन्दिने 'कषायपाहुड' और 'षट्खण्डागम' इन दोनो ग्रन्थोका ज्ञान प्राप्त किया और षट्खण्डागमके प्रथम तीन खण्डोपर टीका लिखी, यह तथ्य असदिग्ध नही है। कुन्दकुन्दकी ऐसी कोई भी टीका आज नही मिलती और न कही उसके अवशेष ही मिलते हैं। अत इन्द्रनन्दिके उक्त कथनका समर्थन अन्य किसी ग्रन्थसे नही होता है। विबुध श्रीधरने अपने श्रुतावतारमे लिखा है कि कुन्दकीत्तिने कुन्दकुन्दाचार्यसे दोनो सिद्धान्तग्रन्थोका ज्ञान प्राप्त करके 'षट्खण्डागम'के आदिके तीन खण्डोपर बारह हजार श्लोक प्रमाण 'परिकर्म' नामक शास्त्र लिखा। डॉ० उपाध्येका एक अन्य तर्क यह है कि कुन्दकुन्दकी प्रतिभा मौलिक ग्रन्थोके सृजनकी ओर ही अधिक है। टीका या टीकाकारिका लिखनेकी ओर नही। अतएव श्रुतावतारके आधारपर कुन्दकुन्दका समय वीर निर्वाण सवत् ६८३ के पश्चात् माना जाना चाहिए, यह कोई सबल प्रमाण नही है। सम्भव है कि कुन्दकुन्द इसके पहले हुए हो।

४ डॉ० उपाध्ये प्रो० चक्रवर्तीके इस तथ्यको समुचित मानते है कि शिवकुमार महराज पल्लवराजवशी हैं। किन्तु पल्लवराजवशका समय अभीतक अनिर्णीत है। अतएव डा० उपाध्ये डा० पाठकके मतसे असहमत होते हुए प्रो० चक्रवर्ती द्वारा मान्य शिवकुमार महराज और शिवस्कन्दकी एकताको स्वीकार करते है।

५. कुरलकाव्यकर्त्ताके रूपमे कुन्दकुन्दकी मान्यतापर विचार करते हुए डॉ० उपाध्येने बतलाया है कि कुरलकाव्यका जैन होना सम्भव है, उसमे ऐसे अनेक तथ्य आये हैं जो अन्य धर्मोमे प्राप्त नही होते। इस काव्यका समस्त वर्ण्य विषय जैन आचार और तत्त्वज्ञानसे सम्बद्ध है। अतएव कुरलका कर्त्ता कोई जैन कवि तो अवश्य है, पर आचार्य कुन्दकुन्द हैं, इसके समर्थनमे कोई प्रमाण उपलब्ध नही है। कुन्दकुन्दका अन्य नाम एलाचार्य बताया गया है उसकी

पुष्टि भी अन्य प्रमाणोसे नही होती। अतएव कुन्दकुन्दको ई० सन् प्रथम शताब्दीका विद्वान् स्वीकार किया जा सकता है।

आधुनिक विचारक डॉ० ज्योति प्रसादजीने विभिन्न मतोकी समीक्षा करते हुए निम्नलिखित निष्कर्ष उपस्थित किया है All this Shows that he may Safely be assigned to the ealry part of the first century A. D. or, to be exact, to 8 B C A D 44.[1]

अर्थात् इस आधारपर कुन्दकुन्दका समय ई० सन्की प्रथम शताब्दी आता है।

कुन्दकुन्दकी रचनाएँ

दिगम्बर साहित्यके महान् प्रणेताओमे कुन्दकुन्दका मूर्धन्य स्थान है। इनकी सभी रचनाएँ शौरसेनी प्राकृतमे है। १ प्रवचनसार, २. समयसार और ३ पचास्तिकाय ये तीन ग्रन्थ विश्रुत हैं और तत्त्वज्ञानको अवगत करनेके लिए कुञ्जी है। शेष रचनाओका भी आध्यात्मिक दृष्टिसे विशेष महत्त्व है।

१. प्रवचनसार

यह ग्रन्थ अमृतचन्द्रसूरि और जयसेनाचार्यकी सस्कृतटीकाओ सहित रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई द्वारा प्रकाशित है। इसमे तीन अधिकार हैं ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र। ज्ञानाधिकारमे आत्मा और ज्ञानका एकत्व एव अन्यत्व, सर्वज्ञकी सिद्धि, इन्द्रिय और अतीन्द्रिय सुख, शुभ, अशुभ और शुद्धोपयोग तथा मोहक्षय आदिका प्ररूपण है। ज्ञेयाधिकारमे द्रव्य, गुण, पर्यायका स्वरूप, सप्तभगी, कर्म और कर्मफलका स्वरूप, मूर्त और अमूर्त द्रव्योके गुण, कालादिकके गुण और पर्याय, प्राण, शुभ और अशुभ उपयोग, जीवका लक्षण, जीव और पुद्गलका सम्बन्ध, निश्चय और व्यवहारका अविरोध एव शुद्धात्मा आदिका प्रतिपादन है। चारित्र-अधिकारमे श्रामण्यके चिह्न, छेदोपस्थापक श्रमण, छेदका स्वरूप, युक्त आहार, उत्सर्ग और अपवाद मार्ग, आगमज्ञानका लक्षण और मोक्षतत्त्व आदिका कथन किया है।

आचार्य अमृतचन्द्रकी टीकाके अनुसार इसमे २७५ गाथाएँ हैं और जयसेनकी टीकाके अनुसार ३१७ हैं। इन बढी हुई गाथाओका तीन वर्गोमे विभाजन किया जा सकता है

१ नमस्कारात्मक

२. व्याख्यानविस्तारविषयक

३ अपरविषयविज्ञापनात्मक

1. The jaina Sources of the history of ancient India P. 124=125

प्रथम दो विषयोकी गाथाएँ इस प्रकारकी तटस्थ है कि जिनका अभाव खटकता नही है। उनके रहनेपर भी प्रवचनसारके विषयमे किसी प्रकारकी वृद्धि नही होती। तृतीय विभागकी चौदह गाथाएँ विचारणीय है। ये गाथाएँ निर्ग्रन्थ साधुओके लिए वस्त्रपात्रादिकका तथा स्त्रियोके लिए मुनित्वका निषेध करती है। इन गाथाओके विषय यद्यपि कुन्दकुन्दके अन्य ग्रन्थोके विपरीत नही है, पर श्वेताम्बर सम्प्रदायके विरुद्ध अवश्य है। अत अमृतचन्द्राचार्यके द्वारा इनके छोडे जानेके सम्बन्धमे डॉ० उपाध्येका कथन है "अमृतचन्द्र इतने आध्यात्मिक व्यक्ति थे कि वे साम्प्रदायिक वाद-विवादमे पडना नही चाहते थे। अत इस बातकी इच्छा रखते थे कि उनकी टीका सक्षिप्त हो एव तीक्ष्ण साम्प्रदायिक आक्रमणोको न करती हुई कुन्दकुन्दके अति उदात्त उद्गारोके साथ सभी सम्प्रदायोको स्वीकृत हो।"

डॉ० उपाध्येका उपर्युक्त मत सर्वथा समीचीन नही है, क्योकि अमृतचन्द्र-ने तत्त्वार्थसारके निम्न पद्यमे लिखा है

सग्रन्थोऽपि च निर्ग्रन्थो ग्रासाहारी च केवली।
रुचिरेवविधा यत्र विपरीत हि तत्स्मृतम् ॥[1]

इस पद्यमे श्वेताम्बर मान्यताके केवली-कवलाहार और सचेलकत्वका निषेध किया गया है। अत श्वेताम्बर मान्यताके सिद्धान्तोकी समीक्षा छोड देने की बात युक्त नही है।

२ समयसार यह सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक ग्रन्थ है। यहाँ समयशब्दके दो अर्थ विवक्षित है समस्त पदार्थ और आत्मा। जिस ग्रन्थमे समस्त पदार्थों अथवा आत्माका सार वर्णित हो, वह समयसार है। यह भेदविज्ञानका निरूपण करता है। अनेक पदार्थोको 'स्व'-'स्व' लक्षणोसे पृथक्-पृथक् नियत कर देना और उनसे उपादेय पदार्थको लक्षित तथा अन्य समस्त पदार्थोंको उपेक्षित कर देनेको भेद-विज्ञान कहा जाता है। यह ग्रन्थ दश अधिकारोमे विभक्त है प्रथम जीवाधिकारमे 'स्व' समय, 'पर' समय, शुद्धनय, आत्मभावना और सम्यक्त्वका प्ररूपण है। जीवको कामभोगविषयक बन्धकथा ही सुलभ है किन्तु आत्माका एकत्व दुर्लभ है। एकत्व-विभक्त आत्माको निजानुभूति द्वारा ही जाना जाता है। जीव प्रमत्त, अप्रमत्त दोनो दशाओसे पृथक् ज्ञायकभावमात्र है। ज्ञानीके दर्शन, ज्ञान, चारित्र व्यवहारसे कहे जाते हैं, निश्चयसे नही। निश्चयसे ज्ञानी एक शुद्ध ज्ञायकमात्र ही है। इस अधिकारमे व्यवहारनयको अभूतार्थ और निश्चयको भूतार्थ कहा है। दूसरे कर्तृकर्माधिकारमे आस्रव, बन्ध आदिकी

१. तत्त्वार्थसार, पद्य, ५१६।

पर्यायोका विवेचन किया गया है। आत्माके मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति ये तीन परिणाम अनादि हैं। जब इन तीन प्रकारके परिणामोका कर्तृत्व होता है, तब पुद्गलद्रव्य स्वय कर्मरूप परिणमन करता है। परद्रव्यके भावका जीव कभी भी कर्त्ता नही है।

तीसरे पुण्य-पाप अधिकारमे शुभाशुभ कर्मस्वभाव वर्णित हैं। अज्ञान-पूर्वक किये गये व्रत, नियम, शील और तप मोक्षके कारण नही हैं। जीवादि पदार्थोका श्रद्धान, उनका अधिगम और रागादिभावका त्याग मोक्षका मार्ग बतलाया है। चौथे आस्रवाधिकारमे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग और कषाय आस्रव बतलाये गये हैं। वस्तुत राग, द्वेष, मोहरूप परिणाम ही आस्रव हैं। ज्ञानीके आस्रवका अभाव रहता है। यत राग-द्वेष-मोहरूप परिणामके उत्पन्न न होनेसे आस्रवप्रत्ययोका अभाव कहा जाता है। पाँचवें सवर अधि-कारमे सवरका मूल भेदविज्ञान बताया है। इस अधिकारमे सवरके क्रमका भी वर्णन है। छठवें निर्जरा अधिकारमे द्रव्य, भावरूप निर्जराका विस्तारपूर्वक निरूपण किया है। ज्ञानी व्यक्ति कर्मो के बीच रहने पर भी कर्मोसे लिप्त नही होता है, पर अज्ञानी कर्मरजसे लिप्त रहता है। सातवें बन्धाधिकारमे बन्धके कारण रागादिका विवेचन किया है। आठवें मोक्षाधिकारमे मोक्षका स्वरूप और नववे सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकारमे आत्माका विशुद्ध ज्ञानकी दृष्टिसे अकर्तृत्व आदि सिद्ध किया है। अन्तिम दशम अधिकारमे स्याद्वादकी दृष्टिसे आत्म-स्वरूपका विवेचन किया है।

इस ग्रन्थमे आचार्य अमृतचन्द्रके टीकानुसार ४१५ गाथाएँ और जयसेना-चार्यकी टीकाके अनुसार ४३९ गाथाएँ हैं। शुद्ध आत्माका इतना सुन्दर और व्यवस्थित विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है।

३ **पञ्चास्तिकाय** इस ग्रन्थमे कालद्रव्यसे भिन्न जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश इन पाँच अस्तिकायोका निरूपण किया गया है। बहुप्रदेशी द्रव्यको आचार्यने अस्तिकाय कहा है। द्रव्य-लक्षण, द्रव्यके भेद, सप्तभगी, गुण, पर्याय, कालद्रव्य एव सत्ताका प्रतिपादन किया है। यह ग्रन्थ दो अधि-कारोमे विभक्त है। प्रथम अधिकारमे द्रव्य, गुण और पर्यायोका कथन है और द्वितीय अधिकारमे पुण्य, पाप, जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा एव मोक्ष इन नव पदार्थोके साथ मोक्ष-मार्गका निरूपण किया है।

इस ग्रन्थमे अमृतचन्द्राचार्यकी टीकाके अनुसार १७३ गाथाएँ और जय-सेनाचार्यके टीकानुसार १८१ गाथाएँ हैं। द्रव्यके स्वरूपको अवगत करनेके लिए यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है।

४. नियमसार आध्यात्मिक दृष्टिसे यह ग्रन्थ भी महत्वपूर्ण है। इसमे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रको नियमसे मोक्ष-प्राप्तिका मार्ग कहा है। अतएव सम्यग्दर्शनादिका स्वरूप कथन करते हुए उसके अनुष्ठान करने एव मिथ्यादर्शनादिके त्यागका विधान किया है। इसपर पद्मप्रभमलधारीदेवकी संस्कृतटीका भी उपलब्ध है।

५ वारस-अणुवेक्खा (द्वादशानुप्रेक्षा) इसमे अध्रुव, अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, ससार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और वोधिदुर्लभ इन वारह भावनाओका ९१ गाथाओमे वर्णन है। संसारसे विरक्ति प्राप्त करनेके लिए यह रचना अत्यन्त उपादेय है।

६ दंसणपाहुड इस लघुकाय ग्रन्थमे धर्मके सम्यग्दर्शनका ३६ गाथाओमे विवेचन किया गया है। सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट व्यक्तिको निर्वाण प्राप्त नही हो सकता है।

७ चारित्त पाहुड सम्यक्चारित्रका निरूपण ४४ गाथाओमे किया गया है। सम्यक्चारित्रके दो भेद किये हैं सम्यक्त्वचरण और संयमचरण। संयमचरणके सागार और अनगार इन दो भेदों द्वारा श्रावक और मुनि-धर्मका सक्षेपमे निर्देश किया है।

८ सुत्तपाहुड २७ गाथाओमे आगमका महत्व वतलाते हुए उसके अनुसार चलनेकी शिक्षा दी गयी है।

९ वोहपाहुड ६२ गाथाएँ हैं। इनमे आयतन, चैत्यगृह, जिनप्रतिमा, दर्शन, जिनविम्व, जिनमुद्रा, आत्मज्ञान, देव, तीर्थ, अर्हन्त और प्रव्रज्या इन ग्यारह वातोका वोध दिया गया है।

१०. भावपाहुड १६३ गाथाओमे चित्त-शुद्धिकी महत्ताका वर्णन किया है। वताया है कि परिणामशुद्धिके विना ससार-परिभ्रमण नही रुक सकता है और न विना भावके कोई पुरुषार्थ ही सिद्ध होता है। इसमे कर्मकी अनेक महत्वपूर्ण वातोका विवेचन आया है।

११ मोक्खपाहुड इस ग्रन्थमे १०६ गाथाओमे मोक्षके स्वरूपका निरूपण किया गया है। आत्माके वहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा- इन तीन भेदोका स्वरूप समझाया है। मोक्ष परमात्म-पदकी प्राप्ति किस प्रकार होती है इसका निर्देश किया है।

१२ लिंगपाहुड इस लघुकाय ग्रन्थमें २२ गाथाएँ हैं। श्रमणलिंगको लक्ष्य कर मुनि-धर्मका निरूपण किया गया है।

१३. सीलपाहुड ४० गाथाएँ हैं। शील ही विषयासक्तिको दूरकर मोक्ष-प्राप्तिमे सहायक होता है। जीव-दया, इन्द्रिय-दमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, असन्तोष, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और तपको शीलके अन्तर्गत परिगणित किया है।

१४ रयणसार इस ग्रथमे रत्नत्रयका विवेचन है। १६७ पद्य हैं। और किसी-किसी प्रतिमे १५५ पद्य भी मिलते हैं। गृहस्थ और मुनियोको रत्नत्रयका पालन किस प्रकार करना चाहिए, यह इसमे वर्णित है। डॉ० ए० एन० उपाध्ये इस ग्रन्थको गाथा-विभेदविचार, पुनरावृत्ति, अपभ्रशपद्योकी उपलब्धि एव गण-गच्छादिके उल्लेख मिलनेसे कुन्दकुन्दके होनेमे आशका प्रकट करते हैं। वस्तुत शैलीकी भिन्नता और विषयोके सम्मिश्रणसे यह ग्रन्थ कुन्दकुन्द रचित प्रतीत नही होता। परम्परासे यह कुन्दकुन्दद्वारा प्रणीत माना जाता है।

१५ सिद्ध-भत्ति यह स्तुतिपरक ग्रन्थ है। १२गाथाओमे सिद्धोके गुण-भेद, सुख, स्थान, आकृति और सिद्धि-मार्गका निरूपण किया गया है। इसपर प्रभाचन्द्राचार्यकी एक सस्कृत टीका है। इस टीकाके अन्तमे लिखा है कि सस्कृतकी सव भक्तियाँ पूज्यपादस्वामी द्वारा विरचित हैं और प्राकृतकी भक्तियाँ कुन्दकुन्द आचार्य द्वारा निर्मित[1] हैं।

१६ सुदभत्ति इस भक्तिपाठमे ११ गाथाएँ है। इसमे आचाराग, सूत्रकृताग आदि द्वादश अगोका भेद-प्रभेद सहित उल्लेख करते हुए उन्हे नमस्कार किया गया है। साथ ही १४ पूर्वोमेसे प्रत्येककी वस्तुसख्या और प्रत्येक वस्तुके प्राभृतोकी सख्या भी दी है।

१७ चारित्त-भत्ति १०अनुष्टुप् गाथाछन्द हैं। सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात नामके चारित्रो, अहिंसादि २८ मूलगुणो, दस धर्मो, त्रिगुप्तियो, सकलशीलो, परीषहोके जय और उत्तरगुणोका उल्लेख करते हुए मुक्तिसुख देनेवाले चारित्रकी भावना की गयी है।

१८ जोइभत्ति २३ गाथाओमे योगियोकी अनेक अवस्थाओ, ऋद्धियो, सिद्धियो एव गुणोके साथ उन्हे नमस्कार किया गया है।

१९. आइरियभत्ति इसमे १० गाथाएँ है और इनमे आचार्योके उत्तम गुणोका उल्लेख करते हुए उन्हे नमस्कार किया है।

१ सस्कृता सर्वा विभक्तय पूज्यपादस्वामिकृता प्राकृतास्तु कुन्दकुन्दाचार्यकृता।
प्रभाचन्द्रटीका, अन्तिम अंश।

२० णिव्वाणभत्ति इस भक्तिपाठमे २७ गाथाएँ है। इनमे निर्वाणका स्वरूप एव निर्वाणप्राप्त तीर्थंकरोकी स्तुति की गयी है।

२१ पचगुरुभत्ति इस भक्तिपाठमे सात पद्य हैं। प्रारम्भिक पाँच पद्योमे क्रमश अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पाँच परमेष्ठियोका स्तवन है। छठे पद्यमे स्तवनका फल अङ्कित है। सप्तम पद्यमे इन पाँच परमेष्ठियोका अभिधान पच नमस्कारमे किया है।

२२ थोस्सामि थुदि (तित्थयर-भत्ति) 'थोस्सामि' पदसे आरम्भ होनेवाली अष्टगाथात्मक स्तुति है। इसे तीर्थंकर-भक्ति भी कहा गया है। इस स्तुतिपाठमे वृषभादि वर्धमान पर्यन्त चतुर्विशति तीर्थंकरोकी उनके नामोल्लेखपूर्वक वन्दना की गई है और तीर्थंकरोके लिए जिन, जिनवर, जिनेन्द्र, केवली, अनन्तजिन, लोकमहित, धर्मतीर्थंकर, विधूतरजोमल, लोकोद्योतकर आदि विशेषणोका प्रयोग किया गया है। अन्तमे समाधि, बोधि और सिद्धिकी प्रार्थना की गयी है।

इस भक्तिपाठके कतिपय पद्य श्वेताम्बर सम्प्रदायके पद्योके समान हैं। और कुछ भिन्न हैं। यथा-

लोयस्सुज्जोययरे धम्म-तित्थकरे जिणे वदे।
अरहते कित्तिस्से चउवीस चेव केवलिणे॥ दिगम्बर पाठ
लोगस्स उज्जोअगरे धम्मतित्थयरे जिणे।
अरहते कित्तइस्स चउवीस पि केवली॥ श्वेताम्बर पाठ

इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द अपूर्व प्रतिभाके धनी और शास्त्रपारगत विद्वान् हैं। इन्होने पचास्तिकाय और प्रवचनसारमे आध्यात्मिक दृष्टिके साथ शास्त्रीय दृष्टिको भी प्रश्रय दिया है। अतएव इन दोनो ग्रन्थोमे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोका भी वर्णन प्राप्त होता है। सम्यक्दर्शनके विषयभूत जीवादि पदार्थोका विवेचन करनेके लिए शास्त्रीय दृष्टिको अगीकृत किये बिना कार्य नही चल सकता। अतएव द्रव्यार्थिक नयसे जहाँ जीवके नित्य अपरिणामी स्वभावका वर्णन किया जाता है वहाँ पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे जीवके अनित्य परिणामी स्वभावका भी वर्णन रहता है। यो तो द्रव्य गुण और पर्यायोका एक अखण्ड पिण्ड है, तो भी उनका अस्तित्व प्रकट करनेके लिए भेदको स्वीकार किया जाता है।

आचार्य कुन्दकुन्दने समयसार और नियमसारमे आध्यात्मिक दृष्टिसे आत्मस्वरूपका विवेचन किया है। इस दृष्टिमे गुणस्थान और मार्गणाओके भेदोका अस्तित्व स्वीकृत नही रहता। यह दृष्टि परनिरपेक्ष आत्मस्वभावको और उसके

प्रतिपादक निश्चयनयको ही भूतार्थ तथा व्यवहारको हेय मानती है। यहाँ एक निश्चय ही मोक्षमार्ग है, व्यवहार नही। इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्दने आध्यात्मिक और शास्त्रीय दृष्टियोका विश्लेषण एव विवेचनकर आत्मतत्त्वका निरूपण किया है। इन दोनो दृष्टियोके सम्बन्धमे सिद्धान्ताचार्य प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने लिखा है "शास्त्रीय[1] दृष्टि वस्तुका विश्लेषण करके उसकी तह तक पहुँचनेकी चेष्टा करती है। उसकी दृष्टिमे निमित्तकारणके व्यापारका उतना ही मूल्य है, जितना उपादानकारणके व्यापारका और परसयोग-जन्य अवस्था भी उतनी ही परमार्थ है, जितनी स्वाभाविक अवस्था। जैसे उपादानकारणके विना कार्य नही होता, वैसे ही निमित्तकारणके विना भी कार्य नही होता। अत कार्यकी उत्पत्तिमे दोनोका समव्यापार है शास्त्रीय दृष्टिका किसी वस्तु-विशेषके साथ कोई पक्षपात नही है।"

"शास्त्रीय दृष्टिके सिवाय एक दृष्टि आध्यात्मिक भी है। इसके द्वारा आत्म-तत्त्वको लक्ष्यमे रखकर वस्तुका विचार किया जाता है[2]।"

अतएव सक्षेपमे कुन्दकुन्दका अपूर्व पाण्डित्य, उनकी शास्त्रग्रथन-प्रतिभा एव सिद्धान्तग्रन्थोके सार-भागको आध्यात्मिक और द्रव्यानुयोगके रूपमे प्रस्तुतीकरण आदि उनकी विशेषताएँ हैं।

आचार्य वट्टकेर और उनका साहित्य

आचार्य वट्टकेर कुन्दकुन्दाचार्यसे भिन्न हैं या अभिन्न, इस सम्बन्धमे मतभेद है। श्री जुगलकिशोर मुख्तारने इन्हे कुन्दकुन्दसे अभिन्न माना है। डॉ० ज्योतिप्रसाद भी इसी मतके समर्थक हैं।

डॉ० हीरालाल जैनने वट्टकेरको कुन्दकुन्दसे भिन्न स्वीकार किया है। उन्होने लिखा है "वट्टकेरस्वामीकृत• मूलाचार दिगम्बर सम्प्रदायमे मुनिधर्मके लिए सर्वोपरि प्रमाण माना जाता है। कही-कही यह ग्रन्थ कुन्द-कुन्दाचार्यकृत भी कहा गया है। यद्यपि यह बात सिद्ध नही होती, तथापि उससे इस ग्रन्थके प्रति समाजका महान् आदरभाव प्रकट होता है।"[3]

१. कुन्दकुन्दप्राभृतसग्रह, प्रस्तावना, पृष्ठ—८२।
२ वही, पृष्ठ—८३।
३. भारतीय संस्कृतिमें जैनधर्मका योगदान, प्रकाशक, मध्यप्रदेश-शासन-साहित्य परिषद्, भोपाल, पृष्ठ १०५।

डॉ० जैनके उक्त उद्धरणसे दो निष्कर्ष उपस्थित होते हैं।

१ श्रद्धा, भक्ति और मान्यताके अतिरेकके कारण मूलाचारके कर्त्ता कुन्द-कुन्द मान लिये गये हैं। कुन्दकुन्द दिगम्बर परम्पराके युगसंस्थापक और युगान्तरकारी आचार्य हैं, अतएव वट्टकेरके नामपर उत्तरवर्ती साक्षियोमे मूलाचार-का नाम निर्देश कर दिया गया।

२ मूलाचार दिगम्बर परम्पराका आचाराग ग्रन्थ है। इसी कारण इस ग्रन्थका सम्बन्ध कुन्दकुन्दसे जोडा गया है। वट्टकेर आचार्यकी अन्य कृतियाँ उपलब्ध नही होती। अतएव इतने महान् ग्रन्थका रचयिता इनको स्वीकार करनेमे उत्तरवर्ती लिपिकारोको आशका हुई।

आचार्य जुगलकिशोर मुख्तारने माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमालामे प्रकाशित सटीक मूलाचार प्रतिकी पुष्पिकाके आधारपर इस ग्रन्थको कुन्द-कुन्दाचार्यप्रणीत बतलाया है। पुष्पिका निम्न प्रकार है

"इति मूलाचारविवृतौ द्वादशो अध्याय। कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतमूला-चाराख्यविवृति.। कृतिरिय वसुनन्दिन श्रीश्रमणस्य"।

इस पुष्पिकाके आधारसे श्रीजुगलकिशोर मुख्तार वट्टकेरको कुन्दकुन्दसे अभिन्न मानते हैं।

डॉ० ए० एन० उपाध्येने अपनी प्रवचनसारकी महत्त्वपूर्ण प्रस्तावनामे मूलाचारको दक्षिण भारतकी पाण्डुलिपियोके आधारपर कुन्दकुन्दकृत लिखा है। पर एक निबन्धमे[1] मूलाचारको सग्रह-ग्रन्थ सिद्ध किया है, और इसके सग्रहकर्त्ता सम्भवत वट्टकेर थे, यह अनुमान लगाया है।

आचार्य वसुनन्दिने मूलाचारकी सस्कृत-टीका लिखी है और इस टीकाकी प्रशस्तिमे इस ग्रन्थके कर्त्ताको वट्टकेर, वट्टकेर्याचार्य, तथा वट्टेरकाचार्यके रूपमे उल्लिखित किया है। इन नामोमे पहला नाम टीकाके प्रारम्भिक प्रस्तावना वाक्यमे, दूसरा नवम, दशम और एकादश अधिकारोके सन्धिवाक्योमे और तृतीय नाम सप्तम अधिकारके सन्धिवाक्यमे पाया जाता है।

यह सत्य है कि वट्टकेर नामका समर्थन न तो किसी गुर्वावलिसे होता है, न पट्टावलिसे, न अभिलेखोसे और न ग्रन्थ-प्रशस्तियोसे ही। इसी कारण श्री प० नाथूरामजी प्रेमीने अपने एक निबन्धमे इस समस्याका समाधान प्रस्तुत करनेका प्रयास किया[2] है। उन्होने बताया है कि दक्षिण भारतमे वेट्टगेरि या वेट्टकेरी

१ प्राच्य-विद्या-सम्मेलन, अलीगढ (उ० प्र०) में पठित।

२ जैनसिद्धान्त भास्कर, भाग १२, किरण १, पृ० ३८।

नामके ग्रामका अस्तित्व पाया जाता है। अत इस ग्रामके निवासी होनेके कारण मूलाचारके कर्त्ताको वट्टकेर या वेट्टकेरि कहा गया होगा। जिस प्रकार कोण्डकुन्दपुरके रहनेवाले होनेसे कुन्दकुन्द नाम प्रसिद्ध हुआ, उसी प्रकार वेट्टकेरिके रहनेवाले होनेसे मूलाचारके कर्त्ता वट्टकेर कहलाये। अत मूलाचार कुन्दकुन्दकी रचना नही है और न वट्टकेर ही कुन्दकुन्दसे अभिन्न है।

श्रीजुगलकिशोर मुख्तारने अपना अभिमत प्रकट करते हुए लिखा है कि "वट्टकका अर्थ वर्तक प्रवर्तक है, इर गिरा, वाणी, सरस्वतीको कहते है, जिसकी वाणी प्रवर्त्तिका हो जनतामे सन्मार्ग तथा सदाचारमे लगानेवाली हो उसे वट्टकेर समझना चाहिये। दूसरे, वट्टको प्रवर्त्तकोमे जो 'इरि' गिरि, प्रधान, प्रतिष्ठित हो, अथवा ईरि—समर्थ शक्तिशाली हो, उसे वट्टकेरि जानना चाहिए। तीसरे वट्ट नाम वर्त्तन आचरणका है और 'ईरक' प्रेरक तथा प्रवर्त्तकको कहते हैं, सदाचारमे जो प्रवृत्ति करानेवाला हो उसका नाम वट्टकेर[1] है"। इस प्रकार मुख्तार साहबने वट्टकेरका अर्थ प्रवर्त्तक, प्रधानपदपर प्रतिष्ठित अथवा श्रेष्ठ आचारनिष्ठ किया है, और इसे कुन्दकुन्दाचार्यका विशेषण बतलाया है। अतएव इनके मतसे कुन्दकुन्द ही वट्टकेर हैं।

उपर्युक्त मत-भिन्नताओके आलोकमे मूलाचारका अध्ययन करनेसे ज्ञात होता है कि वट्टकेर एक स्वतन्त्र आचार्य हैं और ये कुन्दकुन्दाचार्यसे भिन्न हैं। ग्यारहवी शताब्दीके विद्वान् वसुनन्दिने वट्टकेरका उल्लेख स्पष्ट रूपसे किया है। अत इस ग्रन्थके रचयिता आचार्य वट्टकेर हैं और वे आचार्य कुन्दकुन्दसे भिन्न सम्भव हैं।

समय-निर्धारण और ग्रन्थकी मौलिकता

वट्टकेरके सम्बन्धमे अभी तक पट्टावलि, गुर्वावलि, अभिलेख एव प्रशस्तियोमे सामग्री उपलब्ध नही हो सकी है। अत निश्चित रूपसे उनके समयके सम्बन्धमे कुछ भी नही कहा जा सकता है। मूलाचारकी विषयवस्तु-के अध्ययनसे इतना स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ प्राचीन है। इससे मिलती-जुलती अनेक गाथाएँ श्वेताम्बर प्राचीन सूत्रग्रन्थ दशवैकालिकमे भी उपलब्ध हैं। प्रत्येक प्रकरणके आदिमे मगलस्तवनके अकित रहनेसे इसे सग्रह-ग्रन्थ होनेका अनुमान किया जाता है, पर हमारी नम्र सम्मतिमे यह सग्रह-ग्रन्थ न होकर स्वतत्र ग्रन्थ है। प्रत्येक प्रकरणके आदि अथवा ग्रन्थके आदि, मध्य और अन्त-मे मगलस्तवन लिखनेकी प्रथा प्राचीन समयमे स्वतन्त्ररूपसे लिखित ग्रन्थोमे वर्तमान थी। तिलोयपण्णत्तीमे इस प्रथाको देखा जा सकता है। गोम्मटसारके आदि, मध्य और अन्तमे भी मगलस्तवन निबद्ध है।[2]

१. जैन साहित्य इतिहासपर विशद प्रकाश, पृ० १००।
२. गोम्मटसार कर्मकाण्ड और तिलोयपण्णत्ती।

मूलाचारका ग्रथन एक निश्चित रूपरेखाके आधारपर हुआ है। अत: उसके सभी प्रकरण आपसमे एक दूसरेसे सम्बद्ध है। यदि यह सकलन होता, तो इसके प्रकरणोमे आद्यन्त एकरूपता एव प्रौढताका निर्वाह सम्भव नही था। अतएव आचार्य वट्टकेरका समय कुन्दकुन्दके समकालीन या उनसे कुछ ही पश्चाद्वर्त्ती होना चाहिए।

वस्तुत प्राचीन गुरुपरम्परामे ऐसी अनेक गाथाएं विद्यमान थी, जो दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो ही मान्यताओके ग्रन्थोका स्रोत हैं। एक ही स्थानसे अथवा गुरुपरम्पराके प्रचलनसे गाथाओको ग्रहण कर, दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो ही मान्यताओके आचार्योने समानरूपसे उनका उपयोग किया है। मुनि-आचार-सम्बन्धी, या कर्मप्राभृत-सम्बन्धी जिन सिद्धान्तोमे मतभेद नही था, उन सिद्धान्तो सम्बन्धी गाथाओको एक ही स्रोतसे ग्रहण किया गया है।

तथ्य यह है कि परम्पराभेद होनेके पूर्व अनेक गाथाएँ आरातियोके मध्य प्रचलित थी, और ऐसे कई आरातीय थे, जो दोनो ही सम्प्रदायोमे समानरूपसे प्रतिष्ठित थे। अत वर्तमानमे मूलाचार, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक प्रभृति ग्रन्थोमे उपलब्ध होनेवाली समान गाथाओका जो अस्तित्व पाया जाता है, उसका कारण यह नही है कि वे गाथाएँ किसी एक सम्प्रदायके ग्रन्थोमे, दूसरे सम्प्रदायके ग्रन्थोसे ग्रहण की गयी है, वल्कि इसका कारण यह है कि उन गाथाओका मूल स्रोत अन्य कोई प्राचीन भाण्डार रहा है, जो प्राचीन श्रुतपरम्परामे विद्यमान था।

रचना

वट्टकेर आचार्यका यही एक ग्रन्थ उपलब्ध है। इसमे १२ अधिकार और १२५२ गाथाएँ हैं। पहले मूलगुण-अधिकारमे पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पञ्च-इन्द्रियोका निरोध, षट्आवश्यक, केशलुञ्च, अचेलकत्व, अस्नान, क्षितिशयन, अदन्तधावन, स्थित-भोजन और एक बार भोजन, इस प्रकार मुनिके अट्ठाईस मूलगुणोका निरूपण किया है। वृहत्प्रत्याख्यानसस्तव-अधिकारमे क्षपकको समस्त पापोका त्यागकर मृत्युके समयमे दर्शनाराधना आदि चार आराधनाओमे स्थिर रहने और क्षुधादि परीषहोको जीतकर निष्कषाय होनेका कथन किया है। सक्षेपमे प्रत्याख्यानाधिकारमे सिंह, व्याघ्र आदिके द्वारा आकस्मिक मृत्यु उपस्थित होनेपर कषाय और आहारका त्यागकर समताभाव धारण करनेका निर्देश किया है। सम्यक्आचाराधिकारमे दश प्रकारके आचारोका वर्णन है। आर्यिकाओके लिए भी विशेष नियम वर्णित है। पचाचाराधिकारमे दर्शनाचार, ज्ञानाचार आदि पाँच आचारो और उनके प्रभेदोका विस्तार सहित वर्णन है।

लोकादि मूढताओमें प्रसिद्ध होनेवालोंके उदाहरण भी प्रस्तुत किये गये है। स्वाध्याय-सम्बन्धी नियमोमे आगम और सूत्रग्रन्थोके स्वरूप भी बतलाये गये हैं। पिण्डशुद्धि-अधिकारके आठ भेद है। इन सभी भेदोका विस्तारपूर्वक कथन किया है। मुनियोके आहार-सम्बन्धी नियम, उसके दोष तथा उन दोषोके भेद-प्रभेदोका कथन आया है। मुनि शरीरधारणके हेतु आहार ग्रहण करते हैं और शरीर धर्म-साधनाका कारण है। अत उसका भरण-पोषण कर आत्म साधनाके मार्गमे गतिशील होना परमावश्यक है। एषणा समिति, आहारयोग्य काल, भिक्षार्थगमन करनेकी प्रवृत्ति-विशेष आदिका भी वर्णन आया है।

सप्तम षडावश्यकाधिकार है। आवश्यकशब्दका निरुक्ति, सामायिकके छ भेद, भावसामायिक और द्रव्यसामायिकको व्याख्याएँ, छेदोपस्थापनाका स्वरूप, चतुर्विशतिस्तव, नाम और भाव स्तवन, तीर्थका स्वरूप, वन्दनीय साधु, कृति कर्म, कायोत्सर्गके दोष आदिका वर्णन है। आठवें अनगारभावनाधिकारमे लिंग, व्रत, वसति, विहार, भिक्षा, ज्ञान, शरीर, सस्कारत्याग, वाक्य, तप और ध्यानसम्बन्धी शुद्धियोंके पालनपर जोर दिया गया है। नवम द्वादशानुप्रेक्षाधिकार है। इसमे अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, ससार, लोक, अशुचित्व, सवर, निर्जरा, धर्म, बोधि आदि अनुप्रेक्षाओंके चिन्तनका वर्णन है। दशम समयसाराधिकार है। इसमे शास्त्रके सारका प्रतिपादन करते हुए चारित्रको सर्वश्रेष्ठ कहा है। तप, ध्यानका वणन भा इसी अधिकारके अन्तर्गत है। अचेलकत्व, अनौद्देशिकाहार, शय्यागृहत्याग, राजपिण्डत्याग, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठ, प्रतिक्रमण, मासस्थितिकल्प और पर्यास्थितिकल्पका भी प्रतिपादन आया है। प्रतिलेखनक्रियाका वर्णन करते हुए पाँच गुणोका चित्रण किया है। आहारशुद्धिके प्रकरणमे विभिन्न प्रकारको शुद्धियोका निरूपण आया है। यह अधिकार बहुत विस्तृत है। ग्यारहवें पर्याप्ति-अधिकारमे षड्पर्याप्तियोका निरूपण है। पर्याप्तिके सज्ञा, लक्षण, स्वामित्व, सख्या, परिमाण, निवृत्ति और स्थिति कालके छ भेद किये है। इन सभी भेदोका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। बारहवें शीलगुणाधिकारमे शीलोके उत्पत्तिका क्रम, पृथिव्यादि भेदोका विवेचन, श्रमणधर्मका स्वरूपविवेचन, अक्षसक्रमणके द्वारा शोलका उच्चारण, गुणोकी उत्पत्तिका क्रम, आलोचनाके दोष, गुणोकी उत्पत्तिका प्रकार, सख्या और प्रस्तारके निकालनेकी विधिका विस्तारपूर्वक वर्णन आया है। नष्टोद्दिष्ट द्वारा अक्षानयनकी विधिका भी निरूपण है।

इस प्रकार इस महाग्रन्थमे मुनिके आचारका बहुत ही विस्तृत एव सुन्दर वर्णन किया गया है। यतिधर्मको अवगत करनेके लिए एक स्थानपर इससे

अधिक सामग्रीका मिलना दुष्कर है। भाषा और शैलीकी दृष्टिसे भी यह ग्रन्थ प्राचीन प्रतीत होता है। उत्तरवर्ती अनेक ग्रन्थकारोंने इसकी गाथाओंके उद्धरणपूर्वक उसकी प्रामाणिकता प्रकट की है।

शिवार्य और उनकी रचना

जीवन-परिचय मुनि-आचारपर शिवार्यकी 'भगवती आराधना' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है। इसके अन्तमें जो प्रशस्ति दी गयी है उससे उनकी गुरु-परम्परा एवं जीवनपर प्रकाश पड़ता है। प्रशस्तिमें बताया है

अज्जजिणणंदिगणि-सव्वगुत्तगणि-अज्जमित्तणंदीणं।
अवगमिय पादमूले सम्मं सुत्तं च अत्थं च॥
पुव्वायरियणिवद्धा उपजीवित्ता इमा ससत्तीए।
आराहणा सिवज्जेण पाणिदलभोइणा रइदा॥
छदुमत्थदाइ एत्थ दु जं वद्धं होज्ज पवयण-विरुद्धं।
सोधंतु सुगीदत्था पवयणवच्छल्लदाए दु॥
आराहणा भगवदी एवं भत्तीए वण्णिदा सत्ती।
संघस्स सिवज्जस्स य समाधिवरमुत्तमं देउ[1]॥

अर्थात् आर्य जिननन्दि गणि, आर्य सर्वगुप्त गणि और आर्य मित्रनन्दिके चरणोंके निकट मूलसूत्रों और उनके अर्थको अच्छी तरह समझकर पूर्वाचार्यों द्वारा निवद्ध की गयी रचनाके आधारसे पाणितलभोजी शिवार्यने यह आराधना अपनी शक्तिके अनुसार रची है। छद्मस्थता या ज्ञानकी अपूर्णताके कारण इसमें कुछ प्रवचनविरुद्ध लिखा गया हो, तो विद्वज्जन प्रवचन-वात्सल्यसे उसे शुद्ध कर लें। इस प्रकार भक्तिपूर्वक वर्णन की हुई भगवती आराधना संघको और शिवार्यको उत्तम समाधि दे।

उपर्युक्त प्रशस्तिसे निम्नलिखित तथ्य निःसृत होते हैं

१. शिवार्य पाणितलभोजी होनेके कारण दिगम्बर परम्परानुयायी हैं।

२. आर्यशब्द एक विशेषण है। अतः प्रेमीजीके अनुमानके अनुसार इनका नाम शिवनन्दि, शिवगुप्त या शिवकोटि होना चाहिए।

३ भगवती अराधनाकी रचना पूर्वाचार्यों द्वारा निवद्ध ग्रन्थोंके आधारपर हुई है।

४. शिवार्य विनीत, सहिष्णु और पूर्वाचार्योंके भक्त हैं।

१. भगवती आराधना, सोलापुर संस्करण, गाथा २१६५–२१६८।

५. इन्होंने गुरुओंसे सूत्र और उसके अर्थकी सम्यक् जानकारी प्राप्त की है।

जिनसेनाचार्यने आदिपुराणके प्रारम्भमे शिवकोटि मुनिको नमस्कार किया है।

शीतीभूत जगद्यस्य वाचाराध्य चतुष्टयम्।
मोक्षमार्गं स पायान्न शिवकोटिर्मुनीश्वर[1]॥

अर्थात् जिनके वचनोसे प्रकट हुए चारो आराधनारूप मोक्ष-मार्गकी आराधना कर जगत्के जीव सुखी होते हैं वे शिवकोटि मुनीश्वर हमारी रक्षा करे।

उपर्युक्त पद्यमे जिस रूपमे जिनसेन आचार्यने शिवकोटि मुनीश्वरका स्मरण किया है उससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि शिवकोटि मुनीश्वर भगवती आराधनाके कर्ता है। अतएव दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपरूप चार प्रकारकी आराधनाओका विस्तृत वर्णन करनेवाले शिवार्यका ही शिवकोटि नाम होना चाहिए है।

प्रभाचन्द्रके आराधनाकथाकोष और देवचन्द्रके राजावलिकथे (कन्नडग्रन्थ) मे शिवकोटिको स्वामी समन्तभद्रका शिष्य बतलाया है। ये शिवकोटि काशी या काचीके शैव राजा थे और समन्तभद्रके चमत्कारको देखकर उनके शिष्य बन गये थे। पर इन कथाओका ऐतिहासिक मूल्य कितना है, यह नही कहा जा सकता। यदि वस्तुत शिवकोटि समन्तभद्रके शिष्य होते, तो इतने बडे ग्रन्थमे वे अपने उपकारी गुरु समन्तभद्रका उल्लेख न करें, यह सम्भव नही है।

हरिषेणकृत कथाकोषमे समन्तभद्रकी उक्त कथा नही है। यह ग्रन्थ विक्रम स० ९८८ मे लिखा गया है। अत उपलब्ध कथाकोषोमे यह सबसे प्राचीन है। इस कथाकोषमे शिवकोटिसे सम्बद्ध समन्तभद्रवाली कथाके न मिलनेसे शिवकोटिका समन्तभद्रका शिष्य होना शकास्पद है।

शिवकोटिका सबसे पुरातन उल्लेख आदिपुराणमे मिलता है। आदिपुराणके रचयिता जिनसेनके समयमे यदि शिवकोटि और समन्तभद्रका शिष्य-गुरुत्व प्रसिद्ध होता तो वे समन्तभद्रके पश्चात् ही शिवकोटिकी स्तुति करते। पर ऐसा न कर उन्होने श्रीदत्त, यशोभद्र और प्रभाचन्द्रकी स्तुति लिखकर शिवकोटिका स्मरण किया है।

कवि हस्तिमल्लने विक्रान्तकौरवमे समन्तभद्रके शिवकोटि और शिवायन दो शिष्य बतलाये हैं और उन्हीके अन्वयमे वीरसेन, जिनसेनको बतलाया है। पर इस बातका कोई पुष्ट प्रमाण नही है कि समन्तभद्रकी शिष्यपरम्परामे

१ आदिपुराण १।४९।

वीरसेन एव जिनसेन हुए हैं। शिवकोटिका तो उल्लेख मिलता भी है। पर शिवायनका कोई उल्लेख उपलब्ध नही होता। शिवायनका अन्यत्र भी कही नाम नही आता। भगवती-आराधनाके रचयिता शिवकोटि समन्तभद्रके शिष्य थे, इसका साधक कोई प्रमाण प्राप्त नही होता।

श्रवणबेलगोलके अभिलेख न० १०५ मे शिवकोटिको तत्त्वार्थसूत्रका टीकाकार बतलाया है। यह अभिलेख विक्रम स० १४५५ का है। इसमे आया हुआ 'एतत्' शब्द विचारणीय है। श्री प० जुगलकिशोरजी मुख्तारका यह अनुमान है कि

"तस्यैव शिष्यश्शिवकोटिसूरिस्तपोलतालम्बनदेहयष्टि।
ससार-वाराकर-पोतमेतत्तत्त्वार्थसूत्र तदलञ्चकार[1]॥

उपर्युक्त पद्य तत्त्वार्थसूत्रकी उसी शिवकोटिकृत टीकाकी प्रशस्तिका एक पद्य है जो शिलालेखमे एक विचित्र ढगसे शामिल कर लिया गया है। अन्यथा शिलालेखके पद्योके अनुक्रममे 'एतद्' शब्दकी सगति नही बैठ सकती। अतएव शिवार्यकी तत्त्वार्थसूत्रपर कोई अवश्य टीका रही है। भले ही वे शिवार्य आराधनाके कर्त्तासे भिन्न हो। यह भी सम्भव है कि शिलालेखमे उल्लिखित समन्तभद्र ही उनके गुरु हो। अष्टसहस्रीपर विषमपदतात्पर्य टीकाके रचयिता एक लघुसमन्तभद्र हुए है, जिनका समय अनुमानत. विक्रमकी १३ वी शताब्दी है।"

यदि भगवती आराधनाके रचयिता शिवार्य या शिवकोटिकी तत्त्वार्थसूत्रकी कोई टीका होती तो उसका उल्लेख तत्त्वार्थसूत्रके अन्य टीकाकार अवश्य करते। पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि टीकामे भी उसका निर्देश अवश्य मिलता। अत न तो भगवती आराधनाके रचयिता शिवकोटिकी तत्त्वार्थसूत्रपर कोई टीका ही है, और न वे समन्तभद्रके शिष्य ही जान पडते है।

एक अन्य प्रमाण श्रीपण्डित परमानन्दजी शास्त्रीने अपने एक निबन्धमे उपस्थित किया है। उन्होने लिखा है कि शिवार्यने गाथा २०७९-८३ मे स्वामी समन्तभद्रकी तरह गुणव्रतोमे भोगोपभोगपरिमाणको न गिनाकर देशावकाशिकको ग्रहण किया है और शिक्षाव्रतोमे देशावकाशिकको न लेकर भोगोपभोगपरिमाणका विधान किया है। यदि वे समन्तभद्रके शिष्य होते तो इस विषयमे उनका अवश्य अनुसरण करते।[2] इस प्रकार आराधनाके रचयिताके साथ समन्तभद्रका सम्बन्ध घटित नही होता।

१ जैनशिलालेख सग्रह, प्रथम भाग, पृ० १९८।
२. अनेकान्त, वर्ष २, किरण ६।

दिगम्बर सम्प्रदायकी पट्टावलियो, अभिलेखो, ग्रन्थ-प्रशस्तियो एवं श्रुतावतार आदिमे जो परम्पराएँ उपलब्ध होती है, उनमेसे किसी भी परम्परामे शिवार्य द्वारा उल्लिखित अपने गुरुओ जिननन्दि, सर्वगुप्त और मित्रनन्दिके नाम नही मिलते । शाकटायन व्याकरणमे "उपसर्वगुप्त व्याख्यातार.[1] ।" अर्थात् समस्त व्याख्याता सर्वगप्तसे नीचे हैं उन जैसा कोई दूसरा व्याख्याता नही । बहुत सम्भव है कि इन्ही सर्वगुप्तके चरणोमे बैठकर शिवार्यने सूत्र और उनका अर्थ अच्छी तरह ग्रहण किया हो और तत्पश्चात् आराधनाकी रचना की हो । श्री प्रेमीजीने शाकटायनके उक्त उल्लेखके आधारपर शिवार्य या शिवकोटि को यापनीय सघका आचार्य बताया है । उन्होने अपने कथनकी पुष्टिके लिए निम्नलिखित प्रमाण उपस्थित किये है

१ भगवती आराधनाकी उपलब्ध टीकाओमे सबसे पुरानी टीका अपराजित सूरिकी है और जैसा कि आगे बतलाया जायगा वे निश्चयसे यापनीय सघके हैं । ऐसी दशामे मूलग्रन्थकर्त्ता शिवार्यको भी यापनीय होनेकी अधिक सम्भावना है ।

२ यापनीय सघ श्वेताम्बरोके समान सूत्रग्रन्थोको मानता है और अपराजित सूरिकी टीकामे सैकडो गाथाएँ ऐसी है जो सूत्रग्रन्थोमे मिलती है ।

३. दश स्थितकल्पोके नामो वाली गाथा जीतकल्पभाष्य और अनेक श्वेताम्बर टीकाओ और निर्युक्तियोमे मिलती है । आचार्य प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्तण्डमे भी इसे श्वेताम्बर गाथा माना है ।

४ आराधनाकी ५६५-५६६ नम्बरकी गाथाएँ दिगम्बर मुनियोके आचारसे मेल नही खाती । उनमे बीमार मुनिके लिए चार मुनियोके द्वारा भोजन-पान लानेका निर्देश है ।

५ आराधनाकी ४२८वी गाथा आचाराग और जीतकल्प ग्रन्थोका उल्लेख करती है, जो श्वेताम्बर सम्प्रदायके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं ।

६ शिवार्यने अपनेको पाणितलभोजी लिखा है । यापनीय सघके साधु श्वेताम्बर साधुओंके समान पात्रभोजी नही बल्कि दिगम्बरोके समान करपात्रभोजी थे ।[2]

इस प्रकार श्री प्रेमीजीने शिवार्य या शिवकोटिको यापनीय सघका आचार्य माना है और इनके गुरुका नाम प्रशस्तिके आधारपर सर्वगुप्त सिद्ध किया है ।

१ शाकटायन-व्याकरण १।३।१०४ ।

२. जैन साहित्य और इतिहास, प्रथम सस्करण, पृष्ठ २९-३० ।

समय-निर्धारण

भगवती आराधना या मूलाराधनाके कर्त्ता शिवार्य कब हुए, यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता है। उन्होने अपने समयका निर्देश कहीं नहीं किया है। परवर्त्ती आचार्योमें जिनसेनाचार्यने ही सर्वप्रथम उनका उल्लेख किया है। जिनसेनका समय नवम शताब्दी होनेसे शिवार्यके समयकी सबसे ऊपरी सीमा ई० सन् नवम शताब्दी मानी जा सकती है। शाकटायनके निर्देशानुसार सर्वगुप्त उनके गुरु हैं। शाकटायनका काल भी शिवार्यके समयकी अपनी सीमा हो सकता है। अब प्रश्न यह है कि शिवार्यको जिनसेन और पाल्यकीर्तिसे कितना पहले माना जाय। ग्रन्थका अन्तरङ्ग अध्ययन करनेपर ज्ञात होता है कि आराधनाके ४० वे विजहना नामक अधिकारमे आराधक मुनियोके मृतक सस्कार वर्णित है, उनसे ग्रन्थको प्राचीनतापर प्रकाश पडता है। इसके अनुसार उस समय मुनिके मृतक शरीरको वनमे किसी अच्छी जगहपर यो ही छोड़ दिया जाता था। और उसे पशु-पक्षी समाप्त कर देते थे।

इस ग्रन्थपर अपराजित सूरि द्वारा विरचित 'विजयोदया' नामक सस्कृत टीका उपलब्ध है। इस टीकासे भी इस ग्रन्थको प्राचीनता प्रकट होती है। अन्य टीका-टिप्पणोसे यह अवगत होता है कि इस ग्रन्थपर प्राकृत-टीकाएँ भी उपलब्ध थी। इन टीकाओका उल्लेख उत्तरवर्त्ती टीकाकारोने "प्राकृतटीकायाम्" कहकर किया है। मूलाराधनादर्पण-टीकामे अनेक स्थलोपर प्राकृतटीकाका निर्देश आया है। यथा "प्राकृतटीकाया तु अष्टाविंशतिमूलगुणा। आचारवत्वादयश्चाष्टौ इति षट्त्रिंशत्।"[1]

× × × ×

प्राकृतटीकाया पुनरिदमुक्त उत्तरापथे चर्मरगम्लेच्छविषये म्लेच्छा जलौकाभिर्मानुषरुधिर गृहीत्वा भडकेषु स्थापयन्ति। ततस्तेन रुधिरेण कतिपयदिवसोत्पन्नविपन्नकृमिकेणोर्णासूत्र रजयित्वा कवल वयति। सोऽय कृमिरागकवल इत्युच्यते। स चातीव रुधिरवर्णो भवति, तस्य हि वन्हिना दग्धस्यापि स कृमिरागो नापगच्छतीति। सोधो शुक्लतापादन। जदुरागवच्छसोधी सिन्धुदेशलाक्षारक्तपटसरिवस्त्रशुद्धि। अवि अपि सम्भावने। किहइ कथचित्। आयासेन। ण इमा सल्लुद्धरणसोधो इय गुरूपचारपूर्विकालोचनया रत्नत्रयशुद्धि।[2]

× × × ×

1 मूलाराधना, सोलापुर सस्करण, सन् १९३५, गाथा ५२६, पृ० ७४४।
२. वही, गाथा ५६७, पृ० ७७८।

प्राकृतटीकाया तु कम्ममलविप्पमुक्को कम्ममलेण मेल्लिदो सिद्धि णिव्वाण पत्तो त्ति प्राप्त इति।[1]

इन अवतरणोसे यह स्पष्ट है कि मूलाराधना या भगवती आराधनापर प्राकृत-टीका रही है। प्राकृतटीका लिखे जानेका समय विक्रम सवत् ६ ठी शताब्दीसे पूर्व है। प्राकृतग्रन्थोकी प्राकृत भाषामे टीका लिखनेकी परम्परा ५ वी-६ ठी शताब्दी तक ही मिलती है। इसके पश्चात् तो सस्कृत भाषामे टीका लिखनेकी परम्परा प्रारम्भ हो चुकी थी। अतएव मूलाराधनाका समय विक्रम ६ठी शतीके पूर्व होना चाहिए। डॉ० हीरालालजी जैनने लिखा है "कल्पसूत्रकी स्थविरावलीमे एक शिवभूति आचार्यका उल्लेख आया है तथा आवश्यकमूलभाष्यमे शिवभूतिको वीरनिर्वाणसे ६०९ वर्ष पश्चात् बोडिक दिगम्बर सघका सस्थापक कहा है। कुन्दकुन्दाचार्यने भावपाहुडमे कहा है कि शिवभूतिने भाव-विशुद्धि द्वारा केवल-ज्ञान प्राप्त किया। जिनसेनने अपने हरिवशपुराणमे लोहार्यके पश्चाद्वर्ती आचार्यो मे शिवगुप्त मुनिका उल्लेख किया है। जिन्होने अपने गुणोसे अर्हद्-वलि पदको धारण किया था ग्रन्थ सम्भवत ई० की प्रारम्भिक शता-ब्दियोका है।"[2]

स्पष्ट है कि डॉ० हीरालालजी इस ग्रन्थका रचनाकाल ई० सन् द्वितीय-तृतीय शती मानते हैं। इस ग्रन्थपर अपराजित सूरि द्वारा लिखी गयी टीका ७वी-८वी शताब्दीकी है। अत इससे पूर्व शिवार्यका समय सुनिश्चित है। डॉ० ज्योतिप्रसाद जैनने शिवार्यके समयका विचार करते हुए लिखा है[3]

शिवार्य सम्भवत श्वेताम्बर परम्पराके शिवभूति हैं। ये उत्तरापथकी मथुरा नगरीसे सम्बद्ध हैं और इन्होने कुछ समय तक पश्चिमी सिन्धमे निवास किया था। बहुत सम्भव है कि शिवार्य भी कुन्दकुन्दके समान सरस्वती आन्दोलनसे सम्बद्ध रहे हो। वस्तुत शिवार्य ऐसी जैन मुनियोकी शाखासे सम्बन्धित है जो उन दिनो न तो दिगम्बर शाखाके ही अन्तर्गत थी और न श्वेताम्बर शाखाके ही। यापनीय सघके ये आचार्य थे। अतएव मथुरा अभिलेखोसे प्राप्त सकेतोके आधारपर इनका समय ई० सन् की प्रथम शताब्दी माना जा सकता है।

१ मूलाराधना, गाथा १९९९, पृ० १७५५।
२ भारतीय सस्कृतिमें जैनधर्मका योगदान, पृ० १०६।
३. The Jaina Sources of the History of Ancient India, P 130-31.

भगवती आराधनाके वर्ण्य-विषयके अध्ययनसे स्पष्ट है कि इसके अनेक तथ्य ऐसे हैं, जो ई० पू० तीसरी-चौथी शताब्दीमे प्रचलित थे। मुनियोकी अन्त्येष्टिक्रिया चित्रण, सल्लेखनाके समय मुनि-परिचर्या, मरणोंके भेद-प्रभेद आदि विषय पर्याप्त प्राचीन है। भाषा और शैलीके अध्ययनसे भी यह ध्वनित होता है कि यह ग्रन्थ ई० की आरम्भिक शताब्दियोमे अवश्य लिखा जा चुका था। आराधनापर यह एक ऐसी सागोपाग रचना है, जिसकी समता अन्यत्र नही मिलती है।

रचना

शिवार्यकी भगवती आराधना या मूलाराधना नामकी एक ही रचना उपलब्ध है। इस ग्रन्थमे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌चारित्र और सम्यक्‌तप इन चार आराधनाओका निरूपण किया गया है। इस ग्रन्थमे २१६६ गाथाएँ और चालीस अधिकार हैं। यह ग्रन्थ इतना लोकप्रिय रहा है, जिससे सातवी शताब्दीसे ही इसपर टीकाएँ और विवृतियाँ लिखी जाती रही हैं। अपराजित-सूरिकी विजयोदया टीका, आशाधरकी मूलाराधनादर्पणटीका, प्रभाचन्द्रकी 'आराधनापजिका' और शिवजित अरुणकी भावार्थदीपिका नामक टीकाएँ उपलब्ध हैं। इसकी कई गाथाएँ 'आवश्यकनिर्युक्ति', 'वृहत्‌कल्पभाष्य', 'भक्ति-पइण्णा', 'सथारण' आदि श्वेताम्बर ग्रन्थोमे भी पायी जाती हैं। हम यहाँ आदान-प्रदानकी चर्चा न कर इतना ही लिखना पर्याप्त समझते हैं कि प्राचीन गाथाओका स्रोत कोई एक ही भण्डार रहा है, जिस मूलस्रोतसे ग्रन्थका सृजन किया गया है, वह स्रोत सम्भवत आचार्यो की श्रुतपरम्परा ही है।

वस्तुत इस ग्रन्थमे आराध्य, आराधक, आराधना और आराधनाफल इनका सम्यक् वर्णन किया गया है। यहाँ रत्नत्रय आराध्य है, निर्मल परिणाम-वाले भव्यजीव आराधक हैं जिन उपायोसे रत्नत्रयकी प्राप्ति होती है, वे उपाय आराधना हैं और इस रत्नत्रयकी आराधना करनेसे अभ्युदय और मोक्ष-रूप फलकी प्राप्ति होती है, यह आराधनाफल है।

इन चार आराध्यादि पदार्थो की आराधना उद्योतन, उद्यवन, निर्वहण, साधन और निस्तरण इन उपायोसे होती है। सम्यक्‌दर्शनादिको अतिचारोसे अलिप्त रखना, उनमे दोष उत्पन्न न होने देना उद्योतन है। आत्मामे बार-बार सम्यक्‌दर्शनादिकी परिणति करते जाना उद्यवन है। परीषहादिक प्राप्त होनेपर स्थिर चित्त होकर सम्यक्‌दर्शनादिसे च्युत न होना निर्वहण है। अन्य कार्यो मे चित्त लगनेसे यदि सम्यग्दर्शनादि तिरोहित होने लगे, तो पुन उपायोसे

उन्हे पूर्ण करना साधन है। आमरण सम्यक्दर्शनादिकको निर्दोष धारण करना निस्तरण है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप इन चारोकी उन्नति होनेके लिए पूर्वोक्त पाँचोकी आवश्यकता है। इस प्रकार प्रत्येकमे उद्योतनादिक पाँच उपाय मान लेने पर बीस भेद होते हैं। इस भगवती आराधनामे इन सभी भेद-प्रभेदोका उल्लेख आया है।

इस ग्रन्थमे १७ प्रकारके मरण बतलाये गये हैं। इनमे पडितमरण, पडित-पडितमरण और बालपडितमरणको श्रेष्ठ कहा है। पडितमरणमे भी भक्त-प्रतिज्ञामरणको श्रेष्ठ माना गया है। लिगाधिकारमे आचेलक्य, लोच, देहसे ममत्वत्याग और प्रतिलेखन ये चार निर्ग्रन्थलिगके चिह्न बताये हैं। अनयिता-धिकारमे नाना देशोमे विहार करनेके गुणोके साथ अनेक रीति-रिवाज, भाषा और शास्त्र आदिकी कुशलता प्राप्त करनेका विधान है। भावनाधिकारमे तपो-भावना, श्रुतभावना, सत्यभावना, एकत्वभावना और धृतिबलभावनाका प्ररू-पण है। सल्लेखनाधिकारमे सल्लेखनाके साथ बाह्य और अन्तरङ्ग तपोका वर्णन किया है। आर्यिकाओको सघमे किस प्रकार रहना चाहिए, उनके लिए कौन-कौन विधेय कर्त्तव्य हैं तथा कौन-कौनसे कार्य त्याज्य हैं आदिका प्रति-पादन किया है। मार्गणाधिकारमे आचार्यजीत और कल्पका वर्णन है। इस अधिकारमे आचेलक्यका भी समर्थन किया है। अत इस ग्रन्थकी मान्यता दिगम्बर सम्प्रदायमे रही है। प्रसगवश ध्यान, परिषह, कषाय, छपकश्रेणी आदिका भी वर्णन है।

धार्मिक विषयके साथ काव्यात्मकता भी इस ग्रन्थमे विद्यमान है। कई ऐसी गाथाएँ भी हैं, जिनमे उपमाका प्रयोग बहुत सुन्दर रूपमे किया गया है। अन्तरङ्ग शुद्धि पर बल देते हुए बताया है

> घोडयलद्दिसमाणस्स तस्स अब्भतरम्मि कुधिदस्स।
> बाहिरकरण कि से काहिदि बगणिहुदकरणस्स ॥[1]

अर्थात् जैसे घोडेकी लीद बाहरसे चीकनी दिखलाई पडती है, पर भीतरसे दुर्गन्धके कारण महामलिन है, उसी प्रकार जो मुनि बाह्याडम्बर तो धारण करता है, पर अन्तरग शुद्ध नही रखता, उसका आचरण बगुलेके समान होता है।

१ भगवती आराधना, गाथा १३४७।

शरीर, आहार और रसलोलुपताका वर्णन भी उपमाओं द्वारा किया गया है। सूक्तिकी दृष्टिसे इस ग्रन्थकी अनेक गाथाएँ रसमय, एवं बोधोत्पादक हैं। यहाँ दो-एक गाथा उदाहरणार्थ प्रस्तुत करते हैं

जिब्भामूलं वोलेइ वेगओ वरतुओ व्व आहारो।
तत्थे व रस जाणइ ण य परदो ण वि य मे परदो॥[1]

जिस प्रकार उत्तम जातिका अश्व वेगपूर्वक दौड़ता है, उसी प्रकार जिह्वा भी आहारका रसास्वादन करनेके लिए वेगसे दौड़ती है। यद्यपि जिह्वाका अग्र भाग ही रसास्वाद लेता है, तो भी उदरस्थ आहारका अत्यल्प अंश सुखानुभूतिका कारण होता है। आहारका अधिक भाग तो उदरमें समाविष्ट हो जाता है, और उसके उदरस्थ होनेपर रसास्वाद नहीं आता। अतएव रसास्वादजन्य सुखानुभूति अत्यल्प है।

आहारके प्रति गृद्धताका त्याग करानेके लिए आचार्य दरिद्री पुरुषकी उपमाका प्रयोग करते हैं। उनका कथन है कि आहारलम्पटता अत्यधिक दुख का कारण है। जिसप्रकार धनादि पदार्थोंकी चिरकालसे अभिलाषा करनेवाला दरिद्री पुरुष दुख प्राप्त करता है, उसी प्रकार आहारलम्पटी भी। आहारके प्रति साधकको विचार-जन्य वितृष्णाका होना परमावश्यक है

दुक्खं गिद्धीघत्थरसाहट्टंतरस होइ बहुगं च॥
चिरमाहट्टियदुग्गयचडरस व अण्णगिद्धीए[2]॥

इस गाथामें प्रयुक्त उपमान-उपमेयभाव विषयके स्पष्टीकरणमें सशक्त है।

जो क्षपक मृत्युके समय अनुचित आहारकी अभिलाषा करता है, वह मधुलिप्त तलवारकी धारको चाटनेके समान कष्ट प्राप्त करता है।

महुलित्त असिधारं लेहइ भुंजइ य सो सविसमण्णं॥
जो मरणदेसयाले पत्थिज्ज अकप्पियाहारं[3]॥

अर्थात् मृत्युके समय आहारकी अभिलाषासे सक्लेश परिणाम होते हैं, जो दुर्गतिका कारण है। क्षपक मृत्युके समय यदि आहारकी अभिलाषा करता है, तो उसकी यह अभिलाषा विषमिश्रित अन्न अथवा मधुलिप्त तलवारकी धारके समान कष्टदायक है।

१. भगवती आराधना, गाथा १६६१।
२. भगवती आराधना, गाथा १६६३।
३ वही १६६५।

सुभासित या सूक्तिके रूपमे अनेक गाथाएँ अंकित की गयी हैं। यहाँ केवल दो गाथाएँ उद्धृत की जाती है

असिधारं व विसं वा दोसं पुरिसस्स कुणइ एयभवे ॥
कुणइ हु मुणिणो दोसं अकप्पसेवा भवसएमु[1] ॥

तलवार या विष एक ही भवमे मनुष्यको हानि पहुँचाते है, पर मुनियोके लिए अयोग्य आहारका सेवन सैकडो भवोमे हानिकर होता है।

छडिय रयणाणि जहा रयणद्दीवे हरिज्ज कट्ठाणि ॥
माणुसभवे वि छडिय धम्मं भोगेऽभिलसदि तहा[2] ॥

जैसे कोई मनुष्य रत्नद्वीपमे जाकर रत्नोका त्यागकर काष्ठ खरीद लेता है, उसी प्रकार मनुष्य भवमे भी कोई धर्म छोडकर विषय-भोगोकी अभिलाषा करता है। अभिप्राय यह है कि बडी कठिनाईसे रत्नद्वीपमे पहुँचनेपर कोई रत्न न खरीदकर ईंधन खरीदे, तो वह व्यक्ति मूर्ख ही समझा जायगा। इसी प्रकार इस अलभ्य मनुष्यजन्मको प्राप्तकर रत्नत्रयकी साधना न करे और विषयसुखोमे इस मनुष्यभवको व्यतीत कर दे, तो वह व्यक्ति भी उपर्युक्त व्यक्तिके समान ही मूर्ख माना जायगा।

कोई व्यक्ति नन्दनवनमे पहुचकर अमृतका त्यागकर विषपान करे, तो उसे महामूर्ख ही कहा जायगा। इसी प्रकार जो व्यक्ति धर्मको छोड विषय-भोगोकी अभिलाषा करता है वह भी विवेकहीन है और नन्दनवनमे पहुँचे हुए व्यक्तिके समान ही मूर्ख है।

इसप्रकार भगवती आराधनामे मनुष्यभवको सार्थक करनेके लिए सल्लेखना या समाधिमरणकी सिद्धिकी आवश्यकता पर विशेष बल दिया गया है। शिवार्यने इस ग्रन्थमे प्राचीन समयकी अनेक परम्पराओको निबद्धकर साधक जीवनकी सफलतापर प्रकाश डाला है।

पाण्डित्य और प्रतिभा

शिवार्य आराधनाके अतिरिक्त तत्कालीन स्वसमय और परसमयके भी ज्ञाता थे। उन्होने अपने विषयका उपस्थितिकरण काव्यशैलीमे किया है। वे आगम-सिद्धान्तके साथ नीति, सदाचार एव प्रचलित परम्पराओसे सुपरिचित थे। आचार्यने जीवनके अनेक चित्रोके रग, नाना अनुभूतियोके माध्यमसे प्रस्तुत

१ भगवती आराधना, गाथा १६६६।
२ वही, गाथा १८२०।

किये हैं। विविध दशाओमे आयी हुई ये अनुभूतियाँ मनोविज्ञानके एक प्रदर्शनी कक्षमे सुसज्जित की जा सकती हैं। आचार्यकी अभिव्यञ्जना-प्रतिभा न तो कथाकारके समान कल्पनात्मक ही है और न कविकी प्रतिभाके समान चमत्कारात्मक ही। तथ्य-निरूपणकी यथार्थ भूमिपर स्थित हो आचार्यने ससार, शरीर और भोगोकी निस्सारताको निदर्शना, दृष्टान्त, उदाहरण, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलङ्कारो द्वारा अभिव्यक्तकर ग्राह्यता प्रदान की है। साहित्य-निर्माताके लिए मानव-प्रवृत्तियोके विश्लेषण और प्रस्तुतीकरणमे जिस रागात्मकताकी आवश्यकता होती है वह रागात्मकता भी आचार्यमे विद्यमान है। शब्द और अर्थका ऐसा रुचिर योग कम ही स्थानो पर पाया जाता है। कतिपय गाथाओमे तो भावोका इतना सघन सन्निवेश विद्यमान है, जिससे अभिव्यजना-कौशलद्वारा भाव-स्फोटनकी क्रिया उपस्थित रहती है।

आचार्यने निदानका वर्णन करते हुए अपनी अभिव्यञ्जना-कलाका सुन्दर प्रस्तुतीकरण किया है। जिसके मनमे भोगका निदान है वह मुनि नटके समान अपने शील-व्रतका प्रदर्शन करता है। निदान करनेसे भोग-लालसा तृप्त नही हो सकती है। निदान बाँधनेवाला व्यक्ति अहर्निश भोग-वृत्तिको वृद्धिगत करता रहता है। यथा

सपरिग्गहस्स अब्बभचारिणो अविरदस्स से मणसा।
काएण सील-वहण होदि हु णडसमणरूव व[1]॥
रोग कखेज्ज जहा पडियारसुहस्स कारणा कोई।
तह अण्णेसदि दुक्ख सणिदाणो भोगतण्हाए[2]॥
जह कोढिल्लो अग्गि तप्पतो णेव उवसम लभदि।
तह भोगे भुजतो खण पि णो उवसम लभदि[3]॥
कच्छुं कडुयमाणो सुहाभिमाण करेदि जह दुक्खे।
दुक्खे सुहाभिमाण मेहुण-आदीहि कुणदि तहा[4]॥

भोग निदान करनेवाले मुनिके मनमे विषयाभिलाषा है। अत वह परिग्रही है। उसका मन मैथुनकर्ममे प्रवृत्त होनेकी अभिलाषासे पराङ्मुख नही है। अत वह शरीरसे शील-व्रत धारण करनेवाले नटके समान अन्तरङ्गमे

---

१ मूलाराधना, शोलापुर सस्करण, गाथा न०—१२४५।
२. वही, गाथा न०—१२४६।
३. वही, गाथा न०—१२५१।
४ वही गाथा न०—१२५२।

मुनि-भावसे च्युत है। यहाँ निदर्शना द्वारा आचार्यने निदानकी निस्सारता व्यक्त की है। प्रस्तुत सन्दर्भमे दो वाक्यखण्ड है पहला वाक्य निदान बाँधनेवाला शीलधारी मुनि और दूसरा वाक्य शीलका अभिनय प्रदर्शित करनेवाला नट है। ये दोनो वाक्यखण्ड परस्परमे सापेक्ष है। अर्थके लिए दोनो एक दूसरेपर निर्भर हैं। साधारणत. दोनो वाक्यखण्ड असम्बद्ध दिखलाई पड़ते हैं, पर है दोनोमे अर्थसंगति और इस अर्थसगतिका आधार है सादृश्ययोजना। इस प्रकार निदर्शनाद्वारा आचार्यने भावाभिव्यक्ति की है।

औषधि द्वारा जैसे कोई व्यक्ति नीरोग देखा जाता है, अत इस सुखाभिलाषासे कि औषधिका सेवन कर रोग-मुक्त हो जाऊँगा, अत रोगोत्पत्तिकी इच्छा करे, उसी प्रकार भोगकी लालसासे निदान करनेवाला मुनि भी दु खप्राप्तिकी इच्छा करता है। यहाँपर भी आचार्यने दो वाक्योकी योजना की है। प्रथम वाक्यमे सादृश्यमूलक उदाहरण है, जिसके द्वारा द्वितीय वाक्यकी पुष्टि हो रही है। इस गाथामे लक्षणा और व्यञ्जना शक्तियाँ भी समाविष्ट है। औषधिलाभकी आकाक्षासे कोई रोगोत्पत्ति नही करता। यदि वह रोगोत्पत्ति करता है तो उससे बढकर अन्य कोई बुद्धिहीन नही। इसी प्रकार भोगोपभोगोकी लालसासे प्रेरित होकर जो निदान करता है वह मुनि भी निर्बुद्धि ही है।

इस गाथामे दृष्टान्तालङ्कारकी योजना है। कुष्ठी मनुष्यके अग्नि-तापका उदाहरण देकर निदानकी असारता चित्रित की गयी है। जिस प्रकार कुष्ठी मनुष्य अग्निसे शरीर तपनेपर भी उपशमको प्राप्त नही होता, प्रत्युत वृद्धिगत होता है, उसी प्रकार विषयभोगोकी अभिलाषा भोग-शक्तिकी उपशामक नही, अपितु वर्धक है।

खुजलीरोगको नखोसे खुजलानेवाला मनुष्य अपनेको सुखी समझता है, उसी प्रकार स्पर्शन, आलिङ्गन आदि दु खोसे भी अपनेको सुखी मानता है।

उक्त दोनो गाथाओमे आचार्यने उदाहरणालङ्कारकी योजना की है। यहाँ यथा और तथा शब्द प्रयुक्त होकर भाव-साम्य उपस्थित करते हैं। उपमेय और उपमान इन दोनोमे बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव है। निदानजन्य भोगाभिलाषाको व्यर्थ सिद्ध करनेके लिए आचार्यने कुष्ठीका अग्नि-ताप एव कण्डूयमानताकी तुष्टि आदिके उदाहरण प्रयुक्त किये हैं। इस प्रकार धार्मिक विषयोको सरस और चमत्कृत बनानेके लिए अलङ्कृत शैलीका व्यवहार किया है।

कुमार या स्वामी कुमार अथवा कार्तिकेय और उनकी रचनाएँ

कुमार या कार्तिकेयके सम्बन्धमे अभी तक निर्विवाद सामग्री उपलब्ध

किये हैं। विविध दशाओमे आयी हुई ये अनुभूतियाँ मनोविज्ञानके एक प्रदर्शनी कक्षमे सुसज्जित की जा सकती हैं। आचार्यकी अभिव्यञ्जना-प्रतिभा न तो कथाकारके समान कल्पनात्मक ही है और न कविकी प्रतिभाके समान चमत्कारात्मक ही। तथ्य-निरूपणकी यथार्थ भूमिपर स्थित हो आचार्यने ससार, शरीर और भोगोकी निस्सारताको निदर्शना, दृष्टान्त, उदाहरण, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलङ्कारो द्वारा अभिव्यक्ताकर ग्राह्यता प्रदान की है। साहित्य-निर्माताके लिए मानव-प्रवृत्तियोंके विश्लेषण और प्रस्तुतीकरणमे जिस रागात्मकताकी आवश्यकता होती है वह रागात्मकता भी आचार्यमे विद्यमान है। शब्द और अर्थका ऐसा रुचिर योग कम ही स्थानो पर पाया जाता है। कतिपय गाथाओमे तो भावोका इतना सघन सन्निवेश विद्यमान है, जिससे अभिव्यजना-कौशलद्वारा भाव-स्फोटनकी क्रिया उपस्थित रहती है।

आचार्यने निदानका वर्णन करते हुए अपनी अभिव्यञ्जना-कलाका सुन्दर प्रस्तुतीकरण किया है। जिसके मनमे भोगका निदान है वह मुनि नटके समान अपने शील-व्रतका प्रदर्शन करता है। निदान करनेसे भोग-लालसा तृप्त नही हो सकती है। निदान बाँधनेवाला व्यक्ति अहर्निश भोग-वृत्तिको वृद्धिगत करता रहता है। यथा

सपरिग्गहस्स अव्वभचारिणो अविरदरस से मणसा।
काएण सील-वहण होदि हु णडसमणरूव व[1] ॥
रोग कखेज्ज जहा पडियारसुहस्स कारणा कोई।
तह अण्णेसदि दुक्ख सणिदाणो भोगतण्हाए[2] ॥
जह कोढिल्लो अग्गि तप्पतो णेव उवसम लभदि।
तह भोगे भुजतो खण पि णो उवसम लभदि[3] ॥
कच्छुं कडुयमाणो सुहाभिमाण करेदि जह दुक्खे।
दुक्खे सुहाभिमाण मेहुण-आदीहि कुणदि तहा[4] ॥

भोग निदान करनेवाले मुनिके मनमे विषयाभिलाषा है। अत वह परिग्रही है। उसका मन मैथुनकर्ममे प्रवृत्त होनेकी अभिलाषासे पराङ्मुख नही है। अत वह शरीरसे शील-व्रत धारण करनेवाले नटके समान अन्तरङ्गमे

---

१ मूलाराधना, शोलापुर सस्करण, गाथा न०–१२४५।
२. वही, गाथा न०–१२४६।
३. वही, गाथा न०–१२५१।
४ वही गाथा न०–१२५२।

मुनि-भावसे च्युत है। यहाँ निदर्शना द्वारा आचार्यने निदानकी निस्सारता व्यक्त की है। प्रस्तुत सन्दर्भमे दो वाक्यखण्ड है पहला वाक्य निदान बाँधनेवाला शीलधारी मुनि और दूसरा वाक्य शीलका अभिनय प्रदर्शित करनेवाला नट है। ये दोनो वाक्यखण्ड परस्परमे सापेक्ष हैं। अर्थके लिए दोनो एक दूसरेपर निर्भर है। साधारणत. दोनो वाक्यखण्ड असम्बद्ध दिखलाई पड़ते हैं, पर हैं दोनोमे अर्थसगति और इस अर्थसगतिका आधार है सादृश्ययोजना। इस प्रकार निदर्शनाद्वारा आचार्यने भावाभिव्यक्ति की है।

औषधि द्वारा जैसे कोई व्यक्ति नीरोग देखा जाता है, अत इस सुखाभिलाषासे कि औषधिका सेवन कर रोग-मुक्त हो जाऊँगा, अत रोगोत्पत्तिकी इच्छा करे, उसी प्रकार भोगकी लालसासे निदान करनेवाला मुनि भी दु खप्राप्तिकी इच्छा करता है। यहाँपर भी आचार्यने दो वाक्योकी योजना की है। प्रथम वाक्यमे सादृश्यमूलक उदाहरण है, जिसके द्वारा द्वितीय वाक्यकी पुष्टि हो रही है। इस गाथामे लक्षणा और व्यञ्जना शक्तियाँ भी समाविष्ट हैं। औषधिलाभकी आकाक्षासे कोई रोगोत्पत्ति नही करता। यदि वह रोगोत्पत्ति करता है तो उससे बढकर अन्य कोई बुद्धिहीन नही। इसी प्रकार भोगोपभोगोकी लालसासे प्रेरित होकर जो निदान करता है वह मुनि भी निर्बुद्धि ही है।

इस गाथामे दृष्टान्तालङ्कारकी योजना है। कुष्ठी मनुष्यके अग्नि-तापका उदाहरण देकर निदानकी असारता चित्रित की गयी है। जिस प्रकार कुष्ठी मनुष्य अग्निसे शरीर तपनेपर भी उपशमको प्राप्त नही होता, प्रत्युत वृद्धिगत होता है, उसी प्रकार विषयभोगोकी अभिलाषा भोग-शक्तिकी उपशामक नही, अपितु वर्धक है।

खुजलीरोगको नखोसे खुजलानेवाला मनुष्य अपनेको सुखी समझता है, उसी प्रकार स्पर्शन, आलिङ्गन आदि दु खोसे भी अपनेको सुखी मानता है।

उक्त दोनो गाथाओमे आचार्यने उदाहरणालङ्कारकी योजना की है। यहाँ यथा और तथा शब्द प्रयुक्त होकर भाव-साम्य उपस्थित करते हैं। उपमेय और उपमान इन दोनोमे बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव है। निदानजन्य भोगाभिलाषाको व्यर्थ सिद्ध करनेके लिए आचार्यने कुष्ठीका अग्नि-ताप एव कण्डूयमानताकी तुष्टि आदिके उदाहरण प्रयुक्त किये हैं। इस प्रकार धार्मिक विषयोको सरस और चमत्कृत बनानेके लिए अलङ्कृत शैलीका व्यवहार किया है।

कुमार या स्वामी कुमार अथवा कार्तिकेय और उनकी रचनाएँ

कुमार या कार्तिकेयके सम्बन्धमे अभी तक निर्विवाद सामग्री उपलब्ध

नही हुई है। हरिषेण, श्रीचन्द्र और ब्रह्मनेमिदत्तके कथाकोषोमे बताया गया है कि कार्तिकेयने कुमारावस्थामे ही मुनि-दीक्षा धारण की थी। इनकी बहनका विवाह रोहेड नगरके राजा क्रौञ्चके साथ हुआ था और उन्होने दारुण उपसर्ग सहन कर स्वर्गलोकको प्राप्त किया। ये अग्निनामक राजाके पुत्र थे।

'तत्त्वार्थवार्तिकमे'[1] अनुत्तरोपपादवशागके वर्णन-प्रसगमे दारुण उपसर्ग सहन करनेवालोमे कार्तिकेयका भी नाम आया है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि कार्तिकेय नामके कोई उग्र तपस्वी हुए हैं। ग्रन्थके अन्तमे जो प्रशस्ति-गाथाएँ दी गयी हैं वे निम्न प्रकार हैं

जिणवयणभावणट्ठं, सामिकुमारेण परमसद्धाए।
रइया अणुवेहाओ, चंचलमणरुंभणट्ठं च॥
वारसअणुवेक्खाओ, भणिया हु जिणागमाणुसारेण।
जो पढइ सुणइ भावइ, सो पावइ सासयं सोक्खं॥
तिहुयणपहाणसामिं, कुमारकालेण तवियतवयरणं।
वसुपुज्जसुयं मल्लिं, चरमतियं संथुवे णिच्चं[2]॥

यह अनुप्रेक्षानामक ग्रन्थ स्वामी कुमारने श्रद्धापूर्वक जिनवचनकी प्रभावना तथा चचल मनको रोकनेके लिए बनाया।

ये बारह अनुप्रेक्षाएँ जिनागमके अनुसार कहा हैं, जो भव्य जीव इनको पढता, सुनता और भावना करता है, वह शाश्वत सुख प्राप्त करता है। यह भावनारूप कर्त्तव्य अर्थका उपदेशक है। अत भव्य जीवोको इन्हे पढना, सुनना और इनका चिंतन करना चाहिए।

कुमार-कालमे दीक्षा ग्रहण करनेवाले वासुपूज्यजिन, मल्लिजिन, नेमिनाथ-जिन, पार्श्वनाथजिन एव वर्धमान इन पाँचो बाल-यतियोका मैं सदैव स्तवन करता हूँ।

इन प्रशस्ति-गाथाओसे निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते है

१ बारस अनुप्रेक्षाके रचयिता स्वामी कुमार हैं।

२. ये स्वामी कुमार बालब्रह्मचारी थे। इसी कारण इन्होने अन्त्य मगलके रूपमे पाँच बाल-यतियोको नमस्कार किया है।

३. चञ्चल मन एव विषय-वासनाओके विरोधकेलिए ये अनुप्रेक्षाएँ लिखी गई हैं।

१. तत्त्वार्थवार्तिक।

२ बारस अणुवेक्खा, गाथा न० ४८७, ४८८, ४८९।

मथुराके एक अभिलेखमे उच्चनागरके कुमारनन्दिका उल्लेख आया है
क्षुणे उच्चैर्नागरस्यार्य्यकुमारनन्दिशिष्यस्य मित्रस्य[1]।

एक अन्य अभिलेखमे भी कुमारनन्दिका नाम प्राप्त होता है[2]।

इन अभिलेखोमे कुमारनन्दिका नाम आया है और उन्हे नागर शाखाका आचार्य कहा है। इस शाखाका अस्तित्व ई० सन् की आरम्भिक शताब्दियोमे था और इस शाखाके आचार्योने सरस्वती-आन्दोलनमे ग्रन्थ-निर्माणका कार्य किया। अत कुमारनन्दि और स्वामी कुमार यदि एक व्यक्ति हो, तो उनका समय ई० सन् को आरम्भिक शताब्दी माना जा सकता है, पर अभी तक उपलब्ध प्रमाणोके आधारपर इन दोनोका अभिन्नत्व सिद्ध नही है।

सक्षेपमे यही कहा जा सकता है कि स्वामी कार्तिकेय प्रतिभाशाली, आगम-पारगामी और अपने समयके प्रसिद्ध आचार्य है। यो परम्परासे कार्तिकेयकी द्वादश अनुप्रेक्षाएँ मानी जाती है। इस ग्रन्थमे कही पर भी कार्तिकेयका नाम नही आया है और न ग्रन्थको ही कार्तिकेयानुप्रेक्षा कहा गया है। ग्रन्थके प्रतिज्ञा[3] और समाप्ति वाक्योमे ग्रन्थका नाम सामान्यत 'अणुपेहा' या 'अणुपेक्खा' और विशेषत. 'बारस अणुवेक्खा' नाम आया है। भट्टारक शुभचन्द्रने इस ग्रन्थपर विक्रम सवत् १६१३ (ई० सन् १५५६) मे सस्कृत टीका लिखी है। इस टीकामे अनेक स्थानोपर ग्रन्थका नाम कार्तिकेयानुप्रेक्षा दिया है और ग्रन्थकारका नाम कार्तिकेय मुनि प्रकट किया है।

बहुत सम्भव है कि कार्तिकेयशब्द कुमार या स्वामी कुमारका पर्यायवाची यहाँ व्यवहृत किया गया हो। यह सत्य है कि शुभचन्द्र भट्टारकके पूर्व अन्य किसी भी ग्रन्थमे बारस-अणुवेक्खाके रचयिताका नाम कार्तिकेय नही आया है। शुभचन्द्रने ३९४ सख्यक गाथाकी टीकामे कार्तिकेय मुनिका उदाहरण प्रस्तुत किया है। लिखा है "स्वामीकार्तिकेयमुनि क्रौञ्चराजकृतोपसर्गं सोढ्वा साम्यपरिणामेन समाधिमरणेन देवलोक प्राप्त।" स्पष्ट है कि स्वामी कार्तिकेय मुनि क्रौञ्चराजकृत उपसर्गको समभावसे सहकर समाधिपूर्वक मरणके द्वारा देवलोकको प्राप्त हुए।

भगवती आराधनाकी गाथा-सख्या १५४९ मे क्रौञ्च द्वारा उपसर्गको प्राप्त हुए एक व्यक्तिका निर्देश आया है। साथमे उपसर्गस्थान रोहेडक और शक्ति

१ जैन शिलालेख सग्रह, द्वितीयभाग, मथुरा अभिलेख सख्या—६४, पृ०-४५।

२ वही, अभिलेख-१२१, पृ० १११—१२।

३. स्वामिकार्तिकेयो मुनीन्द्रो अनुप्रेक्षाव्याख्यातुकामः। गाथा न०—१।

हथियारका भी उल्लेख है। पर कार्तिकेय नामका स्पष्ट निर्देश नही है। उस व्यक्तिको 'अग्निदयित' लिखा है, जिसका अर्थ अग्निप्रिय है। मूलाराधना-दर्पणमे लिखा है "रोहेडयम्मि रोहेटकनाम्नि नगरे। सत्तीए शक्त्या शस्त्र-विशेषेण क्रौंचनाम्ना राज्ञा। अग्गिदइदो अग्निराजनाम्नो राज्ञ पुत्र कार्तिकेय-सज्ञ।"[1] अर्थात् रोहेडनगरमे क्रौंच राजाने अग्निराजाके पुत्र कार्तिकेय मुनिको शक्तिनामक शस्त्रसे मारा था और मुनिराजने उस दुखको समतापूर्वक सहनकर रत्नत्रयकी प्राप्ति की थी। इस टीकासे प्रकट होता है कि कार्तिकेयने कुमारावस्थामे मुनिदीक्षा ली थी। बताया गया है कि कार्तिकेयकी बहन रोहेड नगरके क्रौंच राजाके साथ विवाहित थी। राजा किसी कारणवश कार्तिकेयसे असन्तुष्ट हो गया और उसने कार्तिकेयको दारुण उपसर्ग दिये। इन उपसर्गोको समतासे सहनकर कार्तिकेयने देवलोक प्राप्त किया। इस कथाके आधारपर इतना तो स्पष्ट है कि इस ग्रन्थके रचयिता कार्तिकेय सम्भव है और ग्रन्थका नाम भी कार्तिकेयानुप्रेक्षा कल्पित नही है।

समय-निर्धारण

मूलाचार, भगवती-आराधना और कुन्दकुन्दकृत 'बारह अणुवेक्खा'मे बारह भावनाओका क्रम और उनका प्रतिपादक गाथाएँ एक ही है। यहाँतक कि उनके नाम भी एक ही है। किन्तु कार्तिकेयकी 'बारहअणुवेक्खा'मे न वह क्रम है और न वे नाम है। इसमे क्रम और नाम तत्त्वार्थसूत्रकी तरह है। तत्त्वार्थसूत्रमे[2] अनित्य, अशरण, ससार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, सवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म इस क्रम तथा नामोसे १२ भावनाएँ आयी है। ठीक यही क्रम और नाम कार्तिकेयकी 'अणुवेक्खामे है। अतएव इस भिन्नतासे कार्तिकेय न केवल वट्टकेर, शिवार्य और कुन्दकुन्दके उत्तरवर्ती प्रतीत होते है, अपितु तत्त्वार्थसूत्रकारके भी उत्तरवर्ती जान पडते है।

परन्तु यहाँ कहा जा सकता है कि तत्त्वार्थसूत्रकारके समक्ष भी कोई क्रम रहा है, तभी उन्होने अपने ग्रन्थमे उस क्रमको निबद्ध किया है। साथ ही यह भी सम्भावना है कि भावनाओके दोनो ही क्रम प्रचलित रहे हो, एक क्रमका कुन्दकुन्द, शिवार्य, वट्टकेर आदिने अपनाया और दूसरे क्रमको स्वामी कार्तिकेय, गृद्धपिच्छ आदिने। अत भावनाक्रमके अपनानेके आधारपर कार्तिकेयके समयका

१ भगवती आराधनाकी मूलाराधना-दर्पणटीका, सोलापुर सस्करण, गाथा १५४९। पृ० १४४३।

२ त० सू० ९-७।

निर्धारण नही किया जा सकता और न उनके 'बारह अणुवेक्खा' ग्रन्थको अर्वाचीनता ही सिद्ध की जा सकती है।

स्वामि कार्तिकेयके समयका विचार करते हुए डॉ० ए० एन० उपाध्येने 'बारस-अणुवेक्खा'का अन्त परीक्षणकर बतलाया है कि इस ग्रन्थकी २७९ वी गाथामे 'णिसुणहि' और 'भावहि' ये दो पद अपभ्रशके आ घुसे हैं, जो वर्तमान-काल तृतीय पुरुषके बहुवचनके रूप हैं। यह गाथा 'जोइन्दु'के योगसारके ६५ वें दोहेके साथ मिलती-जुलती है और दोहा तथा गाथा दोनोका भाव भी एक है। अतएव इस गाथाको 'जोइन्दु' के दोहेका परिवर्तित रूप माना जा सकता है। यथा

विरला जाणहिं तत्तु बहु विरला णिसुणहिं तत्तु।
विरला झायहिं तत्तु जिय विरला धारहिं तत्तु[1]॥

× × × ×

विरला णिसुणहि तच्च विरला जाणति तच्चदो तच्च।
विरला भावहि तच्च विरलाण धारणा होदि[2]॥

अत इन दोनो सन्दर्भोंके तुलनात्मक अध्ययनके आधारपर कार्तिकेयका समय जोइन्दुके पश्चात् होना चाहिए।

श्री जुगलकिशोर मुख्तारने डॉ० उपाध्येके इस अभिमतका परीक्षण करते हुए लिखा है कि "यह गाथा कार्तिकेय द्वारा लिखित नही है। जिस लोक-भावनाके प्रकरणमे यह आयी है, वहाँ इसकी सगति नही बैठती।" आचार्य मुख्तारने अपने कथनको पुष्टिके लिए गाथाओका क्रम भी उपस्थित किया है। उन्होने लिखा है—"स्वामीकुमारने ही योगसारके दोहेको परिवर्तित करके बनाया है, समुचित प्रतीत नही होता खासकर उस हालतमे जबकि ग्रन्थ-भरमे अपभ्रश भाषाका और कोई प्रयोग भी न पाया जाता हो। बहुत सम्भव है कि किसी दूसरे विद्वानने दोहेको गाथाका रूप देकर उसे अपनी ग्रन्थ-प्रतिमे नोट किया हो, और यह भी सम्भव है कि यह गाथा साधारणसे पाठभेदके साथ अधिक प्राचीन हो, और योगेन्दुने ही इसपरसे थोडेसे परिवर्तनके साथ अपना उक्त दोहा बनाया हो, क्योकि योगेन्दुके परमार्थप्रकाश आदि ग्रन्थोमे और भी कितने ही दोहे ऐसे पाये जाते हैं, जो भावपाहुड तथा समाधितन्त्रादिके पद्योपरसे परिवर्तन करके बनाये गये है और जिसे डॉ० साहबने स्वय स्वीकार

१ योगसार, पद्य सख्या ६५।

२. कार्तिकेय, बारसणुअवेक्खा, गाथा न० २७९।

किया है, जब कि स्वामीकुमारके इस ग्रन्थकी ऐसी कोई बात अभी तक सामने नही आयी।"[1]

आचार्य मुख्तार साहबका यह निष्कर्ष उचित मालूम होता है, क्योंकि योगसारका विषय क्रमबद्ध रूपसे नही है। इसमे कुन्दकुन्दकी अनेक गाथाओका रूपान्तरण मिलता है। कुन्दकुन्दने कर्मविमुक्त आत्माको परमात्मा बतलाते हुए, उसे ज्ञानी, परमेष्ठी, सर्वज्ञ, विष्णु, चतुर्मुख और बुद्ध कहा है। योगसारमे भी उसके जिन, बुद्ध, विष्णु, शिव आदि नाम बतलाये[2] हैं। इसके अतिरिक्त जो इन्दुने कुन्दकुन्दके समान ही निश्चय और व्यवहार नयो द्वारा आत्माका कथन किया है। योगसार और परमार्थप्रकाश इन दोनोका विषय समान होने पर भी योगसार सग्रहग्रन्थ जैसा प्रतीत होता है। इसमे कई तथ्य छूट भी गये हैं। दोहा ९९-१०३ द्वारा सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसाम्पराय सयमका स्वरूप बतलाया है। यहाँ यथाख्यात चारित्रका स्वरूप छूट गया है। अतएव योगसारके दोहेका परिवर्तित रूप कार्तिकेयानुप्रेक्षामे होनेके आधारपर कार्तिकेयको अर्वाचीन बताना युक्त नही है।

आचार्य जुगलकिशोर मुख्तारने समय-निर्णय करते हुये लिखा है "मेरी समझमे यह ग्रन्थ उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रसे अधिक बादका नही, उसके निकटवर्ती किसी समयका होना चाहिये, और उसके कर्ता वे अग्निपुत्र कार्ति-केय मुनि नही हैं, जो साधारणत इसके कर्ता समझे जाते हैं, और क्रौंच राजाके द्वारा उपसर्गको प्राप्त हुए थे, बल्कि स्वामीकुमार नामके आचार्य ही हैं, जिस नामका उल्लेख उन्होने स्वय 'अन्त्यमगल'की गाथामे श्लेष रूपसे किया[3] है"।

आचार्य जुगलकिशोर मुख्तारके उक्त मतसे यह निष्कर्ष निकलता है कि कार्त्तिकेय गृद्धपिच्छके समकालीन अथवा कुछ उत्तरकालीन हैं। अर्थात् वि० स० की दूसरी-तीसरी शती उनका समय होना चाहिए।

रचना

द्वादशानुप्रेक्षामे कुल ४८९ गाथाएँ है। इनमे अध्रुव, अशरण, ससार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, सवर, निर्जरा, लोक, बोधदुर्लभ और धर्म इन बारह अनुप्रेक्षाओका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। प्रसंगवश जीव,

१ जैन साहित्य और इतिहासपर विशद प्रकाश, पृ० ४९९।

२ भावपाहुड, गाथा १४९ तथा योगसार पद्य ९।

३ जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृ० ५००।

अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्वोका स्वरूप भी वर्णित है। जीवसमास तथा मार्गणाके निरूपणके साथ, द्वादशव्रत, पात्रोके भेद, दाताके सात गुण, दानकी श्रेष्ठता, माहात्म्य, सल्लेखना, दश धर्म, सम्यक्त्वके आठ अग, बारह प्रकारके तप एव ध्यानके भेद-प्रभेदोका निरूपण किया गया है। आचार्यका स्वरूप एव आत्मशुद्धिकी प्रक्रिया इस ग्रन्थमे विस्तारपूर्वक वर्णित है।

अध्रुवानुप्रेक्षामे ४-२२ गाथाएँ है। अशरणानुप्रेक्षामे २३-३१, ससारानुप्रेक्षामे ३२-७३, एकत्वानुप्रेक्षामे ७४-७९, अन्यत्वानुप्रेक्षामे ८०-८२, अशुचित्वानुप्रेक्षामे ८३-८७, आस्रवानुप्रेक्षामे ८८-९४, सवरानुप्रेक्षामे ९५-१०१, निर्जरानुप्रेक्षामे १०२-११४, लोकानुप्रेक्षामे ११५-२८३, बोधिदुर्लभानुप्रेक्षामे २८४-३०१ एव धर्मानुप्रेक्षामे ३०२-४३५ गाथाएँ हैं। ४३६ गाथासे अन्ततक द्वादश तपोका वर्णन आया है। अध्रुवानुप्रेक्षामे समस्त वस्तुओकी अनित्यता बतलाते हुए वस्तुका स्वरूप सामान्यविशेषात्मक कहा है। सामान्य द्रव्यरूप है, और विशेष गुण-पर्यायरूप। द्रव्यरूपसे वस्तु नित्य है किन्तु पर्यायकी अपेक्षासे वस्तु अनित्य है। यह ससारका प्राणी पर्यायबुद्धि है, जिससे पर्यायोको उत्पन्न और नष्ट होते देखकर हर्ष-विषाद करता है, और उसको नित्य रखना चाहता है। यह शरीर जीव-पुद्गलका सयोग जनित पर्याय है धन-धान्यादिक पुद्गल परमाणुओकी स्कन्ध पर्याय है। इनके सयोग और वियोग नियमसे अवश्य है, जो स्थिरताकी बुद्धि करता है, वह मोहजनित भावके कारण सक्लेश प्राप्त करता है।

ससारकी समस्त अवस्थाएँ विरोधी भावोसे युक्त हैं। जब जन्म होता है, तब उसे स्थिर समझकर हर्ष उत्पन्न होता है, मरण होनेपर नाश मानकर शोक करता है। इस प्रकार इष्टकी प्राप्तिमे हर्ष, अप्राप्तिमे विषाद तथा अनिष्ट प्राप्तिमे विषाद, अप्राप्तिमे हर्ष करता है, यह भी सब मोहका माहात्म्य है। आचार्य सादृश्यमूलक उपमा प्रस्तुतकर परिवार, बन्धुवर्ग, स्त्री, पुत्र, मित्र, धनधान्यादिकी अनित्यताका चित्रण करते हुए कहते है

अथिरं परियण-सयण, पुत्त-कलत्त सुमित्त-लावण्ण।
गिह-गोहणाइ सव्व, णव-घण-विंदेण सारित्थ[1]॥

परिवार, बन्धुवर्ग, पुत्र, स्त्री, मित्र, सौन्दर्य, गृह, धन, पशु सम्पत्ति इत्यादि सभी वस्तुएँ नवीन मेघ-समूहके समान अस्थिर है। इन्द्रियोके विषय, भृत्य, अश्व, गज, रथ आदि सभी पदार्थ इन्द्रधनुषके समान अस्थिर हैं।

पुण्यके उदयसे प्राप्त होने वाली चक्रवर्तीकी लक्ष्मी भी नित्य नही हैं, तब

१ स्वामिकुमार, द्वादशानुप्रेक्षा, गाथा ६।

वह पुण्यहीन अथवा अल्पपुण्यवाले व्यक्तियोसे कैसे प्रेम करेगी ? कविने इसी को समझाते हुए लिखा है

> कत्थ वि ण रमइ लच्छी, कुलीण-धीरे वि पडिए सूरे।
> पुज्जे धम्मिट्ठे वि य, सरूव-सुयणे महासत्ते[1]॥

अर्थात् यह लक्ष्मी कुलवान, धैर्यवान, पडित, सुभट, पूज्य, धर्मात्मा, रूपवान, सुजन, महापराक्रमी इत्यादि किसी भी पुरुषसे प्रेम नही करती, यह जलकी तरगोके समान चचल है। इसका निवास एक स्थानपर अधिक समय तक नही रहता। इस प्रकार आचार्य स्वामिकुमारने ससार, शरीर, भोग और लक्ष्मीकी अस्थिरताके चिन्तनको अध्रुवानुप्रेक्षा कहा है।

अशरण भावनामे बताया है कि मरण करते समय कोई भी प्राणीको शरण नही। जिसप्रकार वनमे सिंह मृगके बच्चेको जब पैरके नीचे दबा लेता है, तब कोई भी उसकी रक्षा नही कर सकता। देव, मन्त्र, तन्त्र, क्षेत्रपाल आदि सभी मृत्युसे रक्षा करनेमे असमर्थ हैं। रक्षा करनेके लिए जितने उपाय किये जाते हैं, वे सब व्यर्थ सिद्ध होते हैं। आयुके क्षय होनेपर कोई एक क्षणके लिए भी आयुदान नही सकता।

> आउक्खयेण मरण आउ दाउ ण सक्कदे को वि।
> तम्हा देविंदो वि य, मरणाउ ण रक्खदे को[2] वि॥

आयुकर्मके क्षयसे मरण होता है और आयुकर्मको कोई देनेमे समर्थ नही, अतएव देवेन्द्र भी मृत्युसे किसीको रक्षा नही कर सकता है। इस प्रकार अशरणरूप चिन्तनका समावेश अशरण-भावनामे होता है।

ससार-अनुप्रेक्षामे बताया है कि ससार-परिभ्रमणका कारण मिथ्यात्व और कषाय है। इन दोनोके निमित्तसे ही जीव चारो गतियोमे परिभ्रमण करता है। हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म और परिग्रहरूप भावनाके कारण विभिन्न गतियोमे इस जीवको परिभ्रमण करना पडता है। आचार्यने इस भावनामे चतुर्गतिके दु खोका वर्णन भी सक्षेपमे किया है। मनुष्यगतिके दु खोका प्रतिपादन करते हुए ससार स्वभावका विश्लेषण यिश्लेषण किया है

> कस्स वि दुट्ठकलित्त, कस्स वि दुव्वसणवसणिओ पुत्तो।
> कस्स वि अरिसमबधू, कस्स वि दुहिदा वि दुच्चरिया॥

१. वही, गाथा ११।
२. स्वामिकुमार, द्वादशानुप्रेक्षा, गाथा २८।

मरदि सुपुत्तो कस्स वि, कस्स वि महिला विणस्सदे इट्ठा ।
कस्स वि अग्गीपलित्त, गिह कुडंब च डज्झेई[1] ॥

ससारमे सुख नही है। इस मनुष्यगतिमे नानाप्रकारके दु ख हैं। किसीको स्त्री दुराचारिणी है, किसीका पुत्र व्यसनी है, किसीका भाई शत्रुके समान कलहकारी है। एव किसीकी पुत्री दुश्चरित्रा है। इस प्रकार ससारकी विषम परिस्थिति मनुष्यको सुखका कण भी प्रदान नही करती है।

किसीके पुत्रका मरण हो जाता है, किसीकी भार्याका मरण हो जाता है और किसीके घर एव कुटुम्ब जलकर भस्म हो जाते हैं। इसप्रकार मनुष्यगतिमे अनेक प्रकारके दु खोको सहन करता हुआ यह जीव धर्माचरणबुद्धिके अभावके कारण कष्ट प्राप्त करता है। मनुष्यगतिकी तो बात ही क्या, देवगतिमे भी नानाप्रकारके दु ख इस प्राणीको सहन करने पडते हैं। इसप्रकार ससारानुप्रेक्षामें ससारके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पचपरावर्तनोका वर्णन आया है।

एकत्वानुप्रेक्षामे बताया गया है कि जीव अकेला ही उत्पन्न होता है और अकेला ही नाना प्रकारके कष्टोको सहन करता है। नानाप्रकारकी पर्याएँ यह जीव धारणकर सासारिक कष्टोको भोगता है। रोग, शोक जन्य अनेक प्रकारके कष्टोको अकेला ही भोगता है। पुण्यार्जनकर अकेला ही स्वर्ग जाता है और पापार्जन द्वारा अकेला ही नरक प्राप्त करता है। अपना दु ख अपनेको ही भोगना पडता है, उसका कोई भी हिस्सेदार नही है। इसप्रकार एकत्वभावनामे आचार्यने जीवको शरीरसे भिन्न बताया है

सव्वायरेण जाणह, एक्क जाव सरीरदो भिण्ण।
जम्हि दु मुणिदे जीवे, होदि असेस खणे हेय[2] ॥

अर्थात् सब प्रकारके प्रयत्नकर शरीरसे भिन्न अकेले जीवको अवगत करना चाहिये। यह जीव समस्त परद्रव्योसे भिन्न है। अत स्वय ही कर्त्ता और भोक्ता है। इसप्रकार एकत्वानुप्रेक्षामे अकेले जीवको ही कर्त्ता और भोक्ता होनेके चिन्तनका वर्णन किया है।

अन्यत्वानुप्रेक्षामे शरीरसे आत्माको भिन्न अनुभव करनेका वर्णन किया है। सभी वाह्य पदार्थ आत्मस्वरूपसे भिन्न हैं। आत्मा ज्ञानदर्शन सुखरूप है और यह ससारके समस्त पुद्गलादि पदार्थोंके स्वरूपसे भिन्न है। इसप्रकार अन्यत्वानुप्रेक्षामे आत्माके भिन्न स्वरूपके चिन्तनका कथन आया है।

१. स्वामिकुमार, द्वादशानुप्रेक्षा, गाथा ५३-५४।
२ वही, गाथा ७९।

अशुचित्वानुप्रेक्षामे शरीरको समस्त अपवित्र वस्तुओका समूह मानकर विरक्त होनेका सदेश दिया गया है। शरीर अत्यन्त अपवित्र है। इसके सम्पर्कमे आनेवाले चन्दन, कपूर, केसर आदि सुगन्धित पदार्थ भी दुर्गन्धित हो जाते हैं। अत इसकी अशुचिताका चिन्तन करना अशुचित्वानुप्रेक्षा है।

आस्रवानुप्रेक्षामे आस्रवके स्वरूप, कारण, भेद एव उसके महत्वके चिन्तन का वर्णन आया है। मन, वचन, कायका निमित्त प्राप्तकर जीवके प्रदेशोका चचल होना योग है, इसीको आस्रव कहते हैं। बन्धका कारण आस्रव है, मिथ्यात्व, अविरति प्रमाद, कषाय और योगके निमित्तसे बन्ध होता है। यह आस्रव पुण्य और पापरूप होता है। शुभास्रव पुण्यरूप है और अशुभास्रव पापरूप है। इसी सन्दर्भमे कषायोके तीव्र और मन्द भेदोका भी विवेचन आया है। आस्रवानुप्रेक्षामे आस्रवके स्वरूपका विचार करते हुये उससे अलिप्त रहने का उपदेश है।

सवरानुप्रेक्षामे सवरके स्वरूप और कारणोका विवेचन करते हुए सम्यक्त्व, व्रत, गुप्ति, समिति, अनुप्रेक्षा, परिषहजय आदिका चिन्तन आवश्यक माना है। इसी सन्दर्भमे आर्त और रौद्र परिणतिके त्यागका भी कथन किया है, जो व्यक्ति इन्द्रियोके विषयोसे विरक्त होता हुआ सवररूप परिणतिको प्राप्त करता है उसीके सवरभावना होती है।

निर्जराभावनाका विवेचन करते हुये बताया है कि जो अहकार रहित होकर तप करता है, उसीके निर्जरानुप्रेक्षा होती है। ख्याति, लाभ, पूजा और इन्द्रियो-के विषयभोग बन्धके निमित्त हैं। निदानरहित तप ही निर्जराका कारण है। आचार्यने प्रारम्भमे ही वैराग्य-भावनाकी उद्दीप्तिका वर्णन करते हुए कहा है

> वारसविहेण तवसा, णियाणरहियस्स णिज्जरा होदि।
> वेरग्गभावणादो, णिरहकारस्स णाणिस्स[1] ॥

निदानरहित, अहकाररहित, ज्ञानीके बारह प्रकारके तपसे तथा वैराग्य भावनासे निर्जरा होती है। समभावसे निर्जराकी वृद्धि होती है। निर्जरा दो प्रकारकी है सविपाक और अविपाक। कर्म अपनी स्थितिको पूर्णकर, उदय-रस देकर खिर जाते हैं उसे सविपाक निर्जरा कहते हैं। यह निर्जरा सब जीवोके होती है। और तपके कारण जो कर्म स्थिति पूर्ण हुये बिना ही खिर जाते हैं, वह अविपाक निर्जरा कहलाती है। सविपाक निर्जरा कार्यकारी नही है। अविपाक निर्जरा ही कार्यकारी है। अतएव इन्द्रियो और कषायोका निग्रह करके परम

१ स्वामिकुमार, द्वादशानुप्रेक्षा, गाथा १०२।

वीतरागभावरूप आत्मध्यानमे लीन होना उत्कृष्ट निर्जरा है।

लोकानुप्रेक्षामे लोकके स्वरूप और आकार-प्रकारका विस्तारसे वर्णन है। आकाशद्रव्यका क्षेत्र अनन्त है और उसके बहुमध्य देशमे स्थित लोक है। यह किसी-के द्वारा निर्मित नही है। जीवादि द्रव्योका परस्पर एक क्षेत्रावगाह होनेसे यह लोक कहलाता है। वस्तुत द्रव्योका समुदाय लोक कहा जाता है। लोक द्रव्य-की दृष्टिसे नित्य है, पर परिवर्तनशील पर्यायोकी अपेक्षासे परिणामी है। यह पूर्व-पश्चिम दिशामे नीचेके भागमे सात राजु चौडा है। वहाँसे अनुक्रमसे घटता हुआ मध्यलोकमे एक राजु रहता है। पुन ऊपर अनुक्रमसे बढता-बढता ब्रह्म स्वर्ग तक पाँच राजु चौडा हो जाता है, पश्चात् घटते-घटते अन्तमे एक राजु रह जाता है। इसप्रकार खडे किये गये डेढ मृदगकी तरह लोकका पूर्व-पश्चिम-मे आकार होता है। उत्तर-दक्षिणमे भी सात राजु विस्तार है। मेरुके नीचे भी सात राजु अधोलोक है। लोकशब्दका अर्थ बतलाते हुए लिखा है

दीसति जत्य अत्था जीवादीया स भण्णदे लोओ।
तस्स सिहरम्मि सिद्धा, अतविहीणा विरायते[1]॥

जहाँ जीवादिक पदार्थ देखे जाते हैं, वह लोक कहलाता है। लोकमे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छ द्रव्योका निवास है। इस अनु-प्रेक्षामे इन छहो द्रव्योका विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। लोकानुप्रेक्षामे द्रव्योंके स्वभाव-गुणको बतलाते हुये, शरीरसे भिन्न आत्माकी अनुभूति करनेका चित्रण किया है। इस भावनामे गुणस्थानोके स्वरूप और भेदोका भी कथन आया है तथा सप्त नयोकी अपेक्षासे जीवादि पदार्थोका विवेचन भी किया गया है।

बोधिदुर्लभभावनामे आत्मज्ञानकी दुर्लभतापर प्रकाश डाला गया है। आरम्भमे बतलाया गया है कि ससारमे समस्त पदार्थोकी प्राप्ति सुलभ है, पर आत्मज्ञानकी प्राप्ति होना अत्यन्त दुष्कर है। सम्यक्त्वके बिना आत्मज्ञान प्राप्त नही होता। जिसे मन्द कर्मोदयसे रत्नत्रय भी प्राप्त हो गया हो, वह व्यक्ति यदि तीव्र कषायके अधीन रहे, तो उसका रत्नत्रय नष्ट हो जाता है और वह दुर्गति-का पात्र बनता है। प्रथम तो मनुष्यगतिकी प्राप्ति ही दुर्लभ है और इस पर्यायके प्राप्त हो जानेपर भी सम्यक्त्वका मिलना दुष्कर है। सम्यक्त्वके प्राप्त होनेपर भी सम्यक् बोधका मिलना और भी कठिन है। इसप्रकार स्वामिकार्तिकेयने बोधिकी दुर्लभताका कथन करते हुये रत्नत्रयके स्वरूप आदि पर प्रकाश डाला है।

१ स्वामिकुमार, द्वादशानुप्रेक्षा, १२१।

धर्मानुप्रेक्षामे धर्मका यथार्थ स्वरूप अतीन्द्रिय बतलाया है। धर्मका वास्तविक रूप सर्वज्ञता है। सर्वज्ञताके अस्तित्वमे किसीप्रकारका सन्देह नही किया जा सकता है। इस धर्मानुप्रेक्षामे कर्मबन्धके चक्रवालका भी विश्लेषण आया है। बताया गया है कि सर्वज्ञदेव सब द्रव्य, क्षेत्र, काल भावोकी अवस्थाओको जानते हैं। सर्वज्ञके ज्ञानमे सब कुछ प्रकाशित होता है। उनके ज्ञानमे जिस प्रकारके पदार्थोकी पर्याये प्रतिबिम्बित होती हैं, उन पर्याय जन्य फल वैसा ही घटित होता है। उसमे कोई किसी प्रकारका परिवर्तन नही कर सकता है। निम्न दोनो गाथाओसे पर्यायोकी नियत स्थिति सिद्ध होती है

> ज जस्स जम्मि देसे, जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
> णाद जिणेण णियद, जम्म वा अहव मरणं वा॥
> त तस्स तम्मि देसे, तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
> को सक्कदि वारेदु, इदो वा अह जिणिदो वा॥[1]

जो जिस जीवके जिस देशमे, जिस कालमे, जिस विधानसे जन्म-मरण, दुख-सुख, रोग-दारिद्र आदि सर्वज्ञदेवके द्वारा जाने गये हैं, वे नियमसे ही उस प्राणीको उसी देशमे, उसी कालमे और उसी विधानसे प्राप्त होते हैं। इन्द्र, जिनेन्द्र या तीर्थंकरदेव अन्य कोई भी उसका निवारण नही कर सकते। इस प्रकारके निश्चयसे सब द्रव्य, जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन द्रव्यो और इनकी समस्त पर्यायोका जो श्रद्धान करता है, वह शुद्ध सम्यक्दृष्टि है। यह स्मरणीय है कि जीव मिथ्यात्वकर्मके, उपशम, क्षयोपशम या क्षयके बिना तत्त्वार्थको ग्रहण नही कर पाता। इसप्रकार धर्मानुप्रेक्षामे व्यवहारधर्म और निश्चयधर्मका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

१८६ गाथाओमे इस अनुप्रेक्षाका वर्णन आया है। अनशनादि बारह तप भी इसी वर्णनसदर्भमे समाविष्ट हैं। बारह व्रतोके निरूपणमे गुणव्रतो और शिक्षाव्रतोका क्रम वही है, जो कुन्दकुन्दके 'चारित्रपाहुड'मे पाया जाता है। भेद केवल इतना ही है कि अन्तिम शिक्षाव्रत सल्लेखना नही, किंतु देशावकाशिक ग्रहण किया गया है। यह गुणव्रतो और शिक्षाव्रतोकी व्यवस्था तत्त्वार्थसूत्रसे संख्याक्रममे भिन्न है, और श्रावकप्रज्ञप्तिकी व्यवस्थाके तुल्य है।

इस प्रकार धर्मानुप्रेक्षामे तपो और व्रतोका विस्तारपूर्वक कथन आया है। श्रावकधर्म और मुनिधर्मको सक्षेपमे अवगत करनेके लिए यह ग्रन्थ उपयोगी है।

१ स्वामिकुमार, द्वादशानुप्रेक्षा, गाथा ३२१, ३२२।

रचना-प्रतिभा

स्वामी कार्तिकेयकी रचना-शक्ति शिवार्य और कुन्दकुन्दके समान है। विषयको सरल और सुवोध वनानेके लिए उपमानोका प्रयोग पद-पदपर किया गया है। लेखक जिस तथ्यका प्रतिपादन करना चाहता है, उस तथ्यको बडी ही दृढताके साथ उपस्थित कर देता है। प्रश्नोत्तर-शैलीमे लिखी गयी गाथाएँ तो विशेष रोचक और महत्त्वपूर्ण है। यहाँ उदाहरणार्थ दो गाथाओंको उपस्थित कर लेखककी रचना-प्रतिभाका परिचय प्रस्तुत किया जाता है

को ण वसो इत्थिजणे, कस्स ण मयणेण खडियं माणं।
को इंदिएहिं ण जियो, को ण कसाएहिं संतत्तो॥

सो ण वसो इत्थिजणे, सो ण जिओ इंदिएहिं मोहेण।
जो ण य गिण्हदि गथं, अब्भंतर बाहिर सव्वं॥[1]

इस लोकमे स्त्रीजनके वशमे कौन नही? कामने किसका मान खण्डित नही किया? इन्द्रियोने किसे नही जीता और कषायोसे कौन सतप्त नही हुआ? ग्रन्थकारने इन समस्त प्रश्नोका उत्तर तर्कपूर्ण और सुबोध शैलीमे अकित किया है। वह कहता है, जो मनुष्य वाह्य और आभ्यन्तर समस्त परिग्रहको ग्रहण नही करता, वह मनुष्य न तो स्त्रीजनके वशमे होता है, न कामके अधीन होता है और न मोह और इन्द्रियोके द्वारा ही जीता जा सकता है।

इस ग्रन्थकी अभिव्यजना वडी ही सशक्त है। ग्रन्थकारने छोटी-सी गाथामे वड़े-वडे तथ्योको सजो कर सहजरूपमे अभिव्यक्त किया है। भाषा सरल और परिमार्जित है। शैलीमे अर्थसौष्ठव, स्वच्छता, प्रेषणीयता, सूत्रात्मकता अलकारात्मकता समवेत है।

गृद्धपिच्छाचार्य

परिचय

तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता आचार्य गृद्धपिच्छ है। इनका अपरनाम उमास्वामी या उमास्वाति भी प्राप्त होता है। आचार्य वीरसेनने जीवस्थानके काल अनुयोगद्वारमे तत्त्वार्थसूत्र और उसके कर्त्ता गृद्धपिच्छाचार्यके नामोल्लेखके साथ उनके तत्त्वार्थसूत्रका एक सूत्र उद्धृत किया है

'तह गिद्धपिछाइरियप्पयासिदतच्चत्थसुत्ते वि "वर्तनापरिणामक्रिया पर-

१. स्वामिकुमार, द्वादशानुप्रेक्षा, गाथा २८१।२८२।

त्वापरत्वे च कालस्य''इदि दव्वकालो परूविदो' ।[1]

इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता गृद्धपिच्छाचार्य हैं। इस नामका समर्थन आचार्य विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकसे भी होता है

'एतेन गृद्धपिच्छाचार्यपर्यन्तमुनिसूत्रेण व्यभिचारता निरस्ता' ।[2]

यहाँ विद्यानन्दने भी तत्त्वार्थसूत्रके कर्त्ताका नाम गृद्धपिच्छाचार्य बतलाया है।

तत्त्वार्थसूत्रके किसी टीकाकारने भी निम्न पद्यमे तत्त्वार्थसूत्रके रचयिताका नाम गृद्धपिच्छाचार्य दिया है

'तत्त्वार्थसूत्रकर्त्तारं गृद्धपिच्छोपलक्षितम् ।
वन्दे गणीन्द्रसजातमुमास्वामिमुनीश्वरम् ॥[3]'

इसमे गृद्धपिच्छाचार्य नामके साथ उनका दूसरा नाम 'उमास्वामिमुनीश्वर' भी बतलाया गया है। वादिराजने भी अपने पार्श्वनाथचरित्रमे गृद्धपिच्छ नामका उल्लेख किया है

'अतुच्छगुणसम्पातं गृद्धपिच्छं नतोऽस्मि तम् ।
पक्षीकुर्वन्ति यं भव्या निर्वाणायोत्पतिष्णव ॥'[4]

आकाशमे उडनेकी इच्छा करनेवाले पक्षी जिस प्रकार अपने पंखोका सहारा लेते हैं उसी प्रकार मोक्षरूपी नगरको जानेके लिए भव्यलोग जिस मुनीश्वरका सहारा लेते हैं उस महामना अगणित गुणोके भण्डारस्वरूप गृद्धपिच्छ नामक मुनिमहराजके लिए मेरा सविनय नमस्कार है।

इन प्रमाणोल्लेखोंसे स्पष्ट है कि तत्वार्थसूत्रके कर्त्ता गृद्धपिच्छाचार्य हैं।

श्रवणवेलगोलाके एक अभिलेखमे गृद्धपिच्छ नामकी सार्थकता और कुन्दकुन्दके वशमे उनकी उत्पत्ति बतलाते हुए उनका उमास्वाति नाम भी दिया है। यथा

अभूदुमास्वातिमुनि पवित्रे वशे तदीये सकलार्थवेदी ।
सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुङ्गवेन ॥

१ षट्खण्डागम, धवला टीका, जीवस्थान, काल अनुयोगद्वार, पृ० ३१६ ।
२. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ६ ।
३ तत्त्वार्थसूत्रकी अनेक प्रतियोंके अन्तमें उपलब्ध पद्य ।
४ पार्श्वनाथचरित १।१६ ।

स प्राणिसंरक्षणसावधानो बभार योगी किल गृद्ध्रपक्षान् ।
तदा प्रभृत्येव बुधा यमाहुराचार्यशब्दोत्तरगृद्ध्रपिच्छम् ॥[1]

अन्य शिलालेखमें भी गृद्धपिच्छका उल्लेख प्राप्त होता है

अभूदुमास्वातिमुनीश्वरोऽसावाचार्यशब्दोत्तरगृद्ध्रपिच्छ ।
तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाशेषपदार्थवेदी[2] ॥

आचार्य कुन्दकुन्दके पवित्र वंशमे सकलार्थके ज्ञाता उमास्वाति मुनीश्वर हुए, जिन्होंने जिनप्रणीत द्वादशांगवाणीको सूत्रोंमे निबद्ध किया । इन आचार्यने प्राणिरक्षाके हेतु गृद्धपिच्छोंको धारण किया । इसी कारण वे गृद्धपिच्छाचार्यके नामसे प्रसिद्ध हुए । अभिलेखीय प्रमाणमे गृद्धपिच्छाचार्यको श्रुतकेवलिदेशीय भी कहा गया है । इससे उनका आगमसम्बन्धी सातिशय ज्ञान प्रकट होता है ।

तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता गृद्धपिच्छाचार्यका उल्लेख श्रवणबेलगोलाके अभिलेखोंमे ४०, ४२, ४३, ४७ और ५० संख्यकमे भी पाया जाता है । अभिलेखसंख्या-१०५ और १०८ मे तत्त्वार्थसूत्रके कर्त्ताका नाम उमास्वाति भी आया है और गृद्धपिच्छ उनका दूसरा नाम बतलाया है । यथा

श्रीमानुमास्वातिरयं यतीशस्तत्त्वार्थसूत्रं प्रकटीचकार ।
यन्मुक्तिमार्गाचरणोद्यतानां पाथेयमर्घ्यं भवति प्रजानां ॥

तस्यैव शिष्योऽजनि गृद्ध्रपिच्छ-द्वितीयसंज्ञस्य बलाकपिच्छः ।
यत्सूक्तिरत्नानि भवन्ति लोके मुक्त्यङ्गनामोहनमण्डनानि[3] ॥

यतियोंके अधिपति श्रीमान् उमास्वातिने तत्त्वार्थसूत्रको प्रकट किया, जो मोक्षमार्गके आचरणमे उद्यत मुमुक्षुजनोंके लिए उत्कृष्ट पाथेय है । उन्हींका गृद्धपिच्छ दूसरा नाम है । इन गृद्धपिच्छाचार्यके एक शिष्य बलाकपिच्छ थे, जिनके सूक्तिरत्न मुक्त्यङ्गनाके मोहन करनेके लिए आभूषणोंका काम देते हैं ।

इस प्रकार दिगम्बर साहित्य और अभिलेखोंका अध्ययन करनेसे यह ज्ञात होता है कि तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता गृद्धपिच्छाचार्य, अपरनाम उमास्वामि या उमास्वाति हैं ।

कुछ विद्वानोंने तत्त्वार्थसूत्रका रचयिता कुन्दकुन्दको माना है । आचार्य

१ जैनशिलालेखसंग्रह, प्रथम भाग, अभिलेखसं० १०८, पृ० २१०-११ ।
२ जैनशिलालेखसंग्रह, प्रथम भाग, अभिलेखसंख्या-४३, पृ० ४३ ।
३ वही, अभिलेखसंख्या-१०५, पृ० १९८ ।

श्री जुगलकिशोर मुख्तारने इस मतकी समीक्षा की है।[1]

तत्त्वार्थसूत्रके रचयिताके सम्बन्धमे एक अन्य मत यह है कि वाचक उमास्वाति इस सूत्रग्रन्थके रचयिता हैं। पण्डित सुखलालजीने तत्त्वार्थसूत्र (विवेचन) की प्रस्तावनामे वाचक उमास्वातिको तत्त्वार्थसूत्रका कर्त्ता माना है, गृद्धपिच्छ उमास्वातिको नही। वे कहते है कि गृद्धपिच्छ उमास्वाति नामके आचार्य हुए अवश्य है, पर उन्होने तत्त्वार्थसूत्र या तत्त्वार्थाधिगम शास्त्रकी रचना नही की है। उन्होने इस सूत्रग्रन्थका उल्लेख 'तत्त्वार्थाधिगम' शास्त्रके नामसे किया है। पर यह नाम तत्त्वार्थसूत्रका न होकर उसके 'तत्त्वार्थाधिगम' भाष्यका है।

तत्त्वार्थाधिगमभाष्यकी रचनाके पूर्व तत्त्वार्थसूत्रपर अनेक टीकाएँ लिखी जा चुकी थी। सर्वार्थसिद्धिका निम्न सूत्र तत्त्वार्थाधिगम भाष्यमे कुछ परिवर्तनके साथ पाया जाता है, जिससे भाष्यकी सर्वार्थसिद्धिसे उत्तरकालीनता अवगत होती है

(क) 'मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु'।[2]

(ख) मतिश्रुतयोर्निबन्ध सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु।[3]

यहाँ तत्त्वार्थाधिगमभाष्यमे सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठकी अपेक्षा द्रव्यपदके साथ विशेषणरूपसे 'सर्व' पद स्वीकार किया गया है। किन्तु जब वे ही भाष्यकार इस सूत्रके उत्तरार्धको १।२० के भाष्यमे उद्धृत करते है तो उसका रूप सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ ले लेता है। यथा 'अत्राह- मतिश्रुतयोस्तुल्यविषयत्व वक्ष्यति "द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु"[4] इति।'

इससे ज्ञात होता है कि भाष्यके पूर्व तत्त्वार्थसूत्रपर सर्वार्थसिद्धि-टीका लिखी जा चुकी थी और उसमे तत्त्वार्थसूत्रका एक सूत्रपाठ निर्धारित किया जा चुका था। सिद्धसेनगणि और हरिभद्रने भी तत्त्वार्थाधिगमभाष्यके इस अशको इसी रूपमे स्वीकार किया है। अब प्रश्न यह है कि तत्त्वार्थाधिगमभाष्यकारने जब उल्लिखित सूत्रके उत्तरार्धका 'सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु' पाठ स्वीकार किया, तब उसे उद्धृत करते समय उसमेसे 'सर्व' पद क्यो छोड दिया ? यदि 'सर्व' पदकी 'द्रव्य' पदके विशेषणके रूपमे आवश्यकता थी तो उन्होने उद्धृत करते समय क्यो नही इस बातका ध्यान रखा ? यह ऐसा प्रश्न

१ जैन साहित्य और इतिहासपर विशद प्रकाश, पृ० १०२-१०५।

२. सर्वार्थसिद्धि, १।२६।

३ तत्त्वार्थाधिगमभाष्य—१।२७।

४ वही, १।२० भाष्य।

है, जिसकी उपेक्षा नही की जा सकती। बहुत सम्भव है कि उन्होंने प्राचीन सूत्रपाठकी परम्पराको ध्यानमे रखकर ही प्रथम अध्यायके २०वें सूत्रके भाष्यमे उसे दिया, जो सर्वार्थसिद्धिमे उपलब्ध था। इससे विदित होता है कि तत्त्वार्थाधिगमभाष्य लिखते समय वाचक उमास्वातिके समक्ष सर्वार्थसिद्धि अथवा उसमे मान्य सूत्रपाठ रहा है।

अर्थविकासकी दृष्टिसे विचार करनेपर प्रतीत होगा कि तत्त्वार्थाधिगम-भाष्यको सर्वार्थसिद्धिके बाद लिखा गया है। कालके उपकारप्रकरणमे सर्वार्थ-सिद्धिमे परत्व और अपरत्व ये दो ही भेद किये गये है, जबकि तत्त्वार्थाधिगम-भाष्यमे उसके तीन भेद उपलब्ध होते है। अतएव प्रज्ञाचक्षु पण्डित सुखलालजी-का यह अभिमत कि तत्त्वार्थसूत्रकार और तत्त्वार्थाधिगमभाष्यकार एक ही व्यक्ति हैं, समीचीन प्रतीत नही होता।

तत्त्वार्थसूत्रके दो सूत्रपाठ हो जानेपर भी ऐसे अधिकतर सूत्र हैं जो दोनो परम्पराओमे मान्य है और उनमे भी कुछ ऐसे सूत्र अपने मूलरूपमे उपलब्ध हैं, जिनके रचयिताकी स्थितिपर प्रकाश पड़ता है। पण्डित फूलचन्द्रजी शास्त्री-ने (१) तीर्थंकरप्रकृतिके बन्धके कारणोका प्रतिपादक सूत्र, (२) बाइस परीषहोका प्रतिपादक सूत्र, (३) केवलीजिनके ११ परिषहोके सद्भावका प्रतिपादक सूत्र और (४) एक जीवके एक साथ परीषहसख्याबोधक सूत्र इन चार सूत्रोको उपस्थित कर तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थाधिगमभाष्यके रचयिताओको भिन्न-भिन्न व्यक्ति सिद्ध किया है।[1] पण्डित फूलचन्द्रजीने 'उमास्वातिवाचकोपज्ञ-सूत्रभाष्ये' पदके पण्डित सुखलालजी द्वारा किये गये अर्थकी समीक्षा करते हुए लिखा है 'पण्डितजी, भाष्यकार और सूत्रकार एक ही व्यक्ति है इस पक्षमे उसका अर्थ लगानेका प्रयत्न करते हैं, किंतु इस पदका सीधा अर्थ है उमास्वातिवाचकद्वारा बनाया हुआ सूत्रभाष्य। यहाँ 'उमास्वातिवाचकोपज्ञ' पदका सम्बन्ध सूत्रसे न होकर उसके भाष्यसे है। दूसरा प्रमाण पण्डितजीने ९वें अध्यायके २२वें सूत्रकी सिद्धसेनीय टीका उपस्थित की है, किंतु यह प्रमाण भी सन्देहास्पद है, क्योकि सिद्धसेन गणिकी टीकाकी जो प्राचीन प्रतियाँ उप-लब्ध होती हैं उनमे "स्वकृतसूत्रसन्निवेशमाश्रित्योक्तम्" पाठके स्थानमे "कृतस्तत्र सूत्रसन्निवेशमाश्रित्योक्तम्" पाठ भी उपलब्ध होता है। बहुत सम्भव है कि किसी लिपिकारने तत्त्वार्थसूत्रका वाचक उमास्वाति कर्तृत्व दिखलानेके अभिप्रायसे 'कृतस्तत्र' का सशोधन कर 'स्वकृत' पाठ बनाया हो

१ सर्वार्थसिद्धि, प्रस्तावना, पृ० ६५-६८।

और बादमें यह पाठ चल पड़ा हो।'[1]

अतः तत्त्वार्थ अथवा तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थाधिगमभाष्य दो पृथक्-पृथक् रचनाएँ हैं। तत्त्वार्थ सर्वार्थसिद्धिसे पूर्ववर्त्ती और तत्त्वार्थाधिगमभाष्य उससे उत्तरवर्ती रचना है। अतएव तत्त्वार्थाधिगमभाष्यके कर्त्ता वाचक उमास्वाति रहे होंगे। पर मूल तत्त्वार्थसूत्रके कर्त्ता गृद्धपिच्छाचार्य हैं। इस नामका उल्लेख नवी शताब्दीके आचार्य वीरसेन और विद्यानन्द जैसे आचार्योंके साहित्यमे मिलता है। उत्तरकालमे अभिलेखो और ग्रन्थोमे उमास्वामी और उमास्वाति इन दो नामोंसे भी इनका उल्लेख किया गया है। लगभग इसी समय श्वेताम्बर सम्प्रदायमे हुए सिद्धसेन गणिके उल्लेखोसे तत्त्वार्थाधिगम-भाष्यका रचयिता वाचक उमास्वातिको माना गया और इन्हे ही तत्त्वार्थ-सूत्रका रचयिता भी बता दिया गया। पर मूल और भाष्य दोनोंका अन्तःपरीक्षण करनेपर वे दोनो पृथक्-पृथक् दो विभिन्नकालीन कर्तृक सिद्ध होते हैं, जैसा कि ऊपरके विवेचनसे प्रकट है।

गुरुपरम्परा

गृद्धपिच्छाचार्य किस अन्वयमे हुए, यह विचारणीय है। नन्दिसंघकी पट्टावलि और श्रवणबेलगोलाके अभिलेखोसे यह प्रमाणित होता है कि गृद्धपिच्छाचार्य कुन्दकुन्दके अन्वयमे हुए हैं। नन्दिसंघकी पट्टावलि विक्रमके राज्याभिषेकसे प्रारम्भ होती है। वह निम्न प्रकार है

१ भद्रबाहु द्वितीय (४), २ गुप्तिगुप्त (२६), ३ माघनन्दि (३६), ४ जिनचन्द्र (४०), ५ कुन्दकुन्दाचार्य (४९), ६ उमास्वामि (१०१), ७ लोहाचार्य (१४२), ८ यशःकीर्ति (१५३), ९ यशोनन्दि (२११), १० देवनन्दि (२५८), ११ जयनन्दि (३०८), १२ गुणनन्दि (३५८), १३ वज्रनन्दि (३६४), १४ कुमारनन्दि (३८६), १५ लोकचन्द्र (४२७), १६ प्रभाचन्द्र (४५३), १७ नेमिचन्द्र (४७२), १८ भानुनन्दि (४८७), १९ सिंहनन्दि (५०८), २० वसुनन्दि (५२५), २१ वीरनन्दि (५३१), २२ रत्ननन्दि (५६१), २३ माणिक्यनन्दि (५८५), २४ मेघचन्द्र (६०१), २५ शान्तिकीर्ति (६२७), २६ मेरुकीर्ति (६४२), ।[2]

उपर्युक्त पट्टावलिम आया हुआ गुप्तिगुप्तका नाम अर्हद्बलिके लिये आया है। अन्य प्रमाणोसे सिद्ध है कि नन्दिसंघकी स्थापना अर्हद्बलिने की थी, और इसके प्रथम पट्टधर आचार्य माघनन्दि हुए। इस क्रमसे गृद्धपिच्छ नन्दिसंघके

१ स० सि० प्रस्तावना, पृ० ६८।

२. जैनसिद्धान्त भास्कर, भाग १, किरण ४, पृ० ७८।

पट्टपर बैठनेवाले आचार्योंमे चतुर्थ आते है और इनका समय वीर निर्वाण सं० ५७१ सिद्ध होता है। अतएव गृद्धपिच्छके गुरुका नाम कुन्दकुन्दाचार्य होना चाहिये। श्रवणवेलगोलाके अभिलेख न० १०८ मे गृद्धपिच्छ उमास्वामिका शिष्य बलाकपिच्छाचार्यको बतलाया है। अत इनके शिष्य बलाकपिच्छ हैं।

तत्त्वार्थसूत्रके निर्माणमे कुन्दकुन्दके ग्रन्थोका सर्वाधिक उपयोग किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्दने अपने पंचास्तिकायमे द्रव्यका लक्षण बताते हुये लिखा है

दव्व सल्लक्खणिय उपादव्वयधुवत्तसजुत्त ।
गुणपज्जयासय वा ज त भण्णति सव्वण्हू[1] ॥

इस गाथाके आधारपर तत्त्वार्थसूत्रमे तीन सूत्र उपलब्ध होते हैं। ये तीनो सूत्र क्रमश गाथाके प्रथम, द्वितीय और तृतीय पाद हैं

(१) सद्द्रव्यलक्षणम्[2] ।
(२) उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्ता सत्[3] ।
(३) गुणपर्ययवद् द्रव्यम्[4] ।

अतएव गृद्धपिच्छने कुन्दकुन्दका शाब्दिक और वस्तुगत अनुसरण किया है। अत आश्चर्य नही कि गृद्धपिच्छके गुरु कुन्दकुन्द रहे हो। श्रवणवेलगोलाके उक्त अभिलेखानुसार गृद्धपिच्छके शिष्य बलाकपिच्छ हैं। इनकी गणना नन्दिसघके आचार्योंमे है।

यद्यपि पडित सुखलालजीने इन्हे ही तत्त्वार्थाधिगमभाष्यका कर्त्ता मानकर उच्चैर्नागर शाखाका आचार्य माना है और यह शाखा कल्पसूत्रकी स्थविरावलिके अनुसार आर्यशान्तिश्रेणिकसे निकली है। आर्यशान्तिश्रेणिक आर्यसुहस्तिसे चौथी पीढीमे आते है, तथा वह शान्तिश्रेणिक आर्यवज्रके गुरु आर्यसिहगिरिके गुरुभाई होनेसे, आर्यवज्रकी पहली पीढ़ीमे आते हैं। तत्त्वार्थाधिगमभाष्यकी प्रशस्तिमे वाचक उमास्वातिने अपनेको शिवश्रीनामक वाचकमुख्यका प्रशिष्य और एकादशागवेत्ता घोषनन्दि श्रमणका दीक्षा शिष्य तथा प्रसिद्धकीर्तिवाले महावाचक श्रमण श्रीमुण्डपादका विद्या-प्रशिष्य बतलाया है।

पर यह गुरुशिष्य-परम्परा तत्त्वार्थाधिगमभाष्यकार वाचक उमास्वातिकी

१ पचास्तिकाय, गाथा १०
२. तत्त्वार्थसूत्र ५।२९
३ वही ५।३०
४ वही ५।३८

है, तत्त्वार्थसूत्रकार गृद्धपिच्छकी नही। गृद्धपिच्छ उमास्वामि कुन्दकुन्दान्वयमे हुये हैं और ये कुन्दकुन्दाचार्यके उत्तराधिकारी भी है।

समय-निर्धारण

इनका समय नन्दिसघकी पट्टावलिके अनुसार वीर-निर्वाण सम्वत् ५७१ है, जो कि वि० स० १०१ आता है। 'विद्वज्जनबोधक' मे निम्नलिखित पद्य आया है

> वर्षसप्तशते चैव सप्तत्या च विस्मृतौ।
> उमास्वामिमुनिर्जात कुन्दकुन्दस्तथैव च[1]॥

अर्थात् वीर निर्वाण सवत् ७७० मे उमास्वामि मुनि हुए, तथा उसी समय कुन्दकुन्दाचार्य भी हुये। नन्दिसघकी पट्टावलिमे बताया है कि उमास्वामी ४० वर्ष ८ महीने आचार्यपदपर प्रतिष्ठित रहे। उनकी आयु ८४ वर्षकी थी और विक्रम सवत् १४२ मे उनके पट्टपर लोहाचार्य द्वितीय प्रतिष्ठित हुए। प्रो० हार्नले[2], डा० पिटर्सन[3] और डा० सतीशचन्द्रने[4] इस पट्टावलिके आधारपर उमास्वातिको ईसाकी प्रथम शताब्दीका विद्वान माना है।

'विद्वज्जनबोधक' के अनुसार उमास्वातिका समय विक्रम सम्वत् ३०० आता है और वह पट्टावलिके समयसे १५० वर्ष पीछे पड़ता है।

इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमे ६८३ वर्षकी श्रुतधर आचार्यो की परम्परा दी है और इसके बाद अगपूर्वके एकदेशधारी विनयधर, श्रीदत्त और अर्हद्दत्तका नामोल्लेखकर नन्दिसघ आदि सघोकी स्थापना करनेवाले अर्हद्बलिका नाम दिया है। श्रुतावतारमे इसके पश्चात् माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलिके उल्लेख हैं। उसके बाद कुन्दकुन्दका नाम आया है। अत आचार्य गृद्धपिच्छ कुन्दकुन्दके पश्चात् अर्थात् ६८३ वर्षके अनन्तर हुए हैं। यदि इस अनन्तरकालको १०० वर्ष मान लिया जाये, तो वीर-निर्वाण सम्वत् ७८३ के लगभग आचार्य गृद्धपिच्छका समय होगा।

यद्यपि श्रुतधर आचार्यो की परम्पराका निर्देश धवला[5], आदिपुराण[6], नन्दि-

१. सर्वार्थसिद्धि, प्रस्तावना, पृ० ७८ से उद्धृत।
२. And ant, XX, P 341, 351
३ Peerrsons fourth oreport on Sanskrit manuscripts P. XVI
४. History of the Mediaval school of Indian Logic P 8, 9
६. धवला पुस्तक ९, पृ० १३०
६ आदिपुराण २।१३७

संघकी प्राकृत पट्टावलि[1] और त्रिलोकप्रज्ञप्ति[2] आदिमे आया है, पर ये सभी परम्पराएँ ६८३ वर्ष तकका ही निर्देश करती है। इसके आगेके आचार्योंका कथन नही मिलता। अतएव श्रुतावतार आदिके आधारसे गृद्धपिच्छका समय निर्णीत नही किया जा सकता है।

डॉ० ए० एन उपाध्येने बहुत ऊहापोहके पश्चात् कुन्कुन्दके समयका निर्णय किया है, और जिससे गृद्धपिच्छ, आचार्य कुन्दकुन्दके शिष्य प्रकट होते हैं। उपाध्येजीके मतानुसार कुन्दकुन्दका समय ई० प्रथम शताब्दीके लगभग है। अत गृद्धपिच्छाचार्य उसके पश्चात् ही हुए हैं।

कुन्दकुन्दका समय निर्णीत हो जानेके पश्चात् आचार्य गृद्धपिच्छका समय अवगत करनेमे कठिनाई नही है। यत पट्टावलियो और शिलालेखोमे आचार्य कुन्दकुन्दके पश्चात् गृद्धपिच्छका नाम आया है। अतएव इनका समय ई० प्रथम शताब्दीका अन्तिम भाग और द्वितीय शताब्दीका पूर्वभाग घटित होता है।

निष्कर्ष यह कि पट्टावलियो, प्रशस्तियो और अभिलेखोके अध्ययनसे गृद्ध-पिच्छका समय ई० सन् द्वितीय शताब्दी प्रतीत होता है।

तत्त्वार्थसूत्रकी रचना

आचार्य गृद्धपिच्छकी एकमात्र रचना 'तत्त्वार्थसत्र' है। इस सूत्रग्रन्थका प्राचीन नाम 'तत्त्वार्थ' रहा है। 'तत्त्वार्थ' की तीन टीकाएँ प्रसिद्ध हैं, जिनके साथ तत्त्वार्थपद लगा है, पूज्यपादकी 'तत्त्वार्थवृत्ति', जिसका दूसरा नाम 'सर्वार्थसिद्धि' है, अकलकका 'तत्त्वार्थवार्तिक' और विद्यानन्दका तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिक'। अतएव इस ग्रन्थका प्राचान नाम 'तत्त्वार्थ' ही रहा है। सूत्रशैलीमे निवद्ध हानेसे उत्तरकालमे इसका 'तत्त्वार्थसूत्र' नाम प्रचलित हुआ। इस ग्रन्थकी रचनाके हेतुका वर्णन करते हुए, तत्त्वार्थसूत्रके कन्नड़-टीकाकार बाल-चद्रने लिखा है

"सौराष्ट्रदेशके मध्य उर्जयन्तगिरिके निकट गिरिनगर नामके पत्तनमे आसन्नभव्य स्वहितार्थी द्विजकुलोत्पन्न श्वेताम्बरभक्त सिद्धय्य नामका एक विद्वान् श्वेताम्बर शास्त्रोका जाननेवाला था। उसने 'दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग' यह सूत्र बनाकर एक पटियेपर लिख दिया था। एक दिन चर्याके लिये गृद्धपिच्छाचाय मुनि वहाँ आये और उन्होने उस सूत्रके पहल 'सम्यक्' पद जोड़ दिया। जब वह विद्वान बाहरसे लौटा और उसने पटियेपर 'सम्यक्'

१ जैनसिद्धान्त भास्कर, भाग १, किरण ४, पृ० ७१।
२ त्रिलोकप्रज्ञप्ति ४।१४९०–९१।

शब्द लगा देखा, तो वह अपनी मातासे मुनिराजके आनेका समाचार मालूम करके खोजता हुआ उनके पास पहुँचा और पूछने लगा "आत्माका हित क्या है"[1]। इसके बादका प्रश्नोत्तर प्राय वही सब है, जो 'सर्वार्थसिद्धि' के प्रारम्भमे आचार्य पूज्यपादने दिया है। प्रभाचन्द्राचार्यने सर्वार्थसिद्धिपर एक टिप्पण लिखा है और उस टिप्पणमे उन अव्याकृत पदोकी व्याख्या की है, जो 'सर्वार्थसिद्धि' मे छूट गये हैं। इस टिप्पणमे प्रभाचन्द्रने प्रश्नकर्त्ता भव्यका नाम तो सिद्धय्य ही दिया है, किन्तु कथा नही दी है। उक्त कथामे कितना तथ्यांश है, यह नही कहा जा सकता।

श्रुतसागरसूरिने 'तत्त्वार्थवृत्ति' के प्रारम्भमे लिखा है कि किसी समय आचार्य उमास्वामि गृद्धपिच्छ आश्रममे बैठे हुए थे। उस समय द्वैपायक नामक भव्यने वहाँ आकर उनसे प्रश्न किया भगवन्! आत्माके लिये हितकारी क्या है? भव्यके ऐसा प्रश्न करनेपर आचार्यवर्यने मगलपूर्वक उत्तर दिया, मोक्ष। यह सुनकर द्वैपायकने पुन पूछा उसका स्वरूप क्या है, और उसकी प्राप्तिका उपाय क्या है? उत्तरस्वरूप आचार्यवर्यने कहा कि यद्यपि प्रवादिजन इसे अन्यथा प्रकारसे मानते है, कोई श्रद्धानमात्रको मोक्षमार्ग मानते हैं, कोई ज्ञाननिरपेक्ष चारित्रको मोक्षमार्ग मानते हैं। परन्तु जिस प्रकार औषधिके केवल ज्ञान, श्रद्धान या प्रयोगसे रोगकी निवृत्ति नही हो सकती है, उसी प्रकार केवल श्रद्धान, केवल ज्ञान या केवल चारित्रसे मोक्षकी प्राप्ति नही हो सकती। भव्यने पूछा तो फिर किस प्रकार उसकी प्राप्ति होती है? इसीके उत्तरस्वरूप आचार्यने "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग" यह सूत्र रचा है और इसके पश्चात् अन्य सूत्रोकी रचना हुई है। ऐसी ही उत्थानिका प्राय तत्त्वार्थवार्त्तिकमे भी आयी है। अत. उपर्युक्त कथामे कुछ तथ्य तो अवश्य प्रतीत होता है।

कनडी टीकाके रचयिता बालचन्द्र विक्रमकी तेरहवी शताब्दीके पूर्वार्द्धमे हुए हैं।

पूज्यपादकी 'सर्वार्थसिद्धि' 'तत्त्वार्थसूत्र' की उपलब्ध टीकाओमे आद्य एव प्राचीन टीका है। इसके आरम्भमे ग्रन्थ-रचनाका जो सक्षिप्त इतिवृत्त निबद्ध है उसके आधारसे स्पष्ट रूपमे कहा जा सकता है कि तत्त्वार्थसूत्रकारने तत्त्वार्थसूत्रकी रचना किसी आसन्नभव्यके प्रश्नके उत्तरमे की है। इस भव्यका नामोल्लेख सर्वार्थसिद्धिकारने नही किया। उत्तरवर्त्ती लेखकोने किया है। उनका

१ अनेकान्त, वर्ष १, पृ० २७०।

आधार क्या है, कुछ कहा नही जा सकता। वह अन्वेषणीय है। इतना स्पष्ट तथ्य है कि तत्त्वार्थसूत्र किसी आसन्नभव्य मुमुक्षुके हितार्थ लिखा गया है।

तत्त्वार्थसूत्रका महत्त्व

इस ग्रन्थमे जिनागमके मूल तत्त्वोको बहुत ही सक्षेपमे निवद्ध किया है। इसमे कुल दश अध्याय और ३५७ सूत्र हैं। सस्कृत-भाषामे सूत्रशैलीमे लिखित यह पहला सूत्रग्रन्थ है। इसमे करणानुयोग, द्रव्यानुयोग और चरणानुयोगका सार समाहित है। इसकी सबसे वडी महत्ता यह है कि इसमे साम्प्रदायिकता नही है। अतएव यह श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो ही सम्प्रदायोको थोडे-से पाठभेदको छोडकर समानरूपसे प्रिय है। इसकी महत्ताका सबसे वडा दूसरा प्रमाण यह है कि दोनो ही सम्प्रदायोके महान् आचार्योंने इसपर टीकाएँ लिखी हैं। पूज्यपाद, अकलक और विद्यानन्दने दार्शनिक टीकाएँ लिखकर इस ग्रन्थका महत्त्व व्यक्त किया है। विद्यानन्दने अपनी 'आप्तपरीक्षा' मे इसे वहुमूल्य रत्नोका उत्पादक, सलिलनिधि समुद्र कहा है

> श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य,
> प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारै कृत यत्।
> स्तोत्र तीर्थोपमान प्रथितपृथुपथ स्वामिमीमासितं तत्,
> विद्यानन्दै स्वशक्त्या कथमपि कथित सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै[1]॥

प्रकृष्ट रत्नोके उद्भवके स्थानभूत श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्ररूपी अद्भुत समुद्रकी उत्पत्तिके प्रारम्भकालमे महान् मोक्षपथको प्रसिद्ध करनेवाले और तीर्थोपमस्वरूप जिस स्तोत्रको शास्त्रकार गृद्धपिच्छाचार्यने समस्त कर्ममलके भेदन करनेके अभिप्रायसे रचा है और जिसकी स्वामीने मीमासा की है, उसी स्तोत्रका सत्यवाक्यार्थ (यथार्थता) की सिद्धिके लिए मुझ विद्यानन्दने अपनी शक्तिके अनुसार किसी प्रकार व्याख्यान किया है।

तत्त्वार्थसूत्र जैन धर्मका सारग्रन्थ होनेसे इसके मात्र पाठ या श्रवणका फल एक उपवास वताया गया है, जो उसके महत्त्वको सूचित करता है। वर्तमानमे इस ग्रन्थको जैन परम्परामे वही स्थान प्राप्त है, जो हिन्दू धर्ममे 'भगवद्गीता' को, इस्लाममे 'कुरान' को और ईसाई धर्ममे 'वाइविल' को प्राप्त है। इससे पूर्व प्राकृत भाषामे ही जैन ग्रन्थोकी रचना की जाती थी। इसी भाषामे भगवान् महावीरकी देशना हुई थी और इसी भाषामे गौतम गणधरने अगो

१ डॉ० दरवारीलाल कोठिया, आप्तपरीक्षा, उपसहार-पद्य, पद्य-सख्या १२३, वीर-सेवामन्दिर, सरसावा (सहारनपुर)।

और पूर्वोकी रचना की थी। पर जब देशमें संस्कृत-भाषाका महत्त्व वृद्धिंगत हुआ और विविध दर्शनोके मन्तव्य सूत्ररूपमे निबद्ध किये जाने लगे, तो जैन परम्पराके आचार्योका ध्यान भी उस ओर आकृष्ट हुआ और उसीके फलस्वरूप तत्त्वार्थसूत्र जैसे महत्त्वपूर्ण संस्कृत-सूत्रग्रन्थको रचना हुई। इस तरह जैन वाङ्मयमे संस्कृत-भाषाके सर्वप्रथम सूत्रकार गृद्धपिच्छ हैं और सबसे पहला संस्कृत-सूत्रग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र है।

वर्ण्य विषय

तत्त्वार्थसूत्र धर्म एव दर्शनका सूत्रग्रन्थ है। इसकी रचना वैशेषिक दर्शनके 'वैशेषिकसूत्र' ग्रन्थके समान हुई है। वैशेषिक दर्शनके प्रारम्भमे द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव इन सात पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे मोक्ष-प्राप्तिकी बात कही गयी है। अत इस सूत्रग्रन्थमे मुख्यरूपसे उक्त सात पदार्थोका विवेचन आया है। साख्य दर्शनमे प्रकृति और पुरुषका विचार करते हुए जगत्के मूलभूत पदार्थोका ही विचार किया है। इसी प्रकार वेदान्तदर्शनम जगतके मूलभूत तत्त्व ब्रह्मकी मीमासा की गयी है। न्यायदर्शनमे प्रमाण, प्रमेय, सशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धात, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वा-भास, छल, जाति और निग्रहस्थान इन सोलह पदार्थो के तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति बतलायी है। न्यायदर्शनमे अर्थपरीक्षाके साधनोका ही कथन आया है। योगदर्शनमें जीवनमे अशुद्धता लानेवाली चित्तवृत्तियोका और उनके निरोधका तथा तत्सम्बन्धी प्रक्रियाका प्रतिपादन आया है। इस प्रकार पूर्वोक्त दर्शनोका विषय ज्ञेयप्रधान या ज्ञानसाधनप्रधान अथवा चारित्रप्रधान है।

पर 'तत्त्वार्थसूत्र'मे ज्ञान, ज्ञेय और चारित्रका समानरूपसे विवेचन आया है। इसका प्रधान कारण यह है कि जहाँ वैशेषिक आदि दर्शनोमे केवल तत्त्वज्ञानसे 'नि श्रेयस्' प्राप्ति बतलायी गयी है वहाँ जैनदर्शनमे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके समुच्चयको मोक्षका मार्ग कहा है। तत्त्वार्थसूत्रके प्रथम अध्यायके द्वितीयसूत्रमे जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोके सम्यक्दर्शन और छठे सूत्रमे इनके यथार्थज्ञानको सम्यक्ज्ञान कहा है। तत्त्वार्थसूत्रकारने हेय और उपादेयरूपमे केवल इन्ही सात तत्त्वोको श्रद्धेय एव अधिगम्य बतलाया है। मोक्षमार्गमे इन्हीका उपयोग है। अन्य अनन्त पदार्थोका नही। इससे पूर्व समयसारमे भी निश्चयनय और व्यव-हारनयसे इन्ही सातो तत्त्वोका निरूपण किया है।

अतएव आचार्य गृद्धपिच्छने इस तत्त्वार्थसूत्रमे दश अध्याओकी परिकल्पना

करके प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अध्यायमे जीवतत्त्वका, पंचम अध्याय-मे अजीवतत्त्वका, षष्ठ और सप्तम अध्यायोंमे आस्रवतत्त्वका, अष्टम अध्यायमे बन्धतत्त्वका, नवम अध्यायमे सवर और निर्जरातत्त्वोका एव दशम अध्यायमे मोक्षतत्त्वका विवेचन किया है। प्रथम अध्यायके आरम्भमे सम्यग्दर्शनका स्वरूप और उसके भेदोकी व्याख्या करनेके पश्चात्—"प्रमाणनयैरधिगम" [१-६] सूत्रसे ज्ञान-विषयक चर्चाका प्रारम्भ होता है। प्रमाणका कथन तो सभी भारतीय दर्शनोमे आया है, पर नयका विवेचन इस ग्रन्थका अपना वैशिष्ट्य है और यह है जैनदर्शनके अनेकान्तवादकी देन। नय प्रमाणका ही भेद है। सकल-ग्राही ज्ञानको प्रमाण और वस्तुके एक अशको ग्रहण करनेवाले ज्ञानको नय कहते हैं।

तत्त्वार्थसूत्रमे ज्ञानको ही प्रमाण माना है और ज्ञानके पाँच भेद बतलाये हैं (१) मति, (२) श्रुत, (३) अवधि, (४) मन पर्यय और (५) केवलज्ञान। प्रमाणके दो भेद है प्रत्यक्ष और परोक्ष। उक्त ज्ञानोमे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दो परोक्ष हैं, क्योकि इनकी उत्पत्ति इन्द्रिय और मनकी सहायतासे होती है। शेष तीन ज्ञान प्रत्यक्ष है, क्योकि ये आत्मासे ही उत्पन्न होते हैं उनमे इन्द्रियादिको अपेक्षा नही होती। तत्त्वार्थसूत्रमे उक्त पाँचो ज्ञानोका प्रतिपादन किया है। मतिज्ञानकी उत्पत्तिके साधन, उनके भेद-प्रभेद, उनकी उत्पत्तिका क्रम, श्रुतज्ञानके भेद, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानके भेद तथा उनमे पार-स्परिक अन्तर, पाँचो ज्ञानोका विषय एव एकसाथ एक जोवमे कितने ज्ञानोका रहना सम्भव है आदिका कथन इसमे आया है। अन्तमे मति, श्रुत और अवधि-ज्ञानके मिथ्या होनेके कारणका भी विवेचन कर नयोके भेद परिगणित किये गये हैं। इस अध्यायमे ३३ सूत्र हैं।

द्वितोय अध्यायमे ५३ सूत्रो द्वारा जीवतत्त्वका कथन किया है। सर्वप्रथम जीवके स्वतत्त्वरूप पच भावो और उनके भेदोका निरूपण आया है। पश्चात् जीवके ससारी और मुक्त भेद बतलाकर ससारी जीवोके भेद-प्रभेदोका कथन किया गया है। जोवोकी इन्द्रियोके भेद-प्रभेद, उनके विषय, ससारी जीवो-मे इन्द्रियोकी स्थिति, मृत्यु और जन्मके वीचकी स्थिति, जन्मके भेद, उनकी योनियाँ, जीवोमे जन्मोका विभाग, शरीरके भेद उनके स्वामी, एक जीवके एक-साथ सम्भव हो सकनेवाले शरीर, लिंगका विभाग तथा पूरी आयु भोगकर मरण करनेवाले जीवोंका कथन किया है।

तृतीय अध्याय ३९ सूत्रोमे निबद्ध है। इसमे अधोलोक और मध्यलोकका वर्णन आया है। अधोलोकका कथन करते हुए सात पृथिवियाँ तथा उनका

आधार बतलाकर उनमे नरकोकी सख्या और उन नरकोमें बसनेवाले नारकी जीवोकी दशा एव उनकी दीर्घ आयु आदि बतलायी गयी है। मध्यलोकके वर्णनमे द्वीप, समुद्र, पर्वत, नदियाँ एव क्षेत्रोंका वर्णन करनेके पश्चात् मध्य-लोकमे निवास करनेवाले मनुष्य और तिर्यञ्चोकी आयु भी बतलायी गयी है।

चतुर्थ अध्यायमे ४२ सूत्रो द्वारा ऊर्ध्वलोक या देवलोकका वर्णन किया गया है। इसमे देवोके विविध भेदो, ज्योतिर्मण्डल, तथा स्वर्गलोकका वर्णन है।

दार्शनिक दृष्टिसे पचम अध्याय महत्वपूर्ण है। यह ४२ सूत्रोमे निबद्ध है। इसमे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छ द्रव्योका वर्णन आया है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक द्रव्यके प्रदेशोकी सख्या उनके द्वारा अवगाहित क्षेत्र और प्रत्येक द्रव्यका कार्य आदि बतलाये हैं। पुद्गलका स्वरूप बतलाते हुए उसके भेद, उसकी उत्पत्तिके कारण, पौद्गलिक बन्धकी योग्यता-अयोग्यता आदि कथन है। अन्तमे सत्, द्रव्य, गुण, नित्य और परिणामका स्वरूप प्रतिपादित कर कालको भी द्रव्य बतलाया है।

षष्ठ अध्याय २७ सूत्रोमे ग्रथित है। इस अध्यायमे आस्रवतत्त्वका स्वरूप, उसके भेद-प्रभेद और किन-किन कार्योंके करनेसे किस-किस कर्मका आस्रव होता है, का वर्णन आया है।

सप्तम अध्यायमे ३९ सूत्रो द्वारा व्रतका स्वरूप, उसके भेद, व्रतोको स्थिर करनेवाली भावनाएँ, हिंसादि पाँच पापोका स्वरूप सप्त शील, सल्लेखना, प्रत्येक व्रत और शीलके अतिचार, दानका स्वरूप एवं दानके फलमे तारतम्य होनेके कारणका कथन आया है।

अष्टम अध्यायमे २६ सूत्र है। कर्म-बन्धके मूल हेतु बतलाकर उसके स्वरूप तथा भदोका विस्तारपूर्वक कथन करते हुए आठो कर्मोके नाम प्रत्येक कर्मकी उत्तरप्रकृतिया, प्रत्येक कर्मके स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्धका स्वरूप बतलाया है।

नवम अध्यायमे ४७ सूत्रो द्वारा सवरका स्वरूप, सवरके हेतु, गुप्ति, समिति, दश धर्म, द्वादश अनुप्रेक्षा बाईस परीषह, चारित्र और अन्तरग तथा बहिरंग तपके भेद बतलाये गये हैं। ध्यानका स्वरूप, काल, ध्याता, ध्यानके भेद एव पाँच प्रकारके निर्ग्रन्थ साधुओका वर्णन आया है।

दशम अध्यायमे केवल ९ सूत्र हैं। इसमे केवलज्ञानके हेतु, मोक्षका स्वरूप, मुक्तिके पश्चात् जीवके ऊर्ध्वगमनका दृष्टान्तपूर्वक सयुक्तिक समर्थन तथा मुक्त जीवोका वर्णन आया है।

इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्रका वर्ण्य विषय जैनधर्मके मूलभूत समस्त सिद्धान्तोंसे सम्बद्ध है। इसे जैन सिद्धान्तकी कुंजी कहा जा सकता है।

तत्त्वार्थसूत्रकी रचनाका स्रोत

तत्त्वार्थसूत्रके सूत्र कुन्दकुन्दके नियमसार, पचास्तिकाय, भावपाहुड, षट्-खण्डागम प्रवचनसार, आदिके आधारपर निर्मित हुए है। "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" [१-१] सूत्रका मूल स्रोत नियमसार है। कुन्दकुन्दने अपने नियमसारको प्रारम्भ करते हुए लिखा है कि जिनशासनमे माग और मार्गफलको उपादेय कहा है। मोक्षके उपायको मार्ग कहते है और उसका फल निर्वाण है। ज्ञान, दर्शन और चारित्रको नियम कहा जाता है तथा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रका परिहार करनेके लिए उसके साथ 'सार' पद लगाया है। तत्त्वार्थसूत्रमे भी मिथ्यादर्शनादिका परिहार करनेके लिए दर्शनादिकके साथ सम्यक् पद लगाया है।

> मग्गो मग्गफल त्ति य दुविह जिणसासणे समक्खाद।
> मग्गो मोक्खउवायो तस्स फल होइ णिव्वाण ॥
> णियमेण य ज कज्ज तण्णियम णाणदसणचरित्त।
> विवरीयपरिहरत्थ भणिद खलु सारमिदि वयण ॥[1]

तत्त्वार्थसूत्रके द्वितीय सूत्र तथा चतुर्थ सूत्रका आधार भी कुन्दकुन्दके ग्रन्थ है। कुन्दकुन्दने सम्यक्दर्शनका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है

> "अत्तागमतच्चाण सद्दहणादो हवेइ सम्मत्त ॥"[2]

आप्त, आगम और तत्त्वोके श्रद्धानको सम्यक्दर्शन कहते हैं और तत्त्वार्थ आगममे कहे हुए पदार्थ है।[3]

तत्त्वार्थसूत्रकारने नियमसारके उक्त सन्दर्भको स्रोत मानकर 'तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यक्दर्शनम्'' [१-२] सूत्र लिखा है। वस्तुत यह सूत्र "तच्चाण सद्दहणादो हवेइ सम्मत्त"का अनुवाद है। सात तत्त्वोके नाम कुन्दकुन्दके 'भावपाहुड' आदि ग्रन्थोमे मिलते हैं। "सत्सख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च" [१-८] सूत्रका स्रोत षट्खण्डागम'का निम्नलिखित सूत्र है

"सतपरूवणा दव्वपमाणाणुगमो खेत्ताणुगमो फोसणाणुगमो कालाणुगमो अतराणुगमो भावाणुगमो अप्पाबहुगाणुगमो चेदि।" [१-१-७]

१ नियमसार, गाथा २,३।

२ वही, गाथा ५।

३ वही, गाथा ८।

गृद्धपिच्छाचार्यने षट्खण्डागमके इन आठ अनुयोगद्वारोको लेकर उक्त सूत्रकी रचना की है। मति, श्रुत आदि पाँच ज्ञानोका जैसा वर्णन तत्त्वासूत्रमे आया है वह स्रोतकी दृष्टिसे षट्खण्डागमके वर्गणाखण्डके अन्तर्गत कर्मप्रकृति-अनुयोगद्वारसे अधिक निकट प्रतीत होता है। इसी प्रकार तत्त्वार्थसूत्रमे 'मति स्मृति सज्ञा चिन्ता'[१।१३]को मतिज्ञानके नामान्तर कहा है। इसका स्रोत षट्खण्डागमके कर्म-प्रकृति-अनुयोगद्वारका 'सण्णा सदो मदो चिन्ता चेदि'[५-५-४१] सूत्र है। इसी प्रकार 'भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्'[तत्त्वार्थसूत्र १।२१]का स्रोत षट्खण्डागमके कर्म-प्रकृति-अनुयोगद्वारका 'ज त भवप-चइय त देव-णेरइयाण' [५-५-५४] सूत्र है।

तत्त्वार्थसूत्रमे पाँच ज्ञानोको प्रमाण मानकर उनके प्रत्यक्ष ओर परोक्ष भेद किये गये हैं। इन भेदोका स्रोत प्रवचनसारकी निम्नलिखित गाथा है

ज परदो विण्णाण त तु परोक्ख त्ति भणिदमत्थेसु।
जदि केवलेण णाद हवदि हि जीवेण पच्चक्ख ॥[1]

अर्थात् पदार्थविषयक जो ज्ञान परकी सहायतासे होता है, वह परोक्ष कहलाता है और जो ज्ञान केवल आत्माके द्वारा जाना जाता है वह प्रत्यक्ष कहलाता है।

द्वितीय अध्यायके प्रारम्भमे प्रतिपादित पाँच भावोके बोधक सूत्रका स्रोत पञ्चास्तिकायकी निम्न लिखित गाथा है

उदयेण उवसमेण य खयेण दुहि मिस्सदेहि परिणामे।
जुत्ता ते जीवगुणा बहुसु अत्थेसु विच्छिण्णा ॥[2]

पञ्चम अध्यायमे प्रतिपादित द्रव्य, गुण, पर्याय, अस्तिकाय आदि विषयोके स्रोत आचार्य कुन्दकुन्दके पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार और नियमसारकी अनेक गाथाओमे प्राप्य हैं। तत्त्वार्थसूत्रमे द्रव्यलक्षणका निरूपण दो प्रकारसे आया है। उसके लिए सत्की परिभाषाके पश्चात् "सद्द्रव्यलक्षणम्" (५।२९) और "गुणपर्ययवद्द्रव्यम्" (५।३८) सूत्रोकी रचना की है। ये सभी सूत्र कुन्दकुन्दकी निम्न गाथासे सूजित हैं

"दव्व सल्लक्खणिय उप्पादव्वयधुवत्त सजुत्त।
गुणपज्जयासय वा ज त भण्णति सव्वण्हू ॥[3]

पचम अध्यायमे 'स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्ध', 'न जघन्यगुणाना', 'गुणसाम्ये सदृशानाम्', 'द्व्यधिकादिगुणाना तु' [५-३३,३४,३५,३६] सूत्रोद्वारा स्निग्ध और

१ प्रवचनसार, ज्ञानाधिकार, गाथा—५८।

२. पञ्चास्तिकाय, गाथा ५६।

३ पञ्चास्तिकाय, गाथा १०।

रूक्ष गुणवाले परमाणुओके बन्धका विधान आया है। वे सुत्र प्रवचनसारकी निम्न गाथाओपरसे रचे गये है

> णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा।
> समदो दुराधिगा जदि बज्झंति हि आदिपरिहीणा॥
> णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बंधमणुभवदि।
> लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु बज्झदि पचगुणजुत्तो॥
> दुपदेसादी खंधा सुहुमा वा बादरा ससठाणा।
> पुढविजलतेउवाऊ सगपरिणामेहिं जायते॥[1]

अपने गक्त्यगोमे परिणमन करनेवाले परमाणु यदि स्निग्ध हो अथवा रूक्ष हो, दो, चार, छह, आदि अशोकी गणनाकी अपेक्षा सम हो, अथवा तीन, पाँच, सात आदि अशोकी अपेक्षा विषम हो, अपने अशोसे दो अधिक हो, और जघन्य अगसे रहित हो तो परस्पर बन्धको प्राप्त होते है।

स्निग्ध गुणके दो अगोको धारण करनेवाले परमाणु चतुर्गुण स्निग्धके साथ बधते हैं। रूक्षगुणके तीन अंगोको धारण करनेवाला परमाणु पाँचगुणयुक्त रूक्ष अशको धारण करनेवाले परमाणुके साथ बन्धको प्राप्त होता है।

दो प्रदेशोको आदि लेकर सख्यात, असख्यात और अनन्तपर्यन्त प्रदेशोको धारण करनेवाले सूक्ष्म अथवा बादर विभिन्न आकारोंसे सहित तथा पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु रूप स्कन्ध अपने-अपने स्निग्ध और रूक्ष गुणोके परिणमनसे होते हैं।

इसी प्रकार "बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ"[५।३७]सूत्रका स्रोत षट्खण्डागमके वर्गणाखण्डका बन्ध-विधान है।

तत्त्वार्थसूत्रके षष्ठ अध्यायमे तीर्थंकरनामकर्मके बन्धमे कारणभूत सोलह कारणोका निर्देशक सूत्र निम्न प्रकार है

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्य-बहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य॥ [६-२४]

अर्थात् १ दर्शनविशुद्धि, २ विनयसम्पन्नता, ३ शीलव्रतोमे अनतिचार, ४ अभीक्षणज्ञानोपयोग, ५ सवेग, ६ शक्तित त्याग, ७ शक्तित तप, ८ साधुसमाधि,

---

१ प्रवचनसार, ज्ञेयाधिकार, गाथा ७३,७४,७५।

९ वैयावृत्यकरण, १० अर्हद्भक्ति, ११ आचार्यभक्ति, १२ बहुश्रुतभक्ति, १३ प्रवचनभक्ति, १४ आवश्यकापरिहाणि, १५ मार्गप्रभावना और १६ प्रवचन-वत्सलत्व ये सोलह भावनाएँ तीर्थंकरनामकर्मके बन्धकी कारण हैं।

उपर्युक्त सूत्रका स्रोत 'षट्खण्डागम'के 'बंधसामित्तविचओ' का निम्न सूत्र है "दंसणविसुज्झदाए विणयसंपण्णदाए सीलव्वदेसु णिरदिचारदाए आवासएसु अपरिहीणदाए खण-लव-पडिबुज्झणदाए लद्धिसंवेगसंपण्णदाए जधाथामे तधातवे साहूणं पासुअपरिच्चागदाए साहूणं समाहिसंधारणाए साहूणं वेज्जावच्चजोग-जुत्तदाए अरहंतभत्तीए बहुसुदभत्तीए पवयणभत्तीए पवयणवच्छलदाए पवयण-प्पभावणदाए अभिक्खणं अभिक्खणं णाणोवजोगजुत्तदाए, इच्चेदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदं कम्मं बंधंति[1]॥

दोनो सूत्रोके अध्ययनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि गृद्धपिच्छाचार्यने प्राकृत-सूत्रका संस्कृत रूपान्तर कर दिया है।

तत्त्वार्थसूत्रके नवम अध्यायमे बारह अनुप्रेक्षाओका कथन आया है। इनका स्रोत 'भगवती आराधना', 'मूलाचार' एवं कुन्दकुन्दाचार्यकी 'बारसअणुवेक्खा' है। इन तीनों ग्रन्थोमे द्वादश अनुप्रेक्षाओको गिनाने वाली गाथा एक ही है। तत्त्वार्थसूत्रकारने द्वादश अनुप्रेक्षाओंके क्रममे मात्र कुछ अन्तर किया है तथा प्रथमानुप्रेक्षाका नाम अनित्य रखा है, जबकि इन ग्रन्थोमे अध्रुव है।

तत्त्वार्थसूत्रके नवम अध्यायके नवम सूत्रमे २२ परीषहोके नाम गिनाये गए हैं। उनमे एक 'नाग्न्य' परिषह भी है। 'नाग्न्य'का अर्थ नगापना है। यहाँ आचार्यने अचेलकी अपेक्षा 'नाग्न्य' पदके प्रयोगको अधिक महत्त्व दिया है। इससे ज्ञात होता है कि सूत्रकर्त्ताको साधुओकी नग्नता इष्ट थी और उन्हे उसका परीषह सहना ही चाहिए, यह भी मान्य था।

इस तरह षट्खण्डागम और कुन्दकुन्द-साहित्यमे तत्त्वार्थसूत्रके सूत्रोंके अनेक बीज वर्त्तमान हैं।

सूत्रपाठ

तत्त्वार्थसूत्रके दो सूत्रपाठ उपलब्ध होते हैं। पहला सूत्रपाठ वह है जिसपर पूज्यपाद, अकलंकदेव और विद्यानन्दने टीकाएँ लिखी हैं। यह पाठ दिगम्बर परम्परामे प्रचलित है। दूसरा पाठ वह है, जिसपर तत्त्वार्थाधिगमभाष्य पाया जाता है तथा सिद्धसेन गणि और हरिभद्रने अपनी टीकाएँ लिखी हैं। इस दूसरे

१. षट्खण्डागम, पुस्तक ८, पृ० ७९।

सूत्रपाठका प्रचार श्वेताम्बर परम्परा है। इन दोनो सूत्रपाठोमे जो अन्तर है, वह निम्न प्रकार अवगत किया जा सकता है

दोनो पाठोके अनुसार दशो अध्यायोके सूत्रोकी सख्या

प्रथमपाठ ३३ + ५३ + ३९ + ४२ + ४२ + २७ + ३९ + २६ + ४७ + ९ = ३५७
द्वितीयपाठ–३५ + ५२ + १८ + ५३ + ४४ + २६ + ३४ + २६ + ४९ + ७ = ३४४

दोनो पाठोके अध्ययनसे ज्ञात होता है कि प्रथम अध्यायमे दो सूत्रोकी हीनाधिकता है। प्रथम पाठकी अपेक्षा द्वितीय पाठमे दो सूत्र अधिक हैं। प्रथम सूत्र 'द्विविधोऽवधि' [१।२१] अवधिज्ञानके दो भेद हैं। इस सूत्रमे कोई सैद्धान्तिक मतभेद नही है। अन्तिम दो सूत्र विचारणीय हैं "नैगमसग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दा नया "[१।३४]'आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ' [१।३५] ये दोनो सूत्र द्वितीय पाठमे मिलते हैं। प्रथम पाठमे नयके सात भेद माने गये हैं, और इन सातोके नामोको बतलाने वाला एक ही सूत्र है। पर दूसरे पाठके अनुसार नयके मूल पाँच भेद हैं, और उनमेसे प्रथम 'नैगमनय'के दो भेद हैं और 'शब्दनय'के साम्प्रत, समभिरूढ और एवभूत ये तीन भेद हैं। सप्तनयकी परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। यह दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो ही आगमोमे पायी जाती है। तत्त्वार्थसूत्रमे यह जो द्वितीय मान्यता आयी है, उसका समन्वय दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो ही परम्पराओके साथ सम्भव नही है। यह तो एक नयी परम्परा है, जिसका आरम्भ तत्त्वार्थाधिगमभाष्यसे होता है।

पन्द्रहवें सूत्रमे मतिज्ञानका तीसरा भेद भाष्यके अनुसार 'अपाय' है और सर्वार्थसिद्धिके अनुसार 'अवाय' है। पडित सुखलालजी द्वारा सम्पादित 'तत्त्वार्थसूत्र'मे 'अपाय'के स्थानपर 'अवाय' पाठ ही मिलता है। नन्दिसूत्रमे भी 'अवाय' पाठ है। अकलकदेवने अपने तत्त्वार्थवार्तिकमे दोनो पाठोमे केवल शब्द-भेद बतलाया है। किन्तु उभयपरम्परासम्मत प्राचीन पाठ 'अवाय' ही है, 'अपाय' नही। सोलहवे सूत्र 'बहुबहुविध' आदिमे प्रथम पाठमे 'अनिसृतानुक्त' पाठ है और दूसरी मान्यतामे 'अनिसृतासन्दिग्ध' पाठ है। इसी प्रकार अवधिज्ञानके दूसरे भेदके प्रतिपादक सूत्रमे प्रथमपाठमे 'क्षयोपशमनिमित्त' पाठ है और दूसरेमे 'यथोक्तनिमित्त' पाठ है। इन दोनो पाठोके आशयमे कोई अन्तर नही है।

द्वितीय अध्यायमे प्रथमपाठके अनुसार 'तैजसमपि' [२।४८] तथा 'शेषास्त्रिवेदाः' [२।५२] ये दो सूत्र अधिक है। इसी तरह दूसरे सूत्रपाठमें 'उपयोग स्पर्शादिषु' [२।१९] सूत्र अधिक है। शेष सूत्रोमे समानता होते हुए भी कतिपय स्थलोमे अन्तर पाया जाता है। प्रथम सूत्रपाठमे 'जीवभव्याभव्यत्वानि च'

[२।७] पाया जाता है, और द्वितीय सूत्रपाठमे इसके स्थानपर 'जीवभव्याभव्य-त्वादीनि च' [२।७] सूत्र है। प्रथम पाठमे जिन पारिणामिक भावोका ग्रहण 'च' शब्दसे किया है, द्वितीय पाठमे उन्हीका ग्रहण आदि पदसे किया है। अकलकदेवने आदिपदको सदोष बतलाया है।[1]

ससारी जीवोके त्रस और स्थावर ये दो भेद आये हैं। स्थावरके पाँच भेद हैं। इनकी मान्यता दोनो सूत्रपाठोमे तुल्य है, पर त्रसका अर्थ भाष्यमे बताया है कि जो चलता है, वह त्रस है। इस अपेक्षासे दूसरे सूत्रपाठमे तेजस्कायिक और वायुकायिकको भी त्रस कहा गया है, क्योकि वायु और अग्नि कायमे चलनक्रिया पायी जाती है। अतएव द्वितीय अध्यायके तेरह और चौदहवे सूत्रमे अन्तर पड गया है। द्वितीय अध्यायके अन्य सूत्रोमे भी कतिपय स्थलोपर अन्तर विद्यमान है।

	प्रथमसूत्रपाठ	द्वितीय सूत्रपाठ	
१	एकसमयाऽविग्रहा ॥२९॥	एकसमयोऽविग्रह	॥३०॥
२	एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारक ॥३०॥	एक द्वौ वाऽनाहारक	॥३१॥
३	जरायुजाराण्डज-पोताना गर्भ ॥३३॥	जराय्वण्डपोतजाना गर्भ	॥३४॥
४	देवनारकाणामुपपाद ॥३४॥	नारकदेवानामुपपात	॥३५॥
५	पर पर सूक्ष्मम् ॥३७॥	पर पर सूक्ष्मम्	॥३८॥
६	औपपादिक-चरमोत्तमदेहाऽसख्येय-वर्षायुषोऽनपवर्त्यायुष ॥५३॥	औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषाऽसख्येय-वर्षायुपोऽनपवर्त्यायुष	॥५२॥

इन सूत्रोमे शाब्दिक अन्तर रहनेके कारण सैद्धान्तिक दृष्टिसे भी मत-भिन्नता है।[2]

तृतीय अध्यायमे प्रथम पाठके अनुसार द्वितीय पाठमे २१ सूत्र अधिक है। द्वितीय पाठमे वे सूत्र नहीं हैं। तृतीय अध्यायके प्रथम सूत्रके पाठमे थोडा अन्तर पाया जाता है। द्वितीय पाठमे 'अधोऽध' और 'पृथुतरा' पाठ है जबकि पहलेमे 'पृथुतरा' पाठ नही है। अकलकदेवने अपने तत्त्वार्थवार्त्तिकमे इस पाठकी आलोचना की है और उसे सदोष बताया है।

चतुर्थ अध्यायमे स्वर्गोके सख्या-सूचक सूत्रमे अन्तर है। प्रथम पाठके अनुसार सोलह स्वर्ग गिनाये गये है, पर द्वितीय पाठके अनुसार बारह ही स्वर्ग परिगणित हैं। स्वर्गके देवोमे प्रविचारको बतलाने वाले सूत्रमे 'शेषा स्पर्शरूप-

१ तत्त्वार्थवार्तिक, पृ० ११३।

२. पडित सुखलालजी द्वारा सम्पादित तत्त्वार्थसूत्रकी भूमिका।

शब्दमनःप्रवीचारा' [४।८] के स्थानपर 'शेषा प्रविचारा द्वयोर्द्वयो' [४।९] पाठ आया है। इस द्वितीयपाठमे 'द्वयोर्द्वयो' पाठ अधिक है। अकलकने इस पाठकी आलोचनाकर इसे आर्षविरुद्ध बतलाया है। प्रथम सूत्रपाठमे लोकान्तिक देवोकी स्थितिका प्रतिपादक सूत्र आया है, पर द्वितीय सूत्रपाठमे वह नही है।

पाँचवें अध्यायमे द्वितीय सूत्रपाठमे "द्रव्याणि जीवाश्च" यह एक सूत्र है। किन्तु प्रथम सूत्रपाठमे 'द्रव्याणि' [५।२] और 'जीवाश्च' [५।३] ये दो सूत्र हैं। तत्त्वार्थवार्तिकमे अकलकदेवने 'द्रव्याणि जीवा' इस प्रकारके एक सूत्रकी मीमासा करते हुए एक ही सूत्र रखनेका समर्थन किया है। इसी प्रकार प्रथम सूत्रपाठके 'असख्येया प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम्' [५।८] ये दो सूत्र द्वितीय सूत्रपाठमे स्वीकृत है। प्रथम सूत्रपाठमे 'सद् द्रव्यलक्षणम्' [५।२९] यह सूत्र आया है। पर द्वितीय सूत्रपाठमे यह सूत्र नही मिलता। इस सूत्रका आशय भाष्यकारने अवश्य स्पष्ट किया है।

इसी प्रकार प्रथम सूत्रपाठमे "बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ" [५।३६] सूत्र आया है। इसके स्थानपर द्वितीय सूत्रपाठमे "बन्धे समधिकौ पारिणामिकौ" [५।३६] सूत्र है। आचार्य अकलकदेवने 'समधिकौ' पाठकी आलोचना करते हुए उसे आर्षविरुद्ध बतलाया है और अपने पक्षके समर्थनमे षट्खण्डागमका प्रमाण दिया है।

प्रथम सूत्रपाठके "कालश्च" [५।३९] सूत्रके स्थानपर दूसरे सूत्रपाठमे "कालश्चेत्येके" [५।३८] सूत्र आया है। इस अन्तरका कारण यह है कि दिगम्बर परम्परामे कालको द्रव्य माना गया है। पर श्वेताम्बर परम्परामे कालद्रव्यके सम्बन्धमे मतभेद है।

द्वितीय सूत्रपाठके 'अनादिरादिमाश्च' [५।४२], 'रूपिष्वादिमान्' [५।४३] और 'योगोपयोगौ जीवेषु' ५।४४] ये तीन सूत्र प्रथम सूत्रपाठमे नही है। इन सूत्रोमे आये हुए सिद्धान्तोकी समीक्षा अकलकदेवने की है।

षष्ठ अध्यायमे आये हुए सूत्र दोनो ही सूत्रपाठोमे सिद्धान्तकी दृष्टिसे समान है। पर कही-कही प्रथम सूत्रपाठके एक ही सूत्रके दो सूत्र द्वितीय सूत्रपाठमे मिलते हैं। प्रथम सूत्रपाठमे "शुभ पुण्यस्याशुभ पापस्य" [६।३] सूत्र आया है। द्वितीय सूत्रपाठमे इसके "शुभ. पुण्यस्य" [६।३] और "अशुभ पापस्य" ६।४] ये दो सूत्र मिलते हैं। इसी प्रकार प्रथम सूत्रपाठमे "अल्पारम्भपरिग्रहत्व मानुषस्य" [६।१७] और "स्वभावमार्दवञ्च" [६।१८] ये दो सूत्र आये है। पर द्वितीय सूत्रपाठमे इन दोनोके स्थानपर "अल्पारम्भपरिग्रहत्व स्वभावमार्दवार्जव च मानुषस्य" [६।१८] यह एक सूत्र प्राप्त होता है।

इस षष्ठ अध्यायमे प्रथम सूत्रपाठमे "सम्यक्त्वञ्च" [६।२१] सूत्र आया है। पर द्वितीय सूत्रपाठमे यह सूत्र नही मिलता है।

सप्तम अध्यायमे कई सूत्रोमे शाब्दिक अन्तर आया है। कुछ सूत्र ऐसे भी हैं जो प्रथम सूत्रपाठमे उपलब्ध हैं, पर द्वितीयमे नही। प्रथम सूत्रपाठमे व्रतोको स्थिर करनेके लिए अहिंसादिव्रतोकी पाँच-पाँच भावनाएँ बतलायी गयी है। इन भावनाओका अनुचिन्तन करनेसे व्रत स्थिर रहते हैं। अत प्रथम सूत्रपाठमे अहिंसाव्रतकी "वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च" [७।४] सत्याणुव्रतकी "क्रोध-लोभ-भीरुत्व-हास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणञ्च पञ्च" [७।५] अचौर्यव्रतकी "शून्यागार-विमोचितावास-परोपरोधाकरण-भैक्ष्य-शुद्धि-सधर्माविसवादा पञ्च।" [७।६], ब्रह्मचर्यव्रतकी "स्त्रीरागकथाश्रवण-तन्मनोहराङ्गनिरीक्षण-पूर्वरतानुस्मरण-वृष्येष्टरस-स्वशरीरसस्कारत्यागा पञ्च" [७।७] और परिग्रहत्यागव्रतके "मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषय-राग-द्वेष-वर्जनानि पञ्च" [७।८] भावनाबोधक सूत्र आये हैं। ये पाँचो सूत्र द्वितीय सूत्रपाठमे नही है। किन्तु तृतीय सूत्रके भाष्यमे इनका भाव आ गया है।

अष्टम अध्यायमे प्रथम सूत्रपाठमे "सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्ध" [८।२] सूत्र आया है। द्वितीय सूत्रपाठमे इसके दो रूप मिलते है। प्रथम सूत्रमे "सकषायत्वाज्जीव कर्मणो योग्यान्दपुद्गलानादत्ते" [८।२] अश आया है और दूसरे सूत्रमे "स बन्ध" [८।३] सूत्र आया है। इस प्रकार एक ही सूत्रके दो सूत्र रूप द्वितीय सूत्रपाठमे हो गये है। प्रथम सूत्रपाठमे "मति-श्रुतावधि-मन पर्यय-केवलानाम्" [८।६] सूत्र आया है। पर द्वितीय सूत्रपाठमे इसका सक्षिप्त रूप "मत्यादीनाम्" [८।७] उपलब्ध होता है। आचार्य अकलकदेवने "मत्यादीनाम्" पाठकी समीक्षा कर प्रथम सूत्रपाठमे आये हुए सूत्रको तर्कसगत बतलाया है। इसी प्रकार प्रथमसूत्रपाठके "दान-लाभ-भोगोपभोग-वीर्याणाम्" [८।१३] सूत्रके स्थानपर द्वितीय सूत्रपाठमे "दानादीनाम्" [८।१४] सक्षिप्त सूत्र आया है। भाष्यकारने "अन्तराय पञ्चविध। तद्यथा दानस्यान्तराय लाभस्यान्तराय, भोगस्यान्तराय उपभोगस्यान्तराय, वीर्यान्तराय इति" उपर्युक्त प्रथम सूत्रपाठमे आये हुए अन्तरायके भेदोका नामोल्लेख किया है। पुण्यप्रकृतियोका प्रतिपादन करनेवाले सूत्रोमे मौलिक अन्तर आया है। प्रथम सूत्रपाठमे पुण्यप्रकृतियोकी गणना करते हुए लिखा है "सद्वेद्य-शुभायुर्नाम-गोत्राणि पुण्यम्" [८।२५] और "अतोऽन्यत् पापम्" [८।२६] कहकर पापप्रकृतियोकी गणना की है। द्वितीय सूत्रपाठमे पुण्यप्रकृतियोका कथन करते हुए "सद्वेद्यसम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्" [८।२६] लिखा है। इस सूत्रके भाष्यमे "अतोऽ-

न्यत् पापम्" कहकर पापप्रकृतियोकी गणना की है। मूल सूत्रपाठमे पापप्रकृतियोकी परिगणना करानेवाला कोई सूत्र नही आया है।

नवम अध्यायके अनेक सूत्रोमे शाब्दिक भेद पाया जाता है। प्रथम सूत्रपाठमे "सामायिक-छेदोपस्थापना-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसाम्पराय-यथाख्यातमिति चारित्रम्' [९।१८] सूत्र आया है। द्वितीय सूत्रपाठमे इस सूत्रका रूप प्रारम्भमे ज्यो-का-त्यो है, पर अन्तमे 'यथाख्यातानि चारित्रम्' कर दिया गया है। ध्यानका स्वरूप बतलाते हुए प्रथम सूत्रपाठमे "उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्" सूत्र आया है। पर द्वितीय सूत्रपाठमे इस सूत्रके दो रूप उपलब्ध होते है। प्रथम सूत्र "उत्तमसहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्" [९।२७] और द्वितीय सूत्र "आ मुहूर्तात्" [९।२८] प्राप्त होता है। इस प्रकार एक ही सूत्र दो सूत्रोमे विभक्त है। धर्मध्यानका कथन करने वाले प्रसंगमे धर्मध्यानके स्वामीको लेकर दोनो सूत्रपाठोमे मौलिक अन्तर है। प्रथम सूत्रपाठमे धर्मध्यानके प्रतिपादक "आज्ञापाय-विपाक-सस्थानविचयाय धर्म्यम्" [९।३६] सूत्रके अन्तमे स्वामीका विधायक 'अप्रमत्तसयतस्य' अग नही है। जबकि द्वितीय सूत्रपाठमे है तथा दूसरे सूत्रपाठमे इस सूत्रके बाद जो "उपशान्तक्षीणकषाययोश्च" [९।३८] सूत्र आया है वह भी प्रथम सूत्रपाठमे नही है।

दशम अध्यायमे प्रथम सूत्रपाठका "बन्धहेत्वभाव-निर्जराभ्या कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष." [१०।२] सूत्र द्वितीय सूत्रपाठमे "बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम्" [१०।२] तथा "कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्ष." इन दो सूत्रोके रूपमे मिलता है। इसी प्रकार प्रथम सूत्रपाठके दशम अध्यायके तृतीय-चतुर्थ सूत्र द्वितीय सूत्रपाठमे एक सूत्रके रूपमे सयुक्त मिलते है। "औपशमिकादिभव्यत्वानाञ्च" [१०।३] सूत्रके स्थानपर "औपशमिकादिभव्यत्वाभावाच्चान्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्य" [१०।४] पाठ मिलता है। प्रथम सूत्रपाठके सप्तम और अष्टम सूत्र द्वितीय सूत्रपाठमे नही है। उनकी पूर्ति भाष्यमे की गयी है।

इस प्रकार दोनो सूत्रपाठोका समीक्षात्मक अध्ययन करनेसे अवगत होता है कि गृद्धपिच्छाचार्यके मूल सूत्रपाठमे वाचक उमास्वातिने तत्त्वार्थाधिगमभाष्य लिखते समय मूल सूत्रपाठमे यत्किञ्चित् अन्तर कर किन्ही सूत्रोको छोड दिया और कुछ नये सूत्र जोड दिये है। तत्त्वार्थाधिगमभाष्यका अध्ययन करनेसे यह भी स्पष्ट होता है कि भाष्यमे जो सूत्रपाठ आये हैं उनमेसे सिद्धसेनगणिकी टीकामे अनेक पाठभेदोका उल्लेख किया गया है। अत भाष्यसम्मत सूत्रपाठसे सिद्धसेनगणि और हरिभद्रके सूत्रपाठोमे अन्तर पाया जाता है।

तत्त्वार्थसूत्रके मङ्गलाचरणके विषयमे पर्याप्त विवाद रहा। कुछ विद्वानोंका मत था कि सर्वार्थसिद्धिकी उत्थानिकामे दिये गये प्रश्नोत्तरको देखते हुए तत्त्वार्थसूत्रकारने मङ्गलाचरण किये विना ही तत्त्वार्थसूत्रकी रचना की है। 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मङ्गल-पद्यको जो तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गलाचरण बताया जाता है वह सर्वार्थसिद्धिके आरम्भमे निबद्ध होने तथा सर्वार्थसिद्धिकारकी उसपर व्याख्या उपलब्ध न होनेसे उसीका मङ्गलाचरण है, तत्त्वार्थसूत्रका नही। पर इसके विपरीत दूसरे अनेक विद्वानोका मत है कि सूत्रकारने तत्त्वार्थसूत्रके आरम्भमे मङ्गलाचरण किया है और वह 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि श्लोक उसीका मङ्गलाचरण है। सर्वार्थसिद्धिमे वह मूल ग्रन्थसे अनुसृत हुआ है। तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य गृद्धपिच्छ परम आस्तिक थे। वे मङ्गलाचरणकी प्राचीन परम्पराका उल्लघन नही कर सकते। अत 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि पद्य उन्ही द्वारा तत्त्वार्थसूत्रके आरम्भमे निबद्ध मङ्गलाचरण है। टीकाकार पूज्यपाद-देवनन्दिने उसे अपनी टीका सर्वार्थसिद्धिमे अपना लिया है और इसीसे उसकी उन्होने व्याख्या भी नही की।

डॉक्टर दरबारीलाल कोठियाने 'तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गलाचरण' शीर्षक दो विस्तृत निबन्धोमे[1] आचार्य विद्यानन्दके प्रचुर ग्रन्थोल्लेखो एव अन्य प्रमाणोसे सबलताके साथ सिद्ध किया है कि तत्त्वार्थसूत्रके आरम्भमे 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग' [१।१] सूत्रसे पहले मङ्गलाचरण किया गया है और वह उक्त महत्त्वपूर्ण मङ्गलश्लोक ही है, जिसे विद्यानन्दने[2] सूत्रकार एव शास्त्रकार-रचित 'स्तोत्र' प्रकट करते हुए 'तीर्थोपम', 'प्रथित-पृथु-पथ' और 'स्वामिमीमासित' बतलाया है। विद्यानन्दके इन उल्लेखोसे स्पष्ट है कि स्वामी समन्तभद्रने इसी मङ्गलश्लोकके व्याख्यानमे अपनी महत्त्वपूर्ण कृति 'आप्तमीमासा' लिखी और स्वय विद्यानन्दने भी उसीके व्याख्यानमे आप्तपरीक्षा रची। सूत्रकार एव शास्त्रकार पदोसे विद्यानन्दका अभिप्राय तत्त्वार्थसूत्रकारसे है, तत्त्वार्थवृत्तिकारसे नही है। सर्वार्थसिद्धिमे उसे अपना मङ्गलाचरण बना लिया गया है और इसी कारण उसकी व्याख्या भी नही की गयी।

अत 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मङ्गल-पद्य तत्त्वार्थसूत्रका ही आचार्य गृद्धपिच्छ द्वारा रचित मङ्गलाचरण है।

---

१ अनेकान्त वर्ष ५, अङ्क ६, ७ व १०, ११, वीरसेवामन्दिर सरसावा (सहारनपुर)
२. आप्तपरीक्षा, कारिका ३ एवं १२३, वीर सेवामन्दिर-सस्करण, सन् १९४९।

रचना-प्रतिभा एव रचना-शैली

गृद्धपिच्छाचार्यके तत्त्वार्थसूत्रका अध्ययन करनेसे अवगत होता है कि उन्होने 'षट्खण्डागम', 'कषायपाहुड', 'कुन्दकुन्द-साहित्य', 'भगवती आराधना' 'मूलाचार' आदि ग्रन्थोका सम्यक् परिशीलन कर इस सूत्रग्रन्थकी रचना की है। द्रव्यानुयोग, करणानुयोग और चरणानुयोगका कोई भी विषय उनसे छूटने नही पाया है। आधुनिक विषयोकी दृष्टिसे भूगोल, खगोल, आचार, अध्यात्म, द्रव्य, गुण, पर्याय, पदार्थ, सृष्टिविद्या, कर्म-विज्ञान आदि विषय भी चर्चित हैं। आगमके अन्य प्रतिपाद्य पदार्थों का भी प्रतिपादन इस सूत्रग्रन्थमे पाया जाता है। अतएव गृद्धपिच्छाचार्य श्रुतधरपरम्पराके बहुज्ञ आचार्य है। अनेक विषयोको सक्षेपमे प्रस्तुत कर 'गागरमे सागर' भर देनेकी कहावत उन्होने चरितार्थ की है।

शैलीकी दृष्टिसे यह ग्रन्थ वैशेपिकदर्शनके वैशेषिकसूत्रशैलीमे लिखा गया है। वैशेषिकसूत्रोमे जहाँ अपने मन्तव्यके समर्थन हेतु तर्क प्रस्तुत किये गये है वहाँ तत्त्वार्थसूत्रमे भी सिद्धान्तोके समर्थनमे तर्क दिये गये हैं।[1]

सूत्रशैलीकी जो विशेपताएँ पहले कही जा चुकी हैं, वे सभी विशेषताएँ इस सूत्रग्रन्थमे विद्यमान है। यह रचना इतनी सुसम्बद्ध और प्रामाणिक है कि भगवान् महावीरकी द्वादशाङ्गवाणीके समान इसे महत्व प्राप्त है। गृद्ध-पिच्छाचार्य स्वसमय और परसमयके निष्णात ज्ञाता थे। उन्होने दार्शनिक विषयोको सूत्रशैलीमे बडी स्पष्टताके साथ प्रस्तुत किया है। सस्कृत-भाषामे सूत्रग्रन्थकी रचनाकर इन्होने जैन परम्परामे नये युगका आरम्भ किया है। ये ऐसे श्रुतधराचार्य है, जिन्होने एक ओर नवोपलब्ध दृष्टि प्राप्तकर परम्परासे प्राप्त तथ्योको युगानुरूपमे प्रस्तुत किया है तो दूसरी ओर सास्कृतिक और आगमिक व्यवस्थाके दायित्वका निर्वाह भी भलीभाँति किया है। फलत इनके पश्चात् सस्कृत भाषामे भी दार्शनिक, सैद्धान्तिक और काव्यादि ग्रन्थोका प्रणयन हुआ।

•

१ देखिए त० सू० १-३२, ५-३२, ५-३३, १०-६,७,८ आदि सूत्र।

द्वितीय परिच्छेद

सारस्वताचार्य

सारस्वताचार्योंने धर्म-दर्शन, आचार-शास्त्र, न्याय-शास्त्र, काव्य एव पुराण प्रभृति विषयक ग्रन्थोकी रचना करनेके साथ-साथ अनेक महत्वपूर्ण मान्य ग्रन्थो-की टीकाएँ, भाष्य एवं वृत्तियाँ भी रची हैं। इन आचार्योंने मौलिक ग्रन्थ-प्रणयनके साथ आगमकी वशवर्तिता और नई मौलिकताको जन्म देनेकी भीतरी बेचेनीसे प्रेरित हो ऐसे टीका-ग्रन्थोका सृजन किया है, जिन्हे मौलिकताकी श्रेणीमे परिगणित किया जाना स्वाभाविक है। जहाँ श्रुतधराचार्योंने दृष्टि-प्रवाद सम्बन्धी रचनाएँ लिखकर कर्मसिद्धान्तको लिपिबद्ध किया है, वहाँ सारस्वता-चार्योंने अपनी अप्रतिम प्रतिभा द्वारा विभिन्नविषयक वाङ्मयकी रचना की है। अतएव यह मानना अनुचित नही है कि सारस्वताचार्यो द्वारा रचित वाङ्मयकी पृष्ठभूमि अधिक विस्तृत और विशाल है।

सारस्वताचार्योंमे कई प्रमुख विशेषताएँ समाविष्ट है। यहाँ उनकी समस्त

विशेषताओका निरूपण तो सम्भव नही, पर कतिपय प्रमुख विशेषताओका निर्देश किया जायगा

१. आगमके मान्य सिद्धान्तोको प्रतिष्ठाके हेतु तर्कविषयक ग्रन्थोका प्रणयन ।

२ श्रुतधराचार्यो द्वारा सकेतित कर्म-सिद्धान्त, आचार-सिद्धान्त एव दर्शन-विषयक स्वतन्त्र ग्रन्थोका निर्माण ।

३ लोकोपयोगी पुराण, काव्य, व्याकरण, ज्योतिष प्रभृति विषयोंसे सम्बद्ध ग्रन्थोंका प्रणयन और परम्परासे प्राप्त सिद्धान्तोका पल्लवन ।

४ युगानुसारी विशिष्ट प्रवृत्तियोका समावेश करनेके हेतु स्वतन्त्र एव मौलिक ग्रन्थोका निर्माण ।

५ महनीय और सूत्ररूपमे निवद्ध रचनाओपर भाष्य एव विवृतियोका लेखन।

६ सस्कृतकी प्रबन्धकाव्य-परम्पराका अवलम्बन लेकर पौराणिक चरित और आख्यानोका ग्रथन एव जैन पौराणिक विश्वास, ऐतिह्य वंशानुक्रम, सम-सामायिक घटनाएँ एव प्राचीन लोककथाओके साथ ऋतु-परिवर्तन, सृष्टि-व्यवस्था, आत्माका आवागमन, स्वर्ग-नरक, प्रमुख तथ्यो एव सिद्धान्तोका सयोजन ।

७. अन्य दार्शनिको एव तार्किकोकी समकक्षता प्रदर्शित करने तथा विभिन्न एकान्तवादोकी समीक्षाके हेतु स्याद्वादको प्रतिष्ठा करनेवाली रचनाओका सृजन ।

सारस्वताचार्यो मे सर्वप्रमुख स्वामीसमन्तभद्र है। इनकी समकक्षता श्रुत-धराचार्यो से की जा सकती है। विभिन्नविषयक ग्रन्थ-रचनामे ये अद्वितीय हैं।

आचार्य समन्तभद्र

समन्तभद्रादिकवीन्द्रभास्वता स्फुरन्ति यत्रामलसूक्तिरश्मय ।
व्रजन्ति खद्योतवदेव हास्यता न तत्र किं ज्ञानलवोद्धता जना [1] ॥
समन्तभद्रादिमहाकवीश्वरा कुवादिविद्याजयलब्धकीर्तय ।
सुतर्कशास्त्रामृतसारसागरा मयि प्रसीदन्तु कवित्वकाक्षिणि [2] ॥
श्रीमत्समन्तभद्रादिकविकुञ्जरसञ्चयम् ।
मुनिवन्द्य जनानन्द नमामि वचनश्रियै [3] ॥

१. ज्ञानार्णव १।४१

२. वर्द्धमानसूरि, वराङ्गचरित, सोलापुर-सस्करण १।७

३ अलकारचिन्तामणि १।३

सारस्वताचार्योंमे सबसे प्रमुख और आद्य आचार्य समन्तभद्र है। जिस प्रकार गृद्धपिच्छाचार्य संस्कृतके प्रथम सूत्रकार है, उसी प्रकार जैन वाङ्मयमे स्वामी समन्तभद्र प्रथम संस्कृत-कवि और प्रथम स्तुतिकार हैं। ये कवि होनेके साथ प्रकाण्ड दार्शनिक और गम्भीर चिन्तक भी हैं। इन्हे हम श्रुतधर आचार्यपरम्परा और सारस्वत आचार्यपरम्पराको जोडनेवाली अटूट शृखला कह सकते हैं। इनका व्यक्तित्व श्रुतधर आचार्यो से कम नही है।

स्तोत्र-काव्यका सूत्रपात आचार्य समन्तभद्रसे ही होता है। ये स्तोत्र-कवि होने के साथ ऐसे तर्ककुशल मनीषी हैं, जिनकी दार्शनिक रचनाओपर अकलक और विद्यानन्द जैसे उद्भट आचार्यो ने टीका और विवृत्तियाँ लिखकर मौलिक ग्रन्थ रचयिताका यश प्राप्त किया है। वीतरागी तीर्थंकरकी स्तुतियोमे दार्शनिक मान्यताओका समावेश करना असाधारण प्रतिभाका ही फल है।

आदिपुराणमे आचार्य जिनसेनने इन्हे वादित्व, वाग्मित्व, कवित्व और गमकत्व इन चार विशेषणोसे युक्त बताया है। इतना ही नही, जिनसेनने इनको कवि-वेधा कहकर कवियोको उत्पन्न करनेवाला विधाता भी लिखा है

कवीना गमकानाञ्च वादिना वाग्मिनामपि।
यशः सामन्तभद्रीय मूर्ध्नि चूडामणीयते॥
नम समन्तभद्राय महते कविवेधसे।
यद्वचोवज्रपातेन निर्भिन्ना. कुमताद्रय ॥[1]

मैं कवि समन्तभद्रको नमस्कार करता हूँ, जो कवियोसे ब्रह्मा हैं, और जिनके वचनरूप वज्रपातसे मिथ्यामतरूपी पर्वत चूर-चूर हो जाते हैं।

स्वतन्त्र कविता करनेवाले कवि, शिष्योको मर्मतक पहुँचानेवाले गमक, शास्त्रार्थ करनेवाले वादी और मनोहर व्याख्यान देनेवाले वाग्मियोंके मस्तक पर समन्तभद्रस्वामीका यश चूडामणिके समान आचरण करनेवाला है। वादीभ-सिंहने अपने 'गद्यचिन्तामणि' ग्रन्थमे समन्तभद्रस्वामीकी तार्किक प्रतिभा एव शास्त्रार्थ करनेकी क्षमताकी सुन्दर व्यजना की है। समन्तभद्रके समक्ष बडे-बडे प्रतिपक्षी सिद्धान्तोका महत्त्व समाप्त हो जाता था और प्रतिवादी मौन होकर उनके समक्ष स्तब्ध रह जाते थे।

सरस्वतीस्वैरविहारभूमय समन्तभद्रप्रमुखा मुनीश्वरा ।
जयन्ति वाग्वज्रनिपातपाटितप्रतीपराद्धान्तमहीध्रकोटय [2] ॥

१ महापुराण, भाग १, १।४३-४४।

२. गद्यचिन्तामणि ।

श्रीसमन्तभद्र मुनीश्वर सरस्वतीकी स्वच्छन्द विहारभूमि थे। उनके वचन-रूपी वज्रके निपातसे प्रतिपक्षी सिद्धान्तरूपी पर्वतोंकी चोटियाँ चूर-चूर हो गयी थीं। उन्होंने जिनशासनकी गौरवमयी पताकाको नीले आकाशमें फहरानेका कार्य किया था। परवादी-पचानन वर्द्धमानसूरिने समन्तभद्रको 'महाकवीश्वर' और 'सुतर्कशास्त्रामृतसागर' कहकर उनसे कवित्वशक्ति प्राप्त करनेकी प्रार्थना-की है

समन्तभद्रादिमहाकवीश्वराः कुवादिविद्याजयलब्धकीर्तयः।
सुतर्कशास्त्रामृतसारसागरा मयि प्रसीदन्तु कवित्वकांक्षिणि[1] ॥

श्रवणबेलगोलाके शिलालेख नं० १०५ में समन्तभद्रकी सुन्दर उक्तियोंको वादीरूपी हस्तियोंको वश करनेके लिए वज्रांकुश कहा गया है तथा बतलाया है कि समन्तभद्रके प्रभावसे यह सम्पूर्ण पृथ्वी दुर्वादोंकी वार्तासे भी रहित हो गयी थी

समन्तभद्रस्स चिराय जीयाद्वादीभवज्राङ्कुशसूक्तिजालः।
यस्य प्रभावात्सकलावनीयं वन्ध्यास दुर्वादुकवार्तयापि ॥

स्यात्कारमुद्रित-समस्त-पदार्थपूर्णत्रैलोक्य-हर्म्यमखिलं स खलु व्यनक्ति।
दुर्वादुकोक्तितमसा पिहितान्तरालं सामन्तभद्र-वचन-स्फुटरत्नदीपः[2] ॥

ज्ञानार्णवके रचयिता शुभचन्द्राचार्यने समन्तभद्रको 'कवीन्द्र-भास्वान्' विशेषणके साथ स्मरण करते हुये उन्हें श्रेष्ठ कवीश्वर कहा है

समन्तभद्रादिकवीन्द्रभास्वतां स्फुरन्ति यत्रामलसूक्तिरश्मयः।
व्रजन्ति खद्योतवदेव हास्यतां न तत्र किं ज्ञानलवोद्धता जनाः[3] ॥

अजितसेनकी 'अलंकारचिन्तामणि' और ब्रह्म अजितके 'हनुमच्चरित्' एवं श्रवणबेलगोलाके अभिलेख नं० ५४ और अभिलेख नं० १०८ में समन्तभद्रका स्मरण महाकविके रूपमें किया गया है।

इस प्रकार जैन वाङ्मयमें समन्तभद्र पूर्ण तेजस्वी विद्वान्, प्रभावशाली दार्शनिक, महावादिविजेता और कवि-वेधाके रूपमें स्मरण किये गये हैं। जैन-धर्म और जैनसिद्धान्तके मर्मज्ञ विद्वान होनेके साथ तर्क, व्याकरण, छन्द, अलंकार एवं काव्य-कोषादि विषयोंमें पूर्णतया निष्णात थे। अपनी अलौकिक प्रतिभा द्वारा इन्होंने तात्कालिक ज्ञान और विज्ञानके प्रायः समस्त विषयोंको आत्मसात्

१ वाराङ्गचरित, वर्द्धमानसूरि, प्रकाशक रावजी सखाराम दोशी, १।७।
२ जैनशिलालेखसंग्रह, प्रथम भाग, अभिलेखसंख्या १०५, पद्य १७-१८।
३ ज्ञानार्णव १।१४।

कर लिया था। संस्कृत, प्राकृत आदि विभिन्न भाषाओंके पारगत विद्वान् थे। स्तुतिविद्याग्रन्थसे इनके शब्दाधिपत्यपर पूरा प्रकाश पड़ता है।

दक्षिण भारतमें उच्च कोटिके संस्कृत-ज्ञानको प्रोत्तेजन, प्रोत्साहन और प्रसारण देने वालोंमें समन्तभद्रका नाम उल्लेखनीय है। आप ऐसे युगसंस्थापक हैं, जिन्होंने जैन विद्याके क्षेत्रमें एक नया आलोक विकीर्ण किया है। अपने समयके प्रचलित नैरात्म्यवाद, शून्यवाद, क्षणिकवाद, ब्रह्माद्वैतवाद, पुरुष एवं प्रकृतिवाद आदिकी समीक्षाकर स्याद्वाद-सिद्धांतकी प्रतिष्ठा की है। 'अलंकारचिन्तामणि'में 'कविकुञ्जर', 'मुनिवंद्य' और 'जनानन्द' आदि विशेषणों द्वारा अभिहित किया गया है। श्रवणबेलगोलाके अभिलेखोंमें तो इन्हें जिनशासनके प्रणेता और भद्र-मूर्ति कहा गया है। इस प्रकार वाङ्मयसे समन्तभद्रके शास्त्रीय ज्ञान और प्रभाव-का परिचय प्राप्त होता है।

जीवन-परिचय

समन्तभद्रका जन्म दक्षिणभारतमें हुआ था। इन्हें चोल राजवंशका राज-कुमार अनुमित किया जाता है। इनके पिता उरगपुर (उरैपुर)के क्षत्रिय राजा थे। यह स्थान कावेरी नदीके तटपर फणिमण्डलके अंतर्गत अत्यंत समृद्धिशाली माना गया है। श्रवणबेलगोलाके दौर्वलि जिनदास शास्त्रीके भण्डारमें पायी जाने वाली आप्तमीमांसाकी प्रतिके अंतमें लिखा है "इति फणिमंडलालंकारस्योरग-पुराधिपसूनो श्रीस्वामीसमन्तभद्रमुनेः कृतौ आप्तमीमांसायाम्" इस प्रशस्ति-वाक्यमें स्पष्ट है कि समन्तभद्र स्वामीका जन्म क्षत्रियवंशमें हुआ था और उनका जन्मस्थान उरगपुर है। 'राजावलिकथे'में आपका जन्म उत्कलिका ग्राममें होना लिखा है, जो प्रायः उरगपुरके अंतर्गत ही रहा होगा। आचार्य जुगलकिशोर मुख्तारका अनुमान है कि यह उरगपुर उरैपुरका ही संस्कृत अथवा श्रुतमधुर नाम है, चोल राजाओंकी सबसे प्राचीन ऐतिहासिक राजधानी थी। 'त्रिचिना-पोली'का ही प्राचीन नाम उरयूर था। यह नगर कावेरीके तटपर बसा हुआ था, बन्दरगाह था और किसी समय बड़ा ही समृद्धशाली जनपद था।

इनका जन्म नाम शांतिवर्मा बताया जाता है। 'स्तुतिविद्या' अथवा 'जिन-स्तुतिशतम्'में, जिसका अपर नाम 'जिनशतक' अथवा 'जिनशतकालंकार' है, "गत्वैकस्तुतमेव"[1] आदि पद्य आया है। इस पद्यमें कवि और काव्यका नाम चित्रबद्धरूपमें अंकित है। इस काव्यके छह आरे और नव वलय वाली चित्ररचना परसे 'शांतिवर्मकृतम्' और 'जिनस्तुतिशतम्' ये दो पद निकलते हैं। लिखा

१ स्तुतिविद्या, पद्य ११६।

है "षडर नववलय चक्रमालिख्य सप्तमवलये शांतिवर्मकृत इति भवति।" "चतुर्थवलये जिनस्तुतिशतं इति च भवति अत कवि-काव्यनामगर्भ चक्रवृत्त भवति"[1]। इससे स्पष्ट है कि आचार्य समन्तभद्रने 'जिनस्तुतिशतम्'का रचयिता शांतिवर्मा कहा है, जो उनका स्वय नामांतर संभव है। यह सत्य है कि यह नाम मुनि अवस्थाका नहीं हो सकता, क्योंकि वर्मान्त नाम मुनियोंके नही होते। सभव है कि माता-पिताके द्वारा रखा गया यह समन्तभद्रका जन्मनाम हो। 'स्तुतिविद्या' किसी अन्य विद्वान द्वारा रचित न होकर समन्तभद्रकी ही कृति मानी जाती है। टीकाकार महाकवि नरसिंहने 'तार्किकचूडामणि श्रीमत् समन्तभद्राचार्यविरचित" सूचित किया है और अन्य आचार्य और विद्वानोंने भी इसे समन्तभद्रकी कृति कहा है। अतएव समन्तभद्रका जन्मनाम शांतिवर्मा रहा हो, तो कोई आश्चर्य नही है।

मुनिपद और भस्मक व्याधि

मुनि-दीक्षा-ग्रहण करनेके पश्चात् जब ये मणुवकहल्ली स्थानमे विचरण कर रहे थे कि उन्हे भस्मक व्याधि नामक भयानक रोग हो गया, जिससे दिगम्बर मुनिपदका निर्वाह उन्हे अशक्य प्रतीत हुआ। अतएव उन्होने गुरुसे समाधिमरण धारण करनेकी अनुमति माँगी। गुरुने भविष्णु शिष्यको आदेश देते हुए कहा "आपसे धर्म और साहित्यको बडी-बडी आशाएँ हैं, अत आप दीक्षा छोडकर रोग-शमनका उपाय करें। रोग दूर होनेपर पुन दीक्षा ग्रहण कर लें"। गुरुके इस आदेशानुसार समन्तभद्र रोगोपचारके हेतु नाग्न्यपदको छोडकर सन्यासी बन गये और इधर-उधर विचरण करने लगे। पश्चात् वाराणसीमे शिवकोटि राजाके भीमलिंग नामक शिवालयमे जाकर राजाको आशीर्वाद दिया और शिवजीको अर्पण किये जाने वाले नैवेद्यको शिवजीको ही खिला देनेकी घोषणा की। राजा इससे प्रसन्न हुआ और उन्हे शिवजीको नैवेद्य भक्षण करानेकी अनुमति दे दी। समन्तभद्र अनुमति प्राप्त कर शिवालयके किवाड बन्द कर उस नैवेद्यको स्वय ही भक्षण कर रोगको शात करने लगे। शनै शनै उनकी व्याधिका उपशम होने लगा और भोगकी सामग्री बचने लगी। राजाको इसपर सन्देह हुआ। अत गुप्तरूपसे उसने शिवालयके भीतर कुछ व्यक्तियोंको छिपा दिया। समन्तभद्रको नैवेद्यका भक्षण करते हुए छिपे व्यक्तियोने देख लिया। समन्तभद्रने इसे उपसर्ग समझ कर चतुर्विंशति तीर्थ करोंकी स्तुति आरभ की। राजा शिवकोटिके डरानेपर भी समन्तभद्र एकाग्रचित्तसे स्तवन करते रहे, जब ये चन्द्रप्रभ स्वामीकी स्तुति कर रहे थे कि भीमलिंग शिवकी पिण्डी विदीर्ण हो

१ स्तुतिविद्या, वसुनन्दि, पद्य ११६, पृ० १४१।

गयी और मध्यसे चन्द्रप्रभ स्वामीका मनोज्ञ स्वर्णबिम्ब प्रकट हो गया। समन्तभद्रके इस माहात्म्यको देखकर शिवकोटि राजा अपने भाई शिवायन सहित आश्चर्य चकित हुआ। समन्तभद्रने वर्द्धमान पर्यन्त चतुर्विंशति तीर्थङ्करोंकी स्तुति पूर्ण हो जानेपर राजाको आशीर्वाद दिया।

यह कथानक 'राजावलिकथे'मे उपलब्ध है। सेनगणकी पट्टावलिमे भी इस विषयका समर्थन होता है। पट्टावलीमे भीमलिंग शिवालयमे शिवकोटि राजाके समन्तभद्र द्वारा चमत्कृत और दीक्षित होनेका उल्लेख मिलता है। साथ ही उसे नवतिलिंग देशका राजा सूचित किया है, जिसकी राजधानी सम्भवत काञ्ची रही होगी। यहाँ यह अनुमान लगाना भी अनुचित नही है कि सम्भवत यह घटना काशीकी न होकर काञ्चीकी है। काञ्चीको दक्षिण काशी भी कहा जाता रहा है "नवतिलिंगदेशाभिरामद्राक्षाभिरामभीमलिङ्गस्वयम्वादिस्तोटकोत्कीरण ? रुद्रसान्द्रचन्द्रिकाविशदयश श्रीचन्द्रजिनेन्द्रसद्दर्शनसमुत्पन्नकौतूहलकलितशिवकोटिमहाराजतपोराज्यस्थापकाचार्यश्रीमत्समन्तभद्रस्वामिनाम्"[1]

इस तथ्यका समर्थन श्रवणबेलगोलाके एक अभिलेखसे भी होता है। अभिलेखमे समन्तभद्र स्वामीके भस्मक रोगका निर्देश आया है। आपत्काल समाप्त होने पर उन्होने पुन मुनि-दीक्षा ग्रहण की। बताया है -

"वन्द्यो भस्मक-भस्म-सात्कृति-पटु पद्मावतीदेवता-
दत्तोदात्त-पदस्व-मन्त्र-वचन-व्याहूत-चन्द्रप्रभ ।
आचार्यस्स समन्तभद्रगणभृद्येनेह काले कलौ,
जैन वर्त्म समन्तभद्रमभवद्भद्र समन्तान्मुहु ॥"[2]

अर्थात् जो अपने भस्मक रोगको भस्मसात् करनेमे चतुर है, पद्मावती नामक देवीकी दिव्यशक्तिके द्वारा जिन्हे उदात्त पदकी प्राप्ति हुई, जिन्होने अपने मन्त्रवचनोंसे चन्द्रप्रभको प्रकट किया और जिनके द्वारा यह कल्याणकारी जैन मार्ग इस कलिकालमे सब ओरसे भद्ररूप हुआ, वे गणनायक आचार्य समन्तभद्र बार-बार वन्दना किये जाने योग्य है।

यह अभिलेख शक सवत् १०२२ का है। अत समन्तभद्रकी भस्मक व्याधिकी कथा ई० सन्के १०वी, ११वी शताब्दीमे प्रचलित रही है।

ब्रह्म नेमिदत्तके आराधनाकथाकोशमे भी शिवकोटि राजाका उल्लेख है। राजाके शिवालयमे शिव-नैवेद्यसे भस्मक-व्याधिकी शान्ति और चन्द्रप्रभजिनेन्द्रकी स्तुति पढते समय जिनबिम्बका प्रादुर्भूत होना साथ-साथ वर्णित है। यह

१ जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १, किरण १, पृ० ३८।

२ जैन शिलालेखसग्रह, प्रथम भाग, अभिलेख सख्या ५४, पृ० १०२।

भी बताया गया है कि शिवकोधि महाराजने जिनदीक्षा भी धारण की थी।

ब्रह्मनेमिदत्तने शिवकोटिको काञ्ची अथवा नव तैलङ्ग देशका राजा न लिखकर वाराणसीका राजा लिखा है। भारतीय इतिहासके आलोडनसे न तो काशीके शिवकोटि राजाका ही उल्लेख मिलता है और न काञ्चीके ही।

प्रो० ए० चक्रवर्तीने पञ्चास्तिकायकी अपनी अंग्रेजी प्रस्तावनामें बताया है कि काञ्चीका एक पल्लवराजा शिवस्कन्ध वर्मा था, जिसने 'मायदावोलु' का दान-पत्र लिखाया है। इस राजाका समय विष्णुगोपसे पूर्व प्रथम शताब्दी ईस्वी है। यदि यही शिवकोटि रहा हो, तो समन्तभद्रके साथ इसका सम्बन्ध घटित हो सकता है। 'राजाबलि कथे', पट्टावलि, एव श्रवणबेलगोलाके अभिलेखमे शिवकोटिका निर्देश जिस रूपमे किया गया है उस रूपके अध्ययनसे उसके अस्तित्वसे इकार नही किया जा सकता है।

ब्रह्म नेमिदत्तने समन्तभद्रकी कथामे काशीका उल्लेख किया हैं। पर यह कुछ ठीक प्रतीत नही होता। कथाके ऐसे भी कुछ अश है जो यथार्थ नही मालूम होते। कथामे आया है "काञ्चीमे उस समय भस्मक व्याधिको नाश करनेके लिए स्निग्ध भोजनोकी सम्प्राप्तिका अभाव था। अत वे काञ्ची छोडकर उत्तरकी ओर चल दिये। वे पुण्ड्रेन्द्रनगरमे पहुँचे। यहाँ बौद्धोकी महती दानशाला देखकर उन्होने बौद्ध भिक्षुका रूप धारण किया। पर जब वहाँ भी महाव्याधिका उपशम नही हुआ तो वे वहाँसे निकलकर अनेक नगरोमे घूमते हुए दशपुर नगरमे पहुँचे। यहाँ भागवतोका उन्नत मठ देखकर वे विशिष्ट आहारप्राप्तिकी इच्छासे बौद्ध भिक्षुका वेष त्याग वैष्णव सन्यासी बन गये। यहाँके विशिष्ट आहार द्वारा भी जब उनकी भस्मक व्याधि शान्त न हुई, तो वे नाना देशोमे घूमते हुए वाराणसी पहुँचे और वहाँ उन्होने योगि-लिङ्ग धारण करके शिवकोटि राजाके शिवालयमे प्रवेश किया। यहाँ घी-दूध-दही-मिष्टान्न आदि नाना प्रकारके नैवेद्य शिवके भोगके लिए तैयार किये जाते थे। समन्तभद्रने शिवकोटि राजासे निवेदन किया कि वे अपनी दिव्यशक्ति द्वारा समस्त नैवेद्यको शिवको खिला सकते हैं। राजाका आदेश प्राप्त कर समन्तभद्रने मन्दिरके कपाट बन्द कर समस्त नैवेद्य स्वय ग्रहण किया और आचमनके पश्चात् किवाड खोल दिये। राजा शिवकोटिको महान आश्चर्य हुआ कि मनोकी परिमाणमे उपस्थित किया गया नैवेद्य साक्षात् शिवने ही अवतरित होकर ग्रहण किया है। योगिराजकी शक्ति अपूर्व है, अतएव उनको शिवालयका प्रधान पुरोहित नियुक्त किया। समन्तभद्र प्रतिदिन नैवेद्य प्राप्त करने लगे और शनै शनै उनकी भस्मक व्याधि शान्त होने लगी। मन्दिरके प्रमुख पुरोहितोने

ईर्ष्यावश समन्तभद्रकी देखरेख की और राजाको सूचना दी कि तथाकथित योगि शिवको नैवेद्य न ग्रहण कराकर स्वयं नैवेद्य ग्रहण कर लेता है। राजाके आदेशानुसार एक दिन समन्तभद्रको भोजन करते हुए पकड लिया गया और उनसे शिवको नमस्कार करनेके लिए कहा। समन्तभद्रने उत्तर दिया, "रागी-द्वेषी देव मेरे नमस्कारको सहन नही कर सकता है। राजाने आज्ञा दी कि अपना सामर्थ्य दिखलाकर स्ववचनको सिद्ध करो।

रात्रिमे समन्तभद्रको वचन-निर्वाहको चिन्ता हुई, क्योकि प्रातःकाल ही उनको अपनी परीक्षामे उत्तीर्ण होना था। उनकी चिन्ताके कारण अम्बिका देवीका आसन कम्पित हुआ और वह दौडकर समन्तभद्रके समक्ष उपस्थित हुई और उन्हे आश्वासन दिया। प्रातःकाल होनेपर अपार भीड एकत्र हुई और समन्तभद्रने अपना स्वयम्भूस्तोत्र आरम्भ किया। जिस समय वे चन्द्रप्रभ भगवानकी स्तुति करते हुए 'तमस्तमोरेरिव रश्मिभिन्नम्' यह वाक्य पढ रहे थे, उसी समय वह शिवलिङ्ग खण्ड-खण्ड हो गया और उसके स्थानपर चन्द्रप्रभ भगवानकी चतुर्मुखी प्रतिमा प्रकट हुई। राजा शिवकोटि समन्तभद्रके इस महत्त्वको देखकर आश्चर्यचकित हो गया और उसने समन्तभद्रसे उनका परिचय पूछा। समन्तभद्रने उत्तर देते हुए कहा

"काञ्च्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिण्डः।
पुण्ड्रोण्ड्रे शाक्यभिक्षुर्दशपुरनगरे मिष्टभोजी परिव्राट् ॥
वाराणस्यामभूवं शशधरधवलः पाण्डुराङ्गस्तपस्वी।
राजन् यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी[1] ॥"

मैं काञ्चीमे नग्नदिगम्बर यतिके रूपमें रहा, शरीरमे रोग होनेपर पुण्ड्र-नगरीमे बौद्ध भिक्षु बनकर मैंने निवास किया। पश्चात् दशपुर नगरमे मिष्टान्न-भोजी परिव्राजक बनकर रहा। अनन्तर वाराणसीमे आकर शैव तपस्वी बना। हे राजन्! मैं जैननिर्ग्रन्थवादी स्याद्वादी हूँ। यहाँ जिसकी शक्ति वाद करने-की हो वह मेरे सम्मुख आकर वाद करे। द्वितीय पद्यमे आया है

पूर्वं पाटलिपुत्र-मध्य-नगरे भेरी मया ताडिता
पश्चान्मालव-सिन्धु-ठक्क-विषये काञ्चीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं सङ्कटं
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम्[2] ॥

१. विद्वद्रत्नमाला, पृ० १६६।
२. जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, अभिलेख संख्या-५४, पद्य-७, पृ० १०२।

मैंने पहले पाटलिपुत्र नगरमे वादकी भेरी बजाई। पुन मालवा, सिन्धु देश, ढक्क ढाका(बंगाल), काञ्चीपुर और वैदिश -विदिशा भेलसाके आसपासके प्रदेशोमे भेरी बजाई। अब बडे-बडे वीरोसे युक्त इस करहाटक-कराड, जिला सतारा, नगरको प्राप्त हुआ हूँ। इस प्रकार हे राजन्! मै वाद करनेके लिए सिहके समान इतस्तत क्रीडा करता फिरता हूँ।

राजा शिवकोटिको समन्तभद्रका चमत्कारक उक्त आख्यान सुनकर विरक्ति हो गयी और वह अपने पुत्र श्रीकण्ठको राज्य देकर प्रव्रजित हो गया। समन्तभद्रने भी गुरुके पास जाकर प्रायश्चित्त ले पुन दीक्षा ग्रहण की।

ब्रह्म नेमिदत्तके आराधनाकथा-कोषकी उक्त कथा प्रभाचन्द्रके गद्यात्मक लिखे गये कथाकोषके आधारपर लिखी गयी है। बुद्धिवादीकी दृष्टिसे उक्त कथाका परीक्षण करनेपर समस्त तथ्य बुद्धिसगत प्रतीत नही होते हैं, फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि समन्तभद्रको भस्मक व्याधि हुई थी और उसका शमन किसी शिवकोटिनामक राजाके शिवालयमे जानेपर हुआ था। हमारा अनुमान है कि यह घटना दक्षिण काशी अर्थात् काञ्चीकी होनी चाहिए।

गुरु-शिष्यपरम्परा

समन्तभद्रको गुरु-शिष्यपरम्पराके सम्बन्धमे अभी तक निर्णीत रूपसे कुछ भी नही कहा जा सकता है। समस्त जैन वाङ्मयमे समन्तभद्रके सम्बन्धमे प्रशसात्मक उक्तियाँ मिलती हैं। समन्तभद्र वर्धमान स्वामीके तीर्थको सहस्रगुनी वृद्धि करने वाले हुए और इन्हे श्रुतकेवलिऋद्धि प्राप्त थी। चन्नरायपट्टण ताल्लुकेके अभिलेख न० १४९मे श्रुतकेवली-सतानको उन्नत करने वाले समन्तभद्र बताये गये हैं

"श्रुतकेवलिगलु पलवरुम्
अतीतर् आद् इम्बलिक्के तत्सन्तानो ।
न्नतिय समन्तभद्र
वृतिपर् ब्रलेन्दरू समस्तविद्यानिधिगल् ॥[1]

यह अभिलेख शक सवत् १०४७का है। इसमे समन्तभद्रको श्रुतकेवलियोके समान कहा गया है। एक अभिलेखमे बताया है कि श्रुतकेवलियो और अन्य आचार्योके पश्चात् समन्तभद्रस्वामी श्रीवर्धमानस्वामीके तीर्थकी सहस्रगुणी वृद्धि करते हुए अभ्युदयको प्राप्त हुए।

"श्रीवर्द्धमानस्वामिगलु तीर्थदोलु केवलिगलु ऋद्धिप्राप्तरू श्रुतकेवलिगलु

१ एपिग्राफिया कर्णाटिका, पचम जिल्द, अभिलेखन न०-१४९।

पलरु सिद्धसाध्यर् आगे तत् त्र्य्यम सहलगुण माडि समन्तभद्र स्वा-
मिगलु सन्दर् ।"[1]

इन अभिलेखोसे इतना ही निष्कर्ष निकलता है कि समन्तभद्र श्रुतधरोंकी परम्पराके आचार्य थे। इन्हे जो श्रुतपरम्परा प्राप्त हुई थी, उस श्रुतपरम्पराको इन्होने बहुत ही वृद्धिगत किया।

विक्रमकी १४ वी शताब्दीके विद्वान् कवि हस्तिमल्ल और 'अय्यप्पार्यने' 'श्रीमूलसघव्योमनेन्दु' विशेषण द्वारा इनको मूलसंघरूपी आकाशका चन्द्रमा बताया हैं। इससे स्पष्ट है कि समन्तभद्र मूलसघके आचार्य थे।

श्रवणबेलगोलके अभिलेखोसे ज्ञात होता है कि भद्रबाहु श्रुतकेवलीके शिष्य चन्द्रगुप्त, चन्द्रगुप्त मुनिके वशज पद्मनन्दि अपरनाम कुन्दकुन्द मुनिराज, उनके वशज गृद्धपिच्छाचार्य और गृद्धपिच्छके शिष्य बलाकपिच्छाचार्य और उनके वशज समन्तभद्र हुए। अभिलेखमे बताया है

"श्रीगृद्धपिच्छ-मुनिपस्य बलाकपिच्छ
शिष्योऽजनिष्टभुवनत्रयवर्त्तिकीर्ति ।
चारित्रचञ्चुरखिलावनिपाल-मौलि-
माला-शिलीमुख-विराजितपादपद्म. ॥
एव महाचार्यपरम्पराया स्यात्कारमुद्राङ्किततत्त्वदीप ।
भद्रस्समन्ताद्गुणतो गणीशस्समन्तभद्रोऽजनि वादिसिह ॥"[2]

इन पद्योसे विदित है कि समन्तभद्र कुन्दकुन्द, गृद्धपिच्छाचार्य आदि महान् आचार्योंकी परम्परामे हुए थे।

सेनगणकी पट्टावलिमें[3] समन्तभद्रको सेनगणका आचार्य सूचित किया है। यद्यपि इस पट्टावलिमे आचार्योंकी क्रमबद्ध परम्परा अकित नही की गयी है, तो भी इतना स्पष्ट है कि समन्तभद्रको उसमे सेनगणका आचार्य परिगणित किया है।

श्रवणबेलगोलाके अभिलेख न० १०८ मे नन्दि, सेन आदि चार प्रकारके सघ-भेदका भट्टाकलकदेवके स्वर्गारोहणके पश्चात् उल्लेख है। परन्तु समन्तभद्र अकलंकदेवसे बहुत पहले हो चुके हैं। अकलकदेवसे पहलेके साहित्यमे इन चार प्रकारके गणोका कोई उल्लेख भी दिखलाई नही पड़ता है। यद्यपि इन्द्रनन्दिके श्रुतावतार एव अभिलेख न० १०५मे इन चारो सघोका प्रवर्तक अर्हद्बलि आचार्यको

१. बेलूर ताल्लुकेका कन्नडी अभिलेख न०-१७।
२. जैन शिलालेख सग्रह, प्रथम भाग, अभिलेख सख्या ४०, पद्य ८-९, पृ० २५।
३. जैन सिद्धान्त भास्कर, १।१, जैन सिद्धान्त भवन, आरा।

लिखा है। पर श्रुतावतार अकलंकदेवसे पश्चात्वर्ती रचना है।

तिरुमकूडलु नरसिपुर ताल्लुकेके शिलालेख नं० १०५मे समन्तभद्रको द्रमिल सघके अन्तर्गत नन्दिसघकी अरुगल शाखाका विद्वान् सूचित किया है।

अत यह निश्चयपूर्वक कह सकना कठिन है कि समन्तभद्र अमुक गण या सघके थे। इतना तथ्य है कि समन्तभद्र गृद्धपिच्छाचार्यके 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' मगलस्तोत्रमे स्तुत आप्तके मीमासक होनेसे वे उनके तथा कुन्दकुन्दके अन्वयमे हुए हैं।

समय-निर्धारण

आचार्य समन्तभद्रके समयके सम्बन्धमे विद्वानोने पर्याप्त ऊहापोह किया है। मि० लेविस राईसका अनुमान है[1] कि समन्तभद्र ई० की प्रथम या द्वितीय शताब्दीमे हुए हैं।

'कर्नाटक कविचरिते' नामक कन्नडी ग्रन्थके रचयिता आर नर्रसिंहाचार्यने समन्तभद्रका समय शक सवत् ६० (ई० सन् १३८)के लगभग माना है। उनके प्रमाण भी राईसके समान ही हैं।

श्रीयुत् एम० एस० रामस्वामी आयगरने अपनी 'Studies in Sowth Indian Jainism' नामक पुस्तकमे लिखा है "समन्तभद्र उन प्रख्यात दिगम्बर लेखकोकी श्रेणीमे सबसे प्रथम थे, जिन्होने प्राचीन राष्ट्रकूट राजाओके समयमे महान् प्राधान्य प्राप्त किया।"

मध्यकालीन भारतीय न्यायके इतिहास (हिस्ट्री ऑफ दी मिडिआवल स्कूल ऑफ इण्डियन लाजिक) मे डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषणने यह अनुमान प्रकट किया है कि समन्तभद्र ई० सन् ६००के लगभग हुए है। उन्होने अपने इस कथनके लिए कोई तर्क नही दिया। केवल इतना ही बतलाया है कि बौद्ध तार्किक धर्मकीर्तिका समकालीन कुमारिलभट्ट है और इनका समय ई० सन् सातवी शताब्दी है। कुमारिलने समन्तभद्रका निर्देश किया है। अत कुमारिल-के पूर्व समन्तभद्रका समय मानना उचित है।

सिद्धसेनने अपने न्यायावतारमे समन्तभद्रके रत्नकरण्डकश्रावकाचारका निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया है

"आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्र कापथघट्टनम्॥"[2]

१ Inscriptions at shravan Belgol नामक पुस्तककी प्रस्तावना।

२ रत्नकरण्डश्रावकाचार, पद्य ९।

इस पद्यको लेकर विवाद है। पंडित सुखलालजीका मत है कि यह न्यायावतारका मूल पद्य है। वहींसे यह रत्नकरण्डश्रावकाचारमें गया है। पर विचार करनेसे यह तर्क संगत प्रतीत नहीं होता है। यतः रत्नकरण्डश्रावकाचारमें जिस स्थान पर यह पद्य आया है वहाँ वह क्रमबद्धरूपमें नियोजित है। समन्तभद्रने सम्यग्दर्शनकी परिभाषा करते हुए आप्त, आगम और तपोभृतके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है।[1] इस प्रसंगमें उन्होंने सर्व प्रथम आप्तका स्वरूप बतलाया है और तत्पश्चात् आगमका। शास्त्रका स्वरूप बतलाते हुए उक्त पद्य लिखा है। इसके अनन्तर तपोभृतका स्वरूप बतलाया है। अतः क्रमबद्धताको देखते हुए उक्त पद्यका उद्भवस्थान समन्तभद्रका रत्नकरण्डश्रावकाचार है। वह अन्यत्र से उद्धृत नहीं है। परन्तु यह स्थिति न्यायावतारमें नहीं है। न्यायावतारमें स्वार्थानुमानका लक्षणनिरूपणके पश्चात् शाब्द आगम प्रमाणका कथन करनेके लिए एक पद्य, जिसमें शाब्दका पूरा लक्षण आ गया है, निबद्ध कर इस पद्यको उपस्थित किया है, जिसे वहाँसे अलग कर देनेपर ग्रन्थका भङ्ग भी नहीं होता। परन्तु रत्नकरण्डश्रावकाचारमेंसे उसे हटा देने पर ग्रन्थ-भङ्ग हो जाता है। अतः इस पद्यको न्यायावतारमें मूल ग्रन्थरचयिताका नहीं माना जा सकता है। न्यायावतारमें शाब्दप्रमाणका लक्षण निम्न प्रकार है

दृष्टेष्टाव्याहताद्वाक्यात्परमार्थाभिधायिनः ।
तत्त्वग्राहितयोत्पन्नं मानं शाब्दं प्रकीर्तितम् ॥[2]

इस पद्यके पश्चात् ही उक्त 'आप्तोपज्ञ' आदि पद्य दिया है, जो व्यर्थ, पुनरुक्त और अनावश्यक है। आचार्य श्री जुगलकिशोरने अपने 'स्वामी समन्तभद्र' शीर्षक प्रबन्धमें विस्तारसे इसपर विचार किया है। अतएव न्यायावतारमें उल्लिखित उक्त पद्यके आधार पर समन्तभद्रको उसके कर्ता सिद्धसेनसे उत्तरवर्ती बतलाना समुचित नहीं है।

स्वामी समन्तभद्रके समयपर विचार करनेवाले जैन विचारकोंमें दो विचारधाराएँ उपलब्ध हैं। प्रथम विचारधाराके प्रवर्तक पंडित नाथूरामजी प्रेमी हैं और उसके समर्थक डॉ० हीरालालजी आदि हैं। प्रेमीजीने स्वामी समन्तभद्रका समय छठी शताब्दी माना[3] है। उनका तर्क है कि 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' मंगलाचरण सूत्रकार उमास्वामीका न होकर सर्वार्थसिद्धिटीकाकार देव-

१ रत्नकरण्डश्रावकाचार, पद्य ४।

२ न्यायावतार, सम्पादक डा० पी० एल० वैद्य, सन् १९२८।

३ जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ४५,४६।

नन्दि-पूज्यपादका है और इसी मंगलाचरणके आधार पर स्वामी समन्तभद्रने 'आप्तमीमांसा' नामक ग्रन्थकी रचना की है। अतएव इनका समय देवनन्दि-पूज्यपाद (ई० ५वी शती)के अनन्तर होना चाहिये। प्रेमीजीके इस मतका समर्थन कुछ भिन्न युक्तियो द्वारा आचार्य श्रीसुखलालजी सघवी[1] एव डॉ० महेन्द्र-कुमारजी न्यायाचार्यने भी किया[2] है। पडित सुखलालजीने समन्तभद्रपर प्रसिद्ध बौद्ध तार्किक धर्मकीर्तिका प्रभाव अनुमित कर उनका समय धर्मकीर्तिके उपरान्त बतलाया है। प० महेन्द्रकुमारजीने 'मोक्षमार्गस्य नेतार' मगलाच-रणको देवनन्दि-पूज्यपादका सिद्ध कर उसपर आप्तमीमासा लिखनेवाले समन्तभद्रका समय उनके बाद अर्थात् छठी शताब्दी माना है।

किन्तु उल्लेखनीय है कि जैन सिद्धान्त भास्कर भाग ९, किरण १ मे 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' शीर्षकसे जो उन्होने निबन्ध लिखा था और जिसके आधार पर आचार्य समन्तभद्रका उक्त छठी शताब्दी समय निर्धारित किया था, जिसका उल्लेख न्यायकुमुदचन्द्रके द्वितीय भागकी प्रस्तावनामे किया था, उसपर डॉ० दरबारीलालजी कोठियाने 'तत्त्वार्थसूत्रका मगलाचरण' शीर्षक दो विस्तृत निबन्धो द्वारा 'अनेकान्त' वर्ष ५, किरण ६, ७ तथा १०, ११ मे गहरा विचार करके 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' मगलस्तोत्रको तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य गृद्धपिच्छका सिद्ध किया है। फलत डॉ० महेन्द्रकुमारजीने अपने पुराने विचारमे परिवर्तन कर समन्तभद्रका समय 'सिद्धिविनिश्चयटीका'की प्रस्तावना एव 'जैन दर्शन' ग्रन्थोमे ई० सन् द्वितीय शताब्दी स्वीकार कर लिया है,[3] जो आचार्य मुख्तार आदि विद्वानोकी दृढ मान्यता है।

आचार्य श्री जुगलकिशोर जी मुख्तारने[4] समन्तभद्रके साहित्यका गम्भीर आलोडन कर उनका समय विक्रमकी द्वितीय शती माना है। इनके इस मतका समर्थन डॉ० ज्योति प्रसाद जैनने अनेक युक्तियोसे किया है। उन्होंने लिखा है स्वामी समन्तभद्रका समय १२०-१८५ ई० निर्णित होता है और यह सिद्ध होता है कि उनका जन्म पूर्वतटवर्ती नागराज्य सघके अन्तर्गत उरगपुर (वर्त-मान त्रिचनापल्ली)के नागवशी चोल नरेश कीलिकवर्मनके कनिष्ठ पुत्र एव

१, न्यायकुमुदचन्द्र, भाग २ का प्राक्कथन।

२. न्यायकुमुदचन्द्र, भाग २ की प्रस्तावना।

३ सिद्धिविनिश्चयटीका, प्रस्तावना, पृ० १७, भारतीयज्ञानपीठ, तथा जैनदर्शन, पृ० २२, श्रीगणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी।

४ रत्नकरण्ड श्रावकाचार, माणिचन्द्रग्रन्थमाला, स्वामी समन्तभद्र शीर्षक प्रबन्ध, तथा अनेकान्त वर्ष १४, किरण१, पृ० ३-८।

उत्तराधिकारी सर्ववर्मन (शेषनाग)के अनुज राजकुमार शान्तिवर्मनके रूपमे सम्भवतया ई० सन् १२०के लगभग हुआ था, सन् १३८ ई० (पट्टावलि प्रसत्त शक सं० ६०)मे उन्होने मुनिदीक्षा ली और १८५ ई०के लगभग वे स्वर्गस्थ हुए प्रतीत होते है। अतएव समन्तभद्रका समय अनेक प्रमाणोके आधार पर ईस्वी सन्की द्वितीय शती अवगत होती है।[1]

इनके चित्रालकार सम्बन्धी स्तुतिविद्याके आधार पर जो यह कहा जाता है कि समन्तभद्र अलकृत काव्ययुगके कवि हैं और इनका समय भारविके आस-पास मानना चाहिये। यह तर्क भी अधिक सबल नही है। एकाक्षरी या द्वयक्षरी या अन्य चित्रकाव्योकी परम्परा वैदिक कालसे ही यत्किंचित् रूपमें प्राप्त होने लगती है। दक्षिण भारतमे चित्रकाव्योकी परम्परा बहुत प्राचीन समयसे चली आ रही है। समन्तभद्रने चित्रकाव्यका प्रयोग उसी परम्पराके आधारपर किया है। अत. उसके आधारपर पर उनका समय अर्वाचीन बतलाना युक्त नही है। अतएव संक्षेपमे समन्तभद्रका समय ई० सन् द्वितीय शताब्दी है और 'मोक्ष-मार्गस्य नेतार'को आचार्य विद्यानन्दने सूत्रकार गृद्धपिच्छका ही मगलाचरण माना है, सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपाद-देवनन्दिका नही।

समन्तभद्रकी रचनाएँ

सस्कृत-काव्यका प्रारम्भ ही स्तुति-काव्यसे हुआ है। जिसप्रकार वैदिक ऋषियोने स्वानुभूति जीवनकी जीवन्तधारा और सौन्दर्यभावनाको स्तुति-काव्यकी पटभूमिपर ही अकित किया है, उसीप्रकार स्वामी समन्तभद्रने भी दर्शन, सिद्धान्त एव न्यायसम्बन्धी मान्यताओको स्तुति-काव्यके माध्यमसे अभिव्यक्त किया है। अतएव स्तुतियोकी विभिन्न परम्परामे आद्य जैन स्तुति-कार समन्तभद्रने बौद्धिक चिन्तन और मानवजीवनकी प्रोज्ज्वल कल्पनाको स्तुति-काव्यके रूपमे ही मूर्तिमत्ता प्रदान की है। इनके द्वारा रचित स्तुतियोमे तरल भावनाओके साथ मस्तिष्कका चिन्तनभी समवेत है। समन्तभद्र द्वारा लिखित निम्नलिखित रचनाएँ मानी जाती हैं

१. बृहत् स्वयम्भूस्तोत्र
२ स्तुतिविद्या जिनशतक
३ देवागमस्तोत्र आप्तमीमासा
४ युक्त्यनुशासन
५ रत्नकरण्डकश्रावकाचार

१. अनेकान्त, वर्ष १४, किरण ११-१२, पृ० ३२४।

६ जीवसिद्धि
७ तत्वानुशासन
८ प्राकृतव्याकरण
९ प्रमाणपदार्थ
१० कर्मप्राभृतटीका
११ गन्धहस्तिमहाभाष्य

१ वृहत् स्वम्भूस्तोत्र इसका अपर नाम स्वम्भूस्तोत्र अथवा चतुर्विंशति स्तोत्र भी[1] है। इसमे ऋषभदेवसे लेकर महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरोकी क्रमश स्तुतियाँ है। इस स्तोत्रके भक्तिरसमे गम्भीर अनुभूति एव तर्कणायुक्त चिन्तन निबद्ध है। अत इसे सरस्वतीकी स्वच्छन्द विहारभूमि कहा जा सकता है। इस 'स्तोत्र'के संस्कृत-टीकाकार प्रभाचन्द्रने इसे 'नि शेषजिनोक्त-धर्म' कहा है। इसमे कुल पद्योकी सख्या निम्न प्रकार है

१ श्रीऋषभजिन स्तवन, पद्य ५, २ श्रीअजितजिन स्तवन, पद्य ५, ३ श्री सम्भवजिन स्तवन, पद्य ५, ४ श्रीअभिनन्दनजिन स्तवन पद्य ५, ५. श्रीसुमति जिन स्तवन पद्य ५, ६ श्रीपद्मप्रभजिन स्तवन पद्य ५, ७ श्रीसुपार्श्वजिन स्तवन पद्य ५, ८ श्रीचन्द्रप्रभजिन स्तवन पद्य ५, ९. श्रीसुविधिजिन स्तवन पद्य ५, १० श्रीशीतलजिन स्तवन पद्य ५, ११ श्रीश्रेयोजिन स्तवन पद्य ५, १२ श्रीवासुपूज्यजिन स्तवन पद्य ५, १३ श्रीविमल जिनस्तवन पद्य ५, १४ श्रीअनन्तजिन स्तवन पद्य ५, १५ श्रीधर्मजिन स्तवन पद्य ५, १६. श्रीशान्तिजिन स्तवन पद्य ५, १७ श्रीकुन्थुजिन स्तवन पद्य ५, १८ श्रीअरजिन स्तवन पद्य २०, १९ श्रीमल्लिजिन स्तवन पद्य, ५, २० श्रीमुनिसुव्रतजिन स्तवन पद्य ५, २१ श्रीनमिजिन स्तवन पद्य ५, २२. श्रीअरिष्टनेमिजिन स्तवन पद्य १०, २३. श्री पार्श्वजिन स्तवन पद्य ५, २४ श्रीवीरजिन स्तवन पद्य ८ = १४३।

इस स्तोत्रमे कविने प्रबन्ध-पद्धतिके बीजोको निहित कर इतिवृत्त सम्बन्धी अनेक तथ्योको प्रस्तुत किया है। प्रथम तीर्थंकरको प्रजापतिके रूपमे असि, मषि, कृषि, सेवा, शिल्प और वाणिज्यका उपदेष्टा कहा है। इस स्तोत्रमे आये हुए 'निर्दय-भस्मसात्क्रियाम्' पदसे सम्मत आचार्यने अपनी भस्मक व्याधिका सकेत किया है तथा सम्भवनाथकी स्तुतिमे सम्भवजिनको वैद्यका रूपक देकर अपनी जीवन-घटनाओकी ओर सकेत किया है। इसी प्रकार "यस्याङ्ग-लक्ष्मी-परिवेश भिन्न

१ अनुवादक और सम्पादक श्री पडित जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर', प्रकाशक वीर मन्दिर, २१ दरियागंज दिल्ली।

तमस्तमोरेखि रश्मिभिन्नम्[1]" पदसे राजा शिवकोटिके शिवालयमे घटित हुई घटनाका सकेत प्राप्त होता है।

समन्तभद्रने वाद (शास्त्रार्थ) द्वारा जैन सिद्धान्तोका प्रचार किया था। श्रवण-बेलगोलके अभिलेखोके अनुसार पाटलिपुत्र, ढक्क, मालव, काची आदि देशोमे उन्होने शास्त्रार्थ कर जिनसिद्धान्तोकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की थी। इस ओर भी उनका सकेत "स्व-पक्ष-सौस्थित्य-मदाऽवलिप्ता वाक्सिंह-नादैर्विमदा बभूवु "[2] पद्यांशसे मिलता है।

शान्तिनाथतीर्थंकरने चक्रवर्तित्वपद प्राप्त किया था और उन्होने षट्खण्ड-की दिग्विजयकर समस्त राजाओको करद बनाया था। उनके राज्यकालमे प्रजा अत्यन्त सुखी और समृद्ध थी। इस बातकी सूचना निम्नलिखित पद्यांशोसे प्राप्त होती है

"चक्रेण य शत्रु-भयङ्करेण जित्वा नृप सर्व-नरेन्द्र-चक्रम्[3]"

× × × ×

"विधाय रक्षा परत प्रजाना राजा चिर योऽप्रतिम-प्रताप[4]"

मल्लिजिन आजन्म ब्रह्मचारी थे। उनकी गणना बालयतियोमे है। इसी प्रकार अरिष्ट नेमिको भी बालयति कहा गया है। इन दोनो तीर्थंकरोके स्तवन-मे 'महर्षि' या 'ऋषि' शब्दके प्रयोग आये हैं, जो इन तीर्थंकरोके बालयतित्वको अभिव्यक्त करते हैं।

पार्श्वनाथस्तोत्रमे तीर्थंकर पार्श्वनाथके मुनिजीवनमे तपश्चर्या करते समय वैरी कमठ द्वारा किये उपसर्ग तथा पद्मावती और धरणेन्द्र द्वारा उसके निवारण-का वर्णन निम्नलिखित पद्योमे किया है

"तमाल-नीलै सधनुस्तडिद्गुणै प्रकीर्ण-भीमाशनि-वायु-वृष्टिभि ।
बलाहकैर्वैरि-वशैरुपद्रुतो महामना यो न चचाल योगत ॥
बृहत्फणा-मण्डल-मण्डपेन य स्फुरत्-तडित्पिङ्ग-रुचोपसर्गिणम् ।
जुगूह नागो धरणो धराधर विराग-सध्या-तडिदम्बुदो यथा[5] ॥

इस प्रकार इस स्तोत्र-काव्यमे प्रबन्धात्मक बीजसूत्र सर्वत्र विद्यमान है।

१ चन्द्रप्रभजिन स्तवन, पद्य २।
२ वही, पद्य ३।
३ शान्तिजिन स्तवन, पद्य २।
४ वही, पद्य १।
५ पार्श्वनाथ स्तवन, पद्य १, २।

स्तोत्रसाहित्यका निर्माता वही सफल माना जाता है, जो स्तोत्रोके मध्यमे प्रबन्धात्मक बीजोकी योजना करता है। इस योजनासे स्तोत्र सरस तो बनते ही हैं, साथ ही उनमे प्रेषणीयता विशेष उत्पन्न होती है। समन्तभद्राचार्यने वैदिक मन्त्रोंके समान ही प्रबन्धगर्भित स्तोत्रोका प्रणयनकर दार्शनिक और काव्यात्मक क्षेत्रमे नये चरणचिन्ह उपस्थित किये हैं।

वशस्थ, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, वसन्ततिलका, रथोद्धता, पथ्या-वक्त्र-अनुष्टुप्, सुभद्रिका-मालतीमिश्रित, वानवासिका, वैतालीय, शिखरिणी, उद्गता एव आर्यागीति इन तेरह प्रकारके छन्दोका प्रयोग पाया जाता है। अलकार-योजनाकी दृष्टिसे उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अर्थान्तरन्यास, उदाहरण, दृष्टान्त एव अन्योक्ति प्रभृति अलकार उल्लेख्य है। अतिशयोक्तिका निम्न उदाहरण ध्यातव्य है

तव रूपस्य सौन्दर्यं दृष्ट्वा तृप्तिमनापिवान्[1]।
द्वयक्ष शक्र सहस्राक्षो बभूव बहु-विस्मय ॥

यहाँ भगवान्के सौन्दर्यको दो नेत्रोंसे देखनेमे अतृप्तिका अनुभव करते हुए इन्द्रने सहस्र नेत्र धारणकर भगवान्के रूप-सौन्दर्यका अवलोकन कर आश्चर्य प्राप्त किया है। इस सन्दर्भमे अतिशयोक्ति है।

उदाहरणालंकार

सुखाभिलाषाऽनलदाहमूर्च्छित मनो निज ज्ञानमयाऽमृताम्बुभि ।
व्यदिध्यपस्त्व विषदाहमोहित यथा भिषग्मन्त्रगुणे स्वविग्रहम्[2] ॥

जिसप्रकार वैद्य विषदाहसे मूर्च्छित हुए अपने शरीरको विषापहारमन्त्रके गुणोसे उसकी अमोघशक्तियोसे निर्विष एव मूर्छा रहित कर देता है, उसीप्रकार हे शीतलजिन! आपने सासारिक सुखोकी अभिलाषारूप अग्निके दाहसे मूर्च्छित हुए अपने आत्माको ज्ञानमय अमृतके सिञ्चनसे मूर्च्छारहित शान्त किया है।

रूपकालकार

स चन्द्रमा भव्यकुमुद्वतीना विपन्नदोषाभ्रकलङ्कलेप ।
व्याकोश-वाङ्-न्याय-मयूखमाल पूयात्पवित्रो भगवन्मनो मे[3] ॥

यहाँ 'भव्यकुमुद्वतीना' और 'दोषाभ्र-कलङ्क-लेपः'मे रूपककी योजना है।

१ स्वयम्भू स्तोत्र, अरजिनस्तव, पद्य ४।
२ वही, शीतलजिनस्तवन पद्य २।
३ वही, चन्द्रप्रभजिन, पद्य ५।

इन रूपकोंने भावोको सहज ग्राह्य तो बनाया ही है, साथ ही चन्द्रप्रभ भगवान्‌के गुणोंका प्रभाव भी दिखलाया है। भव्यकुमुदनियोको विकसित करनेके लिए चन्द्रप्रभ चन्द्रमा है।

उपमा

> पद्मप्रभ पद्मपलाश-लेश्य पद्मालयाऽऽलिङ्गितचारुमूर्ति ।
> बभौ भवान् भव्य-पयोरुहाणां पद्माकराणामिव पद्मबन्धुः[1] ॥

पद्मपत्रके समान द्रव्यलेश्याके धारक हे पद्मप्रभजिन ! आपकी सुन्दरमूर्ति पद्मालय-लक्ष्मीसे आलिङ्गित रही है और आप भव्यकमलोको विकसित करनेके लिए उसी तरह भासमान हुए हैं, जिसप्रकार सूर्य कमलसमूहका विकास करता हुआ सुशोभित होता है।

संक्षेपमे स्तोत्रकाव्यमे एकान्ततत्त्वकी समीक्षापूर्वक स्याद्वादनयसे अनेकान्तामृततत्त्वकी स्थापना की गयी है।

२ स्तुतिविद्या[2]

जिनशतक और जिनशतकालंकार भी इसके नाम आये हैं। इसमे चित्रकाव्य और बन्धरचनाका अपूर्व कौशल समाहित है। शतककाव्योमे इसकी गणना की गयी है। सौ पद्योंमे किसी एक विषयसे सम्बद्ध रचना लिखना असाधारण बात मानी जाती थी। प्रस्तुत जिनशतकमे चौबीस तीर्थंकरोंकी चित्रबन्धोंमे स्तुति की गयी है। भावपक्ष और कलापक्ष दोनों नैतिक एवं धार्मिक उपदेशके उपस्कारक बनकर आये हैं। समन्तभद्रकी काव्यकला इस स्तोत्रमे आद्यन्त व्याप्त है। मुरजादि चक्रबन्धकी रचनाके कारण चित्र काव्यका उत्कर्ष इस स्तोत्रकाव्यमे पूर्णतया वर्तमान है।

समन्तभद्रकी इस कृतिसे स्पष्ट है कि चित्रकाव्यका विकास माघोत्तरकालमे नही हुआ, बल्कि माघ कविसे कई सौ वर्ष पूर्व हो चुका है। चित्र, श्लेष और यमकका समावेश वाल्मीकि रामायणमे भी पाया जाता है, अतः यह सम्भव है कि दाक्षिणात्य भाषाओंके विशिष्ट सम्पर्कके कारण समन्तभद्रने चित्र-श्लेष और यमकका पर्याप्त विकास कर उक्त काव्यकी रचना की। इस कृतिमे मुरजबन्ध, अर्धभ्रम, गतप्रत्यागतार्ध, चक्रबन्ध, अनुलोम, प्रतिलोम क्रम एवं सर्वतोभद्र आदि चित्रोंका प्रयोग आया है। एकाक्षर पद्योकी सुन्दरता कलाकी दृष्टिसे अत्यन्त प्रशंसनीय है।

---

1. पद्मप्रभजिनस्तवन, पद्य १।
2. अनुवादक पण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्य, प्रकाशक, वीरसेवामन्दिर, दिल्ली।

कुछ विद्वानोका इस कृतिको देखकर यह अनुमान है कि जिस कृत्रिम शैलीमे समन्तभद्रने स्तुतिविद्याका प्रणयन किया है वह कृत्रिम शैली ई० सन्‌की चौथी शताब्दीसे विकसित होती है। अत कृत्रिम शैलीके कारण यह कृति द्वितीय-तृतीय शतीकी रचना नही हो सकती। विचार करनेपर उक्त मत निर्भ्रान्त प्रतीत नही होता, यत. कृत्रिम शैलीके विकासका मूल कारण आर्य-भाषाके साथ द्रविड भाषाका सम्पर्क है। द्राविड-परिवारकी भाषाओमे चित्र, श्लेष और यमककी अधिक क्षमता है। अत समन्तभद्रने दाक्षिणात्य होनेके कारण ही इस शैलीका प्रयोग किया है।

इस स्तोत्रमे कुल ११६ पद्य हैं और अन्तिम पद्यमे "कविकाव्यनामगर्भ-चक्रवृत्तम" है। जिसके बाहरके षष्ठ वलयमे 'शान्तिवर्मकृतम्' और चतुर्थ-वलयमे 'जिनस्तुतिशतम्' की उपलब्धि होती है। उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपकका एक साथ प्रयोग काव्यकलाकी दृष्टिसे श्लाघनीय है। यहाँ उदाहरणार्थ काव्य-लिंगको प्रस्तुत किया जा रहा है

सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्च्चनं चापि ते
हस्तावञ्जलये कथाश्रुतिरत कर्णोऽक्षि सम्प्रेक्षते।
सुस्तुत्या व्यसन शिरो नतिपर सेवेद्दशी येन ते
तेजस्वी सुजनोऽहमेव सुकृती तेनैव तेज पते[1] ॥

जिनेन्द्र भगवानकी आराधना करनेवाले मनुष्यकी आत्मा आत्मीय तेजसे जगमगा उठती है। वह सर्वोत्कृष्ट पुरुष गिना जाने लगता है। तथा उसके महान पुण्यका बन्ध होता है। यहाँ स्मरण, पूजन, अञ्जलि-बन्धन, कथा-श्रवण, दर्शन आदिका क्रमश नियोजन होनेसे परिसख्या-अलकार है। आचार्यने हेतु-वाक्यो-का प्रयोग कर काव्यलिंगकी भी योजना की है। इस प्रकार यह स्तुति-विद्या स्तोत्र-काव्य और दर्शनगुणोसे युक्त है। और है सविवेक भक्ति-रचना।

३. आप्तमीमांसा या देवागमस्तोत्र[2]

स्तोत्रके रूपमे तर्क और आगमपरम्पराकी कसौटीपर आप्त सर्वज्ञदेवकी मीमासा की गयी है। समन्तभद्र अन्धश्रद्धालु नही हैं, वे श्रद्धाको तर्ककी कसौटीपर कसकर युक्ति-आगमद्वारा आप्तकी विवेचना करते हैं। आप्त-विषयक मूल्याकनमे सर्वज्ञाभाववादी मीमासक, भावैकान्तवादी साख्य,

१. स्तुतिविद्या, पद्य ११५।

२ आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार द्वारा सम्पादित वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन, वाराणसी।

एकान्तपर्यायवादी बौद्ध एवं सर्वथा उभयवादी वैशेषिकका तर्कपूर्वक विवेचन करते हुए निराकरण किया गया है। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभावका सप्तभंगीन्यायद्वारा समर्थन कर वीरशासनकी महत्ता प्रतिपादित की है। सर्वथा अद्वैतवाद, द्वैतवाद, कर्मद्वैत, फलद्वैत, लोकद्वैत प्रभृतिका निरसन कर अनेकान्तात्मकता सिद्ध की गयी है। इसमे अनेकान्तवादका स्वस्थ स्वरूप विद्यमान है। उदाहरणके लिए

"द्रव्यपर्याययोरैक्य तयोरव्यतिरेकत ।
परिणामविशेषाच्च शक्तिमच्छक्तिभावत ॥
सज्ञासख्याविशेषाच्च स्वलक्षणविशेषत ।
प्रयोजनादिभेदाच्च तन्नानात्व न सर्वथा[1] ॥

द्रव्य और पर्याय कथचित् एक हैं, क्योंकि वे भिन्न उपलब्ध नही होते तथा वे कथचित् अनेक हैं क्योंकि परिणाम, सज्ञा, सख्या, आदिका भेद है। दैव-पुरुषार्थ पुण्य-पाप आदिकी सिद्धि अनेकान्तके द्वारा ही होती है। एकान्तवादियोकी समस्त समस्याओका समाधान अनेकान्तवादके द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

इस स्तोत्रमे ११५ पद्य हैं। 'देवागम' पदद्वारा स्तोत्रका आरम्भ होनेके कारण यह 'देवागम' स्तोत्र भी कहा जाता है। समन्तभद्रकी परीक्षाप्रधान दृष्टि इस स्तोत्रकाव्यमे समाहित है। कवित्वकी दृष्टिसे यह काव्य बोझिल है। काव्यमे रस-दर्शनकी चट्टानके भीतर प्रवेश करनेपर ही क्वचित् प्राप्त होता है, अप्रस्तुत विधानका भी अभाव है। जीवन और जगत्की विभिन्न समस्याओका समाधान इस स्तोत्रकाव्यमे अवश्य वर्तमान है।

४. युक्त्यनुशासन[2] वीरके सर्वोदय तीर्थका महत्त्व प्रतिपादित करनेके लिए उनकी स्तुति की गयी है। युक्तिपूर्वक महावीरके शासनका मण्डन और विरुद्धमतोका खण्डन किया गया है। समस्त जिनशासनको केवल ६४ पद्योमे ही समाविष्ट कर दिया है। अर्थगौरवकी दृष्टिसे यह काव्य उत्तम है, 'गागरमे सागर'को भर देनेकी कहावत चरितार्थ होती है। महावीरके तीर्थको सर्वोदय तीर्थ कहा है

"सर्वान्तवत्तद् गुणमुख्यकल्प सर्वान्तशून्य च मिथोऽनपेक्षम् ।
सर्वापदामन्तकर निरन्त सर्वोदय तीर्थमिद तवैव[3] ॥

१ देवागम, पद्य ७१,७२, आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार द्वारा सम्पादित, वीरसेवामन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन, वाराणसी।
२ सम्पादन आचार्य जुगलकिशोर, वीर सेवा मन्दिर प्रकाशन।
३ वही—६२।

इसप्रकार महावीरके तीर्थको ही समस्त विपत्तियोका अन्त करनेवाला सर्वोदय तीर्थ कहा है।

५. रत्नकरण्डश्रावकाचार[1] जीवन और आचारकी व्याख्या इस ग्रन्थमे की गयी है। १५० पद्योमे विस्तारपूर्वक सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चारित्रका विवेचन करते हुए कुन्दकुन्दके[2] निर्देशानुसार सल्लेखनाको श्रावकके व्रतोमे स्थान दिया है। अन्तमे श्रावककी एकादश प्रतिमाएँ वर्णित हैं। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवालने समीचीन धर्मशास्त्र रत्नकरण्डश्रावकाचारकी भूमिकामे लिखा है "स्वामी समन्तभद्रने अपनी विश्वलोकोपकारिणी वाणीसे न केवल जैनमार्गको सब ओरसे कल्याणकारी बनानेका प्रयत्न किया है। (जैन वर्त्म समन्तभद्रमभवद्भद्रं समन्तात् मुहु) किन्तु शुद्धमानवी दृष्टिसे भी उन्होने मनुष्यको नैतिक धरातलपर प्रतिष्ठित करनेके लिए बुद्धिवादी दृष्टिकोण अपनाया। उनके इस दृष्टिकोणमे मानव-मात्रकी रुचि हो सकती है। समन्तभद्रकी दृष्टिमे मनकी साधना हृदयका परिवर्तन सच्ची साधना है। बाह्य आचार तो आडम्बरोसे भरे भी हो सकते हैं। उनकी गर्जना है कि मोही मुनिसे निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ है (कारिका-३३)। किसीने चाहे चाण्डाल योनिमे भी शरीर धारण किया हो, किन्तु यदि उसमे सम्यक् दर्शनका उदय हो गया है तो देवता ऐसे व्यक्तिको देव समान ही मानते हैं। ऐसा व्यक्ति भस्मसे ढँके हुए किन्तु अन्तरमे दहकते हुए अगारेकी तरह होता है[3]।"

इस ग्रन्थकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित है

१ श्रावकके अष्टमूलगुणोंका विवेचन

२ अर्हत्पूजनका वैयावृत्यके अन्तर्गत स्थान

३ व्रतोमे प्रसिद्धि पानेवालोके नामोल्लेख

४ मोही मुनिकी अपेक्षा निर्मोही श्रावककी श्रेष्ठता

५ सम्यक्दर्शनसम्पन्न मातगको देवतुल्य कहकर उदार दृष्टिकोणका उपन्यास।

६ कुन्दकुन्द और उमास्वामीकी श्रावकधर्म सम्बन्धी मान्यताओको आत्मसात्कर स्वतन्त्र रूपमे श्रावकधर्मसम्बन्धी ग्रन्थका प्रणयन।

---

१ इस ग्रन्थके अनेक सस्करण प्रकाशित हैं। वीर सेवा मन्दिर, दिल्लीसे प्रकाशित सस्करण अध्ययनीय है।

२. कुन्दकुन्दका चारित्रपाहुड गाथा २५-२६।

३ समीचीन धर्मशास्त्र, वीर सेवा मन्दिर दिल्ली, प्राक्कथन, पृ० १६।

इस कृतिमे कर्त्ताके रूपमे समन्तभद्रका नाम कही भी उपलब्ध नही है। टीकाकार प्रभाचन्द्रने इसे समन्तभद्रकृत लिखा है। अत डॉ० हीरालाल जैन आप्तमीमासामे निरूपित आप्तके लक्षणकी शैलीकी अपेक्षा इसकी शैलीमे भिन्नता प्राप्तकर और पार्श्वनाथचरितकी उत्थानिकामे योगीन्द्रकी रचनाके निर्देशको पाकर इसे योगीन्द्रदेवकी रचना मानते हैं। ग्रन्थके उपान्त्य श्लोकमे 'वीतकलङ्क', विद्या' और 'सर्वार्थसिद्धि' शब्दोको तत्तद् आचार्य और ग्रन्थोका सूचक मानकर आठवी-ग्यारहवी शतीके मध्यकी रचना इसे स्वीकार करते हैं।[1]

अत डॉ० जैनके मतानुसार यह कृति आप्तमीमांसाके रचयिता स्वामी समन्तभद्रकी नही है। भले ही कोई दूसरा समन्तभद्र इसका रचयिता रहा हो। डॉ० साहवने उक्त मन्तव्यको प्रकट करनेके लिए एक निवन्ध अनेकान्त, वर्ष ८, किरण १–३, पृ० २६—३३, ८६ ९० और १२५ १३२ मे लिखा था, जिसका प्रतिवाद डॉ० प्रो० दरवारीलाल कोठियाने अनेकान्त वर्ष ८ किरण ४–५ मे किया है। डॉ० कोठियाने डॉ० जैनके तर्कोका उत्तर देते हुए प्रस्तुत कृतिको आचार्य समन्तभद्रकी ही रचना सिद्ध किया है। मैं इस विवादमे न पडकर इतना अवश्य कहूँगा कि समन्तभद्रके अन्य ग्रन्थोंके समान इस ग्रन्थके भी दो नाम उपलब्ध हैं १. समीचीन धर्मशास्त्र और २. वर्ण्य विषयके अनुसार रत्नकरण्डकश्रावकाचार। स्वामी समन्तभद्रकी यह शैली है कि वे अपने प्रत्येक ग्रन्थके दो नाम रखते हैं प्रथम नामका निर्देश प्रथम पद्यके प्रारम्भिक वाक्यमे कर देते हैं और दूसरेका निर्देश ग्रन्थके वर्ण्य विषयके आधारपर रहता है।

यह निर्विवाद सत्य है कि इस ग्रन्थमे प्रतिपादित विषय वहुत प्राचीन है। श्रुतधर कुन्दकुन्दके चारित्रपाहुड, प्रवचनसार, दर्शनपाहुड, सीलपाहुड आदिसे विषयको सूत्ररूपमे ग्रहणकर नये रूपमे श्रावकाचारसम्वन्धी सिद्धान्तोका प्रणयन किया है। अत विद्वानोके मध्य मूलगुणसम्वन्धी जो प्रश्न उठाया जाता है उसका समाधान यहाँ सम्भव है। जव समन्तभद्रने श्रावकाचारका प्रणयन नये रूपमे किया, तो उन्होने वहुत-सी ऐसी वातोको भी इस ग्रन्थमे स्थान दिया, जो पहलेसे प्रचलित नही थी। हमारा तो दृढ मत है कि तृतीय अध्याय-की यह ३६ वी कारिका प्रक्षिप्त है। पीछेके किसी विद्वान्ने प्रतिलिपि करते समय अहिंसाणुव्रतके विशुद्धयर्थ इस कारिकाको जोड दिया है। यहाँसे इसे हटा देनेपर भी ग्रन्थके वर्ण्य विषयमे किसीप्रकारकी कमी नही आती। यह कारिका एक प्रकारसे विषयका पुनरुक्तीकरण ही करती है। मद्य, मास, मधु-

१ भारतीय संस्कृतिमें जैनधर्मका योगदान, पृ० ११३।

के त्याग तथा पचाणुव्रतोके पालनको अष्टमूलगुण कहा गया है। अहिंसाणुव्रत-के लक्षणमे संकल्पपूर्वक मन-वचन-काय, कृत, कारित, अनुमोदनारूप व्यापारसे द्वीन्द्रियादि प्राणियोका घात न करना अहिंसाणुव्रत है। इस परिभाषाके अन्तर्गत मद्य, मास, मधुका त्याग स्वयमेव समाविष्ट हो जाता है। पचाणुव्रतोकी चर्चा तो स्पष्टरूपसे पुनरुक्त है ही। अतएव वर्ण्य-विषयकी दृष्टिसे इस पद्यको कोई आवश्यकता नही है।

यदि आचार्य समन्तभद्रको अष्टमूलगुणोका निर्देश करना अभीष्ट होता, तो वे इस पद्यको अहिंसाणुव्रतके लक्षणके आस-पास निबद्ध करते। अहिंसादि व्रतोका पालन करनेवाले व्यक्तियोके नामोल्लेखके पश्चात् इस कारिकाका सयोजन अनुपयोगी जैसा प्रतीत होता है। यदि यह तर्क दिया जाय कि अणुव्रतोका वर्णन करनेके पश्चात् मूलगुणोका निर्देश आवश्यक था, तो यह तर्क भी बहुत सबल नही है। अणुव्रत और गुणव्रतोके बीच इस पद्यका स्थान नही होना चाहिए। अतएव हमारी दृष्टिसे यह पद्य प्रक्षिप्त है।

अनेक आचार्योने बताया है कि कोई नदी और समुद्रके स्नानको धर्म समझता है, कोई मिट्टी और पत्थरके स्तूपाकार ढेर बनाकर धर्मकी इतिश्री मानता है। कोई पहाडसे कूदकर प्राणान्त कर लेने अथवा अग्निमे शरीरको जला देनेमे ही कल्याण मानता है। ये सब बातें लोकमूढता है

> "आपगा-सागर-स्नानमुच्चय सिकताऽश्मनाम्।
> गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते[1]॥"

उपर्युक्त पद्यमे गतानुगतिक रूपसे अनुसरण किये जानेवाले मूढतापूर्ण दृष्टिकोणोका विवेचन किया है और (१) आपगासागरस्नान, (२) सिकताऽश्मनामुच्चय, (३) गिरिपात, (४) अग्निपातको लोकमूढता कहा है। भारतीय सस्कृतिके विकासक्रमका विचार करनेसे अवगत होता है कि उक्त ये चारो प्रथाएँ ई० सन्के पूर्व अत्यधिक रूपमे प्रचलित थी। उत्तरकालमे इन प्रथाओमेसे एक-दोको छोडकर शेष सभीका लोप हो गया। ऋग्वेदकालमे जीवन तथा जीवन-भोगोके प्रति आसक्तिकी प्रवृत्ति वर्तमान थी। अत इस युगमे सन्यास और आत्म-बलका निर्देश नही मिलता। प्रो० हिलब्रेंटने[2] दीक्षाविधिमे प्रयुक्त होनेवाले

१ समीचीन धर्मशास्त्र, प्रथम अध्याय, कारिका २२।

२ Hillbrandt suggests that Diksha ceremony is in reality a fadad form of the older practice of suicide by fire. Suicide Encyclopidea of Religion and Ethics Vol XII, Page 33–36, (1921)

अग्निपातसे अग्निपात द्वारा आत्मबलिका अनुमान किया है। शतपथब्राह्मणमे बताया गया है कि पुरुषमेध एव सर्वमेधयज्ञमे समस्त सम्पत्तिका त्याग कर साधक मृत्युका वरण करनेके लिए वन जाता है। परिव्राजककी क्रियाओका विवेचन करते हुए जाबालोपनिषद्मे विभिन्न रूपोमे किये जानेवाले आत्मघातोको धार्मिक रूप दिया गया है

'वीराध्वाने वा अनाशके वा अपा प्रवेशे वा अग्निप्रवेशे वा महाप्रस्थाने वा[1]।'

स्पष्ट है कि अग्निपात, जलपात और अनशनव्रतद्वारा आत्महत्या करना धार्मिक विधानमे शामिल किया गया है।

हिन्दी विश्वकोषमे आत्मघातोका निरूपण करते हुए लिखा है कि वैध, अवैध, ज्ञानकृत और अज्ञानकृत ये चार भेद आत्मघातके है। मनु एव वृद्धगर्गने लिखा है कि जब मनुष्य अत्यन्त वृद्ध हो जाये और चिकित्सा करानेपर भी आरोग्यकी सम्भावना न हो, तो शौचादि क्रियाओके लुप्त होनेकी आशका उत्पन्न होनेसे, उच्च स्थानसे गिरकर, अग्निमे कूदकर, अनशनसे रहकर या जलमे डूबकर प्राण छोड देना चाहिए। इस प्रकार प्राण छोडनेपर त्रिरात्रका अशौच माना जाता[2] है।

उपर्युक्त सन्दर्भाशसे स्पष्ट है कि समन्तभद्र द्वारा विवेचित लोक-मूढताएँ ब्राह्मण और उपनिषद् कालमे प्रचलित थी। धर्मशास्त्रोके अशौच प्रकरणमे इन मान्यताओका समावेश पाया जाता है।

'आपगासागरस्नान' की सास्कृतिक व्याख्यामे प्रवेश करने पर ज्ञात होता है कि मोहनजोदडोके प्राप्त भग्नवशेषोमे उपलब्ध हुए स्नानागारोसे हडप्पाके सास्कृतिक जीवनमे जलकी महत्ताका परिचय मिलता[3] हैं। विद्वानोने बताया है कि इसका आर्योके सास्कृतिक जीवन पर गहरा प्रभाव है। सरोवरो, नदियो और समुद्रोके जलमे स्नान करनेकी प्रथा तथा सूर्योदयके पूर्व और भोजनके पूर्व स्नान करनेकी विधिपर धार्मिक मोहर इस बातका प्रमाण है कि सिन्धु घाटीकी सभ्यतामे भी स्नानको सास्कृतिक महत्त्व प्राप्त था। आर्योके जीवनमे नदियोका नित्य बहता हुआ निमल जल ही उनके लिए स्वर्गकी पवित्रता एव पावनताका परिचायक था। सिन्धु, वितस्ता, चन्द्रभागा, इरावती, विपासा, शतद्रु, यमुना, गगा एव ब्रह्मपुत्र आदि नदियोने धार्मिक प्रेरणाके कारण ही

१ निर्णयसागर प्रेस, बम्बईसे सन् १९२५ में प्रकाशित ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषदः, पृ० १३१।

२ हिन्दी विश्वकोश, द्वितीय भाग, आत्मघातशब्द।

३. Indus civilization by M wheeler Page 282–284

आर्योंके जीवनको उर्वर बनाया था। अतएव नदियोमे स्नान करनेकी पवित्र भावनाके साथ उनमे डूबकर आत्मघात करनेकी प्रथा भी धर्मके नामपर ब्राह्मणकालमे प्रचलित थी। जलमात्रमे स्नान करना या असमर्थ अवस्थामे डूबकर प्राणघात करना धार्मिकताका चिह्न था। ई० पूर्व द्वितीय-तृतीय शताब्दीसे लेकर ई० सन् प्रथम-द्वितीय शताब्दी तक इस प्रथाका बहुत प्रचार रहा है। जब सन्यासविधि पूर्णतया विकसित हो गयी, और आत्मशोधनके लिए ध्यान, सयमका मूल्य बढ गया, तो उक्त प्रथाका शने-शनै ह्रास होने लगा। स्वामी समन्तभद्रके समयमे इस प्रथाका जोर-शोरके साथ प्रचार था। अत. उन्होने अपने इस ग्रन्थमे इसकी समीक्षा की है। यहाँ यह स्मरणीय है कि लोक-मूढ़ताओका रूप समयानुसार बदलता रहता है।

धर्मके नामपर स्तूप निर्माणकी प्रथाका आरम्भ बौद्धकालसे हुआ है बुद्धके अस्थि-अवशेषको स्तूपके भीतर रखा जाता था और इन स्तूपोकी धार्मिक प्रेरणा प्राप्त करनेके लिए पूजा की जाती थी। सम्राट् अशोकने तथा उसके उत्तर-वर्ती सम्राट् सम्प्रतिने स्तूप और अभिलेखोका आरम्भ धार्मिक-स्मृतिके साथ धर्म-प्रेरणाके लिए कराया। अशोकके स्तूपोमे सम्प्रतिके स्तूप और अभिलेख इस प्रकार मिश्रित हो गये हैं कि उनका पृथक्करण सहज सम्भव नही है। इसका प्रधान कारण यह है कि धर्म और सदाचारकेसामान्य नियम इन दोनो सम्राटोको समानरूपसे ही अभिप्रेत थे। ये स्तूप ठोस गुम्बदके आकारके होते थे और इनके ऊपर छत्र भी बनाये जाते थे। अशोक निर्मित स्तूपोमे साँचीका स्तूप अत्यन्त प्रसिद्ध है। कुशाणकालके पूर्व बुद्धकी उपासना इन स्मारक चिह्नोमे प्रयुक्त प्रतीक रूपोमे ही होती थी। छत्र, पाँव, पुष्प, चन्द्र या चक्रके प्रतीकोमे ही बुद्धकी स्मृति अन्तर्निहित थी। महायान सम्प्रदायके आविर्भावके पश्चात् बुद्ध-प्रतिमाओंके निर्माणकी प्रथाका आरम्भ हुआ।

जब स्तूपनिर्माणका महत्त्व जनसाधारणमे प्रचलित हुआ, तो स्तूपोके प्रतिनिधिस्वरूप 'सिकताश्मनामुच्चय'का प्रचार हुआ। बालू या ककड़ोका स्तूपाकार ढेर लगाकर देवकी उपासना होने लगी। यह प्रथा कुषाणकालके पूर्व तक प्रचलित रही। समन्तभद्रके समयमे इसका बाहुल्य था। अतएव उन्होंने अपने इस ग्रन्थमे इस प्रथाकी ओर सकेत किया है। कुषाणकालके पश्चात् कुछ ही शताब्दियोमे मूर्तिकलाका विकास होनेसे उक्त मान्यता क्षीण हो गयी। अतएव रत्नकरण्डकश्रावकाचारमे 'सिकताश्मनामुच्चय'का जो प्रयोग आया है, वह उसकी प्राचीनताका सूचक है।

गिरिपातप्रथाका निर्देश समन्तभद्रने किया है। सास्कृतिकदृष्टिसे इस

प्रथाका विकास और प्रसार ई० सन् पूर्वकी शताब्दियोसे ई० सन्की आरम्भिक शताब्दियो तक ही प्राप्त होता है। योग-क्रियाओको सम्पादित करनेमे असमर्थ व्यक्ति गिरिपातद्वारा मुक्तिलाभ करता था। अतएव प्राचीन धर्मशास्त्रके लेखकोने इस प्रथाकी समीक्षा की है। हरिभद्रकी 'समराइच्चकहा'के द्वितीय भवमे भी यह प्रथा उल्लिखित है। अत समन्तभद्रने लोकमूढताका जो वर्णन किया है वह उनकी प्राचीनताका सूचक है।

समन्तभद्रने प्रथम अध्यायकी चौवीसवी कारिकामे 'पाषण्डि-मूढता'की समीक्षा की है। यह 'पाषण्डी'शब्द विचारणीय है। धर्मके अर्थमे इसका प्रयोग प्राचीन साहित्यमे ही उपलब्ध होता है। अशोकके अभिलेखोके साथ आचार्य कुन्दकुन्दके समयसारमे भी इस शब्दका प्रयोग आया है। कुन्दकुन्दने लिखा है

"पाखडीलिंगाणि व गिहिलिंगाणि व बहुप्पयाराणि।
घित्तु वदंति मूढा लिंगमिण मोक्खमग्गो त्ति ॥[1]

× × ×

"ण वि एस मोक्खमग्गो पाखडीगिहिमयाणि लिंगाणि[2]"

अशोकने भी गिरिनारके छठे अभिलेखमे 'पाषण्डि'शब्दका प्रयोग धर्म या सम्प्रदायके अर्थमे किया है। लिखा है 'सव-पासडापि मे पूजित विविधाय पूजाय' इससे स्पष्ट है कि 'पाषड-मूढता'का निरूपण समन्तभद्रकी प्राचीनताका द्योतक है। आरम्भमे 'पाषडी' शब्द पवित्रताके अर्थमे प्रचलित था, पर शनै - शनै. इस शब्दका अर्थ अपकर्षित होने लगा और यह आडम्बरपूर्ण जीवन व्यतीत करनेके अर्थमे प्रचलित हुआ।

जहाँ तक हमारा अध्ययन है पाँचवी, छठी शताब्दीके किसी भी साहित्यमे पाषडीका प्रयोग धर्मके अर्थमे नही आया है। अत समन्तभद्रके समयपर तो इससे प्रकाश पडता ही है, साथ ही रत्नकरण्डकश्रावकाचारकी प्राचीनतापर भी प्रकाश पड़ता है।

एक अन्य विचारणीय विषय यह भी है कि मूढताओकी समीक्षा धम्मपद, महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थोमे उपलब्ध होती है। धर्मशास्त्रके निर्माताओने मूढताओकी समीक्षा ई० सन् पूर्वसे ही आरम्भ कर दी थी। अत समन्तभद्रको रत्नकरण्डकश्रावकाचारमे इन मूढताओकी समीक्षाके लिये धम्मपदादि ग्रन्थोसे भी प्रेरणा प्राप्त हुई हो, तो कोई आश्चर्य नही है। समन्तभद्रने इनकी समीक्षा

१. समयसार, गाथा ४०८।
२. वही, गाथा ४१०।

उसी शैलीमे की है जो शैली 'धम्मपद'में मिलती है। अतः मूढताओके विवेचनसन्दर्भसे रत्नकरण्डकश्रावकाचारके कर्त्ता प्राचीन समन्तभद्र ही सिद्ध होते हैं। 'धम्मपद'मे बताया है

"न नग्गचरिया न जटा न पका नानासका थण्डिलसायिका वा।
रजोवजल्ल उक्कुटिकप्पधान सोधेन्ति मच्चं अवितिण्ण कख ॥"[1]

अर्थात् जिस पुरुषका सन्देह समाप्त नही हुआ है उसकी शुद्धि न नगे रहनेसे, न जटासे, न कीचड़ लपेटनेसे, न उपवास करनेसे, न कठिन भूमि पर शयन करनेसे, न धूल लपेटनेसे और न उकडू बैठनेसे होती है।

लोक-मूढताएँ विकसित होकर पाँचवी-छठी शताब्दीके साहित्यमे आडम्बर-पूर्ण जीवनके विश्लेषणके रूपमे आयी है। अपभ्रश साहित्यमे इन लोक-मूढताओका रूप बाह्याडम्बर या बाह्य वेशके रूपमे उपस्थित है।

रत्नकरण्डकश्रावकाचारकी प्राचीनताका एक सबल प्रमाण यह भी है कि इस ग्रन्थके कई पद्य मनुस्मृतिके वर्त्तमान सस्करणमे पाये जाते है। मनुस्मृतिका वर्त्तमान सस्करण ई० सन्‌की दूसरी-तीसरी शतीका है। यद्यपि यह सस्करण भी किसी प्राचीन मनुस्मृतिके आधार पर प्रस्तुत किया गया है, तो भी इसमे द्वितीय और तृतीय शतीकी अनेक रचनाओके पद्य, वाक्याश और पदाश उपलब्ध हैं। मनुस्मृति सग्रहग्रन्थ है, इसका प्रमाण मनुस्मृतिमे भृगु द्वारा 'प्रोक्त वक्तव्यो'का पद्यरूपमे निबद्ध करना है। श्रीपाण्डुरग वामनकाणेने इसका सकलनकाल दूसरी शताब्दी माना है।[2] तुलनाके लिए पद्य प्रस्तुत किये जाते हैं

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम।
देवा देव विदुर्भस्मगूढागारान्तरौजसम्[3] ॥

× × × ×

सम्यग्दर्शनशुद्ध ससारशरीरभोगनिर्विण्ण.।
पञ्चगुरुचरणशरणो दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्य[4] ॥

× × × ×

१ धम्मपद, सम्पादक-भिक्षुधर्मरक्षित, बनारस १९५३, गाथा १४१।
२ हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र पृ० १३८, १४९, १५६।
३ रत्नकरण्डकश्रावकाचार, प्रथम परिच्छेद, श्लोक २८।
४ वही, पञ्चम परिच्छेद, श्लोक १६।

सम्यग्दर्शनसम्पन्न कर्मभिर्न निवद्धयते ।
दर्शनेन विहीनस्तु ससार प्रतिपद्यते[1] ॥

× × × ×

इदमेवेदृशमेव तत्त्व नान्यत्र चान्यथा ।
इत्यकम्पायसाम्भोवत्सन्मार्गेऽसशया रुचि.[2] ॥

× × × ×

इद शरणमज्ञानमिदमेव विजानताम् ।
इदमन्विच्छता स्वर्गमिदमानन्त्यमिच्छताम्[3] ॥

अतएव विषयकी प्राचीनताकी दृष्टिसे रत्नकरण्डकश्रावकाचारके कर्त्ता प्राचीन समन्तभद्र ही हैं। मनुस्मृति और रत्नकरण्डकश्रावकाचारके प्रकरणोके अध्ययनसे यह स्पष्ट है कि रत्नकरण्डसे ही उक्त पद्य मनुस्मृतिमे सग्रहीत हैं। पद्योमे थोडा-सा परिवर्त्तन किया गया है।

जीवसिद्धि, तत्त्वानुशासन, प्राकृतव्याकरण, प्रमाणपदार्थ, कर्मप्राभृत-टीका और गन्धहस्तिमहाभाष्य ये रचनाएँ उपलब्ध नही हैं। अत इनके सम्बन्धमे विवेचन करना सम्भव नही। इन रचनाओके केवल निर्देश ही जहाँ-तहाँ मिलते हैं। अतएव अब हम आचार्य समन्तभद्रको काव्य-प्रतिभा एव वैदुष्यपर प्रकाश डालना आवश्यक समझते हैं।

प्रतिभा एवं वैदुष्य

समन्तभद्र अत्यन्त प्रतिभाशाली और स्वसमय, परसमयके ज्ञाता सारस्वत हैं। इन्होने एकान्तवादियोका निरसन कर अनेकान्तवादकी प्रतिष्ठा दार्शनिक शैलीमे की है। भाव और अभावरूप विरोधी युगलधर्मोको लेकर सप्तभगात्मक वस्तुको सिद्ध किया है। क्रियाभेद, कारकभेद, पुण्य-पापरूप कर्मद्वैत, सुख-दुख-रूप फलद्वैत, इहलोक-परलोकरूप लोकद्वैत, विद्या-अविद्यारूप ज्ञानद्वैत और बन्ध-मोक्षरूप जीवकी शुद्धाशुद्ध अवस्थाओका चित्रण किया गया है। बौद्ध, नैयायिक, वैशेषिक, साख्य, वेदान्त आदि दर्शनोकी मूल मान्यताओका अध्ययन कर उनकी यथार्थ समीक्षा समन्तभद्रने की है। हम यहाँ उदाहरणके लिए वैशेषिकोके परमाणुवादको लेते हैं।[4] वैशेषिकोमे कोई परमाणुओमे पाक अग्नि

१ मनुस्मृति, ६ अध्याय, श्लोक ७४ चौखम्बा सस्करण।
२ रत्नकरण्डकश्रावकाचार, प्रथम परिच्छेद, श्लोक ११।
३. मनु०, ६ अध्याय श्लोक ८४।
४. डॉ० दरबारीलाल कोठिया : आप्तमीमासा, वीर सेवामन्दिर ट्रस्ट, सन् १९६७, प्रस्तावना पृ० ९-१०।

संयोग होकर द्व्यणुकादि अवयवीमें क्रमश पाक मानते हैं और कोई परमाणुओमे किसी भी प्रकारकी विकृति न होनेसे उनमे पाक–अग्निसयोग न मान कर केवल द्व्यणुकादिमे पाक स्वीकार करते हैं। जो परमाणुओमे पाक नही मानते उनका कहना है कि परमाणु नित्य हैं और इसलिए वे द्व्यणुकादि सभी अवस्थाओमे एकरूप बने रहते हैं। उनमे किसी भी प्रकारकी अन्यता नही होती, अपितु सर्वदा अनन्यता विद्यमान रहती है। इसी मान्यताको आचार्य समन्तभद्रने 'अणुओका अनन्यतैकान्त' कहा है। इस मान्यतामे दोषोद्घाटन करते हुए बताया है कि यदि अणु द्व्यणुकादि सघातदशामे भी उसी प्रकारके बने रहते हैं, जिस प्रकार वे विभागके समय हैं, तो वे असहत ही रहेगे और इस अवस्थामे अवयवीरूप पृथ्वी आदि चारो भूत भ्रान्त हो जायेंगे, जिससे अवयवीरूप कार्य भी भ्रान्त सिद्ध होगा। इस प्रकार वैशेषिकोके अनन्यतैकान्तकी समीक्षा कर अनेकान्तवादकी प्रतिष्ठा की है।

समन्तभद्रकी कारिकाओके अवलोकनसे उनका विभिन्न दर्शनोका पाण्डित्य अभिव्यक्त होता है। प्रमाण, प्रमाणफल, प्रमाणका विषय आदिका विवेचन समन्तभद्रने बहुत ही सूक्ष्मतासे किया है। इन्होने सद्-असद्वादकी तरह द्वैत-अद्वैतवाद, शाश्वत-अशाश्वतवाद, वक्तव्य-अवक्तव्यवाद, अन्यता-अनन्यतावाद, अपेक्षा-अनपेक्षावाद, हेतु-अहेतुवाद, विज्ञान-बहिरर्थवाद, दैव-पुरुषार्थवाद, पाप-पुण्यवाद और बन्ध-मोक्षकारणवादका विवेचन किया है।

डॉ० दरबारीलाल कोठियाने समन्तभद्रके उपादानोका निर्देश करते हुए लिखा[1] है कि उन्होने जैनदर्शनको निम्नलिखित सिद्धान्त प्रदान किये हैं

१. प्रमाणका स्वपराभासलक्षण
२ प्रमाणके क्रमभावि और अक्रमभावि भेदोकी परिकल्पना
३. प्रमाणके साक्षात् और परम्परा फलोका निरूपण
४ प्रमाणका विषय
५ नयका स्वरूप
६. हेतुका स्वरूप
७ स्याद्वादका स्वरूप
८ वाच्यका स्वरूप
९ वाचकका स्वरूप
१० अभावका वस्तुधर्मनिरूपण एव भावान्तरकथन
११ तत्त्वका अनेकान्तरूप प्रतिपादन

१ आप्तमीमासा, वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट, सन् १९६७, प्रस्तावना, पृ० ४५-४६।

१२. अनेकान्तका स्वरूप
१३ अनेकान्तमे भी अनेकान्तकी योजना
१४. जैनदर्शनमे अवस्तुका स्वरूप
१५ स्यात् निपातका स्वरूप
१६. अनुमानसे सर्वज्ञकी सिद्धि
१७. युक्तियोसे स्याद्वादकी व्यवस्था
१८ आप्तका तार्किक स्वरूप
१९ वस्तु-द्रव्य-प्रमेयका स्वरूप

काव्य-चमत्कारकी दृष्टिमे भी समन्तभद्र अपने क्षेत्रमे अद्वितीय है। इन्होने चित्र और श्लेष काव्यका प्रारम्भ कर भारवि और माधके लिये काव्य-क्षेत्रका विकास किया है। कवि समन्तभद्रने अपने स्तोत्र-काव्योमे शब्द और अर्थ इन दोनोकी गम्भीरताका अपूर्व समन्वय बनाये रखनेकी सफल चेष्टा की है। शब्द-संघति, अलकार-वैचित्र्य, कल्पनासम्पत्ति एव तार्किक प्रतिभाका समवाय एकत्र प्राप्य है। प्रबन्धकाव्य न लिखने पर भी कतिपय पद्योमे प्रौढ प्रबन्धात्मकता पायी जाती है। इतिवृत्तात्मक धार्मिक तथ्योका समावेश भी काव्य-शैलीमे मनोरमरूपमे हुआ है। कविप्रतिभा और दार्शनिकताका मणि-काचन सयोग श्लाघ्य है। उत्प्रेक्षाद्वारा आराध्य पद्मप्रभका चित्रण करता हुआ कवि कहता है

> "शरीर-रश्मि-प्रसर प्रभोस्ते बालार्क-रश्मिच्छविराऽऽलिलेप।
> नराऽमराऽऽकीर्ण-सभा प्रभा वा शैलस्य पद्माभमणे स्वसानुम्॥"[1]

अर्थात् हे प्रभो! प्रात कालीन सूर्यकिरणोकी छविके समान रक्तवर्णकी आभावाले आपके शरीरकी किरणोके विस्तारने मनुष्य और देवताओसे भरी हुई समवशरण सभाको इस प्रकार आलिप्त किया है, जैसे पद्मकान्तमणि पर्वतकी प्रभा अपने पार्श्वभागको आलिप्त करती है।

इस पद्यमे पद्मप्रभ तीर्थंकरकी रक्तवर्ण कान्ति द्वारा समवशरणसभाके व्याप्त किये जानेकी उत्प्रेक्षा पद्मकान्तमणिके पर्वतकी प्रभासे की गयी है।

कवि समन्तभद्र उपमा-अलकारके व्यवहारमे भी पटु है। उन्होने भगवान् आदिनाथको अज्ञानान्धकारका विनाश करनेके लिए चन्द्रमाका उपमान प्रदान किया है। कुछ पद्योमे प्रयुक्त उपमान[2] नवीन प्रतीत होते हैं। यथा

१. स्वयम्भूस्तोत्र ६।३।
२ 'विधुन्वता तम. क्षपाकरेणेव गुणोत्करैः करैः।' स्वयम्भू स्तोत्र १।१।

"येन प्रणीतं पृथु धर्म-तीर्थं ज्येष्ठं जनाः प्राप्य जयन्ति दुःखम् ।
गाङ्गं ह्रदं चन्दन-पङ्क-शीतं गज-प्रवेका इव धर्मतप्ताः ॥"[1]

जिन्होंने उस महान् और ज्येष्ठ धर्मतीर्थका प्रणयन किया है, जिसका आश्रय पाकर भव्यजन दुःख-सन्तापपर उसी प्रकार विजय प्राप्त करते है, जिस प्रकार ग्रीष्मकालीन सूर्यके सन्तापसे सन्तप्त हुए बड़े-बडे हाथी चन्दनलेपके समान शीतल गङ्गाको प्राप्त कर सूर्यके आतापजन्य दुःखको मिटा डालते है।

यहाँ गंगाजलका उपमान चन्दनलेप है और धर्मतीर्थका उपमान गंगाजल है। जनका उपमान गज है। इस प्रकार इस पद्यमे संसार-आतापको शान्तिके लिए धर्मतीर्थका सामर्थ्य विभिन्न उपमानो द्वारा दिखलाया गया है।

चन्द्रप्रभजिनकी स्तुति करते हुए उनको संसारका अद्वितीय चन्द्रमा कहा है तथा उपमा द्वारा आराध्यकी रूपाकृतिका मनोरम चित्र अंकित किया है

चन्द्रप्रभं चन्द्र-मरीचि-गौरं चन्द्रं द्वितीयं जगतीव कान्तम् ।
वन्देऽभिवन्द्यं महतामृषीन्द्रं जिनं जित-स्वान्त-कषाय-बन्धम् ॥[2]

चन्द्रकिरणके समान गौरवर्णसे युक्त चन्द्रप्रभजिन जगत्मे द्वितीय चन्द्रमाके समान दीप्तिमान् है, जिन्होंने अपने अन्तःकरणके कषायबन्धनको जीत अकषायपद प्राप्त किया है और जो ऋद्धिधारी मुनियोके स्वामी तथा महात्माओ द्वारा वन्दनीय हैं।

इस पद्यमे 'चन्द्रमरीचिगौर' उपमान है, इस उपमान द्वारा चन्द्रप्रभतीर्थंकरके गौरवर्ण शरीरकी आकृतिका सुन्दर अंकन किया है।

चन्द्रप्रभजिनके प्रवचनको सिंहका रूपक और एकान्तवादियोको मदोन्मत्त गजका रूपक देकर कविने आराध्यके उपदेशकी महत्ता प्रदर्शित की है। इस प्रसंगमे रूपक-अलंकारकी योजना बहुत ही तर्कसंगत है। यथा

"स्व-पक्ष-सौस्थित्य-मदाऽवलिप्ता वाक्सिंह-नादैर्विमदा बभूवुः ।
प्रवादिनो यस्य मदार्द्रगण्डा गजा यथा केसरिणो निनादैः ॥"[3]

जिनके प्रवचनरूप सिंहनादोको सुनकर अपने मतको सुस्थितिका घमण्ड रखनेवाले प्रवादिजन उसी प्रकार निर्मद हुए हैं, जिस प्रकार मद झरते हुए उन्मत्त हाथी केसरी सिंहकी गर्जनाको सुनकर निर्मद हो जाते है।

१ स्वयम्भूस्तोत्र, २।४।
२ स्वम्भूस्तोत्र, ८।१।
३. वही, ८।३।

चन्दन, चन्द्रकिरण, गंगाजल और मुक्ताओंकी हारयष्टिकी शीतलताका निषेध कर शीतलनाथ तीर्थंकरके वचनोंको आचार्य समन्तभद्रने शीतल सिद्ध किया है। प्रस्तुत सन्दर्भमें व्यतिरेक-अलंकार द्वारा उपमेयमें गुणाधिक्यका आरोप कर उपमानोंमें न्यून गुणका समावेश किया है। शीतलनाथ तीर्थंकरके सद्‌गुणोंका उत्कर्ष यहाँ प्रस्तुत किया गया है। गुणत्व ही उत्कर्षापकर्षका आधार है। अत तीर्थंकरकी अमृतवाणीको शीतलताका चरम साधन मानकर उपमानोंके साधारण धर्मसे आधिक्य दिखलाया गया है। वाणीमें शीतलता और माधुर्यके साथ अमृतत्व भी है, जिससे वह चन्दन, चन्द्रकिरण आदिकी अपेक्षा अधिक शीतलता प्रदान करनेकी क्षमता रखती है। यथा

"न शीतलाश्चन्दनचन्द्ररश्मयो न गाङ्गमम्भो न च हारयष्टय.।
यथा मुनेस्तेऽनघ! वाक्य-रश्मय. शमाम्बुगर्भा· शिशिरा विपश्चिताम्॥"[1]

हे अनघ! निरवद्य निर्दोष श्रीशीतलजिन! आप जैसे प्रत्यक्षज्ञानी मुनिकी प्रशमजलसे आप्लावित वाक्यरश्मियाँ संसार-तापको दूर करनेके हेतु उतनी शीतल है, जितनी न तो चन्द्रकिरणें शीतल है, न चन्दन है, न गङ्गाजल शीतल है और न मोतियोंकी हारयष्टि ही। तात्पर्य यह है कि शीतलजिनकी अमृतवाणी चन्दन, चन्द्रकिरण, गङ्गाजल और मुक्ताहारयष्टिसे अधिक शीतल और सुखप्रद है।

कविताका विषय हृदयकी अनुभूति है। अनुभूतिकी अवस्थामें समस्त स्नायुमण्डल तदनुकूल रूप धारण करता है और उच्चरित वाक्यावलिमें अपूर्व प्रवाह उत्पन्न हो जाता है। अनुभूतिके समयमें हृदयकी प्रधानत. दो अवस्थाएँ होती हैं। ये अवस्थाएँ हैं १. उल्लास और २. विह्वलता। कवि जब उल्लसित होता है, तो वह गाता है। यही कारण है कि स्तोत्रोंके समयमें कविकी तन्मयता चरमसीमाको पहुँच जाती है। आराध्यके चरणोंमें वीतरागताकी प्राप्तिके लिए कवि अपनेको समर्पित कर देता है। भाव जहाँ उसके हृदयको उल्लसित और उद्वेलित करते हैं, वहाँ रमणीय वाक्यावलिके शब्द उसके हृदयको चमत्कारसे भर देते हैं।

चित्रकाव्यमें हृदयकी भावावस्था उतनी प्रवित्त नहीं होती, जितनी चमत्कारकी योजना होनेसे कौतूहल। अतएव संस्कृतकाव्यमें सर्वप्रथम चित्र, श्लेष और यमकका प्रादुर्भाव हुआ। भावावस्थामें स्थायित्व नहीं रहता है, यत: भाव क्षणभरमें उत्पन्न और विलीन होते रहते है, पर चमत्कृत दशा अधिक

१. स्वयम्भूस्तोत्र, १०।१।

समय तक विद्यमान रहती है। यही कारण है कि वैदिक ऋषियोने भी वैदिक मन्त्रोके प्रयोगमे शब्दरमणीयताको स्थान दिया है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक प्रभृति अलकारोके साथ श्लेष और यमक भी उपलब्ध है।

स्वामी समन्तभद्रने स्तुतिविद्यामे हृदयकी भावावस्थाको अधिक क्षणोतक बनाये रखनेके लिए शब्दोको रम्यक्रीडाको स्थान दिया है। इसके बिना हृदयमे कौतूहलको स्थिति प्रबल वेगके साथ जागृत नही की जा सकती है। सवेदनाओको शब्दोकी रम्यताके गर्भसे प्रस्फुटितकर कौतूहल स्थिति तक पहुँचा देना है। आचार्य समन्तभद्रके चित्रबन्ध केवल शाब्दी रमणीयताका ही सृजन नही करते हैं, अपितु इनमे वक्रोक्ति और स्वभावोक्तियोका चमत्कार भी निहित है।

'तकार' व्यञ्जन द्वारा निम्नलिखित पद्यका गुम्फन किया है। श्लोकके प्रथमपादमे जो अक्षर है, वे ही सब अगले पादोमे यत्र-तत्र व्यवस्थित हैं। साध्य-रूपमे यहाँ शाब्दी क्रीडा नही है, अपितु साधनके रूपमे है, जिससे शब्दचमत्कार 'परिच्छित्ति'की योजना द्वारा निर्मित हुआ है।

ततोतिता तु तेतीतस्तोतृतोतीतितोतृतः।
ततोऽतातिततोतोते ततता ते ततोतत [1]॥

हे भगवन्! आपने ज्ञानावरणादि कर्मोका नष्ट कर केवलज्ञानादि विशेषगुणो-को प्राप्त किया है, तथा आप परिग्रहरहित स्वतन्त्र है। अत. आप पूज्य और सुरक्षित हैं। आपने ज्ञानावरणादि कर्मोके विस्तृत अनादिकालिक सम्बन्धको नष्ट कर दिया है। अत आपको विशालता प्रभुता स्पष्ट ह आप तीनो लोकोके स्वामी हैं।

एक-एक व्यजनके अक्षरक्रमसे प्रत्येक पादका ग्रथन कर चित्रालकारकी योजना द्वारा भावाभिव्यक्ति की गयी है। यहाँ शब्दचमत्कारके साथ अर्थ-चमत्कार भी प्राप्य है

येयायायाययेयाय नानाननाननानन।
ममाममाममामामिताततीतिततीतित [2]॥

हे भगवन्! आपका मोक्षमार्ग उन्ही जीवोको प्राप्त हो सकता है, जो कि पुण्यबन्धके सम्मुख है अथवा जिन्होने पुण्यबन्ध कर लिया है। समवशरणमे आपके चार मुख दिखलाई पडते हैं। आप केवलज्ञानसे युक्त है तथा ममता-

१ स्तुतिविद्या, पद्य १३।
२ स्तुतिविद्या, पद्य १४।

भावसे मोहपरिणामोसे रहित हैं, तो भी आप सासारिक वडी-बड़ी व्याधियोको नष्ट कर देते हैं। हे प्रभो! मेरे भी जन्म-मरणरूप रोगको नष्ट कर दीजिए।

चन्द्रप्रभ और शीतलजिन स्तुति करते हुए मुर्जवन्धोकी योजनामे व्यतिरेक और श्लेष अलकारको दिव्य आभाका मिश्रण उपलब्ध होता है

"प्रकाशयन् खमुद्भूतस्त्वमुद्धाककलालय ।
विकासयन् समुद्भूत· कुमुद कमलाप्रिय[1] ॥

हे प्रभो! आप चन्द्ररूप है, क्योकि जिस प्रकार चन्द्रमा उदय होते ही आकाशको प्रकाशित करता है, उसी तरह आप भी समस्त लोकाकाश और अलोकाकाशको प्रकाशित करते हैं। चन्द्रमा जिस प्रकार मृगलाछनसे युक्त है, उसी प्रकार आप भी मनोहर अर्द्धचन्द्रसे युक्त है। चन्द्रमा जिस प्रकार सोलह कलाओका आलय गृह होता है, उसी तरह आप भी केवलज्ञानादि अनेक कलाओके आलय स्थान है। चन्द्रमा जिस तरह कुमुदो नीलकुमुदोको विकसित करता हुआ उदित होता है, उसी तरह आप भी पृथ्वीके समस्त प्राणियोको आनन्दित करते है। चन्द्रमा जिस प्रकार कमलाप्रिय कमलशत्रु होता है, उसी प्रकार आप भी कमलाप्रिय केवलज्ञानादि लक्ष्मीके प्रिय हैं।

श्लेषके समान ही उपर्युक्त पद्यमे व्यतिरेक अलकार भी है। इस अलकारके प्रकाशमे चन्द्रमाकी अपेक्षा तीर्थंकर चन्द्रप्रभको महत्ता प्रदर्शित की गयी है। चन्द्रप्रभमे गुणोका उत्कर्ष और चन्द्रमामे अपकर्ष दिखलाया गया है।

श्रेयोजिनकी स्तुतिमे 'अर्द्धभ्रम'का प्रयोग किया है। इसमे ओष्ठ्य वर्णोका अभाव है, और चतुर्थ पादके समस्त अक्षरोको अन्य तीन पादामें समाहित किया है

"हरतोज्याहिता तान्ति रक्षार्थायस्य नेदिता।
तीर्थादिश्रेयसे नेताज्याय· श्रेयस्ययस्य हि[2] ॥

कुछ ऐसे भी पद्य है, जिन्हे क्रमके साथ विपरीत क्रमसे भी पढ़ा जा सकता है, और विपरीत क्रमसे पढनेपर भिन्नार्थक पद्य ही वन जाता है। कविने स्वय ही अनुलोम-प्रतिलोमक्रमसे श्लोकोका प्रणयन किया है। यथा–

"रक्षमाक्षर वामेश शमी चारुरुचानुत।
भो विभोनशनाजोरुनम्रेन विजरामय[3] ॥

१. स्तुति विद्या, पद्य ३१।
२. वही, पद्य ४३।
३ वही, पद्य ८६।

इसी पद्यको प्रतिलोमक्रमसे पढनेपर निम्नलिखित पद्य निर्मित होता है।

"यमराज विनम्रेन रुजोनाशन भो विभो।
तनु चारुचामीश शमेवारक्ष माक्षर"[1] ॥

शब्द और अर्थ चमत्कारके साथ नादानुकृति भी विद्यमान है। विधायक कल्पना द्वारा आराध्यकी शरीराकृतिके साथ गुणोका समवाय भी अभिव्यक्त हुआ है।

इस प्रकार आचार्य समन्तभद्रने जैनन्यायको तार्किकरूप प्रदान करनेके साथ सस्कृतकाव्यको निम्नलिखित तत्त्व प्रदान किये हैं

१ चित्रालकारका प्रारम्भ

२. श्लेष और यमको द्वारा काव्यशैलीका उदात्तीकरण

३. शतककाव्यका सूत्रपात

४ स्तवनोमे बाह्य चित्रणकी अपेक्षा अन्तरग गुणो एव अनेकान्तात्मक सिद्धान्तोकी बहुलता

५ दर्शन और काव्यभावनाका मणि-काचनसयोग

आचार्य समन्तभद्रके उक्त काव्यतत्त्वोका सस्कृतकाव्यतत्त्वोपर पूर्ण प्रभाव पडा है। जब सस्कृतकाव्यका प्रणयन मध्यदेशसे स्थानान्तरित हो गुजरात, कश्मीर और दक्षिणभारतमे प्रविष्ट हुआ, तो समन्तभद्रके काव्य-सिद्धान्त सर्वत्र प्रचलित हो गये। भारविमे एकाएक चित्र और श्लेषका प्रादुर्भाव नही हुआ है, अपितु समन्तभद्रके काव्यसिद्धान्तोका उनपर प्रभाव है। मलाबार निवासी वासुदेव कविने यमक और श्लेष सम्बन्धी जिन प्रसिद्ध काव्योकी रचना की है, उनके लिए वे शैलीके क्षेत्रम समन्तभद्रके ऋणी हैं। कवि कुञ्जर द्वारा लिखित राघवपाण्डवीयपर भी समन्तभद्रको शैलीका प्रभाव है। अत. सक्षेपमे दर्शन, आचार, तर्क, न्याय आदि क्षेत्रोमे प्रस्तुत किये गये ग्रन्थोकी दृष्टिसे समन्तभद्र ऐसे सारस्वताचार्य हैं, जिन्होने कुन्दकुन्दादि आचार्योके वचनोको ग्रहण कर, सर्वज्ञको वाणीको एक नये रूपमे प्रस्तुत किया है।

आचार्य सिद्धसेन

कवि और दार्शनिकके रूपमे सिद्धसेन प्रसिद्ध हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो ही परम्पराएँ इन्हे अपना-अपना आचार्य मानती हैं। आचार्य जिनसेनने अपने आदिपुराणमे सिद्धसेनको कवि और वादिगजकेसरी दोनो कहा है

१ स्तुति विद्या, पद्य ८७।

कवय सिद्धसेनाद्या वय च कवयो मता ।
मणय पद्मरागाद्या ननु काचोऽपि मेचक ॥
प्रवादिकरियूथाना केसरी नयकेसर ।
सिद्धसेनकविर्जीयाद्विकल्पनखराङ्कुर ॥[1]

पूर्वकालमे सिद्धसेन आदि अनेक कवि हो गये है और मैं भी कवि हूँ। पर दोनोमे उतना ही अन्तर है, जितना कि पद्मरागमणि और काचमणिमे होता है।

वे सिद्धसेन कवि जयवन्त हो, जो प्रवादिरूपी हाथियोके झुण्डके लिए सिहके समान हैं। नैगमादि नय ही जिनके केशर अयाल तथा अस्ति-नास्ति आदि विकल्प ही जिनके तीक्ष्ण नाखून थे।

आचार्य हेमचन्द्रने अपने शब्दानुशासनमे "उत्कृष्टेऽनूपेन" (२।२।३९) सूत्रके उदाहरणमे 'अनुसिद्धसेन कवय' द्वारा सिद्धसेनको सबसे बड़ा कवि बताया है।

जैनेन्द्र व्याकरणके 'उपेन' (१।४।१६) सूत्रकी वृत्तिमे अभयनन्दिने 'उपसिद्धसेन वैयाकरणा:' उदाहरण द्वारा सिद्धसेनको श्रेष्ठ वैयाकरण बतलाया है।

जिनसेन प्रथमने अपने 'हरिवशपुराण'मे सिद्धसेनकी सूक्तियो (वचनो) को तीर्थंकर ऋषभदेवकी सूक्तियोके समान सारयुक्त एव महत्त्वपूर्ण बतलाया है। यथा

जगत्प्रसिद्धबोधस्य वृषभस्येव निस्तुषा ।
बोधयन्ति सता बुद्धि सिद्धसेनस्य सूक्तय ॥[2]

अर्थात् जिनका श्रेष्ठ ज्ञान ससारमे सर्वत्र प्रसिद्ध है ऐसे श्री सिद्धसेनकी निर्मल सूक्तियाँ श्रीऋषभ जिनेन्द्रकी सूक्तियोके समान सत्पुरुषोकी बुद्धिको सदा विकसित करती है।

जीवन-परिचय

सिद्धसेनके जीवन-वृत्तके सम्बन्धमे प्रभावकचरितमे जो तथ्य उपलब्ध हैं उनसे प्रकट है कि उज्जयिनी नगरीके कात्यायन गोत्रीय देवर्षि ब्राह्मणकी देवश्री पत्नीके उदरसे इनका जन्म हुआ था। ये प्रतिभाशाली और समस्त शास्त्रोके पारगत विद्वान् थे। वृद्धवादि जब उज्जयिनी नगरीमे पधारे तो उनके साथ सिद्धसेनका शास्त्रार्थ हुआ। सिद्धसेन वृद्धवादिसे बहुत प्रभावित हुए और उनका

१ आदिपुराण, भाग १, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण १।३९-४२।
२. हरिवशपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ सस्करण १।३०।

शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। गुरुने इनका दीक्षानाम कुमुदचन्द्र रखा[1]। आगे चलकर ये सिद्धसेनके नामसे प्रसिद्ध हुए। हरिभद्रके 'पंचवस्तु' ग्रन्थमें 'दिवाकर' विशेषण उपलब्ध होता है। उसमें बताया गया है कि दुःषमकाल-रूप रात्रिके लिए दिवाकर—सूर्यके समान होनेसे दिवाकरका विरुद इन्हें प्राप्त था।

आयरियसिद्धसेणेण सम्मइए पइट्ठि अजसेण।
दूसमणिसा-दिवागर कप्पत्तणओ तदक्खेणं ॥[2]

सन्मति-टीकाके प्रारम्भमें अभयदेवसूरि (१२वीं शती ई०)ने भी इन्हें दिवाकर कहा है। दुःषमाकाल श्रमणसंघकी अवचूरिमें सिद्धसेनको 'दिवाकर'के स्थानपर 'प्रभावक' लिखा गया है और इनके गुरुका नाम धर्माचार्य बताया है।[3]

इनके सम्बन्धमें यह भी कहा जाता है कि इन्होंने उज्जयिनीमें महाकालके मन्दिरमें 'कल्याणमन्दिर' स्तोत्र द्वारा रुद्र-लिङ्गका स्फोटन कर पार्श्वनाथका बिम्ब प्रकट किया था और विक्रमादित्य राजाको सम्बोधित किया था। यथा

'वृद्धवादी पादलिप्तश्चात्र तथा सिद्धसेनदिवाकरो येनोज्जयिन्यां महाकाल-प्रासाद-रुद्रलिङ्गस्फोटनं विधाय कल्याणमन्दिरस्तवेन श्रीपार्श्वनाथबिम्बं प्रकटीकृतं श्रीविक्रमादित्यश्च प्रतिबोधितस्तद्राज्यं तु श्रीवीरसप्ततिवर्षचतुष्टये सञ्जातम्।'[4]

पट्टावलीसारोद्धारमें लिखा है

'तथा सिद्धसेनदिवाकरोऽपि जातो येनोज्जयिन्यां महाकालप्रासादे रुद्र-लिङ्गस्फोटनं कृत्वा कल्याणमन्दिरस्तवनेन श्रीपार्श्वनाथबिम्बं प्रकटीकृत्य श्री-विक्रमादित्यराजापि प्रतिबोधितः श्रीवीरनिर्वाणात् सप्ततिवर्षाधिकशतचतुष्टये ४७० विक्रमे श्रीविक्रमादित्यराज्यं सञ्जातम्।'[5]

गुरुपट्टावलीमें भी इसी तथ्यकी पुनरावृत्ति प्राप्त होती है 'तथा श्रीसिद्ध-सेनदिवाकरेणोज्जयिनीनगर्यां महाकालप्रासादे लिङ्गस्फोटनं विधाय स्तुत्या ११ काव्ये श्रीपार्श्वनाथबिम्बं प्रकटीकृतम्'[6] कल्याणमन्दिरस्तोत्रं कृतम्।'

१ प्रभावकचरितके अन्तर्गत वृद्धवादिसूरि-चरितम्, पृ० ५५-६०।
२ हरिभद्र-पञ्चवस्तु गाथा १४०८।
३. अनेकान्त, वर्ष ९, किरण ११, पृ० ४५७।
४. मुनि दर्शनविजय द्वारा सम्पादित पट्टावलीसमुच्चय, प्रथम भाग।
५ वही, पृ० १५०।
६ पट्टावलीसमुच्चय, पृ० १६६।

इन पट्टावलियोंसे ज्ञात होता है कि सिद्धसेनके प्रभावसे उज्जयिनीमें शिव-लिङ्ग-स्फोटनकी घटना घटी थी। पट्टावलियोंके कालक्रमके अवलोकनसे प्रतीत होता है कि उज्जयिनीकी इस घटनाका समावेश विक्रमकी १५ वीं शताब्दीसे हुआ है। अतः सम्भव है कि सिद्धसेनकी इस घटनाको समन्तभद्रकी शिवपिण्ड-स्फोटनकी घटनाके अनुकरणपर कल्पित किया गया हो।

पण्डित जुगुलकिशोरजी मुख्तारने सिद्धसेनके स्तुत्यात्मक साहित्यका आकलन कर निम्नलिखित निष्कर्ष उपस्थित किया है

"यहाँ 'स्तुतय' 'यूथाधिपते' तथा 'तस्य शिशु'[1] ये पद खास तौरसे ध्यान देने योग्य हैं। 'स्तुतय' पदके द्वारा सिद्धसेनीय ग्रन्थोंके रूपमें उन द्वात्रिंशिकाओंकी सूचना की गयी है जो स्तुत्यात्मक हैं और शेष पदोंके द्वारा सिद्धसेनको अपने सम्प्रदायका प्रमुख आचार्य और अपनेको उनका परम्पराशिष्य घोषित किया गया है। इस तरह श्वेताम्बर सम्प्रदायके आचार्यरूपमें यहाँ वे सिद्धसेन विवक्षित हैं जो कतिपय स्तुतिरूप द्वात्रिंशिकाओंके कर्त्ता हैं, न कि वे सिद्धसेन जो कि स्तुत्येतर द्वात्रिंशिकाओंके अथवा खासकर 'सन्मति' सूत्रके रचयिता हैं।"[2]

उपर्युक्त कथनसे यह स्पष्ट है कि मुख्तार साहब दो सिद्धसेन मानते हैं। एक सिद्धसेन वे हैं जो सन्मतिसूत्र और स्तुत्येतर द्वात्रिंशिकाओंके रचयिता हैं। और दूसरे वे सिद्धसेन, जिन्होंने स्तुतिरूप द्वात्रिंशिकाओंकी रचना की है।

दिवाकरयतिके रूपमें रविषेणाचार्यके पद्मचरितकी प्रशस्तिमें भी एक सिद्धसेनका उल्लेख आया है। इसमें इन्हें इन्द्रगुरुका शिष्य, अर्हन् मुनिका गुरु और रविषेणके गुरु लक्ष्मणसेनका दादागुरु बतलाया है।

आसीदिन्द्रगुरोर्दिवाकर-यतिः शिष्योऽस्य चार्हन्मुनिः।
तस्माल्लक्ष्मणसेन-सन्मुनिरदः शिष्यो रविस्तु स्मृतम्॥[3]

यहाँ यह स्मरणीय है कि श्वेताम्बर प्रबन्धों और पट्टावलियोंके समान सिद्धसेनके साथ उज्जयिनीके महाकालमन्दिरमें घटित घटनाका उल्लेख दिगम्बर सम्प्रदायमें भी पाया जाता है। सेनगणकी पट्टावलीके निम्न वाक्यमें कहा है

१. क्व सिद्धसेन-स्तुतयो महार्था अशिक्षितालापकला क्व चैषा।
तथाऽपि यूथाधिपतेः पथस्थः स्खलद्गतिस्तस्य शिशुर्न शोच्यः॥

हेमचन्द्र द्वात्रिंशिका।

२. अनेकान्त वर्ष ९, किरण ११, पृ० ४५९।

३. पद्मचरित, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण, १२३।१६७

"(स्वस्ति) श्रीमदुज्जयिनीमहाकालसस्थापनमहाकाललिङ्गमहीधर-वाग्वज्रदण्ड-विष्ट्याविष्कृतश्रीपार्श्वतीर्थेश्वरप्रतिद्वन्द्वश्रीसिद्धसेनभट्टारकाणाम्॥१४॥

समय-निर्धारण

सिद्धसेनके समयके सम्बन्धमे अनेक मान्यताएँ प्रचलित हैं। एक मान्यता इनको प्रथम शतीका विद्वान् स्वीकार करती है और प्रमाणमे पट्टावली-समुच्चयमे सङ्कलित पट्टावलियोको प्रस्तुत करती है। पर यह मत प्रमाणभूत नही है। यत विक्रमादित्य नामके कई राजा हुए हैं। अतएव पट्टावलीमे उल्लिखित विक्रमादित्य वि० स० का प्रवर्तक नही है। उज्जयिनीके साथ कई विक्रमादित्योका सम्बन्ध है। अत सम्भव है कि यह विक्रमादित्य विक्रम उपाधिधारी चन्द्रगुप्त द्वितीय हो।

द्वितीय मतके अनुसार सिद्धसेनका समय जैनेन्द्र व्याकरणके रचयिता पूज्यपादसे पूर्व माना गया है। इस मतके प्रवर्त्तक आचार्य पण्डित सुखलालजी संघवी हैं। आपने पूज्यपादके व्याकरणगत "वेत्ते सिद्धसेनस्य" ५।१।७ सूत्रमे निर्दिष्ट सिद्धसेनके मतका निरूपण करते हुए कहा है कि अनुपसर्ग और सकर्मक √विद् धातुसे रेफका आगम होता है। इस मान्यताका प्रयोग नवमी त्रिशिकाके २२वें पद्यमे 'विद्रते' इस प्रकार रेफ आगमवाला प्रयोग पाया जाता है। अन्य वैयाकरण सम उपसर्गपूर्वक और अकर्मक √विद् धातुमे 'र' का आगम मानते हैं। पर सिद्धसेन अनुपसर्ग और सकर्मक √विद्धातुमे रेफका आगम स्वीकार करते हैं। इनकी इस विलक्षणताका निर्देश उनका बहुश्रुतत्व सूचित करता है। इसके अतिरिक्त सर्वार्थसिद्धिके सातवें अध्यायके १३वे सूत्रमे 'उक्तञ्च' के बाद सिद्धसेन दिवाकरके एक पद्यका अश उद्धृत मिलता है।[1] इससे उनका समय पूज्यपादके पूर्व विक्रमकी पञ्चम शताब्दीका प्रथम पाद अथवा चतुर्थ शताब्दीका अन्तिम पाद होना चाहिए।

मुनि जिनविजयजीने मल्लवादिके "द्वादशारनयचक्र" मे 'दिवाकर' का उल्लेख प्राप्त कर और प्रभावकचरितके अन्तर्गत 'विजयसिंहचरितम्' मे वीर निर्वाण सवत् ८८४को मल्लवादिका समय मानकर सिद्धसेनका काल वि० स० ४१४ माना है।[2]

१ वियोजयति चासुभिर्न च वधेन सयुज्यते,
शिव च न परोपमर्दपु (प) रुषस्मृतेर्विद्यते ॥३।१६॥

२ जैनसाहित्य सशोधक, भाग २।

तीसरे मतके प्रवर्त्तक डॉ० हीरालालजी जैन हैं। इन्होने सिद्धसेनको गुप्तकालीन सिद्ध किया है। एक द्वात्रिंशिकाके आधारपर विक्रमादित्य उपाधिधारी चन्द्रगुप्त द्वितीयका समकालीन माना है[1]। अन्यत्र भी आपने लिखा है

"सन्मइसुत्तका' रचनाकाल चौथी-पाँचवी शताब्दी ई० है।[2]"

डॉ० जैनकी मान्यता पण्डित सुखलालजी सघवीके समान ही है।

चतुर्थ मत डॉ० पी० एल० वैद्यका है, जिन्होने न्यायावतारकी प्रस्तावनामे प्रभावकचरितके निम्नलिखित पद्यको उद्धृत किया है और उसमे आये 'वीरवत्सरात्' पदकी व्याख्या 'वीरविक्रमात्' पाठ मानकर की है

श्रीवीरवत्सरादथशताष्टके चतुरशीतिसयुक्ते।
जिग्ये स मल्लवादी बौद्धास्तद्व्यन्तराश्चापि॥[3]

तदनुसार डॉ० वैद्य सिद्धसेनका समय आठवी शती मानते हैं। आचार्य जुगलकिशोर मुख्तारने अनेक तर्क और प्रमाणोके आधारपर न्यायावतारके कर्ता सिद्धसेन और कतिपय द्वात्रिंशिकाओके कर्त्ता सिद्धसेनको सन्मतितर्कके कर्त्ता सिद्धसेनसे भिन्न माना है। आपने 'सन्मतिसूत्र और सिद्धसेन' शीर्षक विस्तृत निबन्धमे यह निष्कर्ष निकाला है कि 'सन्मतिसूत्र'के कर्त्ता सिद्धसेन दिगम्बर विद्वान् हैं और न्यायावतारके कर्त्ता श्वेताम्बर। द्वात्रिंशिकाओमे कुछके रचयिता दिगम्बर सिद्धसेन है और कुछके कर्त्ता श्वेताम्बर सिद्धसेन। श्वेताम्बर सम्प्रदायमे श्वेताम्बर आगमोको सस्कृतमे रूपान्तरित करनेके विचारमात्रसे सिद्धसेनको बारह वर्षके लिए सघसे निष्कासित करनेका दण्ड दिया गया था। इस अवधिमे सिद्धसेन दिगम्बर साधुओके सम्पर्कमे आये और उनके विचारोसे प्रभावित हुए। विशेषत समन्तभद्रके जीवनवृत्तान्तो और उनके साहित्यका उनपर सबसे अधिक प्रभाव पडा, इसलिए वे उन्ही जैसे स्तुत्यादि कार्योमे प्रवृत्त हुए। उन्हीके साहित्यके सस्कारोके कारण सिद्धसेनके साथ उज्जयिनीकी वह महाकालवाली घटना भी घटित हुई होगी, जिससे उनका प्रभाव सर्वत्र व्याप्त हो गया होगा। सिद्धसेनके इस बढते प्रभावके कारण ही श्वेताम्बर सघको अपनी भूलका अनुभव हुआ होगा और प्रायश्चित्तकी शेष अवधिको रद्दकर उन्हे प्रभावक आचार्य घोषित किया गया होगा।

दिगम्बर सम्प्रदायमे सिद्धसेनको सेनगणका आचार्य माना गया है। अतएव

१ A contemporary Ode to Chandragupta Vikramaditya

२. भारतीय सस्कृतिमें जैनधर्मका योगदान · मध्यप्रदेश शासन सस्करण, पृ०–८७।

३ प्रभावकचरित सिंघी जैनग्रन्थमाला, पृ०–४४, पद्य–८३।

'सन्मतिसूत्र'के कर्त्ता सिद्धसेनका समय समन्तभद्रके पश्चात् और पूज्यपादके पूर्व या समकालिक माना जा सकता है।

आचार्य मुख्तार साहबकी दो सिद्धसेनवाली मान्यता बुद्धिसगत प्रतीत होती है। ग्रन्थके अन्तरग परीक्षणमे मुख्तारसाहबने बतलाया है कि विक्रम सवत् ६६६के पूर्व सिद्धसेन हुए हैं। 'सन्मति'सूत्रके कर्त्ता सिद्धसेन केवलीके ज्ञान-दर्शनोपयोग-विषयमे अभेदवादके पुरस्कर्त्ता हैं। उनके इस अभेदवादका खण्डन दिगबर सम्प्रदायमे अकलंकदेवने तत्त्वार्थवार्त्तिमे और श्वेताम्बर सम्प्रदायमे सर्वप्रथम जिनभद्र क्षमाश्रमणके 'विशेषावश्यकभाष्य' और 'विशेषणती' ग्रन्थोमे किया है। साथ ही सन्मतिसूत्रके तृतीय काण्डकी "णत्थि पुढवीविसिट्ठो" और "दोहिं वि णएहिं णीय" गाथाएँ विशेषावश्यकभाष्यमे क्रमश गा० न० २१०४, २१९५ पर उद्धृत पायी जाती हैं। इसके अतिरिक्त विशेषावश्यकभाष्यकी स्वोपज्ञटीकामे 'णामाइतिय दव्वट्ठियस्स' इत्यादि गाथाकी व्याख्या करते हुए लिखा है

"द्रव्यास्तिकनयावलम्बिनौ सग्रह-व्यवहारौ ऋजुसूत्रादयस्तु पर्यायनयमतानुसारिण. आचार्यसिद्धसेनाऽभिप्रायात्"।

इन उद्धरणोसे स्पष्ट है कि सिद्धसेनके मतका और उनके गाथावाक्योका उनमे उल्लेख किया गया है। अकलकदेव विक्रम सवत् ७ वी शताब्दीके विद्वान् हैं और जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने विशेषावश्यकभाष्यकी रचना शक स० ५३१ (वि० स० ६६६) मे की है। अतएव सिद्धसेन विक्रमकी ७ वी शताब्दीसे पूर्ववर्ती हैं। उल्लेखनीय है कि आचार्य वीरसेनने भी धवला[1] और जयधवला[2] दोनोमे सिद्धसेनके सन्मतिसूत्रके नामनिर्देशपूर्वक उसके वाक्योको उद्धृत किया है तथा उनके साथ होनेवाले विरोधका परिहार किया है। वीरसेनका समय ईसाकी ९ मी शती है। अत सिद्धसेन स्पष्टतया उनसे भी पूर्ववर्ती सिद्ध हैं। पूज्यपाद देवनन्दिने सन्मतिसूत्रके ज्ञानदर्शनोपयोगके अभेदवादकी चर्चा तक नही की, जब कि अकलकदेवने तत्त्वार्थवार्त्तिकमे उसकी चर्चा ही नही, सयुक्तिक मीमासा भी की है। यदि पूज्यपादसे पूर्व सन्मतिसूत्र रचा गया होता, तो पूज्यपाद अकलककी तरह उसके अभेदवादकी मीमासापूर्वक ही युगपद्वादका प्रतिपादन करते। अत सिद्धसेनका समय पूज्यपाद (वि० की ६ ठी शती) और अकलक (वि० की ७ वी शती) का मध्यकाल अर्थात् वि० सं० ६२५ के आसपास होना चाहिए।

१ षट्खण्डागम, धवला, पु० १ पृ० १५।
२ कषायपाहुड, जयधवला, पु० १, पृ० २६०।

रचनाएँ

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि सिद्धसेन नामके एक-से अधिक विद्वान् हुए हैं। सन्मतिसूत्र और कल्याणमन्दिर जैसे ग्रन्थोके रचयिता सिद्धसेन दिगम्बर सम्प्रदायमे हुए है। इनके साथ दिवाकर विशेषण नही है। दिवाकर विशेषण श्वेताम्बर सम्प्रदायमे हुए सिद्धसेनके साथ पाया जाता है, जिनकी कुछ द्वात्रिंशिकाएँ, न्यायावतार आदि रचनाएँ हैं। यहाँ दिगम्बर परम्परामे हुए सिद्धसेनकी उपलब्ध दो रचनाओको विवेचित किया जाता है।

सन्मतिसूत्र

प्राकृत भाषामे लिखित न्याय और दर्शनका यह अनूठा ग्रन्थ है। आचार्यने नयोका सागोपाग विवेचन कर जैनन्यायकी सुदृढ पद्धतिका आरम्भ किया है। कथन करनेकी प्रक्रियाको 'नय' कहा गया है और विभिन्न दर्शनोका अन्तर्भाव विभिन्न नयोमे किया है। इस ग्रन्यके ३ काण्ड हैं (१) नयकाण्ड, जीवकाण्ड या ज्ञानकाण्ड और (३) सामान्य-विशेषकाण्ड या ज्ञेयकाण्ड।

प्रथम काण्डमे ५४, द्वितीयमे ४३ और तृतीयमे ६९ गाथाएँ हैं। इस प्रकार कुल १६६ गाथाओमे ग्रन्थ समाप्त हुआ है।

प्रथम काण्डमे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोके स्वरूपका विस्तारपूर्वक विवेचन आया है। तीर्थंकरवचनोके सामान्य और विशेषभावके मूल प्रतिपादक ये दोनो ही नय हैं। शेष नयोका विकास और निकास इन्हीसे हुआ है। लिखा है

> तित्थयरवयणसगह-विसेसपत्थारमूलवागरणी।
> दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पा सिं॥
> दव्वट्ठियनयपयडी सुद्धा सगहपरूवणाविसओ।
> पडिरूवे पुण वयणत्थनिच्छओ तस्स ववहारो॥[1]

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दोनो नय क्रमश अभेद और भेदको ग्रहण करते हैं। तीर्थंकरके वचनोकी सामान्य एवं विशेषरूप राशियोके मूलप्रतिपादक द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय हैं। शेष नय भेद या अभेदको विषय करनेके कारण इन्ही नयोके उपभेद हैं। द्रव्यार्थिक नयकी शुद्ध प्रकृति सग्रहकी प्ररूपणाका विषय है और प्रत्येक वस्तुके सम्बन्धमे होनेवाला शब्दार्थ-निश्चय तो सग्रहका व्यवहार है।

१ सन्मतिसूत्र, ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदावाद सस्करण, १।३-४।

ऋजुसूत्रनय अर्थात् तदनुसारी जो वचन विभाग, वह पर्यायनयका मूल आधार है। शब्दनय, समभिरूढनय और एवभूतनय उत्तरोत्तर सूक्ष्म भेद वाले होनेसे पर्यायनयके अन्तर्गत ही है। नाम, स्थापना और द्रव्य ये तीन द्रव्यार्थिकनयके निक्षेप है और भावनिक्षेप पर्यायार्थिक नयके अन्तर्गत है। इस प्रकार इस काण्डमे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक वस्तुका निरूपण कर नयोका विवेचन किया है। मनुष्य जो कुछ भी सोचता या कहता है वह या तो अभेद-की ओर झुकता है या भेदकी ओर। अभेदको दृष्टिसे किये गये विचार और उसके द्वारा प्रतिपादित वस्तुको संग्रह या सामान्य कहते हैं। भेदकी दृष्टिसे किया गया विचार और प्रतिपादित वस्तु विशेष कही जाती है। इस प्रकार इस काण्डमें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोका विश्लेषण किया गया है।

द्वितीय काण्डमे दर्शन और ज्ञानके स्वरूपका कथन करनेके पश्चात् आत्माके सामान्य-विशेषात्मक स्वरूपका निरूपण कर द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोको घटित किया है। इस द्वितीय काण्डमे ज्ञान और दर्शनके समयभेदका कथन करते हुए केवलीके ज्ञान और दर्शनके अभेदवादका समर्थन किया है। लिखा है

मणपज्जवणाणतो णाणस्स य दरिसणस्स य विसेसो।
केवलणाण पुण दसण ति णाण ति य समाण॥[1]

ज्ञान और दर्शनका विश्लेषग अर्थात् कालभेद मन पर्यय ज्ञान तक है, पर केवलज्ञानके विषयमे दर्शन और ज्ञान ये दोनो समान है। अर्थात् इन दोनोका एक काल है।

इस प्रकार केवलीके ज्ञान-दर्शनका अभेदवाद स्थापित कर क्रमवादी और सहवादीकी समीक्षा प्रस्तुत की है। तार्किक शैलीमे पक्ष-प्रतिपक्ष स्थापन पुरस्सर विषयका निरूपण किया है। दर्शन और ज्ञान इन दोनोको परिभाषा एव विषय वस्तुका विवेचन करते हुए केवलज्ञानके पर्यायोका कथन किया है।

तृतीय काण्डमे सामान्य और विशेषरूप वस्तुका कथन है। अत. इसे ज्ञेय-काण्ड कहा जा सकता है। सामान्य और विशेष परस्परमे एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न या सर्वथा अभिन्न नही हैं। आचार्यने लिखा है

सामण्णम्मि विसेसो विसेसपक्खे य वयणविणिवेसो।
दव्वपरिणाममण्ण दाएइ तय च णियमेइ॥

१. सन्मतिसूत्र, ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद सस्करण, २।३।

एगतणिव्विसेस एयतविसेमिय च वयमाणो ।
दव्वस्स पज्जवे पज्जवा हि दविय णियत्तेइ[1] ॥

अर्थात् सामान्यमे विशेषविषयक वचनका और विशेषमे सामान्यविषयक वचनका जो प्रयोग होता है, वह अनुक्रमसे सामान्य द्रव्यके परिणामको उससे भिन्न रूपमे दिखलाता है और उसे विशेषको सामान्य मे नियत करता है ।

एकान्त निर्विशेष सामान्यका और एकान्त विशेषका प्रतिपादन करनेवाला द्रव्यके पर्यायोको उससे भिन्न और पृथक् बतलाता है । व्यवहार ज्ञानमूलक होता है और व्यवहारकी अबाधकता ही ज्ञानको यथार्थताका प्रमाण है । वस्तु का स्वरूप निश्चित करनेका एकमात्र साधन यथार्थज्ञान है और वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है । न तो सामान्यरहित विशेषकी प्रतीति होती है और न विशेष-रहित सामान्यकी ही । सामान्य और विशेष दोनो परस्परमे सापेक्ष है । इस काण्डके अन्तमे भगवान् जिनवचन अनेकान्तकी भद्र-कामना की है

भद्द मिच्छादसणसमूहमहयस्स अमयसारस्स ।
जिणवयणस्स भगवओ सविग्गसुहाहिगम्मस्स[2] ॥

भगवान् जिनवचन अनेकान्तशासनका भद्र हो सबका कल्याण करता हुआ सदा विद्यमान रहे, जो मिथ्यादर्शनोके समूहका मथक उनमे परस्पर सापेक्षता स्थापक है, अमृतसार है और निष्पक्ष जनो द्वारा सरलतासे ज्ञातव्य है ।

इस ग्रन्थकी प्राकृत भाषा महाराष्ट्री है । 'य' श्रुतिका पालन सर्वत्र हुआ है । 'य' श्रुतिकी यह व्यवस्था वररुचिके व्याकरणमे नही मिलती । प्राकृत वैयाकरणोमे आचार्य हेमचन्द्रने ही 'य' श्रुतिका विधान किया है । श्वेताम्बर आगम ग्रन्थोकी प्राकृत अर्धमागधी है, पर इस ग्रन्थकी प्राकृत महाराष्ट्री है, जो शौरसेनीका एक उपभेद है । इस भाषाका प्रयोग ई० सन् की चौथी, पाँचवी शताब्दीसे हुआ है । नाटकीय शौरसेनी और जैन शौरसेनीके प्रभावसे ही उक्त महाराष्ट्रीका भेद विकसित हुआ है । यहाँ 'य' श्रुतिके कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है

"तित्थयर (तीर्थंकर) ११३, वयण (वदन) ११३, सुहुमभेया (सूक्ष्मभेदा), पयडी (प्रकृति) ११४, णयवाया (नयवादा) ११२५, वियप्प (विकल्प) ११३३, सत्तवियप्पो (सप्तविकल्प) ११४१, जइयव्व (यतितव्यम्) ३।६५, सुयणाण (श्रुतज्ञान) २।२७, सयले (सकले) २।२८, सायार (साकार) २।१०, सया (सदा) २।१०, णिय (निज) २।१४ आदि ।

१. सन्मतिसूत्र, अहमदाबाद सस्करण, ३।१-२ ।
२. वही, ३।६९ ।

महाराष्ट्रीकी अन्य प्रवृत्तियोमे प्रथमा विभक्तिके एक वचनमे ओकारका पाया जाना भी उपलब्ध है । यथा पज्जणओ (पर्यायार्थिकनयः) १।३, विसओ (विषय) १।४, ववहारो (व्यवहार) १।४, दविओवओगो (द्रव्योपयोग) १।८, ससारो (ससार) १।१७, समूहसिद्धो (समूहसिद्ध) १।२७, अत्थो (अर्थ) १।२७ अणाइणिहणो (अनादिनिधन) १।३७ आदि ।

सप्तमी विभक्तिके एक वचनमे 'म्मि'का व्यवहार भी पाया जाता है थोरम्मि, ससमयम्मि ३।२५, तम्मि ३।४, दसणम्मि २।२४, चक्खुम्मि २।२४ आदि ।

इस ग्रन्थकी उपलब्ध पाण्डुलिपियोमे पाठान्तर भी प्राप्त होते है । यथा—'सुयणाण'के स्थान पर 'सुदणाण', 'सयले'के स्थान पर 'सगले' और 'सायार'के स्थान पर 'सागार' जैसे प्रयोग प्राप्त हैं । इन प्रयोगोंसे प्रतीत होता है कि इस प्रकारके रूप दिगम्बर आगमोकी शौरसेनीके हैं। इस ग्रन्थ पर दिगम्बराचार्य सुमतिदेव द्वारा विरचित एक टीकाका उल्लेख आचार्य वादिराजने किया है, जो अनुपलब्ध है । दूसरी टीका अभयदेव कृत २५०० श्लोक प्रमाण तत्त्वविधायिनी नामकी उपलब्ध है ।

कल्याणमन्दिर

इस स्तोत्रमे ४४ पद्य हैं । रचयिताका नाम कुमुदचन्द्र आया है, जो सिद्धसेनका दीक्षानाम है । लिखा है

> जननयनकुमुदचन्द्रप्रभास्वरा स्वर्गसम्पदो भुक्त्वा ।
> ते विगलितमलनिचया अचिरान्मोक्ष प्रपद्यन्ते ॥ पद्य ४४

इस पद्यमे श्लेष द्वारा कविका नाम अभिव्यक्त किया गया है । स्तोत्रमे पार्श्वनाथकी स्तुति की गयी है । प्रारम्भमे कविने अपनी अल्पज्ञताका निर्देश किया है । भगवान्के मात्र नामोच्चारणका वर्णन करता हुआ कवि कहता है

> आस्तामचिन्त्यमहिमा जिन ! सस्तवस्ते नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति ।
> तीव्रातपोपहतपान्थजनान्निदाघे प्रीणाति पद्मसरस सरसोऽनिलोऽपि ॥[1]

हे देव ! आपके स्तवनकी अचिन्त्य महिमा है । आपका नाममात्र भी जीवोको ससारके दु खोसे बचा लेता है । जिस प्रकार ग्रीष्मर्तुमे धूपसे पीडित व्यक्तिको, कमलयुक्त सरोवर तो सुख पहुँचाते ही है, पर उन सरोवरोंकी शीतलवायु भी सुख पहुँचाती है ।

कामजयी वीतरागका महत्व प्रतिपादित करते हुए कविने समीक्षात्मक और तुलनात्मक शैलीमे लिखा है

१ कल्याणमन्दिर, पद्य ७ ।

यस्मिन् हरप्रभृतयोऽपि हतप्रभावा सोऽपि त्वया रतिपतिः क्षपितः क्षणेन।
विध्यापिता हुतभुजः पयसाथ येन पीतं न किं तदपि दुर्द्धरवाडवेन ॥[१]

जिस कामने हरि, हर, ब्रह्मा आदि महापुरुषोंको पराजित कर दिया, उस कामको भी आपने पराजित कर दिया, यह आश्चर्यकी बात नहीं है। यतः जो जल संसारकी समस्त अग्निको नष्ट करता है, उस जलको भी वडवानल नामक समुद्रकी अग्नि नष्ट कर डालती है।

क्रोधस्त्वया यदि विभो! प्रथमं निरस्तो ध्वस्तास्तदा वद कथं किल कर्मचौराः।
प्लोषत्यमुत्र यदि वा शिशिरापि लोके नीलद्रुमाणि विपिनानि न किं हिमानी ॥[२]

संसारमें प्रायः देखा जाता है कि क्रोधी मनुष्य ही शत्रुओंको जीतते हैं, पर भगवन्! आपने क्रोधको तो नवम गुणस्थानमें ही जीत लिया था। फिर क्रोधके अभावमें चतुर्दश गुणस्थान तक कर्मरूपी शत्रुओंको कैसे जीता? आचार्य सिद्धसेन कुमुदचन्द्रने इस लोकविरुद्ध तथ्यपर प्रथम आश्चर्य प्रकट किया, पर जब उन्हें ध्यान आया कि शीतल तुषार बड़े-बड़े वनोंको क्षण भरमें जला देता है अर्थात् क्षमासे भी शत्रु जीते जाते हैं, इस प्रकार उनके आश्चर्यका स्वयं ही समाधान हो जाता है।

इस स्तोत्र पर वैदिक प्रभाव भी है। वृत्रासुर द्वारा रोकी गयी गायोंका मोचन इन्द्रने किया था, इस तथ्यका संकेत निम्नलिखित पद्यपर प्रतिभासित होता है

मुच्यन्त एव मनुजाः सहसा जिनेन्द्र! रौद्रैरुपद्रवशतैस्त्वयि वीक्षितेऽपि।
गोस्वामिनि स्फुरिततेजसि दृष्टमात्रे चौरैरिवाशु पशवः प्रपलायमानैः ॥[३]

हे नाथ! जिस प्रकार तेजस्वी राजाके दिखते ही चोर चुराई हुई गायोंको छोड़कर शीघ्र ही भाग जाते हैं, उसी प्रकार आपके दर्शन होते ही अनेक भयंकर उपद्रव मनुष्योंको छोड़कर भाग जाते हैं।

भक्तकी भगवच्चरणोंमें अटूट आशाका निरूपण करता हुआ कवि कहता है

जन्मान्तरेऽपि तव पादयुगं न देव! मन्ये मया महितमीहितदानदक्षम्।
तेनेह जन्मनि मुनीश! पराभवानां जातो निकेतनमहं मथिताशयानाम् ॥[४]

१ कल्याणमन्दिर, पद्य ११।

२ वही, पद्य १३।

३ वही, पद्य ९।

४ वही, पद्य ३६।

हे भगवान् ! जो मै नाना प्रकारके तिरस्कारोका पात्र हो रहा हूँ, उससे स्पष्ट पता चलता है कि मैंने आपके चरणोकी पूजा नही की, क्योकि आपके चरणोके पुजारियोका कभी किसी जगह भी तिरस्कार नही होता ।

भावशून्य भक्तिको निरर्थक और भावपूर्ण भक्तिको सार्थक बतलाते हुए कवि कहता है ।

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या ।
जातोऽस्मि तेन जनबान्धव ! दु.खपात्रं यस्मात् क्रिया प्रतिफलन्ति न भावशून्याः ॥[1]

हे भगवन् ! मैंने आपका नाम भी सुना, पूजा भी की और दर्शन भी किये, फिर भी दु ख मेरा पिण्ड नही छोडता है । इसका कारण यही है कि मैंने भक्तिभावपूर्वक आपका ध्यान नही किया । केवल आडम्बरसे ही उन कामोको किया है, न कि भावपूर्वक । यदि भावपूर्वक भक्ति, अर्चा या स्तवन करता तो ससारके ये दु ख नही उठाने पडते । इस स्तोत्र (पद्य ३१, ३२, ३३) मे 'दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य पार्श्वनाथके उपसर्गोका वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है ।

सक्षेप मे यह स्तोत्र अत्यन्त सरस और भावमय है । प्रत्येक पद्यसे भक्तिरस निस्यूत होता है ।

प्रतिभा

सिद्धसेन दार्शनिक और कवि दोनो हैं । दोनोमे उनकी गति अस्खलित है । जहाँ उनका काव्यत्व उच्च कोटिका है वहाँ उनका उसके माध्यमसे दार्शनिक विवेचन भी गम्भीर और तत्त्वप्रतिपादनपूर्ण है ।

उपजाति, शिखरणी, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, वशस्थ, शार्दूलविक्रीडित, वसन्ततिलका एव आर्या छन्दोका व्यवहार किया गया है । ओजगुण इनकी कविताका विशेष उपकरण है ।

देवनन्दि पूज्यपाद

उत्थानिका

कवि, वैयाकरण और दार्शनिक इन तीनो व्यक्तित्वोका एकत्र समवाय देवनन्दि पूज्यपादमे पाया जाता है । आदिपुराणके रचयिता आचार्य जिनसेनने इन्हे कवियोमे तीर्थकृत लिखा है

कवीनां तीर्थकृद्देवः किं तरां तत्र वर्ण्यते ।
विदुषां वाङ्मलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोमयम् ॥ आदिपुराण, १।५२

१ कल्याणमन्दिर, पद्य ३८ ।

जो कवियोमे तीर्थंकरके समान थे, अथवा जिन्होने कवियोका पथप्रदर्शन करनेके लिये लक्षणग्रन्थकी रचना की थी और जिनका वचनरूपी तीर्थ विद्वानोके शब्दसम्बन्धी दोषोको नष्ट करनेवाला है, ऐसे उन देवनन्दि आचार्यका कौन वर्णन कर सकता है।

ज्ञानार्णवके कर्त्ता आचार्य शुभचन्द्रने इनकी प्रतिभा और वैशिष्ठ्यका निरूपण करते हुए स्मरण किया है

अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक्चित्तसम्भवम्।
कलङ्कमङ्गिना सोऽयं देवनन्दी नमस्यते[1]॥

जिनकी शास्त्रपद्धति प्राणियोके शरीर, वचन और चित्तके सभी प्रकारके मलको दूर करनेमे समर्थ है, उन देवनन्दि आचार्यको मैं प्रणाम करता हूँ।

आचार्य देवनन्दि-पूज्यपादका स्मरण हरिवंशपुराणके रचयिता जिनसेन प्रथमने भी किया है। उन्होने लिखा है

इन्द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्याडिव्याकरणेक्षिण।
देवस्य देववन्द्यस्य न वन्द्यन्ते गिर कथम्॥[2]

अर्थात् जो इन्द्र, चन्द्र, अर्क और जैनेन्द्र व्याकरणका अवलोकन करनेवाली है, ऐसी देववन्द्य देवनन्दि आचार्यकी वाणी क्यो नही वन्दनीय है।

इससे स्पष्ट है कि आचार्य देवनन्दि प्रसिद्ध वैयाकरण और दार्शनिक विद्वान थे और विद्वन्मान्य।

इनके सम्बन्धमे आचार्य गुणनन्दिने इनके व्याकरण सूत्रोका आधार लेकर जैनेन्द्र प्रक्रियामे मगलाचरण करते हुए लिखा है-

नम श्रीपूज्यपादाय लक्षण यदुपक्रमम्।
यदेवात्र तदन्यत्र यन्नात्रास्ति न तत्क्वचित्॥[3]

जिन्होने लक्षणशास्त्रकी रचना की है, मैं उन आचार्य पूज्यपादको प्रणाम करता हूँ। उनके इस लक्षणशास्त्रकी महत्ता इसीसे स्पष्ट है कि जो इसमे है, वह अन्यत्र भी है और जो इसमे नही है, वह अन्यत्र भी नही है।

उनके साहित्यकी यह स्तुति-परम्परा धनजय, वादिराज आदि प्रमुख

१ ज्ञानार्णव १।१५, रायचन्द्र शास्त्रमाला सस्करण, विक्रम सम्वत् २०१७।

२ हरिवंशपुराण १।३, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वि० स० २०१९।

३ जैनेन्द्र प्रक्रिया, जैन सिद्धान्तप्रकाशनी सस्था, कलकत्ता सस्करण, मंगलपद्य।

आचार्यो द्वारा भी अनुभूति हुई। पूज्यपादकी ज्ञानगरिमा और महत्ताका उल्लेख उक्त स्तुतियोमे विस्तृत रूपसे आया है।

उनसे स्पष्ट है कि देवनन्दि-पूज्यपाद कवि और दार्शनिक विद्वान्के रूपमे ख्यात है।

जीवन-परिचय

इनका जीवन-परिचय चन्द्रय्य कविके 'पूज्यपादचरिते' और देवचन्द्रके 'राजावलिकथे' नामक ग्रन्थोमे उपलब्ध है। श्रवणबेलगोलाके शिलालेखोमे इनके नामोके सम्बन्धमे उल्लेख मिलते है। इन्हे बुद्धिकी प्रखरताके कारण 'जिनेन्द्रबुद्धि' और देवोके द्वारा चरणोकी पूजा किये जानेके कारण 'पूज्यपाद' कहा गया है।

> यो देवनन्दि-प्रथमाभिधानो बुद्धया महत्या स जिनेन्द्रबुद्धि ।
> श्रीपूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजित पादयुग यदीय ॥
> जैनेन्द्रे निज-शब्द-भोगमतुल सर्व्वार्थसिद्धि परा
> सिद्धान्ते निपुणत्वमुद्धकविता जैनाभिषेक स्वक ।
> छन्दस्सूक्ष्मधिय समाधिशतक स्वास्थ्य यदीय विदा-
> माख्यातीह स पूज्यपाद-मुनिप पूज्यो मुनीना गणै[1] ॥

अर्थात् इनका मूलनाम देवनन्दि था। किन्तु ये बुद्धिकी महत्ताके कारण जिनेन्द्रबुद्धि और देवो द्वारा पूजित होनेसे पूज्यपाद कहलाये थे। पूज्यपादने जैनेन्द्र व्याकरण, सर्वार्थसिद्धि, जैन अभिषेक, समाधिशतक आदि ग्रन्थोकी रचना की है।

शिलालेख न० १०५ से भी उक्त तथ्य पुष्ट होता है।

> प्रागभ्यधायि गुरुणा किल देवनन्दी बुद्धया पुनर्व्विपुलया स जिनेन्द्रबुद्धि.।
> श्रीपूज्यपाद इति चैष बुधै प्रचख्ये यत्पूजित पदयुगे वनदेवताभि[2] ॥

पूज्यपाद और जिनेन्द्रबुद्धि इन दोनो नामोकी सार्थकता अभिलेख न० १०८ मे भी बतायी है।

इनके पिताका नाम माधवभट्ट और माताका नाम श्रीदेवी बतलाया जाता है। ये कर्नाटकके 'कोले' नामक ग्रामके निवासी थे और ब्राह्मण कुलके

१ जैन शिलालेख सग्रह, प्रथम भाग, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, अभिलेख संख्या ४०, पृ० २४, श्लोक १०, ११।

२ वही, अभिलेखसख्या १०५, श्लोकसख्या २०।

भूषण थे। कहा जाता है कि बचपनमे ही इन्होने नाग द्वारा निगले गये मेंढककी तडपन देखकर विरक्त हो दिगम्बरी दीक्षा धारण कर ली थी। 'पूज्यपाद-चरिते'मे इनके जीवनका विस्तृत परिचय भी प्राप्त होता है तथा इनके चमत्कारको व्यक्त करनेवाले अन्य कथानक भी लिखे गये है, पर उनमे कितना तथ्य है, निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता है।

पूज्यपाद किस सघके आचार्य थे, यह विचारणीय है। "राजावलिकथे"से ये नन्दिसघके आचार्य सिद्ध होते हैं। शुभचन्द्राचार्यने अपने पाण्डवपुराणमे अपनी गुर्वावलिका उल्लेख करते हुए बताया है

"श्रीमूलसघेऽजनि नन्दिसघस्तस्मिन् बलात्कारगणोऽतिरम्य ।
तत्राभवत्पूर्वपदाशवेदी श्रीमाघनन्दी नरदेववन्द्य.[1] ॥"

अर्थात् नन्दिसघ, बलात्कारगण मूलसघके अन्तर्गत है। इसमे पूर्वोके एकदेश ज्ञाता और मनुष्य एव देवोसे पूजनीय माघनन्दि आचार्य हुए।

माघनन्दिके बाद जिनचन्द्र, पद्मनन्दि, उमास्वामी, लोहाचार्य, यश कीर्ति, यशोनन्दि और देवनन्दिके नाम दिये गये हैं। ये सभी नाम क्रमसे नन्दिसंघकी पट्टावलिमे भी मिलते हैं। आगे इसी गुर्वावलिमे ग्यारहवें गुणनन्दिके बाद बारहवे वज्रनन्दिका नाम आया है, पर नन्दिसघकी पट्टावलिमे ग्यारहवे जयनन्दि और बारहवें गुणनन्दिके नाम आते हैं। इन नामोके पश्चात् तेरहवाँ नाम वज्रनन्दिका आता है। इसके पश्चात् और पूर्वको आचार्यपरम्परा गुर्वावलि और पट्टावलिमे प्राय तुल्य है। अतएव सक्षेपमे यह माना जा सकता है कि पूज्यपाद मूलसघके अन्तर्गत नन्दिसघ बलात्कारगणके पट्टाधीश थे। अन्य प्रमाणोसे भी विदित होता है कि इनका गच्छ सरस्वती था और आचार्य कुन्दकुन्द एव गृद्धपिच्छकी परम्परामे हुए है।

कथानुश्रुति

कहा जाता है कि पूज्यपादके पिता माधवभट्टने अपनी पत्नी श्रीदेवीके आग्रहसे जैन धर्म स्वीकार कर लिया था। श्रीदेवीके भाईका नाम पाणिनि था। उससे भी उन्होने जैन धर्म स्वीकार कर लेनेका अनुरोध किया, पर प्रतिष्ठाकी दृष्टिसे वह जैन न होकर मुडीकुण्डग्राममे वैष्णव सन्यासी हो गया। पूज्यपादकी कमलिनी नामक छोटी बहन थी और इसका विवाह गुणभट्टके साथ हुआ, जिससे गुणभट्टको नागार्जुन नामक पुत्र लाभ हुआ।

एक दिन पूज्यपाद अपनी वाटिकामे विचरण कर रहे थे कि उनकी दृष्टि

[1] पाण्डवपुराण, १।२।

सांपके मुँहमें फँसे हुए मेढकपर पड़ी। इससे उन्हे विरक्ति हो गयी। प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि अपना व्याकरण ग्रन्थ रच रहे थे। वह न हो पाया था कि उन्हे अपना मरण काल निकट दिखलाई पडा, और पूज्यपादसे अनुरोध किया कि तुम इस अपूर्ण ग्रन्थको पूर्ण कर दो। उन्होने उसे पूर्ण करना स्वीकार कर लिया। पाणिनि दुर्ध्यानवश मरकर सर्प हुए। एक वार उन्होने पूज्यपाद-को देखकर फूत्कार किया, इसपर पूज्यपादने कहा "विश्वास रखो, मैं तुम्हारे व्याकरणको पूरा कर दूँगा।' इसके पश्चात् उन्होने पाणिनि-व्याकरणको पूर्ण कर दिया। पाणिनि-व्याकरणके पूर्ण करनेके पहले पूज्यपादने जैनेन्द्र व्याकरण, अर्हद्प्रतिष्ठालक्षण और वैदिक ज्योतिषके ग्रन्थ लिखे थे।

गुणभट्टकी मृत्युके पश्चात् नागार्जुन अतिशय दरिद्र हो गया। पूज्यपादने उसे पद्मावतीका एक मन्त्र दिया और सिद्धि करनेकी विधि भी वतलाई। इस मन्त्रके प्रभावसे पद्मावतीने नागार्जुनके निकट प्रकट होकर उसे 'सिद्धिरस' की जडी वनस्पति वतला दी। इस 'सिद्धिरस'के प्रभावसे नागार्जुन सोना वनाने लगा। उसके गर्वका परिहार करनेके लिए पूज्यपादने एक मामूली वन-स्पतिसे कई घडे 'सिद्धिरस' वना दिया। नागार्जुन जब पर्वतोको सुवर्णमय वनाने लगा, तब धरणेन्द्र पद्मावतीने उसे रोका और जिनालय वनानेका आदेश दिया। तदनुसार उसने एक जिनालय वनवाया और उसमे पार्श्वनाथकी प्रतिमा स्थापित की।

पूज्यपाद अपने पैरोमे गगनगामी लेप लगाकर विदेह क्षेत्र जाया करते थे, उस समय उनके शिष्य वज्रनन्दिने अपने सायियोसे झगडा कर द्रविड सघ-की स्थापना की।

नागार्जुन अनेक मन्त्र-तन्त्र तथा रसादि सिद्ध करके वहुत प्रसिद्ध हो गया। एक वार उसके समक्ष दो सुन्दर रमणियाँ उपस्थित हुईं, जो नृत्य गान कलामे कुशल थी। नागार्जुन उनपर मोहित हो गया। वे वही रहने लगी और कुछ समय वाद ही उसकी रसगुटिका लेकर चलती वनी।

पूज्यपाद मुनि वहुत दिनो तक योगाभ्यास करते रहे। फिर एक देव-विमानमे वैठकर उन्होने अनेक तीर्थोंकी यात्रा की। मार्गमे एक जगह उनकी दृष्टि नष्ट हो गयी थी। अतएव उन्होने शान्त्यष्टक रच कर ज्यो-की-त्यो दृष्टि प्राप्त की। अपने ग्राममे आकर उन्होने समाधिमरण किया।

इस कथामे कितनी सत्यता है, यह विचारणीय है।

पूज्यपादके समयके सम्बन्धमे विशेष विवाद नही है। इनका उल्लेख छठी शतीके मध्यकालसे ही उपलब्ध होने लगता है। आचार्य अकलंकदेवने अपने 'तत्त्वार्थवार्त्तिक' मे 'सर्वार्थसिद्धि' के अनेको वाक्योको वार्त्तिकका रूप दिया[1] है। शब्दानुशासन सम्बन्धी कथनकी पुष्टिके लिए इनके जैनेन्द्र व्याकरणके सूत्रोको प्रमाणरूपमे उपस्थित किया है। अत पूज्यपाद अकलंकदेवके पूर्ववर्त्ती हैं, इसमे तनिक भी सन्देह नही।

'सर्वार्थसिद्धि' और 'विशेषावश्यक भाष्य' के तुलनात्मक अध्ययनसे यह विदित होता है कि 'विशेषावश्यकभाष्य' लिखते समय जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणके समक्ष 'सर्वार्थसिद्धि' ग्रन्थ अवश्य उपस्थित था। सर्वार्थसिद्धि अध्याय १, सूत्र १५ मे धारणामतिज्ञानका लक्षण लिखते हुए बताया है

"अवेतस्य कालान्तरेऽविस्मरणकारण धारणा"।

विशेषावश्यकभाष्यमे इसी आधारपर लिखा है

"कालतरे य ज पुणरणुसरण धारणा सा उ" ॥गा० २९१॥

चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है, बतलाते हुए सर्वार्थसिद्धिमे लिखा है

'मनोवदप्राप्यकारीति। १।१९

विशेषावश्यक भाष्यमे उक्त शब्दावलीका नियोजन निम्नप्रकार हुआ है

लोयणमपत्तविसय मणोव्व ॥ गा० २०९ ॥

इससे ज्ञात होता है कि जिनभद्रगणिके समक्ष पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि विद्यमान थी। इस दृष्टिसे पूज्यपादका समय जिनभद्रगणि (वि० सवत् ६६६)के पूर्व होना चाहिए।

कुन्दकुन्द और पूज्यपादका तुलनात्मक अध्ययन करनेसे अवगत होता है कि पूज्यपादके समाधितन्त्र और इष्टोपदेश कुन्दकुन्दाचार्यके ग्रन्थोके दोहन-ऋणी हैं। यहाँ दो-एक उदाहरण उपस्थित किये जाते हैं

(१) ज मया दिस्सदे रूव तण्ण जाणादि सव्वहा।
जाणग दिस्सदे ण त तम्हा जपेमि केण ह ॥[2]

× × × ×

यन्मया दृश्यते रूप तन्न जानाति सर्वथा।
जानन्न दृश्यते रूप तत' केन ब्रवीम्यहम्[3] ॥

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक, १।१।३, तथा ४।२२।११।

२. मोक्षपाहुड, गाथा २९।

३ समाधितन्त्र, वीरसेवा मन्दिर सस्करण, पद्य १८।

(२) जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि ।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे[1] ॥
× × × ×
व्यवहारे सुषुप्तो य स जागर्त्यात्मगोचरे ।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे ॥[2]

यहाँ समाधितन्त्रके दोनो पद्य मोक्षपाहुडके सस्कृतानुवाद हैं। पूज्यपादने अपने सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थमे 'ससारिणो मुक्ताश्च' [त० सू० २।१०] सूत्रकी व्याख्यामे पच परावर्तनोका स्वरूप वतलाते हुए, प्रत्येक परावर्तनके अन्तमे उनके समर्थनमे जो 'उक्त च' कहकर गाथाएँ लिखी है, वे उसी क्रमसे कुन्दकुन्दके 'वारसअणुवेक्खा' ग्रन्थमे पायी जाती हैं।

इसके अतिरिक्त पूज्यपादने कुन्दकुन्दके उत्तरवर्ती गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वामीके तत्त्वार्थसूत्रपर तत्त्वार्थवृत्ति सर्वार्थसिद्धि लिखी है। अतएव इनका समय कुन्दकुन्द और गृद्धपिच्छाचार्यके पश्चात् होना चाहिए। कुन्दकुन्दका समय विक्रमकी द्वितीय शताब्दीका पूर्वार्द्ध है और सूत्रकार गृद्धपिच्छाचार्यका समय विक्रमकी द्वितीय शताब्दीका अन्तिम पाद है। अत पूज्यपादका समय विक्रम सवत् ३००के पश्चात् ही सम्भव है।

पूज्यपादने अपने जैनेन्द्र व्याकरणके सूत्रोमे भूतवलि, समन्तभद्र, श्रीदत्त, यशोभद्र और प्रभाचन्द्र नामक पूर्वाचार्योंका निर्देश किया है। इनमेसे भूतवलि तो 'षट्खण्डागम'के रचयिता प्रतीत होते है, जिनका समय ई० सन् प्रथम शताब्दी है। प्रखर तार्किक और अनेकान्तवादके प्रतिष्ठापक समन्तभद्र प्रसिद्ध ही हैं। श्रीदत्तके 'जल्पनिर्णय' नामक ग्रन्थका उल्लेख विद्यानन्दने अपने 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक'मे[3] किया है। अत स्पष्ट है कि पूज्यपाद इन आचार्योंके उत्तरवर्ती हैं।

पडित जुगलकिशोरजी मुख्तारने अपने 'स्वामी समन्तभद्र' नामक निवन्धमे तथा 'समाधितन्त्र'की प्रस्तावनामे वताया है कि पूज्यपाद स्वामी गङ्गराज दुर्विनीतके शिक्षागुरु थे, जिसका राज्यकाल ई० सन् ४८५-५२२ तक माना जाता है, और इन्हे हेव्वुरु आदिके अनेक शिलालेखोमे 'शब्दावतार'के कर्त्ताके रूपमे दुर्विनीत राजाका गुरु उल्लिखित किया है।

१ मोक्षपाहुड, गाथा ३१।
२ समाधितन्त्र, पद्य ७८।
३ "द्विप्रकार जगौ जल्प तत्त्वप्रातिभगोचरम् ।
त्रिषष्ठेर्वादिना जेता श्रीदत्तो जल्पनिर्णये" ॥
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० २८०, पद्य ४५।

वि० संवत् ९९०में देवसेनने दर्शनसार नामक ग्रन्थकी रचना की थी। यह ग्रन्थ पूर्वाचार्यकृत-गाथाओंको एकत्र कर लिखा गया है। इस ग्रन्थमें बताया है कि पूज्यपादका शिष्य पाहुडवेदी, वज्रनन्दि, द्राविडसंघका कर्त्ता हुआ और यह संघ वि० संवत् ५२६ में उत्पन्न हुआ।

सिरिपुज्जपादसीसो दाविडसंघस्स कारगो दुट्ठो।
णामेण वज्जणंदी पाहुडवेदी महासत्तो॥
पंचसए छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
दक्खिणमहुराजादो दाविडसंघो महामोहो[1]॥

वज्रनन्दि देवनन्दिके शिष्य थे। अतएव द्रविड संघकी उत्पत्तिके उक्त-कालसे दस-बीस वर्ष पहले ही उनका समय माना जा सकता है। पंडित नाथूरामजी प्रेमीने पूज्यपाद-देवनन्दिका समय विक्रमकी छठी शताब्दीका पूर्वार्द्ध माना है। युधिष्ठिर मीमांसकने भी देवनन्दिके समयकी समीक्षा करते हुए इनका काल विक्रमकी छठी शताब्दीका पूर्वार्द्ध माना है।[2]

नन्दिसेनकी पट्टावलीमें देवनन्दिका समय विक्रम संवत् २५८-३०८ तक अंकित किया गया है और इनके अनन्तर जयनन्दि, और गुणनन्दिका नाम निर्देश करनेके उपरान्त वज्रनन्दिका नामोल्लेख आया है। पाण्डवपुराणमें आचार्य शुभचन्द्रने नन्दि-संघकी पट्टावलीके अनुसार ही गुर्वावली दी है। देवनन्दि पूज्यपादके गुरुका नाम एक पद्यमें यशोनन्दि बताया गया है। यथा

यशःकीर्त्तिर्यशोनन्दी देवनन्दी महामतिः।
पूज्यपादापराख्यो यो गुणनन्दी गुणाकरः[3]॥

अजमेरकी पट्टावलीमें देवनन्दि और पूज्यपाद ये दो नाम पृथक्-पृथक् उल्लिखित हैं। इस पट्टावलीके अनुसार देवनन्दिका समय विक्रम संवत् २५८ और पूज्यपादका वि० सं० ३०८ है। यहाँ पट्टसंख्या भी क्रमशः १० और ११ है। यह भी कहा गया है कि देवनन्दि पोरवाल थे और पूज्यपाद पद्मावती पोरवाल। पर संस्कृत पट्टावलीके अनुसार दोनों एक हैं, भिन्न नहीं हैं। डॉ० ज्योतिप्रसादने विभिन्न मतोंका समन्वय किया है।[4]

१ दर्शनसार, गाथा २४, २८

२ युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा लिखित जैनेन्द्रशब्दानुशासन तथा उसके खिलपाठ जैनेन्द्रमहावृत्ति, ज्ञानपीठ संस्करण, पृ० ४४।

३ अनेकान्त वर्ष १४ किरण ११-१२, पृ० ३४९।

४. Jaina Antiquary Vol XXI Page 24.

इस विवेचनसे आचार्य देवनन्दि-पूज्यपादका समय ई० सन्‌की छठी शताब्दी सिद्ध होता है, जो सर्वमान्य है।

रचनाएँ

पूज्यपाद आचार्य द्वारा लिखित अबतक निम्नलिखित रचनाएँ उपलब्ध हैं

१. दशभक्ति
२ जन्माभिषेक
३ तत्त्वार्थवृत्ति (सर्वार्थसिद्धि)
४ समाधितन्त्र
५ इष्टोपदेश
६ जैनेन्द्रव्याकरण
७ सिद्धिप्रिय-स्तोत्र

१. दशभक्ति जैनागममे भक्तिके द्वादश भेद हैं (१) सिद्ध-भक्ति, (२) श्रुत-भक्ति, (३) चारित्र-भक्ति, (४) योगि-भक्ति, (५) आचार्य-भक्ति, (६) पञ्च-गुरुभक्ति, (७) तीर्थङ्कर-भक्ति, (८) शान्ति-भक्ति, (९) समाधि-भक्ति, (१०) निर्वाण-भक्ति, (११) नन्दीश्वर-भक्ति और (१२) चैत्य-भक्ति। पूज्यपाद स्वामीकी संस्कृतमे सिद्ध-भक्ति, श्रुत-भक्ति, चारित्र-भक्ति, योगि-भक्ति, निर्वाण-भक्ति और नन्दीश्वर-भक्ति ये सात ही भक्तियाँ उपलब्ध है। काव्यकी दृष्टिसे ये भक्तियाँ बडी ही सरस और गम्भीर है। सर्वप्रथम नौ पद्योमे सिद्ध-भक्तिकी रचना की गयी है। आरम्भमे बताया है कि आठो कर्मोके नाशसे शुद्ध आत्माकी प्राप्तिका होना सिद्धि है। इस सिद्धिको प्राप्त करनेवाले सिद्ध कहलाते हैं। सिद्ध-भक्तिके प्रभावसे साधकको सिद्ध-पदकी प्राप्ति हो जाती है। अन्य भक्तियोमे नामानुसार विषयका विवेचन किया गया है।

२ जन्माभिषक श्रवणबेलगोलाके अभिलेखोमे पूज्यपादकी कृतियोमे जन्माभिषेकका भी निर्देश आया है[1]।

वर्तमानमे एक जन्माभिषेक मुद्रित उपलब्ध है। इसे पूज्यपाद द्वारा रचित होना चाहिए। रचना प्रौढ और प्रवाहमय है।

३ तत्त्वार्थवृत्ति पूज्यपादकी यह महनीय कृति है। 'तत्त्वार्थसूत्र' पर गद्यमे लिखी गयी यह मध्यम परिमाणकी विशद वृत्ति है। इसमे सूत्रानुसारी सिद्धान्तके प्रतिपादनके साथ दार्शनिक विवेचन भी है। इस तत्त्वार्थवृत्तिको सर्वार्थसिद्धि भी कहा गया है। वृत्तिके अन्तमे लिखा है

१. जैन शिलालेख-संग्रह, प्रथम भाग, अभिलेख संख्या ४०, पृ० ५५, पद्य–११।

स्वर्गापवर्गसुखमाप्तुमनोभिरार्यै-
जैनेन्द्रशासनवरामृतसारभूता।
सर्वार्थसिद्धिरिति सद्भिरुपात्तनामा
तत्त्वार्थवृत्तिरनिश मनसा प्रधार्या[1] ॥

जो आर्य स्वर्ग और मोक्ष सुखके इच्छुक है, वे जिनेन्द्रशासनरूपी श्रेष्ठ अमृतसे भरी सारभूत और सत्पुरुषो द्वारा दत्त 'सर्वार्थसिद्धि' इस नामसे प्रख्यात इस तत्त्वार्थवृत्तिको निरन्तर मनोयोगपूर्वक अवधारण करे।

इस वृत्तिमे तत्त्वार्थसूत्रके प्रत्येक सूत्र और उसके प्रत्येक पदका निर्वचन, विवेचन एव शका-समाधानपूर्वक व्याख्यान किया गया है। टीकाग्रन्थ होनेपर भी इसमे मौलिकता अक्षुण्ण है।

इस ग्रन्थके नामकरणका कारण स्वय ही ग्रन्थकारने अन्तिम रचित पद्यो-मेसे द्वितीय पद्यमे अकित किया है

तत्त्वार्थवृत्तिमुदिता विदितार्थतत्त्वा
श्रृण्वन्ति ये परिपठन्ति च धर्मभक्त्या।
हस्ते कृत परमसिद्धिसुखामृत तै-
र्मर्त्यामरेश्वरसुखेषु किमस्ति वाच्यम्[2] ॥

अर्थात् अर्थके सारको ज्ञात करनेके लिए जो व्यक्ति धर्म-भक्तिसे तत्वार्थ-वृत्तिको पढते और सुनते हैं वे परमसिद्धिके सुखरूपी अमृतको हस्तगत कर लेते हैं, तव चक्रवर्ती और इन्द्रपदके सुखके विषयमे तो कहना ही क्या ?

सोलह स्वर्गोके ऊपर पञ्च अनुत्तर विमानोमे सर्वार्थसिद्धि नामका एक विमान है। सर्वार्थसिद्धिवाले जीव एकभवावतारी होते हैं। यह 'तत्त्वार्थवृत्ति' भी उसीके समकक्ष है। अत इसे 'सर्वार्थसिद्धि' नामसे अभिहित किया गया है।

'तत्त्वार्थसूत्र'की वृत्ति होनेपर भी इस ग्रन्थमे कतिपय मौलिक विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। मङ्गलाचरणके पश्चात् प्रथम सूत्रकी व्याख्या आरम्भ करते हुए उत्थानिकामे लिखा है किसी निकटभव्यने एक आश्रममे मुनि-परिपद्के मध्यमे स्थित निर्ग्रन्थाचार्यसे विनयसहित पूछा भगवन्! आत्माका हित क्या है ? आचार्यने उत्तर दिया मोक्ष। भव्यने पुन प्रश्न किया मोक्षका स्वरूप क्या है और उसकी प्राप्तिका उपाय क्या है ? इसी प्रश्नके उत्तरस्वरूप "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग" सूत्र रचा गया है।

१ सर्वार्थसिद्धि, ज्ञानपीठ संस्करण, अन्तिम अश, पद्य १, पृ० ४७४।
२. वही, पद्य २, पृ० ४७४।

प्रथम अध्यायके षष्ठ सूत्र "प्रमाणनयैरधिगम" (१।६) की व्याख्या करते हुए पूज्यपाद स्वामीने प्रमाणके स्वार्थ और परार्थ भेद करके मति, अवधि, मन - पर्यय और केवल इन चार ज्ञानोको स्वार्थप्रमाण बतलाते हुए श्रुतज्ञानको स्वार्थ और परार्थ दोनो बतलाया है तथा उसीका भेद नय है यह भी बताया है। इसी सूत्रकी व्याख्यामे 'उक्तञ्च' लिखकर "सकलादेश प्रमाणाधीन विकलादेशो नयाधीन" वाक्य उद्धृत किया है। इस प्रकार प्रमाणके स्वार्थ और परार्थ भेद तथा सकलादेश और विकलादेशकी चर्चा इन्हीके द्वारा प्रस्तुत की गयी है। इसी अध्यायमे "सत्सङ्ख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च" (१।८) की वृत्ति षट्खण्डागमके जीवट्ठाणसूत्रोके आधारपर लिखी गयी है। इसमे सत्, सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन आठ अनुयोगोके द्वारा चौदह मार्गणाओमे गुणस्थानोका विवेचन बहुत सुन्दर रूपमे किया है।

प्रमाणकी चर्चामे नैयायिक और वैशेषिकोके सन्निकर्ष-प्रामाण्यवादका एवं साख्योके इन्द्रिय-प्रामाण्यका निरसन कर ज्ञानके प्रामाण्यकी व्यवस्था की है। ज्ञानको स्वपरप्रकाशक सिद्ध कर चक्षुके प्राप्यकारित्वका आगम और युक्ति-योसे खण्डन कर उसे अप्राप्यकारी सिद्ध किया गया है। "सदसतोरविशेषा-द्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्" (१।३२) की वृत्तिमे कारणविपर्यास, भेदाभेदविपर्यास और स्वरूपविपर्यासकी चर्चा करते हुए योग, साख्य, बौद्ध और चार्वाक आदिके मतोका निर्देश किया है। अन्तिम सूत्रमे किया गया नयोका विवेचन भी कम महत्त्वपूर्ण नही है।

द्वितीय अध्यायकी व्याख्यामे भी अनेक विशेषताएँ और मौलिकताएँ उप-लब्ध हैं। तृतीय सूत्रकी व्याख्यामे चारित्रमोहनीयके 'कषायवेदनीय' और 'नोकषायवेदनीय' ये दो भेद बतलाए हैं तथा दर्शनमोहनीयके सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व ये तीन भेद बतलाए हैं। इन सात प्रकृतियोके उपशमसे औपशमिक सम्यक्त्व होता है। यह सम्यक्त्व अनादिमिथ्यादृष्टि भव्यके कर्मोदयसे प्राप्त कलुषताके रहते हुए किस प्रकार सम्भव है? इस प्रश्नके उत्तरमे आचार्यने बतलाया है 'काललब्ध्यादिनिमित्तत्वात्' काललब्धि आदिके निमित्तसे इनका उपशम होता है। अन्य आगमग्रन्थोमे क्षयोपशमलब्धि, वि-शुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, काललब्धि और प्रायोग्यलब्धि ये पाँच लब्धियाँ बत-लायी है। आचार्य पूज्यपादने काललब्धिके साथ लगे आदि शब्दसे जातिस्मरण आदिका निर्देश किया है और काललब्धिके कर्मस्थितिका काललब्धि और भवा-पेक्षया काललब्धियोका निर्देश किया है। यह विषय मौलिक और सैद्धान्तिक है।

तृतीय-चतुर्थ अध्यायमे लोकका वर्णन किया गया है। ग्रहकेन्द्रवृत्त, ग्रह-कक्षाएँ, ग्रहोकी गति, चार-क्षेत्र आदि चर्चाएँ तिलोयपण्णत्तिके तुल्य हैं। लोकाकारका वर्णन आचार्यने मौलिक रूपमे किया है।

मौलिक तथ्योके समावेशकी दृष्टिसे पचम अध्याय विशेष महत्त्वपूर्ण है। द्रव्य, गुण और पर्यायोका स्पष्ट और पूर्ण विवेचन किया गया है। 'द्रव्यत्व-योगात् द्रव्यम्' और 'गुण-समुदायो द्रव्यम्'की समीक्षा सुन्दर रूपमे की गयी है। "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्"(५।३०) सूत्रकी व्याख्यामे सोदाहरण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यकी व्याख्या की गयी है तथा "अर्पितानर्पितसिद्धे." (५।३२) सूत्रकी वृत्तिमे अनेकान्तात्मक वस्तुकी सिद्वि की गयी है।

षष्ठ और सप्तम अध्यायमे दर्शनमोहनीयकर्मके आस्रवके कारणोका विवेचन करते हुए केवली, श्रुत, सघ, धर्म और देवोके अवर्णवादप्रसगमे श्वेताम्बर-मान्यताओंकी समीक्षा की है। सप्तम अध्यायके प्रथम सूत्रमे रात्रि-भोजनत्याग नामक षष्ठ अणुव्रतकी समीक्षा की गयी है। सप्तम अध्यायके त्रयोदश सूत्रके व्याख्यानमे आचार्यने हिंसा और अहिंसाके स्वरूपका विवेचन करते हुए उनके समर्थनमे अनेक गाथाएँ उद्धृत की हैं। गृद्धपिच्छाचार्यने प्रमादयोगसे प्राणोके घातको हिंसा कहा है। पूज्यपादने प्रमत्तयोग और प्राणका व्यपरोपण इन दोनो पदोका विवेचन करते हुए केवल प्राणोके घातमात्रको हिंसा नही कहा है। जहाँ प्रमत्तयोग है वहाँ प्राणोका घात न होनेपर भी हिंसा होती है, क्यो-कि घातकका भाव हिंसारूप है।

अष्टम अध्यायमे कर्मबन्धका और कर्मो के भेद-प्रभेदोका वर्णन आया है। प्रथम सूत्रमे बन्धके पाँच कारण बतलाये है। उनकी व्याख्यामे पूज्यपादने मिथ्यात्वके पाँच भेदोका कथन करते हुए पुरुषाद्वैत एव श्वेताम्बरीय निर्ग्रन्थ-सग्रन्थ, केवली-कवलाहार तथा स्त्री-मोक्ष सम्बन्धी मान्यताको भी विपरीत मिथ्यात्व कहा है। इस अध्यायके अन्य सूत्रोका व्याख्यान भी महत्त्वपूर्ण है। पदोकी सार्थकताओके विवेचनके साथ पारिभाषिक शब्दोके निर्वचन विशेष उल्लेख्य हैं।

नवम अध्यायमे सवर, निर्जरा और उनके साधन गुप्ति आदिका विशद् विवेचन है। दशममे मोक्ष और मुक्त जीवोके ऊर्ध्वगमनका प्रतिपादन है।

इस समग्र ग्रन्थकी शैली वर्णनात्मक होते हुए भी सूत्रगत पदोकी सार्थकता-के निरूपणके कारण भाष्यके तुल्य है। निश्चयत पूज्यपादको तत्त्वार्थसूत्रके सूत्रोका विषयगत अनुगमन गहरा और तलस्पर्शी था।

४. समाधितन्त्र इस ग्रन्थका दूसरा नाम समाधिशतक है। इसमें १०५ पद्य हैं। अध्यात्मविषयका बहुत ही सुन्दर विवेचन किया है। आचार्य पूज्यपादने अपने इस ग्रन्थकी विषयवस्तु कुन्दकुन्दाचार्यके ग्रन्थोसे ही ग्रहण की है। अनेक पद्य तो रूपान्तर जैसे प्रतीत होते हैं। यहाँ एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं

यदग्राह्य न गृह्णाति गृहीत नापि मुञ्चति।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसवेद्यमस्म्यहम् ॥[1]

इस पद्यकी समता निम्न गाथामे है

णियभाव ण वि मुचइ परभाव णेव गिण्हए केइ।
जाणदि पस्सदि सव्व सोह इदि चितए णाणी ॥[2]

बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्माके स्वरूपका विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। बहिरात्मभाव मिथ्यात्वका त्याग कर अन्तरात्मा बन कर परमात्मपदकी प्राप्तिके लिए प्रयास करना साधकका परम कर्त्तव्य है। आत्मा, शरीर, इन्द्रिय और कर्मसयोगका इस ग्रन्थमे सक्षेपमे हृदयग्राही विवेचन किया गया है।

५ इष्टोपदेश इस आध्यात्मकाव्यमे इष्ट आत्माके स्वरूपका परिचय प्रस्तुत किया गया है। ५१ पद्योमे पूज्यपादने अध्यात्मसागरको गागरमे भर देनेकी कहावतको चरितार्थ किया है। इसकी रचनाका एकमात्र हेतु यही है कि ससारी आत्मा अपने स्वरूपको पहचानकर शरीर, इन्द्रिय एव सासारिक अन्य पदार्थोंसे अपनेको भिन्न अनुभव करने लगे। असावधान बना प्राणी विषय-भोगोमे ही अपने समस्त जीवनको व्यतीत न कर दे, इस दृष्टिसे आचार्यने स्वय ग्रन्थके अन्तमे लिखा है

इष्टोपदेशमिति सम्यगधीत्य धीमान्।
मानापमानसमता स्वमताद्वितन्य ॥
मुक्ताग्रहो विनिवसन्सजने वने वा।
मुक्तिश्रिय निरुपमामुपयाति भव्य ॥[3]

इस ग्रन्थके अध्ययनसे आत्माकी शक्ति विकसित हो जाती है और स्वात्मानुभूतिके आधिक्यके कारण मान-अपमान, लाभ-अलाभ, हर्ष-विषाद आदिमे

१. समाधितत्र, पद्य ३०, वीरसेवामन्दिर-सस्करण।
२ नियमसार, गाथा ९७।
३. इष्टोपदेश, सूरत-सस्करण, पद्य ५१।

समताभाव प्राप्त होता है। संसारकी यथार्थ स्थितिका परिज्ञान प्राप्त होनेसे राग, द्वेष, मोहकी परिणति घटती है। इस लघुकाय ग्रन्थमे समयसारकी गाथाओका सार अंकित किया गया है। शैली सरल और प्रवाहमय है।

६ जैनेन्द्र व्याकरण श्रवणवेलगोलाके अभिलेखो एव महाकवि धनंजयके नाममालाके निर्देशसे जैनेन्द्र व्याकरणके रचयिता पूज्यपाद सिद्ध होते हैं। गुणरत्नमहोदधिके कर्ता वर्धमान और हेमशब्दानुशासनके लघुन्यासरचयिता कनकप्रभ भी जैनेन्द्र व्याकरणके रचयिताका नाम देवनन्दि बताते है।

अभिलेखोसे जैनेन्द्रन्यासके रचयिता भी पूज्यपाद अवगत होते हैं। पर यह ग्रन्थ अभी तक अनुपलब्ध है।

जैनेन्द्र व्याकरणके दो सूत्रपाठ उपलब्ध है एकमे तीन सहस्र सूत्र हैं, और दूसरेमे लगभग तीन हजार सात सौ। पंडित नाथूरामजी प्रेमीने यह निष्कर्ष निकाला है कि देवनन्दि या पूज्यपादका बनाया हुआ सूत्रपाठ वही है, जिसपर अभयनन्दिने अपनी वृत्ति लिखी है।

जैनेन्द्र व्याकरणमे पाँच अध्याय है और प्रत्येक अध्यायमे चार-चार पाद हैं। इसका पहला सूत्र महत्त्वपूर्ण है। इसमे 'सिद्धिरनेकान्तात्' सूत्रसे समस्त शब्दोका साधुत्व अनेकान्तद्वारा स्वीकार किया है, क्योकि शब्दमे नित्यत्व, अनित्यत्व, उभयत्व, अनुभयत्व आदि विभिन्न धर्म रहते हैं। इन नाना धर्मोसे विशिष्ट धर्मीरूप शब्दकी सिद्धि अनेकान्तसे ही सम्भव है। एकान्तसिद्धान्तसे अनेकधर्मविशिष्ट शब्दोका साधुत्व नही बतलाया जा सकता। यहाँ अनेकान्तके अन्तर्गत लोकप्रवृत्तिको भी मान्यता दी है। लोकप्रसिद्धिपर आश्रित शब्दव्यवहार भी मान्य है।

जैनेन्द्रका संज्ञाप्रकरण सांकेतिक है। इसमे धातु, प्रत्यय, प्रातिपदिक, विभक्ति, समास आदि महासंज्ञाओके लिए बीजगणित जैसी अतिसंक्षिप्त संकेतपूर्ण संज्ञाएँ आयी हैं। इस व्याकरणमे उपसर्गके लिए 'गि', अव्ययके लिए 'झी' समासके लिए 'स', वृद्धिके लिए 'ऐप', गुणके लिए 'एप', सम्प्रसारणके लिए 'जि', प्रथमा विभक्तिके लिए 'वा', द्वितीयाके लिए 'इप', तृतीया विभक्तिके लिए 'भ', चतुर्थीके लिए 'अप', पञ्चमीके लिए 'का', षष्ठीके लिए 'ता', सप्तमीके लिए 'इप' और सम्बोधनके लिए 'कि' की संज्ञाएँ बतलायी गयी हैं। निपातके लिये 'नि', दीर्घके लिये 'दी', प्रगृह्यके लिए 'दि.', उत्तरपदके लिये 'घु', सर्वनाम स्थानके लिए 'धम्', उपसर्जनके लिए 'न्यक्', प्लुत्के लिए 'प', ह्रस्वके लिये 'प्र', प्रत्ययके लिये 'त्य', प्रातिपदिकके लिए 'मृत्', परस्मैपदके

लिए 'मम्', आत्मनेपदके लिए 'द', अकर्मकके लिए 'धि', सयोगके लिए 'स्फ', सवर्णके लिए 'स्वम्', तद्धितके लिए 'हृत्', लोपके लिए 'खम्', लुप्के लिए 'उस्', लुक्के लिए 'उप्' एव अभ्यासके लिए 'च' सज्ञाका विधान किया गया है। समासप्रकरणमे अव्ययीभावके लिए 'ह', तत्पुरुषके लिए 'षम्', कर्मधारयके लिये 'य', द्विगुके लिए 'र', और बहुव्रीहिके लिए 'वम्' सज्ञा बतलायी गयी है। जैनेन्द्रका यह संज्ञाप्रकरण अत्यन्त साकेतिक है। पूर्णतया अभ्यस्त हो जानेके पश्चात् ही शब्दसाधुत्वमे प्रवृत्ति होती है। यह सत्य है कि इन सज्ञाओमे लाघवनियमका पूर्णतया पालन किया गया है।

जैनेन्द्र व्याकरणमे सन्धिके सूत्र चतुर्थ और पञ्चम अध्यायमे आये है। 'सन्धौ' ४।३।६० सूत्रको सन्धिका अधिकारसूत्र मानकर सन्धिकार्य किया गया है, पश्चात् छकारके परे सन्धिमे तुगागमका विधान किया है। तुगागम करनेवाले ४।३।६१ से ४।३।६४ तक चार सूत्र है। इन सूत्रो द्वारा ह्रस्व, आग, माग तथा दी सज्ञकोसे परे तुगागम किया है और 'त' को 'च' बनाकर गच्छति, इच्छति, आच्छिनत्ति, माच्छिदत्, म्लेच्छति, कुवलीच्छाया आदि प्रयोगोका साधुत्व प्रदर्शित किया है। देवनन्दिका यह विवेचन पाणिनिके तुल्य है। अनन्तर 'यण्' सन्धिके प्रकरणमे 'अचीकोयण्' ४।३।६५ सूत्रद्वारा इक् इ,उ,ऋ, लृको क्रमश: यणादेश य,व,र,लका नियमन किया है। देवनन्दिका यह प्रकरण पाणिनिके समान होने पर भी प्रक्रियाकी दृष्टिसे सरल है। इसी प्रकार 'अयादि' सन्धिका ४।३।६६,४।३।६७ द्वारा विधान किया है। वृत्तिकारने इन दोनो सूत्रोकी व्याख्या-मे कई ऐसी नयी बातें उपस्थित की है, जिनका समावेश कात्यायन और पतञ्जलिके वचनोमे किया जा सकता है। जैनेन्द्रकी सन्धिसम्बन्धी तीन विशेषताएँ प्रमुख है

१ उदाहरणोका बाहुल्य चतुर्थ, पचम शताब्दीमे प्रयुक्त होनेवाली भाषाका समावेश करनेके लिये नये-नये प्रयोगोको उदाहरणके रूपमे प्रस्तुत किया गया है। यथा

पव्यम्[1], अवश्यपाव्यम्[2], नौयानम्[3], गोयानम्[4] आदि।

२ लाघव या सक्षिप्तिकरणके लिये साकेतिक सज्ञाओका प्रयोग।

३ अधिकारसूत्रो द्वारा अनुबन्धोकी व्यवस्था।

सुबन्त प्रकरणमे अधिक विशेषताओके न रहनेपर भी प्रक्रिया सम्बन्धी सरलता अवश्य विद्यमान है। जिन शब्दोके साधुत्वके लिये पाणिनिने एकाधिक

१-२ ४।३।६८।
३-४. ४।३।६७।

सूत्रोका व्यवहार किया है, उन शब्दोके लिये जैनेन्द्र व्याकरणमें एक ही सूत्रमे साधनिका प्रस्तुत कर दी गयी है।

जैनेन्द्र व्याकरणमे स्त्रीप्रत्यय, समास एवं कारक सम्बन्धी भी कतिपय विशेषताएँ पायी जाती हैं। 'कारके' १।२।१०९ को अधिकारसूत्र मानकर कारक प्रकरणका अनुशासन किया है। देवनन्दिने पचमी विभक्तिका अनुशासन सबमे पहले लिखा है, पश्चात् चतुर्थी, तृतीया, सप्तमी, द्वितीया और षष्ठी विभक्तिका नियमन किया है। यह कारकप्रकरण बहुत सक्षिप्त है, पर जितनी विशेषताएँ अपेक्षित हैं उन सभीका यहाँ नियमन किया गया है। इसी प्रकार तिङन्त, तद्धित और कृदन्त प्रकरणोमे भी अनेक विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं।

इस व्याकरणकी शब्दसाधुत्वसम्बन्धी विशेषताओंके साथ सांस्कृतिक विशेषताएँ भी उल्लेख्य हैं। यहाँ सांस्कृतिक शब्दोकी तालिका उपस्थित कर उक्त कथनकी पुष्टि की जा रही है।

पचति पनसम् १।१।३
पक्व, पक्ववान् १।१।४
मतितिलपीडनि १।१।८ तिलकुट या तेल पेरनेवाली
अतिराजकुमारि १।१।८
कुवलम्, वदरम् झरवेर १।१।९
आमलक्यम् १।१।९
पञ्चशष्कुल १।१।९
पञ्चगोणि १।१।१०
पञ्चसूचि, सप्तसूचि १।१।१०
दधि, मधु १।१।११
अश्राद्धभोजी, अलवणभोजी १।१।३२
द्रौघणके जातो द्रौघणकीय १।१।६८
छत्रप्रधानोरौदि १।१।७१
सम्पन्नाव्रीह्य एकोव्रीहि सम्पन्न सुभिक्ष करोति १।१।९९
द्वावपूपौ भक्षयेति १।२।१०
स्नावयति तैल १।२।८३
यवागू १।२।९२ जौका हलुआ या लापसी
रूपकार. पचति १।२।१०३
कांस्यपात्र्या भुङ्क्ते १।२।११०
वृक्षमवचिनोति फलानि १।२।१२१

भोज्यते माणवकमोदन १।२।१२१
नटस्य शृणोति श्लोकम् १।२।१२१
उपयोगो दुग्धादि तन्निमित्त गवादि।
गोदोह स्वपिति १।२।१२१
अजा नयति ग्राम, भार वहति ग्रामम्, शाखा कर्षति ग्रामम् १।२।१२१
अध्याप्येते माणवकौ जैनेन्द्रम् १।२।१२१।
भक्षयति पिण्डी देवदत्त. १।२।१२२
आसयति गोदोह देवदत्तम् १।२।१२२
पूतयवम्, पूतयानयवम्, सहृतयवम्, संह्रियमाणयवम् १।३।१४
दध्नापटु, घृतेनपटु १।३।२७
गुडपृथुका, गुडधाना, तिलपृथुका, दध्ना उपसिक्त ओदनो दध्नोदन घृतोदन।
१।३।३१ गुड-चूडा, गुडधान, तिलचूडा, दधिभात, घी-भात।
वनेकसेसका, वनेवल्वजका., कूपेपिशाचिका १।३।३८
तत्रमुक्तम्, तत्रपीतम् १।३।४०
पुराणान्नम् १।३।४४
केवलज्ञानम्, मोपकगवी १।३।४४
पञ्चगवधन, पञ्चपूली, पञ्चकुमारि १।३।४६
क्षत्रियभीरु, श्रोत्रियकितव, भिक्षुविट, मीमासकदुर्दुरूप १।३।४८
शस्त्रीश्यामा, दूर्वाकाण्डश्यामा, सरकाण्डश्यामा १।३।५०
भोज्योष्णम्, भोज्यलवणम्, पानीयशीतम् १।३।६४
कपित्थरस १।३।७५
इक्षुभक्षिका मे धारयसि १।३।७८
सक्तूना पायक. १।३।७९
तैलपीत, घृतपीत, मद्यपीत १।३।१०३
कुशलो विद्याग्रहणे १।४।४८
माथुरा पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतरा १।४।५०
पुष्ये पायसमश्नीयात्, मघाभि पललौदनम् १।४।५३
यवाना लावक, ओदस्य भोजक १।४।६८
दास्या कामुक, सुकर, कटो भवता, धान्य पवमान १।४।७२
पुष्येण योग जानाति, पुष्येण भोजयति, चन्द्रमसा मघाभिर्योग जानाति २।१।२४
मास कल्याणी काञ्ची १।४।४

शरदं मथुरा रमणीया १।४।४
अरुणन्महेन्द्रो मथुरा । अरुणद् यवन. साकेतम् ३।२।९२
पौतिमाष्या, गौकक्ष्या ३।१।४
शुचिरियं कन्या ३।१।३०
वृद्धपत्नी, स्थूलपत्नी, ग्रामपत्नी ३।१।३५
पलाण्डुभक्षितो, सुरापीतो ३।१।४६
वाहीकग्राम , दाक्षिपलदीय , माहकिपलदीय , माहकिनगरीय. ३।२।११८
मासिक , सावत्सरिक. ३।२।१३१
गोशालम्, खरशालम् ३।३।११
मासे देया भिक्षा ३।३।२२
पाटलिपुत्रस्य व्याख्यान सुकोशला ३।३।४२
पाटलिपुत्रस्य द्वारम् ३।३।६०
वाणिजा. वाराणसी जित्वरीति मङ्गलार्थमुपचरन्ति ३।३।५८
गान्धार , पाञ्चाल ३।३।६७
गर्गभार्गविका ३।३।९३
हास्तिपद शकटम् ३।३।१००
आक्षिक , शालाकिक ३।३।१२७
दाधिकम्, शार्ङ्गवेरिकम्, मारीचिकम् ३।३।१२८
चूर्णिनोऽपूपा , लवणा यवागू , कषायमुदकम् ३।३।१४७

सिद्धिप्रियस्तोत्र

इस स्तोत्रमे २६ पद्य है और चतुर्विंशति तीर्थंकरोकी स्तुति की गयी है। रचना प्रौढ और प्रवाहयुक्त है। कवि वर्द्धमानस्वामीकी स्तुति करता हुआ कहता है

> श्रीवर्धमानवचसा परमाकरेण
> रत्नत्रयोत्तमनिधे परमाकरेण ।
> कुर्वन्ति यानि मुनयोऽजनता हि तानि
> वृत्तानि सन्तु सतत जनताहितानि[1] ॥

यहाँ यमकका प्रयोग कर कविने वर्द्धमानस्वामीका महत्व प्रदर्शित किया है। 'जनताहितानि' पद विशेषरूपसे विचारणीय है। वस्तुत तीर्थंकर जननायक होते हैं और वे जनताका कल्याण करनेके लिये सर्वथा प्रयत्नशील रहते हैं।

१ सप्तम गुच्छक, काव्यमाला सीरीज, सन् १९२६, पद्य २४।

इन प्रमुख ग्रन्थोके अतिरिक्त पूज्यपादके वैद्यक सम्बन्धी प्रयोग भी उपलब्ध है। जैनसिद्धान्तभवन आरासे 'वैद्यसारसग्रह' नामक ग्रन्थमे कतिपय प्रयोग प्रकाशित हैं। छन्दशास्त्र सम्बन्धी भी इनका कोई ग्रन्थ रहा है, जो उपलब्ध नही है।

देवनन्दि-पूज्यपादका वैदुष्य एवं काव्यप्रतिभा

जीवन और जगत्के रहस्योकी व्याख्या करते हुए, मानवीय व्यापारके प्रेरक, प्रयोजनो और उसके उत्तरदायित्वकी सागोपाग विवेचना पूज्यपादके ग्रन्थोंका मूल विपय है। व्यक्तिगत जीवनमे कवि आत्मसयम और आत्मशुद्धि पर बल देता है। ध्यान, पूजा, प्रार्थना एव भक्तिको उदात्त जीवनकी भूमिकाके लिये आवश्यक समझता है। आचार्य पूज्यपादकी कवितामे काव्यतत्त्वकी अपेक्षा दर्शन और अध्यात्मतत्त्व अधिक मुखर है। शृङ्गारिक भावनाके अभावमे भी भक्तिरसका शीतल जल मन और हृदय दोनोको अपूर्व शान्ति प्रदान करने-की क्षमता रखता है। शब्द विपयानुसार कोमल है, कभी-कभी एक ही पद्यमे ध्वनिका परिवर्तन भी पाया जाता है। वस्तुत अनुरागको ही पूज्यपादने भक्ति कहा है और यह अनुराग मोहका रूपान्तर है। पर वीतरागके प्रति किया गया अनुराग मोहकी कोटिमे नही आता है। मोह स्वार्थपूर्ण होता है और भक्तका अनुराग नि स्वार्थ। वीतरागीसे अनुराग करनेका अर्थ है, तद्रूप होनेकी प्रबल आकाक्षाका उदित होना। अतएव पूज्यपादने सिद्धभक्तिमे सिद्धरूप होनेकी प्रक्रिया प्रदर्शित की है।

उनके वैदुष्यका अनुमान सर्वार्थसिद्धिग्रन्थसे किया जा सकता है। नैयायिक, वैशेषिक, साख्य, वेदान्त, बौद्ध आदि विभिन्न दर्शनोकी समीक्षा कर इन्होने अपनी विद्वत्ता प्रकट की है। निर्वचन और पदोकी सार्थकताके विवेचनमे आचार्य पूज्यपादकी समकक्षता कोई नही कर सकता है।

आचार्य पूज्यपादने कविके रूपमे अध्यात्म, आचार और नीतिका प्रतिपादन किया है। अनुष्टुप् जैसे छोटे छन्दमे गम्भीर भावोको समाहित करनेका प्रयत्न प्रशसनीय है। आचार्यने सुख-दुखका आधार वासनाको ही कहा है, जिसने आत्मतत्त्वका अनुभव कर लिया है, उसे सुख-दुखका सस्पर्श नही होता।

> वासनामयमेवैतत् सुख दुख च देहिनाम्।
> तथा ह्युद्वेजयन्त्येते, भोगा रोगा इवापदि[1] ॥

१. इष्टोपदेश, पद्य ६।

देहधारियोको जो सुख और दुख होता है, वह केवल कल्पनाजन्य ही है। जिन्हे लोकसुखका साधन समझा जाता है, ऐसे कमनीय कामिनी आदि भोग भी आपत्तिके समयमे रोगोकी तरह प्राणियोको आकुलता पैदा करनेवाले होते हैं।

ससारकी विभिन्न परिस्थितियोका चित्राकन करते हुए आचार्य पूज्यपादने उदाहरण द्वारा सयोग-वियोगकी वास्तविक स्थितिपर प्रकाश डाला है। यथा—

दिग्देशेभ्य खगा एत्य, सवसन्ति नगे नगे।
स्वस्वकार्यवशाद्यान्ति, देशे दिक्षु प्रगे प्रगे[1]॥

जिस प्रकार विभिन्न दिशा और देशोसे एकत्र हो पक्षीगण वृक्षोपर रात्रिमे निवास करते है, प्रात होनेपर अपने-अपने कार्यके वश पृथक्-पृथक् दिशा और देशोको उड जाते हैं। इसी प्रकार परिवार और समाजके व्यक्ति भी थोडे समयके लिये एकत्र होते है और आयुकी समाप्ति होते ही वियुक्त हो जाते हैं।

इस पद्यमे व्यजना द्वारा ही ससारी जीवोकी स्थितिपर प्रकाश पडता है। अभिधासे तो केवल पक्षियोके 'रैन-बसेरा'का ही चित्राकन होता है, परन्तु व्यजना द्वारा सयोग-वियोगकी स्थिति बहुत स्पष्ट हो जाती है और संसारका यथार्थरूप प्रस्तुत हो जाता है। आचार्यने आठवे पद्यमे "वपुर्गृह धन दारा पुत्रा मित्राणि शत्रव" मे आमुखके रूपमे उक्त पद्यके व्यग्यार्थका सकेत कर दिया है। अत पद्योको गुम्फित करनेकी प्रक्रिया भी मौलिक है। तथ्य यह है कि बाह्य प्रकृतिके बाद मनुष्य अपने अन्तर्जगत्की ओर दृष्टिपात करता है। यही कारण है कि उदाहरणके रूपमे प्रस्तुत किया गया पद्य बाह्य प्रकृतिके रूपका चित्रण कर आमुख श्लोकके अर्थके साथ अन्वित हो विरक्तिके लिये भूमिका उत्पन्न कर देता है।

आचार्य पूज्यपादने सकल परमात्मा अर्हन्तको नमस्कार करते हुए उनकी अनेक विशेषताओमे वाणीकी विशेषता भी वर्णित की है। यह विशेषता उदात्त अलकारमे निरूपित है। कविने बताया है कि अर्हन्त इच्छारहित है। अत बोलनेकी इच्छा न करनेपर भी निरक्षरी दिव्य-ध्वनि द्वारा प्राणियोकी भलाई करते हैं, जो सकल परमात्माको अनुभूति करने लगता है, उसे आत्माका रहस्य ज्ञात हो जाता है। अत कविने सूक्ष्मके आधारपर इस चित्रका निर्माण किया है। कल्पना द्वारा भावनाको अमूर्तरूप प्रदान किया गया है। धार्मिक पद्य

१ इष्टोपदेश, पद्य ९।

होनेपर भी, छायावादी कविताके समान सकल परमात्माका स्पष्ट चित्र अंकित हो जाता है। काव्यकलाकी दृष्टिसे पद्य उत्तम कोटिका है

जयन्ति यस्यावदतोऽपि भारतीविभूतयस्तीर्थकृतोऽप्यनीहितु ।
शिवाय धात्रे सुगताय विष्णवे जिनाय तस्मै सकलात्मने नमः ॥

इच्छारहित होनेपर तथा बोलनेका प्रयास न करनेपर भी जिसकी वाणी-की विभूति जगतको सुख-शान्ति देनेमे समर्थ है, उस अनेक नामधारी सकल परमात्मा अर्हन्तको नमस्कार हो।

बाह्य उदाहरणो द्वारा अन्तरंगकी अनुभूति करानेके लिये आचार्यने गाढ-वस्त्र, जीर्णवस्त्र, रक्तवस्त्रके दृष्टान्त प्रस्तुतकर आत्माके स्वरूपको स्पष्ट करनेका प्रयास किया है। जिस प्रकार गाढा मोटा वस्त्र पहन लेनेपर कोई अपनेको मोटा नही मानता, जीर्णवस्त्र पहननेपर कोई अपनेको जीर्ण नही मानता और रक्त, पीत, प्रभृति विभिन्न प्रकारका रंगीन वस्त्र पहननेपर कोई अपनेको लाल, नीला, पीला नही समझता, इसी प्रकार शरीरके स्थूल, जीर्ण, गौर एव कृष्ण होनेसे आत्माको भी स्थूल, जीर्ण, काला और गोरा नही माना जा सकता है

घने वस्त्रे यथाऽऽत्मान न घन मन्यते तथा ।
घने स्वदेहेऽप्यात्मान न घन मन्यते बुध ॥
जीर्णे वस्त्रे यथाऽऽत्मान न जीर्ण मन्यते तथा ।
जीर्णे स्वदेहेऽप्यात्मान न जीर्ण मन्यते बुध ॥
रक्ते वस्त्रे यथाऽऽत्मान न रक्त मन्यते तथा ।
रक्ते स्वदेहेऽप्यात्मान न रक्त मन्यते बुध[2] ॥

अनुष्टुपके साथ वशस्थ, उपेन्द्रवज्रा आदि छन्दोका प्रयोग भी किया है। काव्य, दर्शन और अध्यात्मतत्त्वकी दृष्टिसे रचनाएँ सुन्दर और सरस हैं।

पात्रकेसरी या पात्रस्वामी

कवि और दार्शनिकके रूपमे पात्रकेसरीका नाम विख्यात है। आचार्य जिनसेनने अपने आदिपुराणमे पात्रकेसरीका उल्लेख करते हुए लिखा है।

भट्टाकलङ्कश्रीपालपात्रकेसरिणा गुणा ।
विदुषा हृदयारूढा हारायन्तेऽतिनिर्मला[3] ॥

१-२. समाधितन्त्र ६३-६६।

३ आदिपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ सस्करण १।५३।

भट्टाकलङ्क, श्रीपाल और पात्रकेसरी आचार्योंके निर्मल गुण विद्वानोंके हृदयमे मणिमालाके समान सुशोभित होते हैं।

श्रवणवेलगोलाके अभिलेखसख्या ५४ मे 'त्रिलक्षणकदर्थन'के रचयिताके रूपमे पात्रकेसरीका स्मरण किया गया है

महिमा स पात्रकेसरिगुरो पर भवति यस्य भक्त्यासीत्।
पद्मावती सहाया त्रिलक्षण-कदर्थन कर्तुम्[1]॥

प्रस्तुत मल्लिषेण-प्रशस्ति शक सवत् १०५० वि० स० ११८५की है। अत यह स्पष्ट है कि आचार्य जिनसेन तथा मल्लिषेण प्रशस्तिके लेखकके समयमे पात्र-केसरीका यश पर्याप्त प्रसृत था।

जीवन-परिचय

पात्रकेसरीका जन्म उच्चकुलीन ब्राह्मण वशमे हुआ था। सम्भवत ये किसी राजाके महामात्यपदपर प्रतिष्ठित थे। ब्राह्मण समाजमे इनकी बडी प्रतिष्ठा थी। आराधनाकथा-कोषमे लिखा है "अहिच्छत्रके अवनिपाल राजाके राज्यमे ५०० ब्राह्मण रहते थे। इनमे पात्रकेसरी सबसे प्रमुख थे। इस नगरमे तीर्थङ्कर पार्श्वनाथका एक विशाल चैत्यालय था। पात्रकेसरी प्रतिदिन उस चैत्यालयमे जाया करते थे। एक दिन वहाँ चारित्रभूषण मुनिके मुखसे स्वामी समन्तभद्रके 'देवागम' स्तोत्रका पाठ सुनकर आश्चर्यचकित हुए। उन्होने मुनिराजसे स्तोत्रका अर्थ पूछा, पर मुनिराज अर्थ न बतला सके। पात्र-केसरीने अपनी विलक्षण प्रतिभा द्वारा स्तोत्र कण्ठस्थ कर लिया और अर्थ विचारने लगे। जैसे-जैसे स्तोत्रका अर्थ स्पष्ट होने लगा वैसे-वैसे उनकी जैन-तत्त्वोपर श्रद्धा उत्पन्न होती गयी और अन्तमे उन्होने जैनधर्म स्वीकार कर लिया। राज्यके अधिकारी पदको छोड उन्होने मुनिपद धारण कर लिया। पर उन्हे हेतुके विषयमे सन्देह बना रहा और उस सन्देहको लिए हुये सो जाने पर रात्रिके अन्तिम प्रहरमे स्वप्न आया कि पार्श्वनाथके मन्दिरमे 'फण' पर लिखा हुआ हेतुलक्षण प्राप्त हो जायगा। अतएव प्रात काल जब वे पार्श्व-नाथके मन्दिरमें पहुँचे तो वहाँ उस मूर्त्तिके 'फण' पर निम्न प्रकार हेतुलक्षण प्राप्त हुआ

अन्यथानुपपन्नत्व यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्व यत्र तत्र त्रयेण किम्॥

पात्रकेसरी हेतुलक्षणको अवगत कर असन्दिग्ध और दीक्षित हुए।

१ जैनशिलालेखसग्रह, प्रथम भाग, अभिलेखसख्या ५४, पद्य १२, पृ० सं० १०३।

इस कथासे विदित है कि पात्रकेसरी उच्चकुलीन ब्राह्मण थे। स्वामी समन्तभद्रके 'देवागम' स्तोत्रको सुनकर इनकी श्रद्धा जैनधर्मके प्रति जागृत हुई थी और जैनधर्ममे दीक्षित हो मुनि हो गये थे। कथाकोषके अनुसार इन्हे अहिच्छत्रका निवासी कहा गया है। ये द्रमिल-सघके आचार्य थे। शक सवत् १०५९के बेल्लूर ताल्लुकेके शिलालेख न० १७ मे पात्रकेसरीका नाम आया है। इस अभिलेखमे समन्तभद्रस्वामीके बाद पात्रकेसरीको द्रमिल-सघका प्रधान आचार्य सूचित किया है। पात्रकेसरीके अनन्तर क्रमश वक्रग्रीव, वज्रनन्दि, सुमतिभट्टारक (देव) और समयदीपक अकलङ्क नामके आचार्य हुए[1] है।

अकलकदेवके सिद्धिविनिश्चयग्रन्थपर टीका लिखनेवाले आचार्य अनन्तवीर्यने उनके 'स्वामी' पदका व्याख्यान करते हुए ही त्रिलक्षणकदर्थनके रचयिताके रूपमे पात्रकेसरीका उल्लेख किया[2] है। तत्त्वसग्रह और उसकी टीका पजिकामे पात्रस्वामीका निर्देश आया है और उनके वाक्योको उद्धृत किया है[3]।

अत स्पष्ट है कि पात्रकेसरीका व्यक्तित्व तर्कके क्षेत्रमे प्रसिद्ध रहा है।

समय-निर्णय

पात्रकेसरीका 'त्रिलक्षणकदर्थन' नामका ग्रन्थ रहा है। इस ग्रन्थकी मीमासा बौद्ध विद्वान् शान्तरक्षितने अपने तत्वसग्रह नामक ग्रथमे की है और शान्तरक्षितका समय ई० सन् ७०५ ७६२ है। अत पात्रकेसरीका समय इसके पूर्व है। डॉ० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचायन इनके समयका निर्धारण करते हुए लिखा है 'हेतुका त्रिलक्षणस्वरूप दिङ्नागने न्यायप्रवेशमे स्थापित किया है और उसका विस्तार धर्मकीर्तिने किया है। पात्रस्वामीका पुराना उल्लेख करनेवाले शान्तरक्षित और कणगोमि हैं। अत. इनका समय दिङ्नाग (ई० ४२५) के बाद और शान्तरक्षितके मध्यमे होना चाहिए। ये ई० सन्की छठवी शताब्दीके उत्तरार्ध और सातवीके पूर्वार्धके विद्वान ज्ञात होते है।"[4]

---

१. तत् त्थेर्थम सहस्रगुणमाडिसमन्तभद्रस्वामिगलुसन्दर अवीर वलिकतदीय श्रीमद् द्रमिल सघाग्रेसरद् अप्पपात्रकेसरि स्वामी गतिवक्रग्रीवामि रिन्द अनन्तर। एपिग्राफिका कर्णाटिका, जिल्द ५, भाग १।

२. ननु सदोप तत्, अतस्तदपरिज्ञानमदोपाय इति चेत्, अत्राह अमलालीढम् । कस्य तत् ? इत्यत्राह स्वामिन पात्रकेसरिण इत्येके। कुत एतत् ? तेन तद्विपय-त्रिलक्षणकदर्थनम् । सिद्धिविनिश्चयटीका, ज्ञानपीठसस्करण–पृ० ३७१–७२।

३ डॉ० दरबारीलाल कोठिया जैन तर्कशास्त्रमें अनुमानविचार, पृ० १९५–९६।

४. सिद्धिविनिश्चय, प्रस्तावना, पृ० २१।

पात्रकेसरीका 'अन्यथानुपपन्नत्व' पद्य अकलङ्कदेवके न्यायविनिश्चयमे मूलमे भी मिलता है। अत पात्रकेसरी अकलङ्कदेव (वि० ७ वी शती) के पूर्ववर्ती हैं। अभिलेखोमे समन्तभद्रके अनन्तर पात्रकेसरीका नाम आया है। अत समन्तभद्र (३री शती) के पश्चात् पात्रकेसरीका समय है। अर्थात् इनका समय विक्रम की छठी शताब्दीका उत्तरार्ध है।

रचनाएँ

इनकी दो रचनाएँ मानी जाती है १ त्रिलक्षणकदर्थन और २ पात्रकेसरी-स्तोत्र। त्रिलक्षणकदर्थनके तो मात्र उल्लेख मिलते है। वह उपलब्ध नही है। दूसरी कृति पात्रकेसरीस्तोत्र ही उपलब्ध है।

पात्रकेसरी स्तोत्र इस स्तोत्रका दूसरा नाम 'जिनेन्द्रगुणसस्तुति' भी है। समन्तभद्रके स्तोत्रोके समान यह स्तोत्र भी न्यायशास्त्रका ग्रन्थ है। भ्रमवश कतिपय आलोचकोने विद्यानन्द और पात्रकेसरीको एक व्यक्ति समझ लिया था, अत पात्रकेसरीस्तोत्र विद्यानन्दके नामसे प्रकाशित है। परन्तु आचार्य जुगल-किशोर मुख्तारने 'स्वामी विद्यानन्द और पात्रकेसरी' शीर्षक प्रबन्धमे सप्रमाण उक्त मान्यताका खण्डन किया है।[1]

प्रस्तुत स्तोत्रमे ५० पद्य हैं। अर्हन्त भगवान्‌की सयोगकेवली अवस्थाका बहुत ही गवेषणापूर्ण वर्णन प्रस्तुत किया है। वीतरागताका विस्तृत वर्णन करते हुए पात्रस्वामीने कहा है

> जिनेन्द्र ! गुणसस्तुतिस्तव मनागपि प्रस्तुता
> भवत्यखिलकर्मणा प्रहतये पर कारणम्।
> इति व्यवसिता मतिर्मम ततोऽहमत्यादरात्,
> स्फुटार्थनयपेशला सुगत ! सविधास्ये स्तुतिम् ॥[2]

हे भगवन् ! आपके गुणोकी जो थोडी भी स्तुति करता है उसके लिए वह स्तुति समस्त कार्यो मे आनेवाले विघ्नोके विध्वसका कारण बनती है अथवा समस्त कर्मो के नाश करनेमे सक्षम है। इस निश्चयसे प्रेरित होकर मैं अत्यन्त आदरपूर्वक नयगर्भित स्फुट अर्थवाली स्तुतिको करता हूँ।

इस प्रतिज्ञावाक्यके अनन्तर आराध्यदेवको स्तुति प्रारम्भ की है। वीत-

---

१ जैन साहित्य और इतिहासपर विशद प्रकाश, पृ० ६३७–६६७।

२ प्रथमगुच्छक, पन्नालाल चौधरी, भदैनी काशी, वि० स० १९८२, पृ० २८४, पद्य १।

रागीके ज्ञान और संयमका विवेचन कई प्रकारसे किया है। वीतरागीका शासन परस्पर विरोधरहित और सभी प्राणियोंके लिए हितसाधक होता है। अर्हन्त परमेष्ठी उच्चकोटिके तत्त्वचिन्तक एवं स्याद्वादनयगर्भित उपदेश देनेवाले हैं। अतएव जिसने वीतरागीकी शरण प्राप्त कर ली है, उसे रागादिजन्य वेदना व्याप्त नही करती। राग, द्वेष और मोह ही ससारमे भय उत्पन्न करनेवाले हैं, जिसने उक्त विकारोको नष्ट कर दिया है, वही त्रिभुवनाधिपति होता है। समस्त आरम्भ और परिग्रहके बन्धनसे मुक्त होनेके कारण वीतरागी अर्हन्तमे ही आप्तता रहती है। एकान्तवादसे दुष्ट चित्तवाले व्यक्ति आपके आनन्त्य गुणोकी थाह नही पा सकते हैं। इस सन्दर्भमे यह स्मरणीय है कि यहाँ नैयायिक, वैशेषिक, साख्य, मीमासक आदि मतो और उनके अभिमत आप्तकी भी समीक्षा की गयी है। सर्वज्ञसिद्धिके साथ सग्रन्थता और कवलाहारका निरसन भी किया गया है। रचना बडी ही भावपूर्ण और प्रौढ है।

२ त्रिलक्षणकदर्थन इस ग्रन्थमे बौद्धो द्वारा प्रतिपादित पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षाद्व्यावृत्तिरूप हेतुके त्रैरूप्यका खण्डन कर 'अन्यथानुपपन्नत्व' रूप हेतुका समर्थन किया गया है। इस ग्रन्थके उद्धरण शान्तरक्षितके तत्त्वसग्रह, अकलकके सिद्धिविनिश्चय तथा न्यायविनिश्चय, विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक एव उत्तरवर्ती आचार्यो के ग्रन्थोमे पाये जाते हैं।

प्रतिभा एव वैदुष्य पात्रकेसरी न्यायके निष्णात विद्वान् थे। अत इनके स्तोत्रमे भी दार्शनिक मान्यताएँ समाहित हैं। सस्कृतिके मूलस्रोत श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र ही हैं। अत नैयायिक कवि भी प्रधानत संस्कृतिके उन्नायक होते हैं। वे तर्कपूर्ण शैलीमे विभिन्न मान्यताओकी समीक्षा करते हुए उन्नत विचारो और उदात्त भावोका समावेश करते हैं। जिस आराध्यके प्रति ये श्रद्धावनत होते हैं, उसके गुणोको दर्शनकी कसौटी पर कसकर काव्य-भावनाके रूपमे प्रस्तुत करते हैं। पात्रस्वामीमे दार्शनिक विचारोके साथ कोमल तथा भक्तिपूरित हृदयकी अभिव्यक्ति वर्तमान है। यद्यपि दीनताकी भावना कही भी नही है तो भी अर्हन्तकी दिव्य-विभूतियोके दर्शनसे कविके रूपमे आचार्य चकित हैं। उनकी वीतरागताके प्रति अपार श्रद्धा है। अत भक्त कविके समान भक्तिविभोर हो आराध्यके चरणोमे अपनेको समर्पित करनेकी इच्छा व्यक्त करते हैं। प्रमाण, हेतु, नय, और स्याद्वादका विवेचन भी सर्वत्र होता गया है।

भूत चैतन्यवादका निरसन करते हुए कविने उसके सिद्धान्तपक्षके स्फोटनमे प्रबन्धात्मकता प्रदर्शित की है। इसी प्रकार साख्य-सिद्धान्तके प्रकृति-पुरुषवादमीमासामे भी प्रबन्धसूत्र विद्यमान हैं। आराध्यके स्वरूपविवेचनमे कविने तर्कके साथ इतिवृत्तात्मकताका सफल निर्वाह किया है।

न मृत्युरपि विद्यते प्रकृतिमानुषस्येव ते,
मृतस्य परिनिर्वृतिर्न मरणं पुनर्जन्मवत् ।
जरा च न हि यद्वपुर्विमलकेवलोत्पत्तितः,
प्रभूत्यरुजमेकरूपमवतिष्ठते प्राड् मृते[1] ॥

हे प्रभो ! साधारण मनुष्योंके समान आपकी मृत्यु भी नहीं होती है । यतः जन्ममरण होनेसे निर्वाणकी स्थिति घटित नहीं हो सकती है । अतएव न आपका पुनर्जन्म होता है, न मरण । अतएव आप जन्ममरणातीत हैं । निर्मल केवलज्ञान-की उत्पत्ति होनेसे जरा वृद्धावस्थाजन्य कष्ट भी प्राप्त नहीं होता है । यतः वृद्धावस्थाका होना ही सम्भव नहीं है । और न कभी रोगका ही कष्ट आपको होता है । घातियाकर्मोंके नष्ट होते ही आप जन्म, जरा, मरणसे मुक्त हो जाते हैं ।

तीर्थंकरमें लौकिक अभ्युदयके साथ निःसंगता अपरिग्रहता भी पायी जाती है । अभ्युदय और अपरिग्रह ये दोनों विरोधी धर्म हैं । अतः एकाश्रयमें इन दोनोंका साहचर्य किस प्रकार सम्भव है ? इसी तथ्यको लेकर कविने विरोधाभास अलङ्कार द्वारा अर्हन्तके गुणोंपर प्रकाश डाला है

सुरेन्द्रपरिकल्पितं वृहदनर्घ्यसिंहासनं[2],
तथाऽऽतपनिवारणत्रयमथोल्लसच्चामरम् ।
वशं च भुवनत्रयं निरुपमा च निःसंगता,
न संगतमिदं द्वयं त्वयि तथापि संगच्छते ॥

इन्द्र द्वारा प्रदत्त बहुमूल्य सिंहासन, आतप दूर करनेके लिये छत्रत्रय और चामर सुशोभित होते हैं । त्रिलोककी अन्तरंग और बहिरंग लक्ष्मी आपको प्राप्त हैं । तो भी आप अपरिग्रही हैं । लक्ष्मीका सद्भाव और अपरिग्रहत्व ये दोनों विरोधी धर्म हैं, एक साथ नहीं रह सकते हैं, तो भी ये दोनों आपमें पाये जाते हैं । तात्पर्य यह है कि वीतरागी प्रभुके अन्तरंग रूपमें केवलज्ञानादि लक्ष्मी है और बहिरंगमें देवों द्वारा किये गये अतिशयोंके कारण सिंहासन, छत्र, चमर, आदि वैभव विद्यमान है । अतएव उसका अपरिग्रहत्वके साथ किसी भी प्रकार-का विरोध नहीं है ।

१. प्रथमगुच्छक, पात्रकेसरिस्तोत्रम्, पद्य २७, पृ० २८८ ।
२. वही, पद्य ६, पृ० २८५ ।

पात्रकेसरिस्तोत्रके अध्ययनसे इनकी प्रतिभा और वैदुष्यका सहजमे परिज्ञान प्राप्त हो जाता है। कविने परस्मैपदी क्रियाओके स्थानमे सविधास्ये[1], सगच्छते,[2] विरुध्यते[3], अश्नुते[4], उपपद्यते[5], परिपूज्यते[6], नरीनृत्यते[7], विद्यते[8], उह्यते[9], छिद्यते[10], युज्यते[11], अनुषज्यते[12], गम्यते[13] एव चेष्टते[14] आदि आत्मनेपदी क्रियापद प्रयुक्त किये हैं। इन क्रियापदोसे यह अनुमान होता है कि आचार्य पात्रकेसरी विविध वादोकी समीक्षा कर स्वमतकी स्थापना करना चाहते हैं। यत आत्मनेपदी क्रियाएँ 'स्व'की अभिव्यजनाके लिये आती हैं। जहाँ स्तोत्रोमे स्तोता अपने हृदयको खोलकर रख देता है और अपने समस्त दोष और आवरणोको स्वीकार करता है वहाँ आत्मनेपदी क्रियाओका व्यवहार किया जाता है। परस्मैपदी क्रियाएँ परस्मै-परार्थं-परबोधक पदम्" अर्थात् जहाँ परका भाव अभिव्यक्त करना होता है वहाँ प्राय परस्मैपदी क्रियाओका व्यवहार किया जाता है।

जो कवि या लेखक सावधान रहकर रचना करता है वह परस्मैपदी और आत्मनेपदी क्रियाओके भेदोपर ध्यान रखता है। सामान्यत जहाँ 'स्व' और 'पर'का मिश्रित भाव अभिव्यक्त करना होता है वहाँ आत्मनेपदी क्रियाएँ व्यवहारमे आती हैं।

आचार्य पात्रस्वामीका न्यायविषयपर भी अपूर्व अधिकार है। उनके त्रिलक्षणकदर्थनके न मिलनेपर भी उसके वाक्योके ग्रन्यान्तरोमे उपलब्ध होने तथा उपर्युक्त स्तोत्रसे न्यायविषयक परिज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ स्तोत्रसे उदाहरणार्थ एक पद्य प्रस्तुत है

> न हीन्द्रियधिया विरोधि न च लिंगबुद्धया वचो,
> न चाप्यनुमतेन ते सुनयसप्तधा योजितम्।
> व्यपेतपरिशङ्कन वितथकारणादर्शना-
> दतोऽपि भगवँस्त्वमेव परमेष्ठिताया पदम्[15]॥

आचार्य जोइंदु

जैन परम्परामे 'जोइदु' या 'योगीन्दु' एक अध्यात्मवेत्ता आचार्य हैं। इनके जीवन-वृत्तके सम्बन्धमे न तो इनके ग्रन्थोसे सामग्री उपलब्ध होती है और न अन्य वाङ्मयसे ही। परमात्मप्रकाशमे कविने अपने नामका उल्लेख किया है

१–१४ पात्रकेसरिस्तोत्र १, ६, १३, २२, २२, २९, २९, ३१, ३२, ३४, ३४, ३६, ४८, ४८ पद्य।
१५ वही, पद्य ११।

और अपने शिष्यका नाम भट्टप्रभाकर बताया है। पचपरमेष्ठीको नमस्कार करनेके पश्चात् भट्टप्रभाकरने जिनदेव और योगीन्दुसे निर्मल परिणामोकी प्राप्तिके हेतु प्रार्थना की है। यथा

भाविं पणविवि पंच-गुरु सिरि-जोइदु-जिणाउ।
भट्टपहायरि विण्णविउ विमलु करेविणु भाउ[1]॥

शुद्धभावसे पचपरमेष्ठियोको नमस्कार कर भट्टप्रभाकर अपने परिणामोको निर्मल करनेके हेतु योगीन्दुदेवसे शुद्धात्मतत्त्व जाननेके लिए महाभक्तिसे प्रार्थना करता है।

परमात्मप्रकाशके टीकाकार ब्रह्मदेवने अपनी सस्कृतटीकामे "जोइदु-जिणाउ"का अर्थ योगीन्द्रदेवनामा भगवान् किया है। समयसारकी टीकामे जयसेनने 'तथा योगीन्दुदेवैरप्युक्तम्' कहकर परमात्मप्रकाशका निम्नलिखित दोहा उद्धृत किया है

"ण वि उप्पज्जइ ण वि मरइ बधु ण मोक्खु करेइ।
जिउ परमत्थेँ जोइया जिणवरु एउँ भणेइ[2]॥

श्रुतसागरसूरिने कुन्दकुन्दके 'चरित्तपाहुड'की टीकामे[3] 'उक्तञ्च योगीन्द्र-नामाभट्टारकेण' लिखकर परमात्मप्रकाशके निम्नलिखित पद्यको प्रस्तुत किया है

जसु हरिणच्छी हियवडए तसु ण वि बभु वियारि।
एक्कहिँ केम समति वढ बे खडा पडियारि[4]॥

इस प्रकार सस्कृतटीकाकारोने जोइंदुको योगीन्दु नामसे अभिहित किया है और इसी नामसे ये प्रसिद्ध भी हुए हैं। योगसारमे ग्रन्थकर्त्ताका नाम योगिचन्द बताया है, जो कि जोइदुका रूपान्तर है

ससारह भय-भीयएण जोगिचद-मुणिएण।
अप्पा-सबोहण कया दोहा इक्क-मणेण[5]॥

योगीन्दु योगिचन्द्रका रूपान्तर है और इसका अपभ्रशरूप जोइदु है।

१ परमात्मप्रकाश, रायचन्द्रशास्त्रमाला, दोहा १।८।
२ वही, १।६८।
३ कुन्दकुन्द, चारित्तपाहुड—गाथा—१५।
४. परमात्मप्रकाश, रायचन्द्रशास्त्रमाला, दोहा १।१२१।
५. योगसार, रायचन्द्रशास्त्रमाला, दोहा १०८।

प्राय चन्द्रान्त नामोंको सक्षिप्त रूप देनेके लिए ग्रन्थकार 'इन्दु' द्वारा अभिहित करते हैं। यथा प्रभाचन्द्रका प्रभेन्दु, शुभचन्द्रका शुभेन्दु हो गया है। इसी-प्रकार योगिचन्द्रका योगीन्दु या जोइदु हुआ है। अतएव डॉ० ए० एन० उपाध्येका यह सुझाव सर्वथा उचित है कि परमात्मप्रकाशके रचयिताका नाम योगीन्द्र नही, योगीन्दु है।

जीवन-परिचय

जोइदु कविके जीवनके सम्बन्धमे किसी भी साधनसे कोई प्रामाणिक सूचना प्राप्त नही होती है। परमात्मप्रकाशमे बताया गया है कि यह ग्रन्थ भट्टप्रभाकरके निमित्तसे लिखा जा रहा है। यह बात परमात्मप्रकाशके आदि और अन्तसे भी सिद्ध होती है। मध्यमे भी कई स्थलो पर भट्टप्रभाकरको सम्बोधन करते हुए कथन किया गया है। ग्रन्थकारने लिखा है

> इत्थु ण लेवउ पडियहि गुण-दोसु वि पुणरुत्तु।
> भट्ट-पभायर-कारणइँ मइँ पुणु वि पउत्तु[1]॥

अर्थात् हे भव्यजीवो ! इस ग्रन्थमे पुनरुक्त नामका दोष पण्डितजन ग्रहण नही करेंगे और न काव्यकलाकी दृष्टिसे ही इसका परीक्षण करेंगे। यत मैंने प्रभाकर-भट्टको सम्बोधित करनेके लिए परमात्मतत्त्वका कथन किया है। इस कथनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि भट्टप्रभाकर कोई मुमुक्षु था, जिसके लिए इस ग्रन्थका प्रतिपादन किया गया है। यह ग्रन्थ मुख्यरूपसे मुनियोको लक्ष्यकर लिखा गया है। और इसके लेखक भी अध्यात्मरसिक मुनि ही हैं। अन्तिम मङ्गलके लिए आशीर्वादके रूपमे नमस्कार करते हुए लिखा है कि इस लोकमे विषयी जीव जिसे नही पा सकते, ऐसा यह परमात्मतत्त्व जयवन्त हो। विषयातीत वीतरागी मुनि हो इस आत्मतत्त्वको प्राप्त कर सकते हैं। जो मुनि भावपूर्वक इस परमात्मप्रकाशका चिन्तन करते हैं वे समस्त मोहको जीतकर परमार्थके ज्ञाता होते हैं। अन्य जो भी भव्यजीव इस परमात्मप्रकाशको जानते हैं वे भी लोक और अलोकका प्रकाश करनेवाले ज्ञानको प्राप्त कर लेते हैं[2]। इस ग्रन्थके पठन-पाठनका फल शुद्ध आत्मतत्त्वकी प्राप्ति है।

उपर्युक्त कथनसे इतना स्पष्ट ज्ञात होता है कि जोइदु मुनि थे और इनका कोई मुमुक्षु शिष्य भट्टप्रभाकर था। इसीको सम्बोधित करनेके लिए परमात्म प्रकाशकी रचना की गयी है।

१. परमात्मप्रकाश, रायचन्द्रशास्त्रमाला, दोहा २।२११।
२ परमात्मप्रकाश २।२०४–२०५।

समय-निर्णय

डॉ० ए० एन० उपाध्येने 'जोइंदु'के समयपर विस्तारपूर्वक विचार किया है। उनके निष्कर्ष निम्नप्रकार है

१ श्रुतसागरने चारित्तपाहुडकी टीकामे परमात्मप्रकाशके दोहे उद्धृत किये है।

२ चौदहवी और बारहवी शताब्दीमे परमात्मप्रकाशपर बालचन्द और ब्रह्मदेवने क्रमश कन्नड एव सस्कृत टीकाएँ लिखी है।

३ कुन्दकुन्दके समयसारके टीकाकार जयसेनने १२वी शताब्दीके उत्तरार्धमे समयसारटीकामे परमात्मप्रकाशका एक दोहा उद्धृत किया है।

४. हेमचन्द्रने मुनि रामसिहके दोहे अपने अपभ्रशव्याकरणमे उद्धृत किये हैं। रामसिहने जोइदुके योगसार और परमात्मप्रकाशसे बहुतसे दोहे ग्रहण कर अपनी रचनाको समृद्ध बनाया है। अत जोइदु हेमचन्द्र और रामचन्द्र दोनोसे पूर्ववर्ती हैं।

५ देवसेनकृत तत्त्वसारके अनेक पद्य परमात्मप्रकाशके ऋणी हैं। अत जोइदु देवसेनसे भी पूर्ववर्ती है।

६ चण्डके प्राकृतलक्षणमे 'यथा तथा अनयो स्थाने'के उदाहरणमे निम्नलिखित दोहा प्राप्त होता है

> कालु लहेविणु जोइया जिम-जिम मोहु गलेइ।
> तिमु-तिमु दसणु लहइ जिउ णियमे अप्पु मुणेइ[1] ॥

अर्थात् जोइदु चण्डके पूर्ववर्ती हैं। पर चण्डके समयके सम्बन्धमे अभी तक मतैक्य नही है। डॉ० पी० डी० गुणेका मत है कि चण्ड उस समय हुए है जब अपभ्रश भाषा केवल आभीरोके बोलचालकी ही भाषा नही थी, अपितु साहित्यिक भाषा हो चुकी थी। अर्थात् ईसाकी छठी शताब्दिके पश्चात् चण्डका समय होना चाहिए। अन्य विद्वानोका अनुमान है कि चण्डके व्याकरणको व्यवस्थित रूप ७वी शताब्दिमे प्राप्त हुआ है। अतएव जोइदुका समय इसके पूर्व होना सम्भव है।

कतिपय विद्वानोने तो प्राकृतलक्षणका समय ई० पूर्व माना है। पर यह तर्कसगत नही है। यत जोइदुके परमात्मप्रकाश और कुन्दकुन्दके ग्रन्थोके तुलनात्मक अध्ययनसे यह स्पष्ट है कि परमात्मप्रकाश कुन्दकुन्दके मोक्षप्राभृत और पूज्य-

---

१ वही, दोहा १।८५।

पादके समाधितंत्रके तुल्य है। परमात्मप्रकाश (१।१२१-१२४) मे आत्माके तीन भेदोका वर्णन है। यह वर्णन मोक्षप्राभृत (४-८) से मिलता है। सम्यक्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिको परिभाषाएँ भी परमात्मप्रकाश (१।७६-७७) और कुन्दकुन्दके मोक्षप्राभृत (१४-१५) मे समान रूपसे पायी जाती हैं। ब्रह्मदेवने अपनी सस्कृतटीकामे ७६ और ७७वें दोहेका व्याख्यान लिखते हुए उक्त गाथाएँ उद्धृत की है। इस प्रकार निम्नलिखित दोहे और गाथाएँ समान भावकी हैं

मोक्खपाहुड	परमात्मप्रकाश
२४ गाथा	१।८६ दोहा
३७ गाथा	२।१३ दोहा
५१ गाथा	२।१७६-१७७ दोहा

पूज्यपादके समाधितन्त्र और परमात्मप्रकाशको तुलना

समाधितन्त्र	परमात्मप्रकाश
४-५ पद्य	१।११-१४ दोहा
३१ पद्य	२।१७५; १।१२३ दोहा
६४-६६ पद्य	२।१७८-१८० दोहा
७० पद्य	१।८० दोहा

समाधितन्त्र और परमात्मप्रकाश दोनो ग्रन्थोमे विषयगत और शैलीगत अनेक समताएँ पायी जाती है। वैयाकरण होनेके कारण पूज्यपादके उद्गार सक्षिप्त, परिमार्जित और व्यवस्थित हैं। पूज्यपादने समाधितन्त्रमे जिस तथ्यको सक्षेपमे प्रतिपादित किया है उस तथ्यको जोइन्दुने विस्तारपूर्वक निरूपित किया है। यहाँ तुलनाके लिए कतिपय पद्य उद्धृत किये जाते हैं

य परात्मा स एवाह योऽह स परमस्तत ।
अहमेव मयोपास्यो नान्य' कश्चिदिति स्थिति ॥

समाधितन्त्र, पद्य-३१

जो परमप्पा णाणमउ सो हउँ देउ अणतु ।
जो हउँ सो परमप्पु परु एहउ भावि णिमतु ॥

परमात्मप्रकाश, २।१७५

× × ×

जीर्णे वस्त्रे यथात्मान न जीर्णं मन्यते तथा ।
जीर्णे स्वदेहेऽप्यात्मान न जीर्णं मन्यते वुध ॥

समाधितत्र, पद्य-६४

जिण्णि वत्थि जेम बुहु देहु ण मण्णइ जिण्णु ।
देहि जिण्णि णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइ जिण्णु ॥

परमात्मप्रकाश, २।१७९

× × ×

नष्टे वस्त्रे यथात्मानं न नष्टं मन्यते तथा ।
नष्टे स्वदेहेऽप्यात्मानं न नष्टं मन्यते बुधः ॥

समाधितंत्र, पद्य ६५

वत्थु पणट्ठइ जेम बुहु देहु ण मण्णइ णट्ठु ।
णट्ठे देहे णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइ णट्ठु ॥

परमात्मप्रकाश, दोहा २।१८०

इस तुलनात्मक विवेचनसे निम्नलिखित तीन निष्कर्ष प्रस्तुत होते हैं- (१) जोइन्दु पूज्यपाद (ई० सन् छठी शती)के उत्तरवर्ती हैं।

(२) जोइन्दु चण्डके पूर्ववर्ती हैं। यतः चण्डने इनके पूर्वोक्त दोहेको उदाहरणके रूपमें उद्धृत किया है।

(३) अतएव जोइन्दुका समय पूज्यपादके पश्चात् और चण्डके पूर्व अर्थात् छठी शतीके पश्चात् और सातवीं शतीके पूर्व ई० सन्‌की छठी शताब्दीका उत्तरार्द्ध होना चाहिए।

रचनाएँ

परम्परासे जोइन्दुके नामपर निम्नलिखित रचनाएँ मानी जाती हैं

(१) परमात्मप्रकाश (अपभ्रंश)
(२) नौकारश्रावकाचार (अपभ्रंश)
(३) योगसार (अपभ्रंश)
(४) अध्यात्मसन्दोह (संस्कृत)
(५) सुभाषिततंत्र (संस्कृत)
(६) तत्त्वार्थटीका (संस्कृत)

इनके अतिरिक्त योगीन्द्रके नामपर दोहापाहुड (अपभ्रंश), अमृताशीति (संस्कृत) और निजात्माष्टक (प्राकृत) रचनाएँ भी प्राप्त होती हैं। पर यथार्थमें परमात्मप्रकाश और योगसार दो ही ऐसी रचनाएँ हैं जो निर्भ्रान्त रूपसे जोइन्दुकी मानी जा सकती हैं।

परमात्मप्रकाश

जोइन्दु अध्यात्मवादी हैं, कवि नहीं। अपभ्रंशमें शुद्ध अध्यात्मविचारोंकी

ऐसी सशक्त अभिव्यक्ति अन्यत्र नही मिल सकती है। इनके परमात्मप्रकाशमे दो अधिकार है। प्रथम अधिकारमे १२६ दोहे और द्वितीयमे २१९ है। इन दोहोमे क्षेपक और स्थलसख्याबाह्यप्रक्षेपक भी सम्मिलित है। ब्रह्मदेवके मतानुसार परमात्मप्रकाशमे समस्त ३४५ पद्य है। इनमे पाँच गाथाएँ, एक स्रग्धरा और एक मालिनी हैं किन्तु इन पद्योकी भाषा अपभ्रंश नही है। एक चतुष्पदिका भी है और शेष ३७७ दोहे है, जो अपभ्रंशमे निबद्ध है।

विषय-वर्णनकी दृष्टिसे प्रारम्भके सात पद्योमे पचपरमेष्ठीको नमस्कार किया गया है। आठवे, नवे और दसवें दोहेमे भट्टप्रभाकर जोइदुसे निवेदन करता है

> गउ ससारि वसताहँ सामिय कालु अणतु।
> पर मइँ किं वि ण पत्तु सुहु दुक्खु जि पत्तु महतु॥
> चउ-गइ-दुक्खहँ तत्ताहँ जो परमप्पउ कोइ।
> चउ-गइ-दुक्ख-विणासयरु कहहु पसाएँ सो वि॥[1]

हे स्वामिन् ! इस ससारमे रहते हुए अनन्तकाल बीत गया, परन्तु मैने कुछ भी सुख प्राप्त नही किया, प्रत्युत् महान् दुख ही पाता रहा। अत चारो गतियोके दुखोसे सन्तप्त प्राणियोके चारो गति-सम्बन्धी दुखोका विनाश करनेवाले परमात्माका स्वरूप बतलाइए। उत्तरमे जोइदुने आत्माके तीन भेदोका कथन किया है (१) मूढ (२) विचक्षण और (३) ब्रह्म।

जो शरीरको ही आत्मा मानता है, वह मूढ है। जो शरीरसे भिन्न ज्ञानमय परमात्माको जानता है, वह विचक्षण या पण्डित है। जिसने कर्मोंका नाश कर शरीर आदि परद्रव्योको छोड ज्ञानमय आत्माको प्राप्त कर लिया है वह परमात्मा है।[2]

जोइदुके मतसे आत्मा ही परमात्मा हो जाती है। निश्चयनयसे आत्मा और परमात्मामे कोई अन्तर नही है। जैसा निर्मल ज्ञानमय देव मुक्तिमे निवास करता है, वैसा ही परमब्रह्म शरीरमे निवास करता है। अत दोनोमे भेद नही किया जा सकता है।[3] यहाँ यह ध्यातव्य है कि जोइदुने आत्माको ब्रह्मशब्द द्वारा अभिहित किया है, जिससे उनपर अद्वैतका प्रभाव मालूम पडता है।

१, परमात्मप्रकाश, १।९–१०।
२ वही, १।१३–१५।
३ वही, १।२६।

जोइदुने आत्माके स्वरूप और आकारके सम्बन्धमे विभिन्न मतोका निर्देश करते हुए जैन दृष्टिकोणके सम्बन्धमे बताया है। आत्माके सम्बन्धमे निम्न-लिखित मान्यताएँ प्रचलित हैं, आचार्यने इन मान्यताओका अनेकान्तवादके आलोकमे समन्वय किया है

१ आत्मा सर्वगत है।
२ आत्मा जड है।
३ आत्मा शरीरप्रमाण है।
४. आत्मा शून्य है।

१ कर्मबन्धनसे रहित आत्मा केवलज्ञानके द्वारा लोकालोकको जानती है, अत ज्ञानापेक्षया सर्वगत है।

२ आत्मज्ञानमे लीन जीव इन्द्रियजनित ज्ञानसे रहित हो जाते है, अत ध्यान और समाधिकी अपेक्षा जड है।

३ शरीरबन्धनसे रहित हुआ शुद्ध जीव अन्तिमशरीरप्रमाण ही रहता है, न वह घटता और न वह बढता ही है, अत शरीरप्रमाण है। जिस शरीरको आत्मा धारण करती है, उसी शरीरके आकारको हो जाती है, अतएव प्रदेशके सहार और प्रसरपणके कारण आत्मा शरीरप्रमाण है।

४ मोक्ष अवस्था प्राप्त करने पर शुद्ध जीव आठो कर्मो और अठारह दोषोसे शून्य हो जाता है, अत. उसे शून्य कहा गया है।[1]

द्वितीय अधिकारमे मोक्ष, मोक्षका फल एव मोक्षके कारणका कथन किया गया है। प्रथम ग्यारह गाथाओमे मोक्ष और उसके फलका कथन आया है। पश्चात् मोक्षके कारणोका निरूपण किया गया है। 'जोइन्दु'ने भी कुन्दकुन्दके समान सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको मोक्षका कारण बतलाकर इन तीनोको निश्चयदृष्टिकी अपेक्षासे आत्मस्वरूप ही बतलाया है। इसके पश्चात् समभावकी प्रशसा की गयी है।

जोइन्दुने पुण्य और पापकी समता बतलाते हुए लिखा है कि जो जीव पुण्य और पापको समान नही मानता, वह मोहके वशीभूत होकर चिरकाल तक भ्रमण करता है। इतना ही नही अपितु यह भी लिखा है कि वह पाप अच्छा है जो जीवको दु ख देकर मोक्षकी ओर लगाता है। इसी प्रकरणमे पुण्यकी निन्दा भी की गयी है। आगेके दोहेमे आर्यशान्तिका मत दिया गया है। इस मतमे बताया गया है कि देव, शास्त्र और मुनिवरोकी भक्तिसे पुण्य होता

१ परमात्मप्रकाश १।५२–५५।

है, कर्मोका क्षय नही होता, ऐसा आर्यशान्ति मानते हैं। वन्दना, निन्दा, प्रतिक्रमण आदिको पुण्यका कारण बतलाकर एकमात्र शुद्धभावको ही उपादेय बतलाया है। यत: शुद्धोपयोगीके ही सयम, शील और तप सम्भव है। जिसको सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्राप्त हैं, उसीके कर्मोका क्षय होता है। अत शुद्धोपयोग ही प्रधान है। चित्तकी शुद्धिके बिना योगियोका तीर्थाटन करना, शिष्य-प्रशिष्योका पालन-पोषण करना सब निरर्थक है, जो जिनलिंग धारण कर भी परिग्रह रखता है, वह वमनके भक्षण करनेवालेके समान है। नग्नवेष धारण कर भी भिक्षामे मिष्टान्न भोजन या स्वादिष्ट भोजनकी कामना करना दोषका कारण है। आत्मनिरीक्षण और आत्मशुद्धि सर्वदा अपेक्षित है।

योगसार

योगसारमे १०८ दोहे हैं। वर्ण्यविषय प्राय परमात्मप्रकाशके तुल्य ही हैं। इन दोहोमे एक चौपाई और दो सोरठा भी सम्मिलित है। अपभ्रंश भाषामे लिखा गया यह ग्रन्थ एक प्रकारसे परमात्मप्रकाशका सार कहा जा सकता है।

इसके प्रारम्भमे भी आत्माके उन्ही तीनो भेदोका निरूपण आया है, जिनका परमात्मप्रकाशमे निर्देश किया जा चुका है। बताया है कि यदि जीव, तू आत्माको आत्मा समझेगा, तो निर्वाण प्राप्त कर लेगा। किन्तु यदि तू पर-पदार्थोको आत्मा मानेगा, तो ससारमे भटकेगा ही[1]।

कुन्दकुन्दने[2] कर्मविमुक्त आत्माको परमात्मा बतलाते हुए उसे ज्ञानी, परमेष्ठी, सर्वज्ञ, विष्णु, चतुर्मुख और बुद्ध कहा है। योगसारमे भी उसके जिन, बुद्ध, विष्णु, शिव आदि नाम बतलाये है। जोइन्दुने भी कुन्दकुन्दकी तरह निश्चय और व्यवहार नयोके द्वारा आत्माका कथन किया है। योगसारमे ये दोनो ही दृष्टियाँ विशेषरूपसे विद्यमान हैं

देहा-देवलि देउ जिणु जणु देवलिहिँ णिएइ।
हासउ महु पडिहाइ इहु सिद्धे भिक्ख भमेइ[3]॥

श्रुतकेवलिने कहा है कि देव न देवालयमे है, न तीर्थोमे। यह तो शरीर

१ योगसार, दोहा १२।

२. णाणी सिव परमेट्ठी सव्वण्हू विण्हू चउमुहो बुद्धो।
अप्पो वि य परमप्पो कम्मविमुक्को य होइ फुड॥ भावपाहुड, फलटन सस्करण, गाथा १५०।

३ योगसार, गाथा ४३।

रूपी देवालयमे है, यह निश्चयसे जान लेना चाहिये। जो व्यक्ति शरीरके बाहर अन्य देवालयोमे देवकी तलाश करते हैं, उन्हे देखकर हँसी आती है।

योगसारके अध्ययनसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि इसका विषय क्रमबद्ध नही है। यह एक सग्रह जैसा है। विषयनिरूपणके लिये क्रमबद्ध शैलीका अनुसरण नही किया गया है। फुटकर विषयोका सकलन जैसा प्रतीत होता है। यथा

> विरला जाणहिँ तत्तु वुह विरला णिसुणहिँ तत्तु।
> विरला झायहि तत्तु जिय विरला धारहिँ तत्तु[1] ॥

विरले जन तत्वको समझते हैं, विरले ही तत्वको सुनते है, विरले ही तत्वका ध्यान करते हैं और विरले ही तत्वको धारण करते हैं। यह दोहा अपने स्थान पर नही है। खीचतान कर क्रमबद्धता सिद्ध कर भी दी जाय, तो भी उचित स्थान पर इसका सम्बन्ध प्रतीत नही होता।

९८वे सख्यक दोहेमे पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानोके नाम गिनाये है। इसके आगे दोहा ९९से १०३ तक सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार-विशुद्धि और सूक्ष्मसाम्पराय सयमका स्वरूप बतलाया गया है। यहाँ यथा-ख्यातका स्वरूप छूटा हुआ है। अन्तमे बताया है कि जो सिद्ध हो चुके है, जो सिद्ध होगे और जो वर्तमानमे सिद्ध हो रहे हैं, वे सब आत्मदर्शनसे ही सिद्ध हुए हैं। यही आत्मदर्शन इस ग्रन्थका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

प्रतिभा और वैदुष्य

जोइन्दु कविका अपभ्रंश भाषापर अपूर्व अधिकार है। इन्होने अपने उक्त दोनो ग्रन्थोमे आध्यात्मरसका सुन्दर चित्रण किया है। ये क्रान्तिकारी विचार-धाराके प्रवर्त्तक है। इसी कारण इन्होने बाह्य आडम्बरका खण्डन कर आत्मज्ञान-पर जोर दिया है। कविने लिखा है

> तत्तातत्तु मुणेवि मणि जे थक्का सम-भावि।
> ते पर सुहिया इत्थु जगि जहँ रइ अप्प-सहावि ॥[2]

हे जीव! जिस मोहसे अथवा मोह उत्पन्न करनेवाली वस्तुसे मनमे कषाय-भाव उत्पन्न हो, उस मोहको अथवा मोह-निमित्तक पदार्थको छोड, तभी मोह-जनित कषायके उदयसे छुटकारा प्राप्त हो सकेगा। तात्पर्य यह है कि विषया-

१ योगसार, गाथा ६६।
२ परमात्मप्रकाश २।४३।

दिक सब सामग्री और मिथ्यादृष्टि पापियोका सग सब तरहसे मोहकषायको उत्पन्न करते है। इससे ही मनमें कपायरूपी अग्नि दहकती रहती है, जो इसका त्याग करता है, वही सच्ची शान्ति और सुखको पाता है।

जोइन्दु कविकी अपेक्षा अध्यात्मशक्तिके निरूपक अधिक हैं। विषयासक्त जीवोको परमात्माका दर्शन नही हो सकता। अतएव जिसने इस आसक्तिको दूर कर दिया है, उसीके हृदयमे परमात्माका निवास सम्भव होता है। आचार्य इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुये बतलाते हैं

"जसु हरिणच्छी हियवडए तसु णवि बभु वियारि।
एक्कहि केम समति वढ वे खडा पडियारि॥
णिय-मणि णिम्मलि णाणियहँ णिवसइ देउ अणाइ।
हसा सरवरि लीणु जिम महु एहउ पडिहाइ[1]॥

जो विषयोमे लीन है, उसे परमात्माका दर्शन नही हो सकता। वीतराग निर्विकल्प परमसमाधिरूप अनाकुलता ही आनन्दका कारण है। जिसके चित्तमे स्त्रीसम्बन्धी विकार है, वह शुद्धात्मामे अपनेको स्थिर नही कर सकता। विकारी आत्मा वक्र मानी जाती है और वक्र वस्तुमे सरलका प्रवेश नही हो पाता। अतएव हाव-भाव और विभ्रमसे दूषित चित्तवाला व्यक्ति ब्रह्म या आत्माका विचार नही कर सकता है।

ज्ञानियोके रागादिमलरहित निज मनमे अनादि देव अराधने योग्य शुद्ध आत्मा निवास कर रही है। जिस प्रकार मानसरोवरमे हस लीन हुआ बसता है, उसी प्रकार जो शुद्धात्मामे निवास करता है, उसीके रागादि दोष दूर होते हैं। इस प्रकार आचार्य जोइन्दुने अध्यात्मतत्त्वका निरूपण अपने दोनो ग्रन्थोमे किया है।

जैन रहस्यवादका निरूपण रहस्यवादके रूपमे सर्वप्रथम इन्हीसे आरम्भ होता है। यो तो कुन्दकुन्द, वट्टकेर और शिवार्यकी रचनाओमे भी रहस्यवादके तत्त्व विद्यमान हैं, पर यथार्थत. रहस्यवादका रूप जोइन्दुकी रचनाओमे ही मिलता है। बर्गसाँने जिस रहस्यानुभूतिका स्वरूप प्रस्तुत किया है, वह रहस्यानुभूति हमें इनकी रचनाओमें प्राप्त होती है "यदि ससारके प्रति अनासक्ति पूर्ण हो जाय और वह अपने किसी भी ऐन्द्रिय प्रत्यय द्वारा किये किसी व्यापारके प्रति चिपके नही, तो यही एक कलाकारकी आत्मा होगी, जैसा कि ससारने पहले देखा न होगा। वह युगपत् समानरूपसे प्रत्येक कलामे पारगत होगा,

१ परमात्मप्र०, दोहा १।१२१,१२२।

या यों कहे कि वह 'सब'को 'एक' मे परिणत कर लेगा। वह वस्तुमात्रको उसके सहज शुद्ध रूपमे देख लेगा[1]।" परमात्मप्रकाशके रहस्यवादमे आत्मानुभूति सम्बन्धी विशेषताके साथ अन्य विशेषताएँ भी पायी जाती हैं।

१ आत्मा और परमात्माके बीच पारस्परिक अनुभूतिका साक्षात्कार और दोनोंके एकत्वकी प्रतीति।

२. आत्मामे परमात्मशक्तिका पूर्ण विश्वास

३ ध्येय, ध्याता या ज्ञेय-ज्ञातामे एकत्वका आरोप

४ सासारिक विषयोंके प्रति उदासीनता

५ लौकिक ज्ञानके साधन इन्द्रिय और मनकी सहायताके बिना ही पूर्ण सत्यको जान लेनेकी क्षमता।

६ अध्यात्मवादकी रहस्यवादके रूपमे कल्पना।

७ निश्चय और व्यवहार नयकी दृष्टियोंसे भेदाभेदका विवेचन।

८ पुण्य-पापकी समता तथा दोनोंको ही समान रूपसे त्याज्य माननेकी भावनाका सयोजन।

९ अनुभूति द्वारा रसास्वादकी प्रक्रियाका स्थापन।

इस प्रकार जोइन्दु अपभ्रशके ऐसे सर्वप्रथम कवि है, जिन्होने क्रान्तिकारी विचारोंके साथ आत्मिक रहस्यवादकी प्रतिष्ठा कर मोक्षका मार्ग बतलाया है।

वैदुष्यकी दृष्टिसे यह कहा जा सकता है कि इन्होने कुन्दकुन्द और पूज्यपादके आध्यात्मिक ग्रन्थोंका अध्ययन कर अपने ग्रन्थ-लेखनके लिये विषय-वस्तु ग्रहण की है। पूर्वाचार्योंकी मान्य परम्पराको एक नये रूपमे ही उपस्थित किया है। यही कारण है कि जोइन्दुका प्रभाव अपभ्रशके कवियोंके साथ हिन्दीके सन्त कवियों पर भी पड़ा है। कबीरने जिस क्रान्तिकारी विचारधाराकी प्रतिष्ठा की है, उसका मूल स्रोत जोइन्दुकी रचनामे पाया जाता है।

विमलसूरि

प्राकृतके चरित-काव्यके रचयिताके रूपमे विमलसूरि पहले कवि और आचार्य हैं। इनसे पूर्व आचार्य यतिवृषभने अपने 'तिलोयपण्णत्ति' ग्रन्थमे त्रिषष्टिशलाकापुरुषोंके माता-पिताओंके नाम, जन्मस्थान, जन्मनक्षत्र, आदि प्रमुख तथ्योंका सकलन ही किया था, पर चरितकाव्यके रूपमे उन्होने कोई ग्रन्थ नही लिखा है। आचार्य शिवार्यने भगवती आराधनामे आराधकोंके नाम मात्र ही

१ कुमारी एवलिन अण्डरहिल दि मिस्टिक वे—पृ० १५।

दिये हैं, चरित नही। अतएव प्राकृतमे चरित-काव्यके रचयिताके रूपमे आचार्य विमलसूरिका स्थान सबसे आगे है। 'कुवलयमाला'मे[1] इनके 'पउमचरिय'का उल्लेख होनेसे विदित होता है कि विमलसूरिका 'पउमचरिय' वि० स० ८३५के लगभग पर्याप्त प्रसिद्धि पा चुका था।

जीवन-परिचय

विमलसूरिने ग्रन्थान्तमे अपनी प्रशस्ति अकित की है। इस प्रशस्तिके अनुसार ये आचार्य राहुके प्रशिष्य, विजयके शिष्य और 'नाइल कुल'के वशज थे। नाइल कुलके सम्बन्धमे मुनि कल्याणविजयजीका अनुमान है[2] कि नाइल कुल नागिल कुल अथवा नगेन्द्र कुल है। इसका अस्तित्व १२वी शताब्दी तक प्राप्त होता है। १२वीसे १५वी शताब्दी तक यह नगेन्द्र गच्छके नामसे प्रसिद्ध रहा है। इस गच्छके आचार्य एकान्त सप्रदायका अनुकरण नही करते थे। इनके विचार उदार रहते थे।

यही कारण है कि विद्वानोने इन्हे यापनीय सघका अनुयायी माना है। लिखा है कि विमलसूरिकी दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायोके प्रति उदारताका मुख्य कारण उनका यापनीय सघका अनुयायी होना है। श्री वी० एम० कुलकर्णीने[3] निष्कर्ष निकाला है कि आचार्य विमलसूरि यापनीय सघके थे।

यापनीय संघका साहित्य पर्याप्त मात्रामे प्राप्त होता है। यह सम्प्रदाय दर्शनसारके कर्त्ता देवसेन सूरिके[4] अनुसार वि० स० २०५मे स्थापित प्रतीत होता है। कदम्ब, राष्ट्रकूट और दूसरे वंशके राजाओने इस सघको भूमि इत्यादि दानमे दी है। श्वेताम्बराचार्य हरिभद्रसूरिने भी अपने ललितविस्तर ग्रथमे यापनीय तन्त्रका सम्मान पूर्वक उल्लेख किया है। यापनीय सघका अस्तित्व विक्रमकी १५वी शताब्दी तक प्राप्त होता है। कागवाडेके अभिलेखसे यापनीय सघके धर्मकीर्ति और नागचन्द्रके समाधि ले लेनेका उल्लेख आया है। अतः बहुत सम्भव है कि विक्रमकी १५वी-१६वी शताब्दीके पश्चात् इस सघका लोप हुआ होगा। बेलगाँवके दोडबस्ती अभिलेखसे यह ज्ञात होता है कि यापनियो द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमा दिगम्बरो द्वारा पूजी जाती थी। अत यह माना जा सकता है कि यापनीय सघके आचार्य दिगम्बरोमे प्रतिष्ठित या मान्य थे।

१ कुवलयमाला, अनुच्छेद ६, पृ० ४।

२ पउमचरिय, प्रथम भाग, सम्पादक, डॉ० हर्मन जेकोबी, इन्ट्रोडक्शन, पृ० १५।

३ वही, पृ० १८।

४ कल्लाणे वरणयरे दुण्णिसए पचउत्तरे जादे।
जावणियसघभावो सिरिकलसादो हु सेवडदो॥ दर्शनसार, गाथा २९।

यही कारण है कि विमलसूरिने 'पउमचरिय'मे दिगम्बर परम्पराके अनुसार तथ्योका समावेश किया है। लेखकने कथाकी उत्थानिका श्रेणिकके प्रश्नोत्तर द्वारा ही उपस्थित की है, जो कि दिगम्बराचार्योकी विशेषता है। इसके अतिरिक्त अन्य तथ्य भी दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार समाविष्ट है। यथा

१. महावीरका अविवाहित रहना।
२ त्रिसलाके गर्भमे महावीरका आना
३ स्थावरकायके ५ भेदोकी मान्यता
४ चौदह कुलकरोकी मान्यता
५ चतुर्थ शिक्षाव्रतमे समाधिमरणका ग्रहण
६ ऋषभ द्वारा अचेलक व्रतका अपनाया जाना
७ सात नरक और सोलह स्वर्गो की मान्यता
८ स्त्रीमुक्तिके सम्बन्मे मौन
९ केवलीके कवलाहारका अभाव
१० अष्टद्रव्यद्वारा पूजनविधि

इनके अतिरिक्त श्वेताम्बर मान्यताएँ भी इस ग्रन्थमे उपलब्ध है। दिगम्बर मान्यताके सोलह स्वप्नोके स्थानपर चौदह स्वप्नोका माना जाना, भरत चक्रवर्तीके ९६ हजार रानियोके स्थानपर ६४ हजार रानियोकी कल्पना, आशीर्वादके रूपमे गुरुओ या मुनियो द्वारा धर्मलाभ शब्दका प्रयोग किया जाना आदि ऐसे तथ्य हैं, जिनसे श्वेताम्बर मान्यताकी पुष्टि होती है। वस्तुस्थिति यह है कि विमलसूरिने रामकथाका वह रूप अकित किया है, जो दिगम्बर श्वेताम्बर दोनोको अभिप्रेत है। सक्षेपमे विमलसूरि यापनीय सम्प्रदायके अनुयायी है।

समय-निर्धारण

विमलसूरिने 'पउमचरिय' को प्रशस्तिमे अपने समयका अकन किया है। उसके आधारपर इनका समय ई० सन् प्रथम शती है, पर ग्रन्थके अन्त परीक्षणसे यह समय घटित नही होता है। अत जैकोवी और अन्य विद्वानोने इनका समय ई० सन् चौथी, पाँचवी शताब्दी माना है।

विमलसूरिके 'अउमचरिय'के आधार पर रविषेणने सस्कृत 'पद्मचरित' की रचना की है और इसका रचनाकाल ई० सन् ७वी शताब्दी है। अत विमलसूरिका समय ७वी शताब्दीके पूर्व होना चाहिये। विमलसूरिने जिस परिमार्जित महाराष्ट्री प्राकृतका प्रयोग इस ग्रन्थमे किया है, भाषाका वह रूप ई० सन्

द्वितीय शताब्दीके पश्चात्का ही है। अतएव भाषा और शैलीकी दृष्टिसे विमलसूरिके समयकी पूर्वावधि ई० सन् द्वितीय शताब्दी मानी जा सकती है। इस ग्रन्थमे उज्जैनके स्वतन्त्र राजा सिंहोदरका उल्लेख आया है, जिसका दशपुरके भृत्यराजाके साथ युद्ध हुआ था। यह इस ग्रन्थको ई० सन् दूसरी शतीके पूर्वका सिद्ध नही करता है। यत यह युद्ध महाक्षत्रिपोकी ओर संकेत करता है। श्रीशैल और श्रीपर्वतवासियोका उल्लेख तृतीय शतीके आन्ध्र देशके श्रीपर्वतीय इक्ष्वाकु राजाओका स्मरण कराता है। आनन्द लोगोका उल्लेख तीसरी-चौथी शतीके आनन्दवंशकी ओर सकेत करता है। दीनारका निर्देश भी इस रचनाको गुप्तकालीन सिद्ध करता है। अपभ्रंश भाषाका प्रभाव और उत्तरकालीन छन्दोंका प्रयोग इस रचनाको तीसरी-चौथी शताब्दीका सिद्ध करता है। जैकोबी ने भी यही समय माना है। अतएव सक्षेपमे विमलसूरिका समय ई० सन् चौथी शताब्दीके लगभग मानना चाहिये।

रचनाएँ

विमलसूरिकी दो रचनाएँ मानी जाती रही हैं, 'पउमचरिय' और 'हरिवसचरिय'। पर अब कुछ विद्वान् 'हरिवसचरिय'को विमलसूरिकी रचना नही मानते हैं। उनका अभिमत है कि विमलसूरिकी एक ही रचना है 'पउमचरिय', यह दूसरी रचना भ्रान्तिवश ही उनकी मान ली गयी है।

पउमचरिय

इस ग्रन्थमे ११८ सर्ग हैं और सात अधिकारोमे समस्त कथावस्तु अकित है। स्थिति, वशसमुत्पत्ति, प्रस्थान, लवाकुशोत्पत्ति, निर्वाण और अनेक भव इन सात अधिकारोका निर्देश किया गया है और समस्त रामकथाका समावेश इन सात अधिकारोमे ही किया है।

कथावस्तु अयोध्या नगरीके अधिपति महाराज दशरथकी अपराजिता और अमित्रा दो रानियाँ थी। एक समय नारदने दशरथसे कहा कि आपके पुत्र द्वारा सीताके निमित्तसे रावणका वध होनेकी भविष्यवाणी सुनकर विभीषण आपको मारने आ रहा है। नारदसे इस सूचनाको प्राप्त कर दशरथ छद्मवेशमे राजधानी छोडकर चले गये। सयोगवश कैकयीके स्वयवरमे पहुँचे। कैकयीने दशरथका वरण किया, जिससे अन्य राजकुमार रुष्ट होकर युद्ध करनेके लिए तैयार हो गये। युद्धमे दशरथके रथका सचालन कैकयीने बडी कुशलताके साथ किया, जिससे दशरथ विजयी हुए। अतः प्रसन्न होकर दशरथने कैकयीको एक वरदान दिया।

अपराजिताके गर्भसे एक पुत्रका जन्म हुआ, जिसका मुख पद्म जैसा सुन्दर होनेसे पद्म नाम रखा गया। इनका दूसरा नाम राम है, जो पद्मकी अपेक्षा अधिक प्रसिद्ध है। इसी प्रकार सुमित्रासे लक्ष्मण और कैकयीके गर्भसे भरतका जन्म हुआ।

एक बार राम पद्म अर्ध-बर्बरोंके आक्रमणसे जनककी रक्षा करते हैं, जनक प्रसन्न हो अपनी औरस पुत्री सीताका सम्बन्ध रामके साथ तय करते हैं। जनकके पुत्र भामण्डलको शैशवकालमे ही चन्द्रगति विद्याधर हरण कर ले जाता है। युवा होने पर अज्ञानतावश सीतासे उसे मोह उत्पन्न हो जाता है। चन्द्रगति जनकसे भामण्डलके लिये सीताकी याचना करता है। जनक असमंजसमे पड जाते हैं और सीता स्वयंवरमे धनुषयज्ञ रचते हैं। सीताके साथ रामका विवाह हो जाता है।

दशरथ रामको राज्य देकर भरत सहित दीक्षा धारण करना चाहते हैं। कैकयी भरतको गृहस्थ बनाये रखनेके हेतु वरदान स्वरूप दशरथसे भरतके राज्याभिषेककी याचना करती है, दशरथ भरतको राज्य देनेके लिये तैयार हो जाते है। भरतके द्वारा आनाकानी करने पर भी राम उन्हे स्वय समझा-बुझाकर राज्याधिकारी बनाते हैं और स्वय अपनी इच्छासे लक्ष्मण तथा सीताके साथ वन चले जाते हैं। दशरथ श्रमणदीक्षा धारण कर तप करने लगते हैं। इधर अपराजिता और सुमित्रा अपने पुत्रके वियोगसे बहुत दु खी होती हैं। कैकयीसे यह देखा नही जाता, अतः वह पारियात्र वनमे जाकर उनको लौटानेका प्रयत्न करती है, पर राम अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहते हैं।

जब राम दण्डकारण्य वनमें पहुँचते है, तो लक्ष्मणको एक दिन तलवारकी प्राप्ति होती है। उसकी शक्तिकी परीक्षाके लिये वे एक झुरमुटको काटते हैं। असावधानीसे शबुककी हत्या हो जाती है, जो कि उस झुरमुटमे तपस्या कर रहा था। शबुककी माता चन्द्रनखा, जो रावणकी बहन थी, पुत्रकी खोजमे वहाँ आ जाती है। वह राजकुमारोको देखकर प्रथमत क्षुब्ध होती है, पश्चात् उनके रूपसे मोहित होकर वह दोनो भाइयोमेसे किसी एकको अपना पति बननेकी याचना करती है। राम-लक्ष्मण द्वारा चन्द्रनखाका प्रस्ताव ठुकराये जाने पर वह क्रुद्ध होकर अपने पति खरदूषणको उल्टा-सीधा समझाकर उनके वधके लिये भेजती है। इधर रावण भी अपने बहनोईकी सहायताके लिये वहाँ पहुँचता है। रावण सीताके सौन्दर्य पर मुग्ध हो राम और लक्ष्मणकी अनुपस्थितिमे सीताका हरण कर लेता है। खरदूषणको मारनेके अनन्तर राम सीताको न पाकर बहुत दु खी होते हैं। उसी समय एक विद्याधर विराधित रामको

अपनी पैतृक राजधानी पातालपुर लकामे ले जाता है, जिसे खरदूषणने विराधितके पिताका वध कर छीन लिया था।

सुग्रीव अपनी पत्नी ताराको विटसुग्रीवके चगुलसे बचानेके लिये रामकी शरणमे जाता है और राम सुग्रीवके शत्रु विटसुग्रीवको पराजित कर वानरवशी सुग्रीवका उपकार करते हैं। लक्ष्मण सुग्रीवकी सहायतासे रावणका वध करते हैं। सीताको साथ लेकर राम लक्ष्मण सहित अयोध्या लौट आते है।

अयोध्या लौटने पर कैकयी और भरत दीक्षा धारण करते है। राम स्वय राजा न बनकर लक्ष्मणको राज्य देते हैं। कुछ समय पश्चात् सीता गर्भवती होती है, पर लोकापवादके कारण राम उनका निर्वासन करते हैं। सयोगवश पुडरीकपुरका राजा सीताको भयानक अटवीसे ले जाकर अपने यहाँ बहनकी तरह रखता है। वहाँ पर लवण और अकुशका जन्म होता है। वे देशविजय करनेके पश्चात् अपने दु खका बदला लेनेके लिये राम पर चढाई करते हैं, और अन्तमे पिताके साथ उनका प्रेमपूर्वक समागम होता है। सीताकी अग्नि-परीक्षा होती है जिसमे वह निष्कलक सिद्ध होती है और उसी समय साध्वी बन जाती है। लक्ष्मणकी अकस्मात् मृत्यु हो जाने पर राम शोकाभिभूत हो जाते हैं और भ्रातृमोहमे उनका शव उठाकर इधर-उधर भटकते हैं, तब वे दीक्षा ग्रहण कर लेते है और कठोर तप करके निर्वाण प्राप्त करते हैं।

समीक्षा इस चरितकाव्यमे पौराणिक प्रबन्ध और शास्त्रीय प्रबन्ध दोनोके लक्षणोका समावेश है। वाल्मीकि रामायणकी कथावस्तुमे किंचित् सशोधन कर यथार्थ बुद्धिवादकी प्रतिष्ठा की है। राक्षस और वानर इन दोनोको नृवशीय कहा है। मेघवाहनने लका तथा अन्य द्वीपोकी रक्षा की थी अत रक्षा करनेके कारण उसके वशका नाम राक्षस वश प्रसिद्ध हुआ। विद्याधर राजा अमरप्रभने अपनी प्राचीन परम्पराको जीवित रखनेके लिए महलोके तोरणो और ध्वजाओ पर वानरोकी आकृतियाँ अकित करायी थी तथा उन्हे राज्यचिह्नकी मान्यता दी, अत. उसका वश वानरवश कहलाया। ये दोनो वश दैत्य और पशु नही थे, बल्कि मानवजातिके ही वशविशेष थे। इसी प्रकार इन्द्र, सोम, वरुण इत्यदि देव नहीं थे, बल्कि विभिन्न प्रान्तोके मानव-वशी सामन्त थे। रावणको उसकी माताने नौ मणियोका हार पहनाया, जिससे उसके मुखके नौ प्रतिबिम्ब दृश्यमान होनेके कारण पिताने उसका नाम दशानन रखा।

इसी प्रकार हनुमान विद्याधर राजा प्रह्लादके पुत्र पवनञ्जय और उनकी पत्नी अजना सुन्दरीके औरस पुत्र थे। सूर्यको फल समझकर हनुमान द्वारा

ग्रसित किये जानेका वृतान्त इस चरितकाव्यमे नही है। हनुरुहपुरमे जन्म होनेके कारण उनका नाम हनुमान रखा गया था।

सीताकी उत्पत्ति भी हलकी नोकसे भूमि खोदे जाने पर नही हुई है। वह तो राजा जनक और उनकी पत्नी विदेहाकी स्वाभाविक औरस पुत्री थी।

हनुमान कोई पर्वत उठाकर नही लाये। वे विशल्या नामक एक स्त्री चिकित्सकको घायल लक्ष्मणकी चिकित्साके लिए सम्मानपूर्वक लाये थे।

चरितकाव्यका सबसे प्रधान गुण नायकके चरित्रका उत्कर्ष दिखलाना है। दशरथ द्वारा भरतको राज्य देनेका समाचार सुनकर राम अपने पिताको धैर्य देते हुए कहते हैं कि पिताजी आप अपने वचनकी रक्षा करे। मैं नही चाहता कि मेरे कारण आपका लोकमे अपयश हो। जब भरत राज्य ग्रहण करनेमे आनाकानी करते हैं, तब राम उन्हे अपने पिताकी विमल कीर्ति बनाये रखने और माताके वचनकी रक्षा करनेका परामर्श देते हैं। जब भरत अनुरोध स्वीकार नही करते, तो राम स्वयं ही अपनी इच्छासे वन चले जाते हैं। यह नायककी स्वाभाविक उदारताका निदर्शन है। युद्धके समय जब विभीषण रामसे कहता है कि विद्यासाधनामे ध्यानमग्न रावणको क्यो नही बन्दी बना लिया जाए, तब राम क्षात्रधर्म बतलाते हुए कहते हैं कि धर्म-कर्त्तव्यमे लगे व्यक्तिको धोखेसे बन्दी बनाना अनुचित है। परिस्थितिवश लोकापवादके भयसे राम सीताका निर्वासन करते हैं। किन्तु सीताके अग्निपरीक्षाके अनन्तर राम बहुत पछताते हैं और क्षमा याचना करते है।

रावण स्वय धार्मिक और व्रती पुरुष अंकित किया गया है। सीताकी सुन्दरता पर मोहित होकर रावणने अपहरण अवश्य किया, किन्तु सीताकी इच्छाके विरुद्ध उसपर कभी बलात्कार करनेकी इच्छा नही की। जब मन्दोदरीने बलपूर्वक सीताके साथ दुराचार करनेकी सलाह रावणको दी, तो उसने उत्तर दिया "यह सभव नही है, मेरा व्रत है कि मैं किसी भी स्त्रीके साथ उसकी इच्छाके विरुद्ध बलात्कार नहीं करूँगा"। वह सीताको लौटा देना चाहता था, किन्तु लोग कायर न समझ लें, इस भयसे नही लौटाता। उसने मनमे निश्चय किया था कि युद्धमे राम और लक्ष्मणको जीतकर परम वैभवके साथ सीताको वापस करूँगा। इससे उसकी कीर्त्तिमे कलंक नही लगेगा और यश भी उज्ज्वल हो जायगा। रावणकी यह विचारधारा रावणके चरित्रको उदात्तभूमि पर ले जाती है। वास्तवमे विमलसूरिने रावण जैसे पात्रोंके चरित्रको भी उन्नत दिखलाया है।

दशरथ रामके वियोगमे अपने प्राणोका त्याग नही करते, बल्कि निर्भय-वीरकी तरह दीक्षा ग्रहण कर तपश्चरण करते हैं। कैकेयी ईर्ष्यावश भरतको राज्य नही दिलाती, किन्तु पति और पुत्र दोनोको दीक्षा ग्रहण करते देखकर उसको मानसिक पीडा होती है। अत वात्सल्यभावसे प्रेरित हो अपने पुत्रको गृहस्थीमे बाँध रखना चाहती है। राम स्वय वन जाते हैं, वे स्वय भरतको राजा बनाते है। रामके वनसे लौटनेके पश्चात् कैकयी प्रव्रजित हो जाती है और रामसे कहती है कि भरतको अभी बहुत कुछ सीखना है। भरतके दीक्षित हो जानेपर वह घरमे नही रह पाती, इसी कारण शान्तिलाभके लिए वह दीक्षित होती है। इस प्रकार 'पउमचरिय" के सभी पात्रोका उदात्त चरित्र अकित किया गया है।

यह प्राकृतका सर्वप्रथम चरित महाकाव्य है। इसकी भाषा महाराष्ट्रीय प्राकृत है, जिसपर यत्र-तत्र अपभ्रशका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। भाषामे प्रवाह तथा सरलता है। वर्णनानुकूल भाषा ओज, माधुर्य और प्रसाद गुणसे युक्त होती गयी है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, काव्यलिङ्ग, श्लेष आदि अलकारोका प्रचुर प्रयोग पाया जाता है। वर्णन सक्षिप्त होनेपर भी मार्मिक है, जैसे दशरथके कचुकीकी वृद्धावस्था, सीताहरणपर रामका क्रन्दन, युद्धके पूर्व राक्षस सैनिको द्वारा अपनी प्रियतमाओसे विदा लेना, लंकामे वानर सेनाका प्रवेश होनेपर नागरिकोकी घबडाहट और भागदौड, लक्ष्मणकी मृत्युसे रामकी उन्मत्त अवस्था आदि। माहिष्मतीके राजाकी नर्मदामे जलक्रीडा तथा कुलाङ्गनाओ द्वारा गवाक्षोसे रावणको देखनेका वर्णन भी मनोहर है।

समुद्र, वन, नदी, पर्वत, सूर्योदय, सूर्यास्त, ऋतु, युद्ध आदिके वर्णन महाकाव्योके समान हैं। घटनाओकी प्रधानता होनेके कारण वर्णन लम्बे नही है। भावात्मक और रसात्मक वर्णनोकी कमी नही है।

इस चरित-महाकाव्यकी निम्न प्रमुख विशेषताएँ हैं

(१) कृत्रिमताका अभाव।
(२) रस, भाव और अलकारोकी स्वाभाविक योजना।
(३) प्रसगानुसार कर्कश या कोमल ध्वनियोका प्रयोग।
(४) भावाभिव्यक्तिमे सरलता और स्वभाविकताका समावेश।
(५) चरितोकी तर्कसगत स्थापना।
(६) वुद्धिवादकी प्रतिष्ठा।
(७) उदात्तताके साथ चरितोमे स्वाभाविकताका समवाय।
(८) कथाके निर्वाहके लिये मुख्य कथाके साथ अवान्तर कथाओका प्रयोग।

(९) महाकाव्योचित गरिमाका पूर्ण निर्वाह ।
(१०) सौन्दर्यके उपकरणोका काव्यत्ववृद्धिके हेतु प्रयोग ।
(११) आर्यजीवनका अकृत्रिम और साङ्गोपाङ्ग वर्णन ।
(१२) सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियोपर पूर्ण प्रकाश ।

आचार्य ऋषिपुत्र

जैनाचार्य ऋषिपुत्र ज्योतिषके प्रकाण्ड विद्वान् थे। इनके वंशादिकका सम्यक् परिचय नही मिला है। इतना ही पता चला है कि ये जैनाचार्य गर्गके पुत्र थे। गर्ग ज्योतिषशास्त्रके प्रकाण्ड विद्वान् है। इनका एक ग्रन्थ खुदाबख्श-खॉ पब्लिक लाइब्रेरी पटनामे 'पाशकेवली' नामका है। ग्रन्थ तो अशुद्ध है, पर विषयकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थकी अन्तिम प्रशस्तिमे बताया है

जैन आसीज्जगद्वद्यो गर्गनामा महामुनि. ।
तेन स्वय निर्णीति य सत्पाशात्रकेवली ॥
एतज्ज्ञान महाज्ञान जैनर्षिभिरुदाहृतम् ।
प्रकाश्य शुद्धशीलाय कुलीनाय महात्मना ॥

"गर्गोऽशुहलिका दत्वा पूजापूर्वकमथवाकुमारी भव्यास्यासने स्थापयित्वा पाशको ढालाप्यते पश्चाच्छुभाशुभ ब्रवीति इति गर्गनामामहर्षिविरचित पाशकेवली सम्पूर्ण" ।

इन पक्तियोंसे स्पष्ट है कि गर्गाचार्य ज्योतिषशास्त्रके विशेषज्ञ थे। सम्भव है कि इन्हीके वशमे आचार्य ऋषिपुत्र उत्पन्न हुए हो। जैनेतर ज्योतिष ग्रन्थ 'वाराहिसहिता' और 'अद्भुत सागर'मे इनके वचन उद्धृत हैं। इससे इनकी विद्वत्तापर प्रकाश पडता है। आचार्य ऋषिपुत्रके वचन वाराहसहिताकी भट्टोत्पलि-टीकामे भी उद्धृत है। अत इनकी प्रसिद्धिका भी इसीसे अनुमान होता है।

भट्टोत्पलि-टीकामे इनकी गणना ज्योतिषके प्राचीन आचार्य आर्यभट्ट, कणाद, काश्यप, कपिल, गर्ग, पाराशर, बलभद्र और भद्रबाहुके साथ की गयी है। इससे ऋषिपुत्र प्राचीन एव प्रभावक आचार्य ज्ञात होते हैं। सम्भवत. गर्गके पुत्र होनेके कारण ही ये ऋषिपुत्र कहे गये हैं। इनका निवासस्थान उज्जैनीके आस-पास ही प्रतीत होता है। Catalogus catalagorum मे ऋषिपुत्र-सहिता-का भी उल्लेख आया है। मदनरत्न नामक ग्रन्थमे भी ऋषिपुत्र-सहिताका कथन प्राप्त होता है। इन्हे निमित्तशास्त्र, शकुनशास्त्र तथा ग्रहोकी स्थिति द्वारा भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान कालीन फल, भूशोधन, दिक्शोधन, शल्यो-

द्वार, मेलापक, आयाद्यानयन, गृहोपकरण, गृहप्रवेश, उल्कापात, गन्धर्वनगर एव ग्रहोके उदयास्तका फल आदि बातोका प्रतिपादक कहा गया है। ऋषिपुत्र-ने अपने निमित्तशास्त्रमे जिन तत्त्वोका उल्लेख किया है या जो गणितके सकेत दिये हैं, उज्जयिनीके रेखाश और अक्षाश द्वारा घटित होते हैं। अतएव इनका जन्मस्थान उज्जयिनी होना सम्भव है।

भट्टोत्पलि-टीकामे राहुचारके प्रतिपादन-सन्दर्भमे ऋषिपुत्रके वचन निम्न प्रकार उद्धृत मिलते है

> यावतोऽशान् ग्रसित्वेन्दोरुदयत्यस्तमेति वा।
> तावतोऽशान् पृथिव्यास्तु तम एव विनाशयेत्॥
> उदयेऽस्तमये वापि सूर्यस्य ग्रहण भवेत्।
> तदा नृपभय विद्यात् परचक्रस्य चागमम्॥
> चिरं गृह्णाति सोमार्को सर्वं वा ग्रसते यदा।
> हन्यात् स्फीतान् जनपदान् वरिष्ठाश्च जनाधिपान्॥
> ग्रैष्मेण तत्र जीवन्ति नराश्चाम्बुफलेन वा।
> भयदुर्भिक्षरोगैश्च सम्पीड्यन्ते प्रजास्तथा॥

सवि० वृ० पृ० १३४-१३५

उपर्युक्त पद्य आचार्य ऋषिपुत्रके नामसे अद्भुतसागरके "राहोरद्भुतवार्त्त" नामक अध्यायमे 'अथ चिरग्राससर्वग्रासयो फलम् तत्र ऋषिपुत्र' लिखकर दो स्थानोपर उद्धृत किये गये हैं। इन श्लोकोमे "शस्यैर्न तत्र जीवन्ति नरा मूल-फलोदकै" इतना पाठ और अधिक मिलता है। इन्ही पद्योसे मिलता-जुलता वर्णन इनके "प्राकृतनिमित्तशास्त्र"मे है, पर वहाँकी गाथाए छाया नही हैं। अत इतना स्पष्ट है कि ऋषिपुत्रके ज्योतिषविषयक ग्रन्थोका प्राचीन भारतमे पर्याप्त प्रचार रहा है। उनके उत्तरकालीन आचार्यो ने इनके सिद्धान्तोको अपने ग्रन्थोमे उद्धृत कर अपने वचनोकी प्रामाणिकता घटित की है।

समय-निर्धारण

आचार्य ऋषिपुत्रके समय-निर्धारणमे भारतीय ज्योतिषशास्त्रके सहिता-सम्बन्धी इतिहाससे बहुत सहायता मिलती है, क्योकि यह परम्परा शक सवत् ४०० से विकसित रूपमे प्राप्त है। वराहमिहिरने (शक सवत् ४२७, ई० सन् ४४८) वृहज्जातकके २६वें अध्यायके ५वें पद्यमे कहा है "मुनिमतान्यवलोक्य सम्यग्घोरा वराहमिहिरो रुचिरा चकार।" इस उद्धरणसे यह स्पष्ट है कि 'वराहमिहिर'के पूर्व होरा और सहिता सम्बन्धी ग्रन्थराशि वर्त्तमान थी। यही

कारण है कि वृहज्जातकमे मय, यवन, विष्णुगुप्त, देवस्वामी, सिद्धसेन, जीवशर्मा एव सत्याचार्य आदि कई महर्पियोके वचनोकी समीक्षा की गयी है। सहितागास्त्रकी प्रौढ रचनाएँ वराहमिहिरसे आरम्भ होती हैं। वराहमिहिरके वाद कल्याणवर्माने शक सवत् ५०० के आस-पास सारावली नामक होरा ग्रन्थ वनाया, जिसमे उन्होने वराहमिहिरके समान अनेक आचार्यों के नामोल्लेखके साथ कनकाचार्य और देवकीर्त्तिराजका भी उल्लेख किया है। सहिता-सम्बन्धी अनेक विषय भी सारावलीमे पाये जाते हैं। इस युगमे अनेक जैन एव जैनेतर आचार्योने सहितासम्बन्धी प्रौढ रचनाएँ लिखी हैं। इन रचनाओकी परस्पर तुलना करने पर प्रतीत होगा कि इनमे एकका दूसरे ग्रन्थपर पर्याप्त प्रभाव है। कई विषय समानरूपमे प्रतिपादित किये गये हैं। उदाहरणके लिए गर्ग, वराहमिहिर और ऋषिपुत्रके एक-एक पद्य उद्धृत किये जाते हैं

गगिगोणितवर्णाभो, यदा भवति भास्कर.।
तदा भवन्ति सग्रामा, घोरा रुधिरकर्दमा ॥

गर्ग

शिशिरुधिरनिभे भानौ नभ स्थले भवन्ति सग्रामा.।

वराहमिहिर

ससिलोहिवण्णहोवरि सकुण इत्ति होइ णायव्वो।
सगाम पुण घोर खग्ग सूरो णिवेदेई ॥

ऋषिपुत्र

इसी प्रकार चन्द्रमा द्वारा प्रतिपादित किये गये फलमे भी समानता है। ऋषिपुत्र निमित्तगास्त्रका चन्द्रप्रकरण सहिताके चन्द्राचार अध्यायसे प्राय मिलता-जुलता है। इस प्रकारके फल प्रतिपादनकी प्रक्रिया शक सावत्की ५-६वी शताब्दीमे प्रचलित थी। वृद्धगर्गके अनेक पद्य ऋषिपुत्रके निमित्तशास्त्रसे मिलते-जुलते हैं।

कृष्णे शरीरे सोमस्य शूद्राणा वधमादिगेत्।
पीते शरीरे सोमस्य वैश्याना वधमादिगेत् ॥
रक्ते गरीरे सोमस्य राज्ञा च वधमादिशेत्।

वृद्धगर्ग

विप्पाण देइ भय वाहिरण्णो तहा णिवेदेई।
पीलो रेखत्तियणास धूसरवण्णो य वयसाण ॥३८॥
किण्हो सुद्दविणासो चित्तलवण्णो य हवइ पयहेऊ।
दहिखीरसखवण्णो सव्वम्हि य पाहिदो चदो ॥३९॥

ऋषिपुत्र निमित्तशास्त्र

उपर्युक्त तुलनात्मक विवेचनका तात्पर्य यही है कि संहिताकालकी प्राय सभी रचनाएँ विषयकी दृष्टिसे समान है। इस कालके लेखकोने नवीन बातें बहुत कम कही हैं। फलप्रतिपादनकी प्रणाली गणितपर आश्रित न होनेके कारण बाह्य निमित्ताधीन रही है। इस कालके ग्रन्थोमे भौम, दिव्य और अन्तरिक्ष, इन तीन प्रकारके निमित्तोका विशेपरूपसे वर्णन किया है। यथा

दिव्यान्तरिक्ष भौम तु त्रिविध परिकीर्त्तितम्।

अद्भुतसागर पृ० ६

वाराहीसंहितामे इन तीनो निमित्तोके सम्बन्धमे लिखा है कि "भौम चिरस्थिरभव तच्छान्तिभिराहत शममुपैति। नामसममुपैति मृदुता क्षरति न दिव्य वदन्त्येके"॥ इसी प्रकार आचार्य ऋषिपुत्रने "जे दिट्ठ भुविरसण्ण जे दिट्ठा कुहमेणकत्ताण। सदसकुलेन दिट्ठा वऊसट्ठिय एण णाणधिया"॥ इत्यादि लिखा है। अतएव संहिताकालकी उक्त रचनाओके अध्ययनसे यह स्पष्ट है कि ई० सन् ५वी–६ठी शतीमे ऋषिपुत्रने अपना निमित्तशास्त्र लिखा होगा। निमित्तशास्त्रके अतिरिक्त संस्कृतमे भी इनकी कोई संहिताविपयक रचना रही है, जिसके उद्धरण भट्टोत्पली, अद्भुतसागर, शकुनसारोद्धार, वसन्तराजशाकुन प्रभृति ग्रन्थोमे पाये जाते हैं। इन ग्रन्थोका रचनाकाल और संकलनकाल ई० सन् दशवी-ग्यारहवी शती है। अतएव ऋषिपुत्रके समयकी अवधि दशवी शती सम्भव है। गर्गाचार्य और ऋषिपुत्रकी रचनाओमे समता रहनेके कारण इनके समयकी निचली अवधि ई० सन् पाँचवी शती है। इसी प्रकार वराहमिहिरकी रचनाओके साथ समता रहनेसे भी पञ्चम शती समय आता है।

ऋषिपुत्रका समय ज्ञात करनेके लिए एक अन्य प्रमाण यह है कि अद्भुतसागरमे ऋषिपुत्रके नामसे कुछ पद्य प्राप्त होते हैं, जिससे उनका वराहमिहिरसे पूर्ववर्त्तित्व सिद्ध होता है उक्तञ्च ऋषिपुत्रेण

गर्गशिष्या यथा प्राहुस्तथा वक्ष्याम्यत परम्।
भौमभार्गवराह्वर्ककेतवो यामिनो ग्रहा॥
आक्रन्दसारिणामिन्दुर्ये शेषा नागरास्तु ते।
गुरुसौरबुधानेव नागरानाह देवल॥
परान् धूमेन सहितान् राहुभार्गवलोहितान्।

इन पद्योमे गर्गशिष्य और देवल इन दो व्यक्तियोके नामोका उल्लेख किया गया है। यहाँ गर्गशिष्यसे कौन-सा व्यक्ति अभिप्रेत है, यह नही कहा जा सकता, पर द्वितीय व्यक्ति देवलकी रचनाओके देखनेसे प्रतीत होता है कि यह वराहमिहिरके पूर्ववर्त्ती हैं, क्योंकि अद्भुतसागरके प्रारम्भमे ज्योतिषके निर्माता

आचार्योंकी नामावली कालक्रमके हिसाबसे दी गयी प्रतीत होती है। इसमें वृद्धगर्ग, गर्ग, पाराशर, वशिष्ठ, वृहस्पति, सूर्य, बादरायण, पीलुकाचार्य, नृपपुत्र, देवल, काश्यप, नारद, यवन, वराहमिहिर, वसन्तराज आदि आचार्योंके नाम आये है। इससे ध्वनित होता है कि आचार्य ऋषिपुत्र देवलके पश्चात् और वराहमिहिरके पूर्ववर्ती है। दोनोकी रचना-पद्धतिसे भी यह भेद प्रकट होता है, क्योकि विषयप्रतिपादनकी जितनी गम्भीरता वराहमिहिरमे पायी जाती है, उतनी उनके पूर्ववर्ती आचार्योमे नही।

यदि Catalogus Catalagorum के अनुसार आचार्य ऋषिपुत्रके पिता जैनाचार्य गर्ग मान लिये जायँ, तब तो उनका समय निर्विवाद रूपसे ई० सन् की चौथी शती है, क्योकि गर्गाचार्य वराहमिहिरसे कम-से-कम सौ वर्ष पहले हुए हैं। गर्गसिद्धान्तके तत्त्व उदयकालीन ज्यौतिष-तत्त्वोके समकक्ष हैं। इस हिसाबसे ऋषिपुत्रका समय ई० सन् चतुर्थ शतीका मध्य भाग आता है।

भट्टोत्पलका समय शक स० ८८८ और अद्भुतसागरके सकलयिता मिथिलाधिपति महाराज लक्ष्मणसेनके पुत्र महाराज वल्लालसेनका शक स० १०९० है। अद्भुतसागरमे वराह, वृद्धगर्ग, देवल, यवनेश्वर, मयूरचित्र, राजपुत्र, ऋषिपुत्र, ब्रह्मगुप्त, बलभद्र, युलिश, विष्णुचन्द्र, प्रभाकर आदि अनेक आचार्योंके वचन सग्रहीत है। अत निर्विवाद रूपसे आचार्य ऋषिपुत्रका समय भट्टोत्पल और वल्लालसेनके पूर्व है।

ऋषिपुत्रने प्राचीन प्राकृतमे निमित्तशास्त्रकी रचना की है, इसकी भाषा सिद्धसेनके 'सम्मइ-सुत्त'की भाषासे मिलती-जुलती है। उपसर्ग और अव्ययोके प्रयोग समान रूपमे पाये जाते हैं। ध्वनिपरिवर्तन सम्बन्धी नियम भी तुल्य हैं। ह्रस्वमात्रिक नियमका प्रयोग भी इस ग्रन्थकी भाषामे किया गया है। अतएव भाषाकी दृष्टिसे इसका रचनाकाल ई० सन् छठी-सातवी शती होना चाहिए।

ज्यौतिषविषयक ज्ञान और रचना

आचार्य ऋषिपुत्र फलितज्यौतिषके विद्वान् थे। गणितसम्बन्धी इनकी एक भी रचनाका अब तक पता नही लग सका है। उपलब्ध उद्धरण और ऋषिपुत्र निमित्तशास्त्रमे इनकी गणितविषयक विद्वत्ताका पता नही चलता है। इनकी त्रिस्कन्धात्मक ज्यौतिषमेसे केवल सहिता विषयसे सम्बद्ध रचनाएँ ही प्राप्त हैं। प्रारम्भिक रचनाएँ रहनेके कारण विषयकी गम्भीरता नही है, केवल सूत्ररूपमे ही सहिताके विषयोका ग्रथन किया गया है।

निमित्तोके तीन भेद वतलाकर फलादेश लिखा है

१. भौमिक पृथ्वी सम्बन्धी निमित्त।
२ दिव्यक आकाश सम्बन्धी निमित्त।
३. शाब्दिक विभिन्न प्रकारके सुनाई पड़नेवाले शब्दजन्य निमित्त।

आकाशसम्बन्धी निमित्तोको बतलाते हुए लिखा है

> सूरोदय अच्छमणे चदमसरिक्खगहचरिय।
> त पिच्छिय निमित्त सव्व आएसिह कुणह॥

सूर्योदयके पहले और अस्त होनेके पश्चात् चन्द्रमा, नक्षत्र, ग्रहचार एवं उल्का आदि गमन एव पतनको देखकर शुभाशुभ फलका ज्ञान करना चाहिए। इस शास्त्रमे दिव्य, अन्तरिक्ष और भौम इन तीनो प्रकारके उत्पातोका वर्णन भी विस्तारसे किया है। वर्षोत्पात, दवोत्पात, उल्कोत्पात, गन्धर्वोत्पात, इत्यादि अनेक उत्पातोके द्वारा शुभाशुभ फलका प्रतिपादन आया है। आचार्य ऋषि-पुत्रके निमित्तशास्त्रमे सबसे बडा महत्वपूर्ण विषय 'मेघयोग'का है। इस प्रक-रणमे नक्षत्रानुसार वर्षाके फलका अच्छा विवेचन किया है। प्रथम वृष्टि यदि कृत्तिका नक्षत्रमे हो, तो अनाजकी हानि, रोहिणीमे हो, तो देशकी हानि, मृग-शिरामे हो, तो सुभिक्ष, आर्द्रामे हो, तो खण्डवृष्टि, पुनर्वसुमे हो, तो एक माह वृष्टि, पुष्यमे हो, तो श्रेष्ठ वर्षा, आश्लेषामे हो, तो अन्न-हानि, मघा और पूर्वा फाल्गुनीमे हो, तो सुभिक्ष, उत्तराफाल्गुनी और हस्तमे हो, तो प्रसन्नता, विशाखा और अनुराधामे हो, तो अत्यधिक वर्षा, ज्येष्ठामे हो, तो वर्षाकी कमी मूलमे हो, तो पर्याप्त वर्षा, पूर्वाषाढ़ा-उत्तराषाढा और श्रवणमे हो, तो अच्छी वर्षा, घनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वाभाद्रपद और उत्तराभाद्रपदमे हो, तो उत्तम वृष्टि और सुभिक्ष, एव रेवती अश्विनी और भरणीमे हो, तो पर्याप्त वृष्टिके साथ अन्नभाव श्रेष्ठ रहता है और प्रजा सब तरहसे सुख प्राप्त करती है। भट्टो-त्पलि-टीकामे जो उद्धरण आये हैं उनमे सप्तमस्थ गुरु शुक्रके फलका प्रतिपादन बहुत ही रोचक और महत्वपूर्ण है। सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहणका फलादेश भी तिथि और नक्षत्रोंके क्रमसे वर्णित है। भुक्त, अभुक्त नक्षत्रोका फलादेश भी बत-लाया गया है। साराश यह है कि ऋषिपुत्रकी पूर्ण रचना एक निमित्तशास्त्र ही उपलब्ध है। विभिन्न ग्रन्थोमे उद्धरण पाये जानेसे इनकी सहिता विषयक रचनाका भी अनुमान लगाया जा सकता है।

आचार्य मानतुंग

उत्थानिका

भक्तिपूर्ण काव्यके स्रष्टा कविके रूपमे आचार्य मानतुग प्रसिद्ध हैं। इनका प्रसिद्ध

स्तोत्र 'भक्तामर' दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो सम्प्रदायोमे समानरूपसे समादृत है। भक्त-कविके रूपमे इनकी ख्याति चली आ रही है। इनकी रचना इतनी लोकप्रिय रही है, जिससे उसके प्रत्येक पद्यके प्रत्येक चरणको लेकर समस्यापूर्त्यात्मक स्तोत्रकाव्य लिखे जाते रहे हैं। भक्तामरस्तोत्रकी कई समस्यापूर्तियाँ प्राप्त हैं।

जीवन-परिचय

आचार्य कवि मानतुंगके जीवनवृत्तके सम्बन्धमे अनेक विरोधी विचारधाराएँ प्रचलित हैं। भट्टारक सकलचन्द्रके शिष्य ब्रह्मचारी 'रायमल्ल' कृत 'भक्तामरवृत्तिमे', जो कि वि० स० १६६७ मे समाप्त हुई है, लिखा है कि "धाराधीश भोजकी राजसभामे कालिदास, भारवि, माघ आदि कवि रहते थे। मानतुंगने ४८ साकलोको तोडकर जैनधर्मकी प्रभावना की तथा राजा भोजको जैनधर्मका उपासक बनाया।[1]

दूसरी कथा भट्टारक विश्वभूषणकृत 'भक्तामरचरित'मे निबद्ध है। इसमे भोज, भर्तृहरि, शुभचन्द्र, कालिदास, धनञ्जय, वररुचि और मानतुंग आदिको समकालीन लिखा है। बताया है आचार्य मानतुंगने भक्तामरस्तोत्रके प्रभावसे अड़तालीस कोठरियोके तालोको तोड़कर अपना प्रभाव दिखलाया।[2]

आचार्य प्रभाचन्द्रने 'क्रिया-कलाप'की टीकाके अन्तर्गत भक्तामरस्तोत्र टीकाकी उत्थानिकामे लिखा है

"मानतुंगनामा सिताम्बरो महाकवि. निर्ग्रन्थाचार्यवर्यैरपनीतमहाव्याधिप्रतिपन्ननिर्ग्रन्थमार्गो भगवन् किं क्रियतामिति ब्रुवाणो भगवता परमात्मनो गुणगणस्तोत्र विधीयतामित्यादिष्ट भक्तामरेत्यादि"।

अर्थात् मानतुंग श्वेताम्बर महाकवि थे। एक दिगम्बराचार्यने उनको व्याधिसे मुक्त कर दिया, इससे उन्होने दिगम्बरमार्ग ग्रहण कर लिया और पूछा भगवन्! अब मैं क्या करूँ। आचार्यने आज्ञा दी परमात्माके गुणोका स्तोत्र बनाओ। फलत आदेशानुसार भक्तामरस्तोत्रका प्रणयन किया।

विक्रम सवत् १३३४ के श्वेताम्बराचार्य प्रभाचन्द्रसूरिकृत 'प्रभावकचरित'मे मानतुंगके सम्बन्धमे लिखा[3] है ये काशी निवासी धनदेव सेठके पुत्र

१ इस वृत्तिका अनुवाद पडित उदयलाल कासलीवाल द्वारा सम्पन्न हुआ है और यह प्रकाशित है।

२ यह कथा जैन इतिहास विशारद पडित नाथूरामजी प्रेमीने सन् १९१६ ई० में बम्बईसे प्रकाशित भक्तामरस्तोत्रकी भूमिकामें लिखी है।

३ प्रभावकचरितके अन्तर्गत मानतुंगसूरिचरितम्, पृ० ११२–११७,।

थे। पहले इन्होने एक दिगम्बर मुनिसे दीक्षा ली और इनका नाम चारुकीर्ति महाकीर्ति रखा गया। अनन्तर एक श्वेताम्बर सम्प्रदायकी अनुयायिनी श्राविकाने उनके कमण्डलुके जलमे त्रसजीव बतलाये, जिससे उन्हे दिगम्बर चर्यासे विरक्ति हो गयी और जितसिंह नामक श्वेताम्बराचार्यके निकट दीक्षित होकर श्वेताम्बर साधु हो गये और उसी अवस्थामे भक्तामरस्तोत्रकी रचना की।

वि० स० १३६१ के मेरुतुंगकृत 'प्रबन्धचिन्तामणि' ग्रन्थमे लिखा है कि मयूर और बाण नामक साला-बहनोई पंडित थे। वे अपनी विद्वत्तासे एक दूसरेके साथ स्पर्धा करते थे। एक बार बाण पंडित अपने बहनोईसे मिलने गया और उसके घर जाकर रातमे द्वार पर सो गया। उसकी मानवती बहन रातमे रूठी हुई थी और बहनोई रातभर मनाता रहा। प्रात होने पर मयूरने कहा हे! तन्वगी प्राय. सारी रात बीत चली, चन्द्रमा क्षीण-सा हो रहा है, यह प्रदीप मानो निद्राके अधीन होकर झूम रहा है, और मानकी सीमा तो प्रणाम करने तक होती है। अहो! तो भी तुम क्रोध नही छोड रही हो?"

काव्यके तीन पाद बार-बार कहते सुनकर बाणने चौथा चरण बनाकर कहा हे चण्डि! कुचोके निकटवर्ती होनेसे तुम्हारा हृदय भी कठिन हो गया है।

गतप्राया रात्रि. कृशतनुशशि शीर्यत इव
प्रदीपोऽय निद्रावशमुपगतो घूर्णित इव।
प्रणामान्तो मानस्त्यजसि न तथापि क्रुधमहो
कुचप्रत्यासत्या हृदयमपि ते चण्डि! कठिनम्॥[1]

भाईके मुँहसे चौथा चरण सुनकर बहन लज्जित हो गयी और अभिशाप दिया कि तुम कुष्ठी हो जाओ। बाण पतिव्रताके शापसे तत्काल कुष्ठी हो गया। प्रात.काल शालसे शरीर ढककर राजसभामे आया। मयूरने 'वरकोढी'[2] कहकर बाणका स्वागत किया। बाणने देवताराधनका विचार किया और सूर्यके स्तवन द्वारा कुष्ठरोग दूर किया। मयूरने भी अपने हाथ-पैर काट लिये और चण्डिकाकी

१ प्रभावकचरितके कथानकमें बाण और मयूरको ससुर और दामाद लिखा है तथा उपर्युक्त श्लोकके चतुर्थ चरणमें "चण्डि"के स्थानके "सुभ्रु" पाठ पाया जाता है।

२ 'वरकोढी' प्राकृत पदका पदच्छेद करने पर 'वरक ओढी' शाल ओढकर आये हो तथा 'वरकोढी' अच्छे कुष्ठी बने हो, अर्थ निकलता है।

"मा भाक्षीविभ्रमम्" स्तुति द्वारा अपना शरीर स्वस्थ कर चमत्कार उपस्थित किया।

इन चमत्कारोके अनन्तर किसी जैनधर्मद्वेषीने राजासे कहा कि यदि जैनोमे कोई ऐसा चमत्कारी हो, तभी जैन यहाँ रहे, अन्यथा इन्हे नगर से निर्वासित कर दिया जाय। मानतुग आचार्यको बुलाकर राजाने कहा कि आप अपने देवताओके कुछ चमत्कार दिखलाइये।

आचार्य हमारे देवता वीतरागी है, उनमे क्या चमत्कार हो सकता है। जो मोक्ष चला गया है, वह चमत्कार दिखलाने क्या आयेगा। उनके किंकर देवता ही अपना प्रभाव दिखलाते है। अत यदि चमत्कार देखना है, तो उनके किंकर देवताओसे अनुरोध करना होगा। इस प्रकार कहकर अपने शरीरको ४४ हथकडियो और बेडियोसे कसवाकर उस नगरके श्रीयुगादिदेवके मन्दिरके पिछले भागमे बैठ गये। 'भक्तामरस्तोत्र'के प्रभावसे उनकी बेड़ियाँ टूट गयी और मन्दिर अपना स्थान परिवर्तित कर उनके सम्मुख उपस्थित हो गया। इस प्रकार मानतुगने जिनशासनका प्रभाव दिखलाया।

मानतुगके सम्बन्धमे एक इतिवृत्त श्वेताम्बराचार्य गुणाकरका उपलब्ध है। उन्होने भक्तामरस्तोत्रवृत्तिमे, जिसकी रचना वि० स० १४२६ मे हुई है, प्रभावकचरितके अनुसार मयूर और बाणको श्वसुर और जामाता बताया है तथा इनके द्वारा रचित सूर्यशतक और चण्डीशतकका निर्देश किया है। राजाका नाम वृद्धभोज है, जिसकी सभामे मानतुग उपस्थित हुए थे।

उपर्युक्त विरोधी आख्यानो पर दृष्टिपात करनेसे तथा बल्लालकविरचित भोजप्रबन्ध नामक ग्रन्थका अवलोकन करनेसे निम्नलिखित तथ्य उपस्थित होते हैं

१ मयूर, बाण, कालिदास और माघ आदि विभिन्न समयवर्ती प्रसिद्ध कवियोका एकत्र समवाय दिखलानेकी प्रथा १० वी शतीसे १५ वी शती तकके साहित्यमे प्राप्त होती है।

२. मानतुगको श्वेताम्बर आख्यानोमे पहले दिगम्बर और पश्चात् श्वेताम्बर माना गया है। इसी प्रकार दिगम्बर लेखकोने उन्हे पहले श्वेताम्बर पश्चात् दिगम्बर लिखा है। यह कल्पना सम्प्रदायव्यामोहका ही फल है। दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायोमे जब परस्पर कटुता उत्पन्न हो गयी और मान्य आचार्योंको अपनी ओर खीचतान होने लगी, तो इस प्रकार विकृत इतिवृत्तोका साहित्यमे प्रविष्ट होना स्वाभाविक है।

३. मानतुंगने भक्तामरस्तोत्रकी रचना की। दोनो सम्प्रदायोने अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार इस स्तोत्रको प्रतिष्ठा दी। प्रारम्भमे इस स्तोत्रमे ४८ स्तोत्र थे, जो काव्य कहलाते थे। प्राय. हस्तलिखित ग्रन्थोमे ४८ काव्य ही मिलते है। प्रत्येक पद्यमे काव्यत्व रहनेके कारण ही ४८ पद्योको ४८ काव्य कहा गया है। इन पद्योमे श्वेताम्बर सम्प्रदायने अशोकवृक्ष, पुष्पवृष्टि, दिव्य ध्वनि और चमर इन चार प्रातिहारियोके बोधक पद्योको ग्रहण किया और सिंहासन, भामण्डल, दुन्दुभि एव छत्र इन चार प्रातिहारियोके विवेचक पद्योको निकाल दिया। इधर दिगम्बर सम्प्रदायकी कुछ हस्तलिखित पाण्डुलिपियोमे श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा निकाले हुए चार प्रातिहारियोके बोधक चार नये पद्य और जोड दिये गये। इस प्रकार ५२ पद्योकी सख्या गढ ली गयी। वस्तुत इस स्तोत्रकाव्यमे ४८ ही पद्य है।

४. स्तोत्र-काव्योका महत्व दिखलानेके लिए उनके साथ चमत्कारपूर्ण आख्यानोकी योजना की गयी है। मयूर, पुष्पदन्त, बाण प्रभृति सभी कवियोके स्तोत्रोके पीछे कोई-न-कोई चमत्कारपूर्ण आख्यान विद्यमान हैं। भगवद्भक्ति, चाहे वह वीतरागीकी हो या सरागीकी, अभीष्टपूर्ति करती है। पूजापद्धतिके आरम्भके पूर्व स्तोत्रोकी परम्परा ही भक्तिके क्षेत्रमे विद्यमान थी। भक्त या श्रद्धालु पाठक स्तोत्रद्वारा भगवद्गुणोका स्मरण कर अपनी आत्माको पवित्र बनाता है। यही कारण है कि भक्तामर, एकीभाव, कल्याणमन्दिर प्रभृति स्तोत्रोके साथ भी चमत्कारपूर्ण आख्यान जुडे हुए हैं।

अतएव इन आख्यानोमे तथ्याश हो या न हो, पर इतना सत्य है कि एकाग्रतापूर्वक इन स्तोत्रोका पाठ करनेसे आत्मशुद्धिके साथ मनोकामनाकी पूर्ति भी होती है। स्तोत्रोके पढनेसे जो आत्मशुद्धि होती है, वही आत्मशुद्धि कामनापूर्तिका साधन बनती है। मानतुंग अपने समयके प्रसिद्ध आचार्य हैं और इनकी मान्यता दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनोमे है।

समय-विचार

मानतुंगके समय-निर्धारणमे उक्त विरोधी आख्यानोसे यह प्रकट होता है कि वे हर्ष अथवा भोजके समकालीन है। इन दोनो राजाओमेसे किसी एककी समकालीनता सिद्ध होनेपर मानतुंगके समयका निर्णय किया जा सकता है। सर्वप्रथम हम यहाँ भोजकी समकालीनता पर विचार करेंगे।

भोजनामके कई राजा हुए है तथा भारतीय आख्यानोमे विक्रमादित्य और भोजको सस्कृतकवियोका आश्रयदाता एव सस्कृत-साहित्यका लेखक माना गया है।

भारतीय इतिहासमे वताया गया है कि सीयक हर्षके वाद उसका यशस्वी पुत्र मुज उपनाम वाक्पति वि० स० १०३१ (ई० सन् ९७४)मे मालवाकी गद्दी पर आसीन हुआ। वाक्पति मुजने लाट, कर्णाटक, चोल और केरलके साथ युद्ध किया था। यह योद्धा तो था ही, साथ ही कला और साहित्यका सरक्षक भी था। उसने धारानगरीमे अनेक तालाव खुदवाये थे। उसकी सभामे पद्मगुप्त, धनञ्जय, धनिक और हलायुध प्रभृति ख्यातिनामा साहित्यिक रहते थे। मुजके अनन्तर सिन्धुराज या नवसाहसाक सिंहासनासीन हुआ। सिन्धुराजके अल्पकालीन शासनके वाद उसका पुत्र भोज परमारोकी गद्दी पर वैठा। इस राजकुलका यह सर्वशक्तिमान और यशस्वी नृपति था। इसके राज्यासीन होनेका समय ई० सन् १००८ है। भोजने दक्षिणी राजाओके साथ तो युद्ध किया ही, पर तुरुष्क एव गुजरातके कीर्तिराजके साथ भी युद्ध किया। मेरुतुगके अनुसार भोजने ५५ वर्ष ७ मास और ३ दिन राज्य किया है। भोज विद्यारसिक था। उसके द्वारा रचित ग्रन्थ लगभग एक दर्जन हैं। इन्ही भोजके समयमे आचार्य प्रभाचन्द्रने अपना प्रमेयकमलमार्तण्ड लिखा है श्रीभोजदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिपदप्रणामार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन निखिलप्रमाणप्रमेयस्वरूपोद्योतपरीक्षामुखपदमिद विवृतमिति[1]।

श्री पडित कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने प्रभाचन्द्रका समय ई० सन् १०५० के लगभग माना है। अत. भोजका राज्यकाल ११वी शताब्दी है।

आचार्य कवि मानतुगके भक्तामरस्तोत्रकी शैली मयूर और वाणकी स्तोत्रशैलीके समान है। अतएव शैली तथा अन्य ऐतिहासिक तथ्योके न मिलनेसे मानतुगने अपने स्तोत्रकी रचना भोजराज्यकालमे नही की है। यत भोजके समयमे मयूर और वाणका अस्तित्व सम्भव नही है। यह चमत्कारी आख्यानोसे स्पष्ट है कि मानतुग वाण-मयूरकालीन हैं और किसी न किसी रूपमे इनका सम्वन्ध वाण और मयूरके साथ रहा है।

सस्कृत-साहित्यके प्रसिद्ध इतिहासज्ञ विद्वान डॉ० ए० वी० कीयने[2] भक्तामर कथाके सम्वन्धमे अनुमान किया है कि कोठरियोके ताले या पाशवद्धता ससार-

१ प्रमेयकमलमार्तण्ड, निर्णयसागर प्रेस, वम्वई, सन् १९४१, अन्तिम प्रशस्ति पृ० २९४।

२. A History of Sanskrit Litrature 1941, Page 214-215 (Religious poetry)

वर्णनका रूपक है। इस प्रकारके रूपक छठी-सातवी शताब्दीमे अनेक लिखे गये हैं। वसुदेव-हिंडीमे गर्भवासदु ख, विषयसुख, इन्द्रियसुख, जन्म-मरणके भव आदि सम्बन्धी अनेक रूपक आये है। डॉ० कीथका यह अनुमान यदि सत्य है, तो इसका रचनाकाल छठी शताब्दीका उत्तरार्द्ध या सातवीका पूर्वार्द्ध होना चाहिये।

डॉ० कीथने यह भी अनुमान किया है कि मानतु ग वाणके समकालीन[1] हैं। सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझाने अपने 'सिरोहीका इतिहास' नामक ग्रन्थमे मानतु गका समय हर्षकालीन माना है। श्रीहर्षका राज्याभिषेक ई० सन् ६०८ मे हुआ था। अतएव मानतु गका समय ई० सन् की ७वी शताब्दीका मध्यभाग होना सम्भव है।

भक्तामरस्तोत्रके अन्तरग परीक्षणसे प्रतीत होता है कि यह स्तोत्र 'कल्याण-मन्दिर'का परवर्त्ती है। 'कल्याण-मन्दिर'के रचयिता सिद्धसेनका समय षष्ठी शताब्दी सिद्ध किया जा चुका है। अत मानतु गका समय इनसे कुछ उत्तरवर्त्ती होना चाहिये। हमारा अनुमान है कि दोनो स्तोत्रोमे उपलब्ध समता एक-दूसरेसे प्रभावित है।

'कल्याण-मन्दिर'मे कल्पनाकी जैसी स्वच्छता है, वैसी प्राय इस स्तोत्रमे नही है। अत कल्याण-मन्दिर भक्तामरके पहले की रचना हो, तो आश्चर्य नही है। यत इस स्तोत्रकी कल्पनाओका पल्लवन एव उन कल्पनाओमे कुछ नवीनताओका समावेश चमत्कारपूर्ण शैलीमे इस स्तोत्रमे हुआ है। भक्तामरमे कहा है कि सूर्यकी बात ही क्या, उसकी प्रभा ही तालाबोमे कमलोको विकसित कर देती है, उसी प्रकार हे प्रभो! आपका स्तोत्र तो दूर ही रहे, पर आपके नामकी कथा ही समस्त पापोको दूर कर देती है। यह नाम-माहात्म्य मूलत श्रीमद्भागवतसे स्तोत्र-साहित्यमे स्थानान्तरित हुआ है। यथा

> आस्ता तव स्तवनमस्तसमस्तदोष
> त्वत्सकथापि जगता दुरितानि हन्ति।
> दूरे सहस्रकिरणः कुरुते प्रभैव
> पद्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि[2] ॥

कल्याण-मन्दिरमे भी उपर्युक्त कल्पना ज्यो-की-त्यो मिलती है। बताया है कि जब निदाघमे कमलसे युक्त तालाबकी सरस वायु ही तीव्र आतापसे सतप्त

१ ए हिस्ट्री ऑफ सस्कृत लिटरेचर, पृ० २१५।

२ भक्तामरस्तोत्र, पद्य ९।

पथिकोकी गर्मीसे रक्षा करती है, तव जलाशयकी बात ही क्या, उसी प्रकार जब आपका नाम ही ससारके तापको दूर कर सकता है, तब आपके स्तोत्रके सामर्थ्यका क्या कहना ।

आस्तामचिन्त्यमहिमा जिन ! संस्तवस्ते
नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति ।
तीव्रातपोपहतपान्थजनान्निदाघे,
प्रीणाति पद्मसरस सरसोऽनिलोऽपि[1] ॥

भक्तामरस्तोत्र और कल्याणमन्दिरकी गुणगान-महत्व-सूचक कल्पना तुल्य है। दोनो ही जगह नामका महत्व है। अत एक दूसरेसे प्रभावित है अथवा दोनोने किसी अन्य पौराणिक स्तोत्रसे उक्त कल्पनाएँ ग्रहण की हैं।

भक्तामरस्तोत्रमे बतलाया है कि हे प्रभो ! सग्राममे आपके नामका स्मरण करनेसे बलवान राजाओके युद्ध करते हुए घोड़ो और हाथियोकी भयानक गर्जनासे युक्त सैन्यदल उसी प्रकार नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, जिस प्रकार सूर्यके उदय होनेसे अन्धकार नष्ट हो जाता है। यथा

वल्गत्तुरङ्गगजगर्जितभीमनाद
माजौ बल बलवतामपि भूपतीनाम् ।
उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धं
त्वत्कीर्त्तनात्तम इवाशु भिदामुपैति[2] ॥

उपर्युक्त कल्पनाका समानान्तर रूप कल्याणमदिरके ३२ वें पद्यमे उसी प्रकार पाया जाता है जिस प्रकार जिनसेनके पार्श्वाभ्युदयमे। कल्याणमदिरमे भी यही कल्पना प्राप्त होती है। यथा

यद्गर्जदूर्जितघनौघमदभ्रभीम
भ्रश्यत्तडिन्मुसलमासलघोरधारम् ।
दैत्येन मुक्तमथ दुस्तरवारि दध्रे
तेनैव तस्य जिन ! दुस्तरवारिकृत्यम्[3] ॥

इसी प्रकार भक्तामरस्तोत्रके "त्वामामनन्ति मुनय परम पुमासम्" (भक्तामर पद्य २३) और "त्वा योगिनो जिन ! सदा परमात्मरूपम्" (कल्याणमदिर पद्य १४) तुलनीय हैं।

१. कल्याणमन्दिर, पद्य ७।

१ भक्तामरस्तोत्र, पद्य ४२।

२ कल्याणमन्दिर, पद्य ३२।

उपर्युक्त विश्लेषणके प्रकाशमे इस स्वीकृतिका विरोध नही किया जा सकता कि भक्तामर और कल्याणमन्दिर दोनोकी पदावली, कल्पनाएँ एव तथ्य-निरूपण-प्रणाली समान है।

ये दोनो स्तोत्र तथ्य-विश्लेषणकी दृष्टिसे श्रीमद्भागवद् और शैलीकी दृष्टि-से पुष्पदन्तके शिवमहिम्नस्तोत्रके समकक्ष हैं।

रचना-परिचय और काव्यप्रतिभा

मानतुङ्गकी एकमात्र रचना ४८ पद्यप्रमाण भक्तामर-स्तोत्र है। यह समस्त स्तोत्र वसन्ततिलकाछन्दमे लिखा गया है। इसमे आदितीर्थङ्कर ऋषभनाथकी स्तुति की गयी है। इस स्तोत्रकी यह विशेषता है कि इसे किसी भी तीर्थङ्कर पर घटित किया जा सकता है। प्रत्येक पद्यमे उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक अलङ्कारका समावेश किया है। इसका भाषा-सौष्ठव और भाव-गाम्भीर्य आकर्षक है। कवि अपनी नम्रता प्रकट करता हुआ कहता है कि हे प्रभो! मै अल्पज्ञ बहुश्रुतज्ञ विद्वानो द्वारा हँसीका पात्र होने पर भी आपकी भक्ति ही मुझे मुखर बनाती है। वसन्तमे कोकिल स्वय नही बोलना चाहती, प्रत्युत आम्रमञ्जरी ही उसे बलात् कूजनेका निमन्त्रण देती है। यथा

> अल्पश्रुत श्रुतवता परिहासधाम
> त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्।
> यत्कोकिल किल मधौ मधुर विरौति
> तच्चाम्रचारुकलिकानिकरैकहेतुः[1]॥

अतिशयोक्ति अलकारके उदाहरण इस स्तोत्रमे कई आये हैं। पर १७ वें पद्यका अतिशयोक्ति अलङ्कार बहुत ही सुन्दर है। कवि कहता है कि हे भगवन्! आपकी महिमा सूर्यसे भी बढकर है, क्योकि आप कभी भी अस्त नही होते। न राहुगम्य हैं, न आपका महान प्रभाव मेघोसे अवरुद्ध होता है। आप समस्त लोकोको एक साथ अनायास स्पष्ट रूपसे प्रकाशित करते हैं, जब कि सूर्य राहु-से ग्रस्त या मेघोसे आच्छन्न हो जाने पर अकेले मध्यलोकको भी प्रकाशित करने-मे अक्षम रहता है। यथा

> नास्त कदाचिदुपयासि न राहुगम्य
> स्पष्टीकरोषि सहसा युगपज्जगन्ति।
> नाम्भोधरोदरनिरुद्धमहाप्रभाव
> सूर्यातिशायिमहिमासि मुनीन्द्र! लोके[2]॥

१. भक्तामरस्तोत्र, पद्य ६।

२ वही, पद्य १७।

यहाँ भगवानको अद्भुत सूर्यके रूपमे वर्णित कर अतिशयोक्तिका चमत्कार दिखलाया गया है।

कवि आदिजिनको बुद्ध, शङ्कर, धाता और पुरुषोत्तम सिद्ध करता हुआ कहता है

> बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधा
> त्वं शङ्करोऽसि भुवनत्रयशङ्करत्वात् ।
> धातासि धीर शिवमार्गविधेर्विधाना
> द्व्यक्तं त्वमेव भगवन्पुरुषोत्तमोऽसि[1] ॥

इस प्रकार इस स्तोत्र-काव्यमे भक्ति, दर्शन और काव्यकी त्रिवेणी एक साथ प्रवाहित प्राप्त होती है।

रविषेण

रविषेणाचार्य ऐसे कलाकार कवि हैं, जिन्होने संस्कृतमे लोकप्रिय पौराणिक चरितकाव्यका ग्रथन किया है। पौराणिक चरितकाव्य-रचयिताके रूपमें रवि-षेणका सारस्वताचार्योंमे महत्त्वपूर्ण स्थान है।

जीवन-परिचय

आचार्य रविषेण किस सघ या गण-गच्छके थे, इसका उल्लेख उनके ग्रन्थ 'पद्मचरित' मे उपलब्ध नही होता। सेनान्त नाम ही इस बातका सूचक प्रतीत होता है कि ये सेनसंघके आचार्य थे। पद्मचरितमे निर्दिष्ट गुरुपरम्परा-से अवगत होता है कि इन्द्रसेनके शिष्य दिवाकरसेन थे और दिवाकरसेन-के शिष्य अर्हत्सेन। इन अर्हत्सेनके शिष्य लक्ष्मणसेन हुए और लक्ष्मणसेनके शिष्य रविषेण। यथा

> ज्ञाताशेषकृतान्तसन्मुनिमन.सोपानपर्वावली
> पारम्पर्यसमाश्रितं सुवचन सारार्थमत्यद्भुतम् ।
> आसीदिन्द्रगुरोर्दिवाकरयति शिष्योऽस्य चार्हन्मुनि-
> स्तस्माल्लक्ष्मणसेनसन्मुनिरद शिष्यो रविस्तु स्मृतम् ॥
> सम्यग्दर्शनशुद्धिकारणगुरुश्रेयस्कर पुष्कलं
> विस्पष्टं परम पुराणममल श्रीमत्प्रबोधिप्रदम् ।
> रामस्याद्भुतविक्रमस्य सुकृतो माहात्म्यसङ्कीर्तन
> श्रोतव्य सतत विचक्षणजनैरात्मोपकारार्थिभि.[2] ॥

१ भक्तामरस्तोत्र, पद्य २५।

२ पद्मचरितम्, भारतीय ज्ञानपीठ सस्करण, १२३।१६८-१६९।

अर्थात् यह पद्मचरित समस्त शास्त्रोके ज्ञाता उत्तम मुनियोके मनको सोपान-परम्पराके समान नाना पर्वोकी परम्परासे युक्त है, सुभाषितोसे परिपूर्ण है, सारपूर्ण है तथा अत्यन्त आश्चर्यकारी है। इन्द्रगुरुके शिष्य श्रीदिवाकरयति थे। उनके शिष्य अर्हद्यति हुए। उनके शिष्य लक्ष्मणसेन मुनि थे और उनका शिष्य मैं रविषेण हूँ।

मेरे द्वारा रचित यह 'पद्मचरित' सम्यग्दर्शनकी शुद्धताके कारणोसे श्रेष्ठ है, कल्याणकारी है, विस्तृत है, अत्यन्त स्पष्ट है, उत्कृष्ट है, निर्मल है, श्रीसम्पन्न है, रत्नत्रयरूप बोधिका दायक है, तथा अद्भुत पराक्रमी पुण्यस्वरूप श्रीरामके माहात्म्यका उत्तम कीर्त्तन करनेवाला है, ऐसा यह पुराण आत्मोपकारके इच्छुक विद्वज्जनोके द्वारा निरन्तर श्रवण करने योग्य है।

उपर्युक्त पद्योसे रविषेणकी गुरु-परम्पराका परिज्ञान तो हो जाता है, पर उनके जन्मस्थान, बाल्यकाल, विवाहित जीवन आदिके सम्बन्धमे कुछ भी जानकारी नही हो पाती।

रविषेणने पद्मचरितके ४२ वे पर्वमे जिन वृक्षोका वर्णन किया है वे वृक्ष दक्षिण भारतमे पाये जाते हैं। कविका भौगोलिक ज्ञान भी दक्षिण भारतका जितना स्पष्ट और अधिक है उतना अन्य भारतीय प्रदेशोका नही। अतएव कविका जन्मस्थान दक्षिण भारतका भूभाग होना चाहिए।

समय-निर्धारण

आचार्य रविषेणके समय-निर्धारणमे विशेष कठिनाई नही है, क्योकि रविषेणने स्वय अपने पद्मचरितकी समाप्तिके समयका निर्देश किया है

> द्विशताभ्यधिके समासहस्रे समतीतेऽर्द्धचतुर्थवर्षयुक्ते।
> जिनभास्करवर्द्धमानसिद्धेश्चरित पद्ममुनेरिद निबद्धम्[1]॥

जिनसूर्य भगवान् महावीरके निर्वाण प्राप्त करनेके १२०३ वर्ष छः माह बीत जानेपर पद्ममुनिका यह चरित निबद्ध किया। इस प्रकार इसकी रचना वि० स० ७३४ (ई० सन् ६७७) मे पूर्ण हुई है। वीर निर्वाण स० कार्तिक कृष्णा ३० वि० स० ४६९ पूर्वसे ही भगवान् महावीरके मोक्ष जानेकी परम्परा प्रचलित है। इस तरह छ मासका समय और जोड देने पर वैशाख शुक्ल पक्ष वि० स० ७३४ रचना-तिथि आती है।

१ पद्मचरितम्, १२३।१८२।

बहिस्साक्ष्य

रविषेणके स्वयके उल्लेखोंके अतिरिक्त समकालीन और उत्तरवर्ती आचार्योंके निर्देशसे भी रविषेणके समयपर प्रकाश पडता है।

इनके उत्तरवर्ती उद्योतनसूरिने अपनी कुवलयमालामे रविषेणको पद्म-चरितके कर्त्ताके रूपमे स्मरण किया है। उद्योतनसूरिका समय ई० सन् ७७८ (वि० स० ८३५) है। प्रतीत होता है कि रविषेणकी ख्याति १०० वर्षोंमे ही पर्याप्त विस्तृत हो चुकी थी। उद्योतनसूरिने लिखा है

जेहि कए रमणिज्जे वरग-पउमाणचरिय वित्थारे।
कहव ण सलाहणिज्जे ते कइणो जडिय-रविसेणो[1] ॥

जिन्होने रमणीय एव विस्तृत वरागचरित और पद्मचरित लिखे, वे जडित तथा रविषेण कवि कैसे श्लाघ्य नही, अपितु श्लाघ्य है। हरिवशपुराणके रचयिता प्रथम जिनसेनने भी रविषेणका पद्मचरितके कर्त्ताके रूपमे स्मरण किया है

कृतपद्मोदयोद्योता प्रत्यह परिवर्त्तिता।
मूर्त्ति काव्यमयी लोके रवेरिव रवे प्रिया[2] ॥

आचार्य रविषेणकी काव्यमयी मूर्ति सूर्यकी मूर्तिके समान लोकमे अत्यन्त प्रिय है। यत सूर्य जिस प्रकार कमलोको विकसित करता है उसी प्रकार रवि-षेणने पद्म रामके चरितको विस्तृत किया है। आचार्य जिनसेनने हरिवशपुराण-की रचना वि० स० ८४०मे की है। इससे स्पष्ट है कि रविषेण वि० स० ८४० से पूर्ववर्ती हैं और यशस्वी कवि है। अत बहिसाक्ष्य भी रविषेणद्वारा स्वय सूचित समयके साधक हैं।

रचना-परिचय और काव्य-प्रतिभा

पद्मचरितमे पुराण और काव्य इन दोनो के लक्षण सम्मिलित है। विमल-सूरिकृत प्राकृत पउमचरियमुका आधार रहनेपर भी इसमे मौलिकताकी कमी नही है। कथानक और विषयवस्तुमे पर्याप्त परिवर्तन किया है। वस्तुत इस ग्रन्थका प्रणयन उस समय हुआ है जब सस्कृतमे चरित-काव्योकी परम्पराका पूर्ण विकास नही हुआ था। इसमे वन, नदी, पर्वत, ग्राम, ऋतु-वर्णन, सध्या, सूर्योदय आदिका चित्रण महाकाव्यके समान ही किया गया है। कथाका आयाम पर्याप्त विस्तृत है। पद्म रामके कई जन्मोकी कथा तथा उनके परिकरमे निवास

१ कुवलयमाला-अनुच्छेद-६, पृ०—४।
२ हरिवशपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ सस्करण, १।३४।

करनेवाले सुग्रीव, विभीषण, हनुमानकी जीवन-व्यापी कथा भी इस चरित-काव्यमे सम्बद्ध है। कतिपय पात्रोंके जीवन-आख्यान तो इतने विस्तृत आये हैं, जिससे उन्हे स्वतत्र काव्य या पुराण भी कहा जा सकता है।

आधिकारिक कथावस्तु मुनि रामचन्द्रजीकी है और अवान्तर या प्रासगिक कथाएँ वानर-वश या विद्याधर-वशके आख्यानके रूपमे आयी हैं। इन दोनो वशोका कविने बहुत विस्तृत वर्णन किया है। यही कारण है कि चरितकाव्यके समस्त गुण इस ग्रन्थमे समाविष्ट है। अगीरूपमे शान्त रसका परिपाक हुआ है। शृगारके सयोग और वियोग दोनो ही पक्ष सीता-अपहरण एव राम-विवाह-के अनन्तर घटित हुए हैं। करुण-रसके चित्रणमे अभूतपूर्व सफलता मिली है। युद्धमे भाई-बधुओके काम आनेपर कुटुम्बियोके विलाप पाषाणहृदयको भी द्रवीभूत करनेमे समर्थ हैं। वर्णनोके चित्रणमे कविको पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। नर्मदाका रमणीय दृश्य अनेक उत्प्रेक्षाओ द्वारा चित्रित हुआ है। नर्मदा मधुरशब्द करनेवाले नानापक्षियोके समूहके साथ वार्तालाप करती हुई-सी प्रतीत होती है। फेनके समूहसे वह हँसती हुई-सी मालूम पडती है। तरग-रूपी भृकुटीके विलासके कारण वह क्रुद्ध होती हुई नायिका-सी, आवर्तरूपी बुद्‌बुदोसे युक्त नायिकाकी नाभि जैसी, विशाल तटोसे युक्त स्थूल नितम्ब जैसी एव निर्मल जल-वस्त्र जैसे प्रतीत होते थे।

इस ग्रन्थमे १२३ पर्व हैं। इसे छह खण्डोमे विभक्त किया जा सकता है

१ विद्याधरकाण्ड
२ जन्म और विवाहकाण्ड
३ वन-भ्रमण
४. सीता-हरण और उसका अन्वेषण
५ युद्ध
६ उत्तरचरित

संक्षिप्त कथावस्तु

भगवान महावीरके प्रथम गणधर गौतमस्वामीको नमस्कार कर, उनसे रामकथा जाननेकी इच्छा प्रकट करनेपर, गौतमस्वामीने यह रामकथा कही है।

कथारम्भमे १. विद्याधरलोक २. राक्षसवश ३ वानरवश ४ सोमवश ५ सूर्यवश और ६. इक्ष्वाकुवशके वर्णनके पश्चात् कथास्रोत सरिताकी वेगवती धाराके समान आगे बढता है।

रावणका जन्म (७–८ पर्व) राक्षसवशी राजा रत्नश्रवा तथा महारानी

केकसीको रावण, कुम्भकर्ण और विभीषण नामक तीन पुत्र एवं चन्द्रनखा नामक पुत्रीका लाभ हुआ। ये चारों सन्तानें पैदा होते ही अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार अपनी-अपनी महत्ताका संकेत देने लगी। रत्नश्रवाने जन्मके समय ही रावणको दिव्यहारसे युक्त एव मौलिक मालामें प्रतिबिम्बित, उसके एक ही सिरके दश प्रतिबिम्ब दिखलाई पडनेके कारण उसका नाम दशानन रखा।

विद्यासिद्धि (८ वा पर्व) अपने मौसेरे भाई इन्द्रकी विभूतिका श्रवण कर उसे परास्त करनेका लक्ष्य रखकर वे तीनों भाई विद्यासिद्धि हेतु घनघोर तपश्चरण करने लगे। अन्तमे अपनी दृढता एव एकाग्रता और निर्मोहिता एव निर्भीकताके कारण उन तीनों भाइयोने अनेक विद्याओको सिद्ध कर लिया। अपनी सफलताका प्रारम्भिक चरण मान वे तीनो भाई दिग्विजयकी तैयारी करने लगे।

दक्षिण विजय (९-११ पर्व) रथनूपुरका राजा इन्द्र अत्यन्त शक्तिशाली था। अत. उसे परास्त करनेके उद्देश्यसे इन्होने आक्रमणकी तैयारी की। रावणने अपनी वीरता और कुशलतासे इन्द्रके सहायक यम, वरुण आदिको तो पहले ही परास्त कर दिया था। अब उसकी दृष्टि इन्द्रपर ही था। इन्द्र मानव होते हुए भी अपने लिये इन्द्र ही समझ रहा था। इसी कारण उसने प्रान्तीय शासकोंको यम, वरुण, सोम आदि सज्ञाओसे अभिहित किया था। उसने कारागारको नरकसज्ञा और अर्थमत्रीको कुवेरसज्ञा अभिहित की थी। रावणने समस्त सावनपूर्ण सेना लेकर किष्किन्धापुरके राजा बलिको अपमानित किया और उसके साधुभाई सुग्रीवको अपना मित्र बनाया।

रथनूपुरके चारो ओर मायामयी परकोटा बना हुआ था। उसकी रक्षा अनेक विद्याधरोके साथ नलकूवर करता था। यह परकोटा अभेद्य था। इसके भेदनका परिज्ञान नलकूवरकी पत्नीको ज्ञात था और यह नारी रावणके रूपको देखते ही मोहित हो गयी। रावणने झूठा आश्वासन देकर परकोटाभेदनका उपाय ज्ञात कर लिया और अन्तमे विजयके पश्चात् नलकूवरको वहाँका राजा नियुक्त कर उसकी पत्नीको माँ शब्दसे सम्बोधित कर एवं पतिव्रता बने रहनेका उपदेश दे, वहाँसे आगे बढ़ा। अनेक प्रकारसे युद्ध होनेके पश्चात इन्द्र अपने मन्त्रिमडल सहित बदी बना लिया गया, पर उसके पिता सहस्रारके अनुरोध पर रावणने उसे मुक्त किया और अपनी महत्ताका उदाहरण प्रस्तुत किया।

हनुमान-जन्म (१५-१८ पर्व)

आदित्यपुरके राजा प्रह्लादके पुत्र पवनञ्जयका विवाह राजा महेन्द्रकी पुत्री

अंजनासे हुआ। पवनञ्जय उसकी सुन्दरतासे आकृष्ट होनेपर भी, अंजनाकी एक सखी द्वारा अपनी निन्दा सुनकर वह अजनासे रुष्ट हो गया और विवाह हो जानेपर उसने अजनाका परित्याग कर दिया। जब पवनञ्जय रावणको किसी युद्ध मे सहायता देनेके लिये जा रहा था, तो उसका शिविर एक नदीके तट पर स्थित हुआ। यहाँ चकवाके वियोगमे एक चकवीको विलाप करते देख, उसे अजनाकी स्मृति हो आयी और अपने किये कार्यो पर पश्चात्ताप करने लगा। वह सेनाको वही छोड रात्रिमे ही अजना के पास चला आया। प्रथम मिलनके फलस्वरूप अंजना गर्भवती हुई। पवनञ्जय प्रभात होने के पूर्व ही बिना किसी-से कहे-सुने अजनाके भवनसे चला गया। अजनाकी सास तथा अन्य परिवारके व्यक्तियोने जब उसके गर्भवतीके चिह्न देखे, तो परिवारके अपवादके भयसे उन्होने अजनाको घरसे बाहर निकाल दिया। वह दर-दर भटकती हुई एक निर्जन वनमे पहुँची। यहाँ उसने एक पुत्रको जन्म दिया। इसी समय आकाश-मार्गसे राजा प्रतिसूर्य जा रहा था। उसने जब एक नारीका करुण चीत्कार सुना, तो उसका हृदय पिघल गया और नीचे आकर परिचय जानना चाहा। इस परिचयके क्रममे जब उसे यह मालूम हुआ कि यह उसकी भाजी है, तो उसे अपार हर्ष हुआ और उसे पुत्रसहित लेकर अपने घर हनुरुह द्वीपमे चला आया। मार्गमे चलते हुए हनुमान अपने बाल्य-चाचल्यके कारण विमानसे नीचे गिर पडे, पर हनुमानको चोट न लगी और जिस शिला पर वे गिरे थे वह शिला चूर-चूर हो गयी। हनुरुह द्वीपमे बालकके सस्कार सम्पन्न किये गये। इसी कारण इसका नाम हनुमान रखा गया।

युद्धमे विजय प्राप्त करनेके पश्चात् पवनञ्जय घर वापस लौटा, पर अज-नाको न पाकर तथा उसके अपवादको ज्ञातकर उसे अपार वेदना हुई। फलत. वह घर छोडकर वनकी खाक छानने चल दिया। वह वन-वन भटकता हुआ, वृक्ष और लताओसे अजनाका पता पूछता हुआ उन्मत्तकी तरह भ्रमण करने लगा। कुछ समय पश्चात् वह भ्रमण करता हुआ हनुरुह द्वीप पहुँचा और वहाँ अपनी पत्नी और पुत्रको देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ तथा सभीके साथ आदित्यपुर लौट आया।

चन्द्रनखाका विवाह खरदूषण नामक राक्षसके साथ हुआ और इस दम्पतिके शबूक नामक पुत्र उत्पन्न हुआ।

राजा दशरथका जन्म (१९–२१ पर्व) इक्ष्वाकुवंशमें अयोध्याके राजा अजके यहाँ दशरथका जन्म हुआ। दशरथका जन्म उत्तम नक्षत्र और उत्तम

मुहूर्तमे हुआ। फलस्वरूप यह जन्मसे ही वीर, प्रतापी और यशस्वी था। इनकी तीन रानियाँ थी।

(क) दर्पपुरके राजाकी पुत्री अपराजिता या कौशल्या।
(ख) पद्मपत्र नगरके राजा तिलबन्धुकी पुत्री सुमित्रा
(ग) रत्नपुरके राजाकी पुत्री सुप्रभा

एक दिन रावणको किसीसे विदित हुआ कि उसकी मृत्यु राजा जनक और दशरथकी सन्तानोके द्वारा होगी। अत. रावणने अपने भाई विभीषणको मिथिलानरेश जनक और अयोध्यानरेश दशरथको मारनेके लिए भेजा, पर विभीषणके आनेके पूर्व ही नारदने उन दोनोको सचेत कर दिया था। जिससे वे दोनो अपने-अपने भवनोमे अपने-अपने अनुरूप कृत्रिम मूर्ति छोडकर बाहर निकल गये। विभीषणने इन पुतलोको ही सचमुचका जनक और दशरथ समझा और उन्हीका मस्तक काटकर समुद्रमे गिरा दिया तथा वापस लौटकर लकामे वैभवपूर्वक राज्य करने लगा।

राजा दशरथकी विजय एवं कैकेयीसे परिणय (२१–२५ पर्व) भ्रमण करते हुए राजा दशरथ अनेक सामन्तोके साथ केकय देश पहुँचे और वहाँकी राजपुत्री कैकेयीको स्वयम्वरमे जीत लिया। स्वयवरमे समागत राजाओने इन्हे अज्ञातकुलशील समझकर इनको युद्ध करनेका निमन्त्रण दिया। दशरथने रणभूमिमे उतरकर वीरतापूर्वक युद्ध किया और कैकेयीने उनके रथका सचालन किया। जिससे महाराज दशरथ बहुत प्रसन्न हुए और उन्होने कैकेयीसे वर माँगनेको कहा। समय पाकर चारो रानियोको चार पुत्र उत्पन्न हुए। कौशल्याने राम, सुमित्राने लक्ष्मण, कैकेयीने भरत और सुप्रभाने शत्रुघ्नको जन्म दिया।

सीताका जन्म (२६–३० पर्व) राजा जनकके यहाँ सीता नामक पुत्री और भामण्डल नामक पुत्रने जन्म लिया। पूर्वजन्मकी शत्रुताके कारण किसी विद्याधरकुमारने भामण्डलका अपहरण किया और उसे वनमे छोड़ दिया। इस कुमारका लालन-पालन चन्द्रगति नामक विद्याधरने किया। नारद किसी कारणवश सीतासे रुष्ट हो गये और उसका एक सुन्दर चित्रपट तैयार कर भामण्डलको भेंट किया। भामण्डल सीताके सुन्दर रूपको देखते ही आसक्त हो गया और विद्याधरो सहित मिथिला पर आक्रमण कर दिया, पर मनोहर नगर और वाटिकाको देखते ही उसे जातिस्मरण हो गया और उसे यह ज्ञात हो गया कि सीता उसकी सहोदरा है। अतएव उसने जनकके समक्ष अपना परिचय प्रस्तुत किया तथा उन्हें सीताका स्वयम्वर करनेका परामर्श दिया।

स्वयम्वरमें वज्रावर्त धनुषको चढ़ानेकी शर्त रखी गयी। अन्य राजाओंके असमर्थ रहने पर रामने इस धनुषको चढ़ाया और सीताके साथ उनका विवाह सम्पन्न हुआ।

रामके बड़े होने पर दशरथको संसारसे विरक्ति हो गयी और वे रामको राजा बनाकर स्वयं मुनिदीक्षा ग्रहण करनेकी तैयारी करने लगे। जब कैकेयीको यह समाचार ज्ञात हुआ, तो उसने अपने सुरक्षित वरको माँग लिया, जिसके अनुसार भरतको अयोध्याका राज्य और रामको वनवास दिया गया।

३ वनभ्रमण

(क) **रामका वनवास** (४१ वां पर्व) राम लक्ष्मण और सीताके साथ दक्षिण दिशाकी ओर चल दिये। मार्गमें कितने ही त्रस्त राजाओंका अभयदानद्वारा उद्धार किया। कैकेयी और भरत वनमें जाकर रामको लौट आनेका अनुरोध करने लगे, पर पिताकी इच्छाके विरुद्ध कार्य करना रामने स्वीकार नहीं किया।

(ख) **युद्धोंका वर्णन** (४२ वां पर्व) राम-लक्ष्मणने यहाँ पर अनेक शत्रुओं, धर्मविरोधियों, पापियों और अन्यायी अत्याचारियोंको सही मार्ग पर न आनेके कारण यमलोक भेज दिया। राजा वज्रकर्णको सिंहोदरके चक्रसे बचाया, वाल्याविल्यको म्लेच्छके कारागारसे मुक्त किया एवं भरतका विरोध करनेवाले अतिवीर्यका नर्तकीका वेशधारण कर लक्ष्मणने उसका मान खण्डित किया। लक्ष्मणका अनेक राजकुमारियोंके साथ विवाह हुआ। दण्डकवनमें निवास करते हुए राम-लक्ष्मणने मुनिको आहारदान दिया और जटायु नामक वृद्ध तपस्वीसे सम्पर्क स्थापित किया।

(ग) **शम्बूकमरण एवं खरदूषणसे युद्ध** (४३–४४ पर्व) सूर्यहास नामक तलवारको पाने हेतु खरदूषणका पुत्र शम्बूक तपस्या कर रहा था, किन्तु भ्रमवश बाँसोंके भिंडेमें छिपे हुए शम्बूकका लक्ष्मण द्वारा अस्त्रपरीक्षासे मरण हो गया। विलाप करती हुई उसकी माता चन्द्रनखा लक्ष्मणके रूपसे मोहित होकर कामतृप्तिकी भिक्षा माँगने लगी, किन्तु उसमें असफलता देख, पतिसे लक्ष्मणपर बलात्कारका दोषारोपण कर युद्ध करनेका अनुरोध किया। दोनों पक्षोंमें भयंकर युद्ध हुआ, खरदूषण आदि अनेक राक्षस यमपुरी पहुँचा दिये गये।

४ **सीताहरण और अन्वेषण** (४५–५५ पर्व) अपने बहनोईकी सहायता करनेके हेतु आया हुआ रावण सीताके अनिन्द्य लावण्यको देखकर मोहित हो

गया। उस समय राम-लक्ष्मण बाहर गये हुए थे। अत बलात् उसका अपहरण कर, अपने पुष्पक विमानमे बैठाकर लकाकी ओर चल दिया। मार्गमे जटायु एव रत्नजटी नामक विद्याधरोसे युद्ध करना पडा, पर इस युद्धमे रावणकी ही विजय रही।

राम जब युद्ध समाप्त कर वापस लौटे, तो कुटियाको सीतासे शून्य देखकर विलाप करने लगे। रामने अपने कार्यके सिद्धयर्थ वानरवशी राजा सुग्रीवसे मित्रता की और उनकी सहायतासे सीताका पता लगाया।

५ युद्ध (५६–७८ पर्व) सुग्रीव आदि विद्याधरोकी सहायतासे रामकी समस्त सेना आकाशमार्ग द्वारा लका पहुँच गयी और रामने भयकर युद्ध आरम्भ किया। सर्वप्रथम रामने रावणके पास सन्धिका प्रस्ताव भेजा, पर उसने उसे अस्वीकार कर दिया। रावणके अनैतिक व्यवहारसे दुखी होकर विभीषण भी रामसे आकर मिल गया और रामने विभीषणको लकाका राज्य देनेका सकल्प कर लिया। दोनो ओरसे भयकर युद्ध हुआ और अन्तमे पापपर पुण्यकी विजय हुई। रामने रावणका वध कर पृथ्वीको निष्कटक बनाया।

६. उत्तरचरित

(क) राज्योका वितरण एवं सीतात्याग (७९–१०३ पर्व) रावणकी मृत्युके पश्चात् राम-लक्ष्मणने लकावासियोका आश्वासन दिया और युद्धसे अस्त-व्यस्त लकाकी स्थितिको सम्भाला। अनन्तर अयोध्या लौट आनेपर अपने राज्यका समुचित बँटवारा किया।

समय पाकर सीता गर्भवती हुई किन्तु दुर्भाग्यसे रावणके यहाँ निवास करनेके कारण प्रजा द्वारा निन्दा होनेसे, रामने सीताका निर्वासन कर दिया। सीता वन-वन भ्रमण करने लगी, उसने वज्रजघ मुनिके आश्रममे लव और कुशको जन्म दिया।

(ख) अग्निपरीक्षा (१०४–१०९ पर्व) दिग्विजयके समय लव और कुशका राम-लक्ष्मणके साथ घनघोर युद्ध हुआ। नारदने उपस्थित होकर राम-लक्ष्मणको लव और कुशका परिचय कराया। अग्निपरीक्षा द्वारा सीताकी शुद्धि की गयी। सीताके शीलके प्रभावसे अग्निका दहकता कुण्ड शीतल जल बन गया। रामने सीतासे पुनः गृहावासमे सम्मिलित होनेका अनुरोध किया, पर सीताने अनुरोधको ठुकरा दिया और आर्यिकाका व्रत ग्रहण कर लिया तथा तपश्चरण द्वारा द्वादशम स्वर्गका लाभ किया।

नारायण और बलभद्रके प्रेम-सौहार्दकी चर्चा स्वर्गलोक तक व्याप्त हो गयी। अतएव परीक्षार्थ दो देव अयोध्या आये और लक्ष्मणसे रामके मरणका असत्य समाचार कहा। लक्ष्मण सुनते ही निष्प्राण हो गये, इस समाचारसे राम अत्यन्त दुःखित हुये और लक्ष्मणके मोहमे उनके शवको लिये हुए छ मास तक घूमते रहे। अन्तमे कृतान्तवक्रके जीवने, जो स्वर्गमे देव हुआ था, रामको समझाया। रामने लक्ष्मणके शवकी अन्त्येष्टि क्रिया की और राम जिनदीक्षा लेकर तपश्चरण द्वारा मोक्ष पधारे।

समीक्षा

इस कथावस्तुमे घटनाओ और आख्यानोका नियोजन बड़े ही सुन्दररूपमे किया गया है। चरित-काव्यकी सफलताके लिए कथानकका जैसा गठन होना चाहिये वैसा इस ग्रन्थमे उपलब्ध है। कालक्रमसे विशृंखलित घटनाओको रीढकी हड्डीके समान दृढ़ और सुसगठित रूपमे उपस्थित किया है। रामकी मूलकथाके चारो ओर अन्य घटनाएँ लताके समान उगती, बढती और फैलती हुई चली हैं। कथानकोका उतार-चढाव पर्याप्त सुगठित है। पात्रोके भाग्य बदलते हैं। परिस्थितियाँ उन्हे कुछसे कुछ बना देती हैं। वे जीवनसघर्षमे जूझकर धर्षणशील रूपकी अवतारणा करते हैं। निस्सदेह रविषेणने कथानक-सूत्रोको कलात्मक ढगसे सजोया है।

पद्मचरितकी कथावस्तुमे निम्नलिखित तत्त्व उपलब्ध है

(क) योग्यता
(ख) अवसर
(ग) सत्कार्यता
(घ) रूपाकृति

योग्यता

कथानकको अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियोकी ओर मोडना योग्यताके अन्तर्गत आता है। रावणद्वारा 'दशरथ-जनक-सतति विनाशका कारण होगी' ऐसी शका होने पर उनके विनाशकी योजना, साहसगति विद्याधर द्वारा सुग्रीवका वेष बनाकर उसके राज्य पर आधिपत्य करना, रामके वनवासमे छायाके समान लक्ष्मण द्वारा भाईकी सेवा करना आदि प्रसगोके गठनमे कविने योग्यतातत्त्वका समावेश किया है। रावणका राम-लक्ष्मणको बलिष्ठ समझ अपने भाई एव पुत्रोके बन्दी होने पर विजयप्राप्त्यर्थ बहुरूपिणी विद्याको सिद्ध करनेके लिए प्रस्तुत होना कथानकको प्रतिकूलसे अनुकूल परिस्थितियोकी ओर

मोड़ना है। इसी प्रकार अग्निपरीक्षामे अग्नि-कुण्डका जल-कुण्ड होना भी योग्यतातत्त्वके अन्तर्गत है।

अवसर

रसपुष्टिके लिए यथासमय रसमय प्रसग या सन्दर्भोका प्रस्तुतीकरण कथानकनियोजनमे अवसरतत्त्व है। पवनञ्जय विलाप करती हुई अजनापर, दृष्टिपात भी नही करता है, किन्तु सूर्यास्तके समय पतिवियोगमे विलपती हुई चकवीको देखकर अजनाकी मानसिक स्थितिका अनुमान लगा, पवनञ्जयका युद्धके लिए जाते हुए मार्गमेसे लौट आना अवसरतत्त्वके अन्तर्गत है। इसी प्रकार भरतद्वारा रामसे राज्य करनेका आग्रह करनेपर भी रामकी अस्वीकृतिके कारण उन्हीकी आज्ञासे निश्चित्त समय तक राज्य स्वीकार करना भी कथानकका अवसरतत्त्व है। रथनूपुरके मायामयी परकोटेको तोडनेके लिए नलकूवरकी पत्नीका प्रसाधन भी अवसरतत्त्वके अन्तर्गत है।

सत्कार्यता

सत्कार्यतासे तात्पर्य इस प्रकारसे सदर्भोके संयोजनसे है, जो स्वतन्त्ररूपमे अपना अस्तित्व रखकर प्रसगगर्भत्वको प्राप्त हो किसी कार्यविशेषकी अभिव्यजना करते हैं। रावणद्वारा विद्यासिद्धिहेतु तपस्या करना, देवोका उपद्रव कर उसको अपने लक्ष्यसे विचलित करनेका प्रयत्न करना, दशरथद्वारा कैकेयीको स्वयम्वरमे प्राप्त कर, युद्धमे सहयोग देनेपर वर प्रदान करना आदि प्रसग स्वतन्त्र होते हुए भी मूलकथानकमे गर्भित होकर कार्यविशेषकी अभिव्यजना कर रहे हैं।

रूपाकृति

कथावस्तुमे इतिवृत्तका वस्तुव्यापारोके साथ उचित एवं सतुलितरूपमे नियोजन द्वारा रूपाकृति उपस्थित करना, रूपाकृति नामक तत्त्व है। मूल कथानकके साथ अवान्तर कथाओका सम्मिश्रण अंग-अगीभाव द्वारा करना ही इस तत्त्वका कार्य है। कवि कथावस्तुका विस्तार न करके छोटी-छोटी कथाओ द्वारा भी रूपाकृति तत्त्वका नियोजन कर सकता है। 'पद्मचरितम्' मे राम-लक्ष्मण वनमे निवास करते हैं, लक्ष्मणद्वारा शम्बूकका वध हो जाता है। शोकाकुलित उसकी माता चन्द्रनखा राम-लक्ष्मणको देखकर मोहित हो, अभिलाषाकी पूर्ति न होनेपर रुष्ट हो जाती है और अपने पतिसे उल्टा-सीधा भिड़ा देती है। इस प्रकारकी अवान्तरकथाएँ पद्मचरितमें कई दशक हैं। इन अवान्तरकथाओका

वस्तुव्यापारोके साथ अग-अगीभावसे सयोजन किया गया है। अतएव रूपाकृतितत्त्वका पूर्ण समावेश हुआ है।

रविषेणने कथा-वस्तुके साथ वानरवश, राक्षसवश आदिकी व्याख्याएँ भी बुद्धिसंगत की हैं। नि सन्देह कविका यह ग्रन्थ प्राकृत 'पउमचरियं' पर आधृत होनेपर भी कई मौलिकताओकी दृष्टिसे अद्वितीय है।

वानरवशकी उत्पत्तिके सम्बन्धमे वाल्मीकिने लिखा है कि ब्रह्माका निर्देश पाकर अनेक देवताओने अप्सराओ, यक्ष, ऋक्ष, नागकन्याओ, किन्नरियो, विद्याधरियो एव वानरियोके संयोगसे सहस्रो पुत्र उत्पन्न किये। माता-पिताके प्राकृतिक गुणोसे युक्त होनेके कारण ये स्वभावत साहसी, पराक्रमी, धर्मात्मा, न्यायनीतिप्रिय एव तेजस्वी हुए। ब्रह्मासे जामवान, इन्द्रसे वलि, सूर्यसे सुग्रीव, विश्वकर्मासे नल, अग्निसे नील, कुबेरसे गन्धमादन, बृहस्पतिसे तार, अश्वनीकुमारोसे मयन्द और द्विविन्द, वरुणसे सुपेण एव वायुसे हनुमानकी उत्पत्ति हुई।

रविषेणके मतानुसार देवताओसे वानरोकी उत्पत्ति नही हुई है,[1] न वानर और देवताओका शारीरिक सयोग सम्बन्ध ही सिद्ध होता है। अत ब्रह्मा, इन्द्र, सूर्य, विश्वकर्मा, नल, अग्नि, कुबेर, वरुण, पवन आदि तत्तद् नामधारी मानवव्यक्तिविशेष है। इन व्यक्तिविशेषोसे ही वानरजातिके व्यक्ति पैदा हुए हैं।

रविपेणके मतमे वानर एक मानवजातिविशेष हैं। जिन विद्याधर राजाओने अपना ध्वज-चिह्न वानर अपना लिया था, वे विद्याधर राजा वानरवशी कहलाने लगे।[2] वानर पशु नही हैं, मनुष्य हैं जो विद्याधरो या भूमिगोचरियोके रूपमे वर्णित हैं। इस प्रकार रविषेणने वाल्मीकिद्वारा कल्पित पशुजातिका मानवीकरण किया है।

इसी प्रकार राक्षसवशके सम्बन्धमे भी रविषेणकी मान्यता वाल्मीकिसे भिन्न है। रविपेणने जिस प्रकार वानरद्वीपनिवासियोको वानरवशी माना है[3], उसी प्रकार राक्षसद्वीपवासियोको राक्षसवशी कहा है। बताया है कि विजयार्द्धके पश्चिममे एक द्वीप है, जहाँ विद्याधर राजाओका निवास है। उस द्वीपका नाम राक्षस द्वीप है। अत वहाँके निवासी राक्षस कहलाने लगे हैं। अमराख्य और भानुराख्य नामक तेजस्वी राजाओकी परम्परामे मेघवाहन नामक पुत्रने जन्म लिया। इसके राक्षसनामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो अत्यन्त

१ पद्मचरितम् ६।१३३, ६।७०-७१, ६।७२-७५।
२ वही ६।२१४, ६।१८२–१८६।
३ वही ५।३८५।

प्रभावशाली एवं स्वयंशाभिलाषी हुआ[1]। इस राक्षस राजासे प्रवर्तित वंश राक्षस-वंश कहलाने लगा। ये राक्षस जनसाधारणकी रक्षा करते थे, इसलिये भी राक्षस कहलाने लगे। अतएव रावणको राक्षस मानना भूल है। ये सम्भ्रान्त मानव थे, राक्षस नहीं। इस प्रकार कविने राक्षस और वानरवंशकी विशिष्ट व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं।

छन्द, अलंकार आदिकी दृष्टिसे भी यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। इसमें ४१ प्रकारके छन्दोंका व्यवहार किया गया है।

क्रमसं०	नामछन्द	संख्या
१	अनुष्टुप्	१६४४०
२	अतिरुचिरा	५
३	अपरवक्त्र	१
४	अश्वललितम्	१
५	आर्या	१२
६	आर्यावृत्तम्	८
७	आर्याछन्द	४९
८	आर्यागीति	२७
९	इन्द्रवज्रा	१२
१०	इन्द्रवदना	२
११	उपजाति	१३४
१२	उपेन्द्रवज्रा	३३
१३	कोकिलकच्छन्द	१
१४	चण्डी	१
१५	चतुष्पदिका	२
१६	द्रुतविलम्बित	१०
१७	दोधक	१०
१८	त्रोटक	१
१९	पृथ्वी	३
२०	प्रहर्षिणी	१
२१	पुष्पिताग्रा	६
२२	प्रमाणिका	१
२३	भद्रक	१

१. पद्मचरित, ५।३८६।

क्रमसं०	नामछन्द	संख्या
२४	भुजंगप्रयात	५
२५	मन्दाक्रान्ता	१५
२६	मत्तमयूर	१
२७	मालिनी	२१९
२८	रथोद्धता	४
२९	रुचिरा	७
३०	वंशस्थ	२५
३१	वसन्ततिलका	६
३२	वियोगिनी	७
३३	विद्युन्माला	१
३४	वंशपत्रपतितम्	१
३५	स्रग्धरा	५
३६	शार्दूलविक्रीडितम्	२५
३७	शालिनी	७
३८	शिखरिणी	३
३९	स्रक्छन्द	१
४०	हरिणी	१

इस ग्रन्थमे इक्कीस छन्द इस प्रकारके आये हैं, जिनका निर्धारण सम्भव नही है। यथा १७।४०५-४०६, ४२।३७, ६४, ७७; ११२।९५, ९६, ११४।५४, ५५, १२३।१७०-१७९,१८१,१८२। रविषेणाचार्यने संगीतात्मक संगीत विकासके लिये छन्दोयोजना की है। यत विशिष्ट भावोकी अभिव्यक्ति विशिष्ट छन्दोके द्वारा ही उपयुक्त होती है। लयकी व्यवस्था छन्दोके निर्माणमे सहायक होती है। यही कारण है कि रविषेणने लय और स्वरोका सुन्दर निर्वाह किया है। इनकी छन्दोयोजनाके निम्नलिखित उद्देश्य है

१ संगीत-धर्मका प्रादुर्भाव

२ रागात्मक वृत्तियोका अनुरंजन

३ विशेष मनोभावोका अनुरजन

४ प्रेषणीयताका समावेश

अलकार-योजनाकी अपेक्षासे भी यह काव्य सफल है। इसमे अनुप्रास, श्लेष, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अतिशयोक्ति, सन्देह, मीलित, सार, विरोधाभास भ्रान्तिमान, उल्लेख, उत्तर, स्मरण, परिकर, अनन्वय, विनोक्ति, दृष्टान्त,

काव्यलिंग, निदर्शना, यथासंख्य, विशेषोक्ति, स्वभावोक्ति, प्रतीप, उदात्त, संसृष्टि आदि ३२ प्रकारके अलंकार प्रयुक्त हुए हैं। विशेषोक्ति, यथासंख्य और काव्यलिंगके उदाहरण दिये जा रहे हैं

विशेषोक्ति

शौर्यरक्षितलोको कोऽपि नयानुगतमानसः।
लक्ष्म्यापि कृतसम्बन्धो न गर्वग्रहदूषित[1]॥

राजा श्रेणिक अपनी शूर-वीरतासे समस्त लोकोंकी रक्षा करता था, तो भी उसका मन सदा नीतिपूर्ण था। लक्ष्मीसे उसका सम्बन्ध था, फिर भी वह अहंकारग्रहसे दूषित नहीं होता था।

यहाँ पर कारण दर्शाते हुए भी कार्याभाव बताया गया है, अतः विशेषोक्ति अलंकार है।

यथासंख्य

स्फुरद्यश.प्रतापाभ्यामाक्रान्तभुवनावयं।
अभिरामदुरालोको शीततिग्मकराविव[2]॥

बढते हुये यश और प्रतापसे लोकको व्याप्त करनेवाले लव और कुश चन्द्र एवं सूर्यके समान सुन्दर तथा दुरालोक हो गये। यहाँ पर चन्द्र और सूर्यका अन्वय सुन्दर और दुरालोकके साथ क्रमशः हो किया गया है।

स्वभावोक्ति

वीक्षमाण सितान् दन्तान् दाडिमीपुष्पलोहिते।
अवटीटे मुखे तेषां भास्वत्काञ्चनतारके[3]॥

इस पद्यमे वानरजातिके स्वाभाविक गुणोंका वर्णन होनेसे स्वभावोक्ति अलंकार है। इसी प्रकार नर्मदावर्णन, सुमेरुवर्णन, वनवर्णन आदिमे भी मानवीकरण किया गया है। आचार्यने अपने काव्यके आधारका स्वयं निरूपण करते हुये लिखा है

वर्द्धमानजिनेन्द्रोक्त सोऽयमर्थो गणेश्वरम्।
इन्द्रभूतिं परिप्राप्तः सुधर्मं धारणीभवम्॥
प्रभवं क्रमतः कीर्ति ततोऽनु(नू)त्तरवाग्मिनम्।
लिखितं तस्य संप्राप्य रवेर्यत्नोऽयमुद्गतः[4]॥

१ पद्मचरित २।५३
२ वही १००।५३।
३ पद्मचरित, ६।११४।
४ वही १।४१-४२।

वर्द्धमान जिनेन्द्रके द्वारा कहा हुआ यह अर्थ इन्द्रभूति नामक गौतम गणधरको प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् धारिणीके पुत्र सुधर्माचार्यको। तदनन्तर प्रभवको और पश्चात् श्रेष्ठ वक्ता कीर्तिधर आचार्यको उक्त अर्थ प्राप्त हुआ। आचार्य रविषेणने इन्ही कीर्तिधर आचार्यके वचनोका अवलोकन कर, इस 'पद्मचरितम्'की रचना की है।

यहाँ यह विचारणीय है कि पद्मे आया हुआ कीर्तिधर आचार्य कौन है और उसके द्वारा रामकथा सम्बन्धी कौन-सा काव्य लिखा गया है? जैन साहित्यके आलोकमे उक्त प्रश्नोका उत्तर प्राप्त नही होता है। श्रीनाथूरामजी प्रेमीने इस ग्रन्थकी रचना प्राकृत 'पउमचरिय'के आधार पर मानी है। अत सक्षेपमे यही कहा जा सकता है कि यह एक सफल काव्य है, जिसकी रचना कवि आचार्य रविषेणके द्वारा की गयी है।

भूगोलकी दृष्टिसे भी यह ग्रन्थ अत्यधिक उपयोगी है। इसमे सृष्टिको अनादिनिधन बताया गया है और उत्सर्पण एव अवसर्पण कालमे होनेवाली वृद्धि-हानिका कथन आया है। युगमानका वर्णन प्राय 'तिलोयपण्णत्ति'के समान है। भोगभूमि और कर्मभूमिकी व्यवस्था भी उसीके समान वर्णित है। बताया है कि भोगभूमिके पर्वत अत्यन्त ऊँचे, पाँच प्रकारके वर्णोसे उज्जवल, नाना प्रकारकी रत्नोकी कान्तिसे व्याप्त एव सर्वप्राणियोको सुखोत्पादक होते हैं। नदियोमे मगरमच्छ आदि नही रहते, पर कर्मभूमिमे यह व्यवस्था परिवर्तित हो जाती है।

जटासिंहनन्दि

पुराण-काव्यनिर्माताके रूपमे जटाचार्यका नाम विशेषरूपसे प्रसिद्ध है। जिनसेन, उद्योतनसूरि आदि प्राचीन आचार्योने जटासिहनन्दिकी प्रशसा की है। जिनसेन प्रथमने लिखा है

> वराङ्गनेव सर्वाङ्गैर्वराङ्गचरितार्थवाक्।
> कस्य नोत्पादयेद् गाढमनुराग स्वगोचरम् ॥[1]

जिस प्रकार उत्तम स्त्री अपने हस्त, मुख, पाद आदि अगोके द्वारा अपने विषयमे गाढ अनुराग उत्पन्न करती है, उसी प्रकार वराङ्गचरितको अर्थपूर्ण वाणी भी अपने समस्त छन्द, अलकार, रीति आदि अगोसे अपने विषयमे किसी भी रसिक समालोचकके हृदयमे गाढ राग उत्पन्न करती है।

जिनसेन द्वितीयने भी अपने आदिपुराणमे जटाचार्यका आदरपूर्वक स्मरण किया है। लिखा है

१ हरिवशपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ सस्करण १।३५।

काव्यानुचिन्तने यस्य जटाः प्रबलवृत्तयः।
अर्थान्स्मानुवदन्तीव जटाचार्यः स नोऽवतात् ॥[1]

जिनकी जटारूप प्रबल युक्तिपूर्ण वृत्तियाँ टीकाएँ काव्योंके अनुचिन्तनमें ऐसी शोभायमान होती थी, मानों हमें उन काव्योंका अर्थ ही बतला रही हैं, इस प्रकारके वे आचार्य जटासिंह हमलोगोंकी रक्षा करें।

उद्योतनसूरिने अपनी कुवलयमालामें वराङ्गचरितके रचयिताके रूपमें जटाचार्यका उल्लेख किया है।

जेहिं कए रमणिज्जे वरंग-पउमाण-चरिय वित्थारे।
कह व ण सलाहणिज्जे ते कइणो जडिय-रविसेणे ॥[2]

इसी प्रकार धवल कविने भी जटाचार्यका आदर पूर्वक स्मरण किया है

मुणि महसेणु सुलोयणु जेण पउमचरिउ मुणि रविसेणेण।
जिणसेणेण हरिवंसु पवित्तु जडिल मुणिणा वरंगचरित्तु ॥[3]

चामुण्डरायने चामुण्डपुराणमें जटासिंहनन्दि आचार्यका वर्णन किया है और इसमें उन्होंने वराङ्गचरितके रचयिताके रूपमें जटासिंहनन्दिको माना है।

जीवन-परिचय

डॉ० ए० एन० उपाध्येने भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूनाकी पत्रिका १४ वीं जिल्दके प्रथम-द्वितीय अंकमें वराङ्गचरित और उसके कर्त्ता जटासिंहनन्दिपर विस्तृत शोधनिबन्ध प्रकाशित किया था। तदनन्तर उन्हीं द्वारा सम्पादित उक्त ग्रन्थ सन् १९३८ में प्रकाशित हुआ। इसकी प्रस्तावनामें आपने लिखा है

"किसी समय निजाम स्टेटका 'कोपल' ग्राम, जिसे 'कोपण' भी कहते हैं, संस्कृतिका एक प्रसिद्ध केन्द्र था। मध्यकालीन भारतमें जैनोंमें इसकी अच्छी ख्याति थी और आज भी यह स्थान पुरातन-प्रेमियोंके स्नेहका भाजन बना हुआ है। इसके निकट पल्लकोगुण्डु नामकी पहाड़ीपर अशोकका एक अभिलेख उत्कीर्णित है, जिसके निकट दो पद-चिह्न अंकित हैं। उनके ठीक नीचे

१ आदिपुराण १।५०।
२. कुवलयमाला, सिंघी सीरिज, अनुच्छेद ६ पृ० ४।
३. सी० पी० और बरारकी संस्कृतप्रतियोंका कैटलॉग, पृ० ७६४।

पुरानी कन्नडमें दो पंक्तिका एक अभिलेख उत्कीर्ण है, जिसमें लिखा है कि "चावय्यने जटासिंहनन्द्याचार्यके पदचिन्होंको तैयार कराया"।[1]

इससे विदित है कि जटासिंहनन्द्याचार्यने 'कोप्पल' मे समाधिमरण धारण किया था। डॉ० उपाध्येका अनुमान है कि ये जटासिंहनन्दि ही प्रस्तुत महाकवि हैं। कन्नड़साहित्यमे आये हुये इनके विविध उल्लेख इन्हे कर्नाटक अधिवासी सिद्ध करते हैं। साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि कोप्पलमे इन्होने अपना अन्तिम जीवन व्यतीत किया होगा। वराङ्गचरितमे आये हुये वर्णनोसे भी ये दाक्षिणात्य सिद्ध होते हैं।

स्थितिकाल

ग्रन्थकार अपने परिचय और ग्रन्थरचना-समयके सम्बन्धमे मौन हैं। उत्तरकालीन लेखकोके उल्लेखोके आधारपर ही इनके समयका अनुमान किया जाता है। उद्योतनसूरिकी 'कुवलयमाला', जिनसेन प्रथमके 'हरिवशपुराण' एव जिनसेन द्वितीयके 'आदिपुराण' के उल्लेखोके अतिरिक्त उत्तरवर्ती पम्प, रायमल्लके मन्त्री और सेनापति चामुण्डराय, धवल, नयसेन, पार्श्वपण्डित, महाकवि जन्न, गुणवर्म, कमलभव एव महाबल कवियोने भी वराङ्गचरित या जटाचार्य अथवा दोनोका स्मरण किया है। अतएव यह निष्कर्ष निकालना सहज है कि जटाचार्य और उनके वराङ्गचरितकी ख्याति ई० सन् की आठवी शतीके पूर्व ही हो चुकी थी। यत उद्योतनसूरिका समय ई० सन् ७७८ है। जिनसेन प्रथमने हरिवशकी समाप्ति सन् ७८३ ई० मे की थी। आदिपुराण (८३८ ई०) मे जिनसेन द्वितीयने जटाचार्यके जिस स्वरूपका निर्देश किया है, उस स्वरूपसे प्रतीत होता है कि इनकी लहराती हुई जटाएँ लम्बी-लम्बी थी। इसी कारण ये जटिल या जटाचार्य कहे जाते थे। इसके पश्चात् तो जटाचार्य और उनके वराङ्गचरितकी ख्याति इतनी बढी कि १०वी शताब्दीके कन्नड महाकवि पम्पने इनका आदर पूर्वक स्मरण किया और चामुण्डरायने तो वराङ्गचरितके उद्धरण ही दे डाले हैं। ११ वी और १२ वी शतीके अपभ्रशके महाकवि धवल और कन्नडके महाकवि नयसेन[1] ने भी इनका स्मरण किया है। १३ वी शतीमे वराङ्गचरित कवियोका आदर्श काव्य बन गया था। फलत पार्श्वपण्डित (ई० १२०५) जन्न (ई० सन्१२०९), गुणवर्म (ई० १२३०), कमलभव (अनुमानत ई० १२३५) और महाबल (ई० १२५४) ने गौरवके साथ इनका स्मरण किया है। ये उल्लेख वराङ्गचरित और उसके कर्त्ता जटाचार्यकी ख्याति एव लोकप्रियताको प्रकट

१ वराङ्गचरित, प्रस्तावना, पृ० ६३।

करते हैं। तथा सभी भाषा और सम्प्रदायोंके कवियों द्वारा उनका आदर किया जाना बतलाते हैं। उद्योतनसूरिने इनका उल्लेख रविषेणसे पहले किया है। उससे अनुमान है कि आचार्य रविषेणसे वराङ्गचरितकार पूर्ववर्ती हैं और अधिक प्रसिद्ध रहे होंगे। अत. कहा जा सकता है कि जैन संस्कृत-प्रबन्ध काव्यके ये ही आद्य रचयिता हैं। जिस प्रकार आचार्य समन्तभद्र संस्कृतके आद्य स्तुतिकार हैं, उसी प्रकार जटासिंहनन्दि आदि प्रबन्ध-काव्यरचयिता हैं।

पद्मचरित और वराङ्गचरित इन दोनोंकी शैली और स्थापत्यके अध्ययनसे ऐसा भी अवगत होता है कि वराङ्गचरित पद्मचरितके पश्चात् लिखा गया है। यत पद्मचरितका स्थापत्य पुराणका है, तो वराङ्गचरितका स्थापत्य पुराण-काव्यका है। पुराण और पुराण-काव्यमे पर्याप्त अन्तर है। पुराणमे कथा सर्ग-बद्ध होती है और साथ ही उसमे सानुबन्धता पायी जाती है। वराङ्गचरितकी कथामे अनुबन्धोंकी कमी है। अत. हमारा अनुमान है कि वराङ्गचरित पद्म-चरितसे कम-से-कम बीस वर्ष बाद लिखा गया है। संस्कृत-काव्यक्षेत्रमे रामायण, व महाभारतके पश्चात् अलंकृतकाव्योंका प्रादुर्भाव होने लगा था और भारवि जैसे कवि किरातार्जुनीय जैसे काव्योंका प्रणयन कर चुके थे। वराङ्गचरित पर 'किरात'के स्थापत्यका गहरा प्रभाव है। छन्दोंका प्रयोग तो 'किरात'के समान है ही, पर युद्ध और वस्तु वर्णन भी 'किरात'के समकक्ष है। अतएव जटासिंह-नन्दिका समय भारविसे कुछ पश्चाद्वर्ती अर्थात् ७वीं शताब्दीका अन्तिम पाद होना चाहिये। उद्योतनसूरिके निर्देशसे ये ९वीं शताब्दीसे पूर्ववर्ती हैं। अतएव इनका समय ७वींका उत्तरार्ध एवं ८वीं शताब्दीका पूर्वार्द्ध है।

१ नयसेनने धर्मामृतके प्रारम्भमे नवम पद्यसे लेकर उन्नतालीसवें पद्य तक गुरु-परम्पराका स्मरण किया है। यह निम्न प्रकार है अर्हद्बलि, गुणधरभट्टारक, आर्यमंक्षु, नागहस्ति, धरसेनाचार्य, पुष्पदन्त, भूतबलि, जयनन्दि, कुन्दकुन्दाचार्य, जटासिंहनन्दि, कूचीभट्टारक, समन्तभद्र, पूज्यपाद, विद्यानन्द, सिद्धसेन, श्रुतकीर्ति, प्रभाचन्द्र, जिनसेन पण्डित, यतिवृषभ, शुभचन्द्र, सिद्धान्तदेव, रामनन्दि सैद्धान्तिक जिनसेनाचार्य, इन्द्रसेन, भेरुण्ड पण्डित, सिद्धातिप, वादिराज, मेघचन्द्र, कीर्तिदेव, राजसिंह, पद्मनन्दि, सागरचन्द्र, वासपूज्य भट्टारक, प्रभाचन्द्र भट्टारक, चारुसेनाचार्य अमोघचन्द्र, रामसेनवृति, कनकनन्दि, अकलंकदेव, माघनन्दि, पम्प, रन्न, जन्न और गुणधर्मका स्मरण किया है। नयसेनका प्रस्तुत ग्रन्थ शक स० १०३७ नन्द संवत्सरके भाद्रपदके शुक्लपक्ष मे हस्तार्क दिनको समाप्त हुआ है। ग्रन्थ-का रचनाकाल ग्रन्थमें अंकित है।

जटासिंहनन्दिकी वराङ्गचरितके अतिरिक्त अन्य कोई रचना उपलब्ध नही है। पर वराङ्गचरितकी प्रौढता और उसमे प्रसगवश आये हुये सैद्धान्तिक वर्णनो के अवलोकनसे यह विश्वास नही होता कि इस कविकी यही एक रचना रही होगी। हमारे इस अनुमानकी पुष्टि योगेन्द्ररचित 'अमृताशीति'मे जटाचार्यके नामसे आये हुए निम्नलिखित उद्धरणसे भी होती है

'जटासिंहनन्द्याचार्यवृत्तम्'

तावत्क्रियाः प्रवर्तन्ते यावदद्वैतस्य गोचर ।
अद्वये निष्फले प्राप्ते निष्क्रियस्य कुत क्रिया ॥[1]

यह पद्य वराङ्गचरितमे नही मिलता है। जटाचार्यके नामसे उल्लिखित होनेके कारण, जिसमे यह पद्य रहा है, ऐसी अन्य कोई रचना होनी चाहिए।

कविने वराङ्गचरितको चतुर्वर्ग समन्वित, सरल शब्द-अर्थ गुम्फित धर्म-कथा कहा है

सर्वज्ञभाषितमहानदधौतबुद्धि
स्पष्टेन्द्रिय स्थिरमतिर्मितवाङ्मनोज्ञ ।
मृष्टाक्षरो जितसभ प्रगृहीतवाक्यो
वक्तुं कथा प्रभवति प्रतिभादियुक्त ॥
इति धर्मकथोद्देशे चतुर्वर्गसमन्विते ।
स्फुटशब्दार्थसदर्भे वराङ्गचरिताश्रिते ॥
जनपद-नगर-नृपति-नृपपत्नीवर्णनो नाम प्रथम सर्ग[2]।

वराङ्गचरित एक पौराणिक महाकाव्य है। इसमे पुराणतत्त्व और काव्य-तत्त्वका मिश्रण है। इसकी कथावस्तुके नायक २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ तथा श्रीकृष्णके समकालिक वराङ्ग हैं। नायकमे धीरोदात्तके सभी गुण विद्यमान हैं। इस पौराणिक महाकाव्यमे नगर, ऋतु, उत्सव, क्रीडा, रति, विप्रलम्भ, विवाह, जन्म, राज्याभिषेक, युद्ध, विजय आदिका वर्णन महाकाव्यके समान ही है। इसमे ३१ सर्ग हैं। पर लक्षण-ग्रन्थोके अनुसार महाकाव्यमे ३० सर्गसे अधिक नही होने चाहिए। नायक वराङ्गमे धर्मनिष्ठा, सदाचार, कर्त्तव्यपरायणता,

१ अमृताशीति, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, पु० २१, पृ० ९८, पद्य ६७
२. वराङ्गचरित, मा० दि० जैन ग्रन्थमाला, १९३८।

सहिष्णुता, विवेक, साहस, लौकिक और आध्यात्मिक शत्रुओं पर विजयप्राप्ति आदि धीरोदात्त[1] नायकके गुण पाये जाते हैं।

कथावस्तु

विनीत देशकी रम्या नदीके तटपर स्थित उत्तमपुरमें भोजवंशी महाराज धर्मसेन राज्य करते थे। इनकी पट्टरानीका नाम गुणवती था, इस महादेवीके गर्भमें कुमार वराङ्गका जन्म हुआ था। वयस्क होनेपर वराङ्गकुमारका विवाह दश कुलीन कन्याओंके साथ कर दिया गया। वरदत्त नामक केवलीसे धर्मोपदेश सुनकर वराङ्गने अणुव्रत ग्रहण किये। जब वराङ्गको युवराज पद दिया गया, तो उसकी सौतेली माता तथा भाई सुषेणको ईर्ष्या हुई। इन्होंने सुबुद्धि मन्त्रीसे मिलकर षड्यन्त्र किया, फलतः मन्त्री द्वारा सुशिक्षित एक दुष्ट घोड़ा वराङ्गको लेकर जंगलकी ओर भागा और वराङ्ग सहित एक कुएँमें गिर गया। वराङ्ग किसी प्रकार कुएँसे निकलकर चला तो दुर्गम वनमें एक व्याघ्रने उसका पीछा किया। जंगली हाथीकी सहायतासे उसकी रक्षा होती है। अनन्तर एक यक्षिणी उसे एक अजगरसे बचाती है। अरण्यमें भटकते हुये वराङ्ग बलिके हेतु भील द्वारा पकड़ लिया जाता है, किन्तु साँपसे दंशित भिल्लराजके पुत्रका विष उतार देनेके कारण उसे मुक्ति मिल जाती है। कुमार वराङ्ग सेठ सागरबुद्धिके बंजारेसे मिलता है और उसकी जंगली डाकुओंसे रक्षा करता है। फलतः कश्चिद्भटके नामसे अज्ञातवास करने लगता है। हाथीके लोभसे मथुराधिपतिने ललितपुर पर आक्रमण किया, तो कश्चिद् भटने उसका सामना कर अपनी वीरताका परिचय दिया। अतएव ललितपुराधिपने आधा राज्य देकर वराङ्गका विवाह अपनी कन्यासे कर दिया।

वरांगके लुप्त होनेपर सुषेणको यौवराज पद प्राप्त होता है, पर योग्यताके अभावमें उसे शासनप्रबन्धमें सफलता प्राप्त नहीं होती। धर्मसेनको वृद्ध एवं उत्तराधिकारी शासक सुषेणको कायर समझकर बकुलाधिप उत्तमपुर पर आक्रमण करता है। अतः धर्मसेन ललितपुराधिपसे सैनिक सहायता माँगता है। इस अवसर पर वराङ्गकुमार उपस्थित हो बकुलाधिपको परास्त कर देता है। जनता उसका स्वागत करती है और वह विरोधियोंको क्षमाकर पिताकी अनुमतिसे दिग्विजयके लिए प्रस्थान करता है। एक नये समृद्ध राज्यकी वह स्थापना करता है, जिसकी राजधानी सरस्वती नदीके तटपर स्थित आनर्तपुरको बनाता है। कुमार वराङ्ग वहाँ पर एक विशाल जिन मन्दिरका निर्माण कराता

१ साहित्यदर्पण ३।३२।

है और धार्मिक आयोजन पूर्वक बिम्बप्रतिष्ठाविधिको सम्पन्न कराता है। नास्तिक मतोका खण्डन कर मन्त्रियोके सदेहको निर्मूल कर उन्हे दृढ श्रद्धानी बनाता है। कुछ दिनोके अनन्तर कुमार वरागकी अनुपमा महारानीको कुक्षिसे पुत्रको जन्म होता है, जिसका नाम सुगात्र रखा जाता है।

एक दिन कुमार वराग आकाशसे टूटते हुए तारेको देखकर विरक्त हो जाता है और उसे ससारकी अनित्यताका भान होता है। वह अपने पुत्र सुगात्र को राजसिहासन सौपकर वरदत्त केवलीके समक्ष जाता है और वहाँ दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर लेता है। रानियाँ भी धार्मिक दीक्षा धारण करती हैं। वराङ्ग कुमार उग्र तपश्चरण करता है और शुक्लध्यान द्वारा कर्मशत्रुओको परास्त कर सद्गति लाभ करता है।

समीक्षा

प्रस्तुत 'वरागचरित'के रचयिताने इसे धर्मकथा कहा है। पर वस्तुत है यह पौराणिक महाकाव्य। इसमे पौराणिक काव्यके तत्त्व समवेत हैं। कविने आरम्भमे ही कहा है

द्रव्य फल प्रकृतमेव हि सप्रभेद
क्षेत्र च तीर्थमय कालविभागभावौ।
अङ्गानि सप्त कथयन्ति कथाप्रबन्धे
तै सयुता भवति युक्तिमती कथा सा॥
वराङ्गचरितम् १।६

स्पष्ट है कि कविने इसे धर्मकथा पौराणिक कथाकाव्य कहकर इसमे पुराणके सात अगोका समावेश किया है। कथा सर्गबद्ध है तथा कथामे नाटक-की सन्धियोका नियोजन भी है। आरम्भसे वराङ्गके जन्म तककी कथामे मुख-सन्धिका नियोजन है। वरागका युवराज होना और ईर्ष्याका पात्र बनना प्रति-मुख-सन्धि है। घोड़े द्वारा उसका अपहरण, कुँएमे गिराया जाना, कुँएसे निकल कर बाहर आना, व्याघ्र, भिल्ल आदिके आक्रमणोसे उसका रक्षित रहना तथा कुमार वराङ्गका सागरदत्त सेठके यहाँ गुप्तरूपसे निवास करना, बकुलाधिप का उत्तमपुर पर आक्रमण करना और कुमार द्वारा प्रतिरोध करने तककी कथावस्तुमे गर्भसन्धि है। इस सन्धिमे फल छिपा हुआ है और प्राप्त्याशा और पताकाका योग भी वर्तमान है। कुमारकी दिग्विजय, राज्यस्थापना तथा प्रतिद्वन्द्वी सुषेण द्वारा शत्रुताका त्याग नियताप्ति है। दिग्विजयके कारण

विरोधियोका उन्मूलन, समृद्धि और अभ्युदयके साधनोके सद्भावके कारण, आत्मकल्याणके साधनोका विरलत्व, जिनालय-निर्माण और जिनविम्बप्रतिष्ठाके सम्पन्न होने पर भी निर्वाणरूप फलकी प्राप्तिकी असन्निकटता फल प्राप्तिमे बाधक है। अतएव इस स्थितिको विमर्शसन्धिकी स्थिति कहा जा सकता है। वाराङ्गका विरक्त होकर तपश्चरण करना और सद्गतिलाभ निर्वहणसन्धि है। अत सामान्यत कथावस्तुमे सघटन सन्निहित है, पर चतुर्थ सर्गसे दशम सर्ग पर्यन्त तथा २६वें और २७वे सर्गकी कथावस्तुका मुख्य कथासे कोई सम्बन्ध नही है। इन सर्गोके हटा देने पर भी, कथावस्तुमे कोई कमी नही आती है। ये सर्ग केवल जैन सिद्धान्तके विभिन्न तत्वोका प्रतिपादन करने के लिये ही लिखे गये हैं।

यक्षिणीका आगमन और कुमारका अजगरसे रक्षा करना, हाथीकी सहायतासे व्याघ्रसे वचना आदि अलौकिक तत्व है। इसी प्रकार घोडे द्वारा कुमारका अपहरण, मन्त्र द्वारा भिल्लराजके पुत्रका निर्विषीकरण प्रभृति आदि अप्राकृतिक तत्त्व भी समाविष्ट हैं। प्रकृतिचित्रण और वस्तुव्यापारवर्णनमे कवि प्रत्येक वस्तुकी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विगत देता हुआ दृश्योका ताँता बाँधता चलता है। युद्ध, अटवी आदिके वर्णन तो बाल्मीकि और व्यासके समान साँगोपाँग हैं। चरित्र-चित्रणमे कवि आवृत्ति, अनुप्रास आदिका प्रयोग करता तथा सदुपदेश प्रस्तुत करता हुआ आगे बढता है। वस्तुचित्रणका निम्नलिखित उदाहरण दृष्टव्य है

> जलप्रभाभि कृतभूमिभागा प्राचीनदेशोपहितप्रवालाम्।
> सर्वार्जनोपात्तकपोलपाली वैडूर्यसव्यानवती परार्ध्याम्॥
> हेमोत्तमस्तम्भवृता विशाला महेन्द्रनीलप्रतिबद्धकुम्भाम्।
> ता पद्मरागोपगृहीतकण्ठा विशुद्धरूपोन्नतचारुकूटाम्॥
> द्विजातिवक्त्रोद्गलितप्रलम्बा मुक्ताकलापच्छुरितान्तरालाम्।
> मन्दानिलाकम्पिचलत्पताकामात्मप्रभाह्वेपितसूर्यभासम्॥
> नानाप्रकारोज्जवलरत्नदण्डा विलासिनीधारितचामराह्वाम्।
> आरुह्य कन्या शिविका पृथुश्री पुरी विवेशोत्तमनामधेयाम्[1]॥

पालकीका धरातल पानीके समान रगोका बनाया गया था, फलत वह जलकुण्डकी भ्रान्ति उत्पन्न करता था। उसकी वन्दनवारमे लगे हुए मूगे दूर देशसे लाये गये थे। उसके कवूतरो युक्त छज्जे बनानेमे तो सारे ससारका धन ही खर्च हो गया था। उसकी छत वैडूर्य मणियोसे निर्मित थी। स्वर्ण

१ वराङ्गचरित २।५३–५६।

निर्मित स्तम्भों पर महेन्द्रनीलमणिके कलश तथा ऊपरी भाग पद्मराग-मणिसे खचित था और रजतके कलश सुशोभित थे। ऊपरी भागमे मणियोके पक्षी बने थे, जिनके मुखसे गिरते हुए मुक्ताफल चित्रित किये गये थे। पालकी का मध्यभाग मुक्तामणियोसे व्याप्त था। ऊपर लगी हुई पताकाएँ लहरा रही थी। उठानेके दण्डोमे नाना प्रकारके रत्न जटित थे।

स्पष्ट है कि कल्पनाके ऐश्वर्यके साथ-साथ कविका सूक्ष्म निरीक्षण भी अभिनन्दनीय है। पालकीके स्तम्भो पर ऊपर और नीचे दोनो ओर कलशोका विवेचन, कविकी दृष्टिकी जागरूकताका परिचायक है। यद्यपि इस प्रकारके वर्णन काव्यकी रसपेशलताकी वृद्धि नही करते, तो भी वर्णनकी मजुल छटा विकीर्ण कर पाठकोको चमत्कृत करते हैं।

कल्पना और वर्णनोके स्रोत कविने वाल्मीकि और अश्वघोपसे ग्रहण किये हैं। वाल्मीकि रामायणमे जिस प्रकार शूर्पणखा राम-लक्ष्मणसे पति बननेकी प्रार्थना करती है, उसी प्रकार यक्षिणी इस काव्यमे वराङ्गसे। निश्चयतः इस कल्पनाका स्रोत वाल्मीकि रामायण है।

वर्णन, धार्मिक, तथ्य और काव्य चमत्कारोके रहने पर भी कविने रसाभिव्यक्तिमे पूरा कौशल प्रदर्शित किया है। वराङ्ग और उसकी नवोढा पत्नियोकी केलिक्रीडाओके चित्रणमे सभोग-शृगारका सजीव रूप प्रस्तुत किया गया[1] है। कविने त्रयोदश सर्गमे वीभत्स रसका बहुत ही सुन्दर निरूपण किया है। पुलिन्दका बस्तीमे जब कुमार वराङ्ग पहुँचा, तो उसे वहाँ पुलिन्दराजके झोपडेके चारो ओर हाथियोके दाँतोकी बाढ, मृगोकी अस्थियोके ढेर, मास और रक्तसे प्लावित गवो द्वारा उसका अच्छादन, बैठनेके मण्डपमे चर्वी, आँतें, नस-नाड़ियोके विस्तार तथा दुर्गन्ध पूर्ण वातावरण मिला। कविने यहाँ पुलिन्दराजके झोपडेकी वीभत्सताका मूर्तरूप चित्रित किया[2] है। पुलिन्दके भीषण कारागारका चित्रण भी कम वीभत्सता उत्पन्न नही करता[3] है।

कविने चतुर्दश सगमे वीररसका पूर्ण चित्रण किया है। पुलिन्दराजके साथ उसके सम्पन्न हुए युद्धका समस्त विभाव और अनुभावो सहित निरूपण किया गया है।

इस काव्यमे वसन्ततिलका, उपजाति, पुष्पिताग्रा, प्रहर्षिणी, मालिनी,

१ वराङ्गचरित, सर्ग २, पद्य ८९-९४।

२ वही सर्ग १३ श्लोक ५०-५१।

३ वही सर्ग १३ श्लोक ५६-५७।

४ वही सर्ग १६ श्लोक ३५-४६।

भुजंगप्रयात, वंशस्थ, अनुष्टुप्, मालभारिणी और द्रुतविलम्बित छन्दोका प्रयोग हुआ है। कविको उपजाति छन्द बहुत प्रिय है। भाषामे जहाँ पाडित्य है, वहाँ व्याकरण-स्खलन भी पाया जाता है। इस काव्यके प्रारम्भके तीन सर्गोमे कवि-की अपूर्व काव्यप्रतिभा परिलक्षित होती है।

आचार्य अकलंकदेव

प्रास्ताविक

जैन परम्परामे यदि समन्तभद्र जैन न्यायके दादा है, तो अकलक पिता। ये बडे प्रखर तार्किक और दार्शनिक थे। बौद्ध दर्शनमे जो स्थान धर्मकीर्तिको प्राप्त है, जैन दर्शनमे वही स्थान अकलकदेवका है। इनके द्वारा रचित प्राय. सभी ग्रन्थ जैन दर्शन और जैन न्याय विषयक हैं। इनके इन ग्रन्थोको, इन विषयोका 'आकर' ग्रन्थ कहा जा सकता है।

अकलकके सम्बन्धमे श्रवणवेलगोलाके अभिलेखोमे अनेक स्थान पर स्मरण आया है। अभिलेखसख्या ४७ मे लिखा है-

"षट्तर्केष्वकलङ्कदेवविवुध साक्षादय भूतले[1]"

अर्थात् अकलकदेव षट्दर्शन और तर्कशास्त्रमे इस पृथ्वी पर साक्षात् विबुध (बृहस्पतिदेव) थे।

एक अन्य अभिलेखमे इनके द्वारा बौद्धादि एकान्तवादियोको परास्त किये जानेकी चर्चा की गयी है

भट्टाकलङ्कोऽकृत सौगतादिदुर्वाक्यपङ्कैस्सकलङ्कभूत।
जगत्स्वनामेव विधातुमुच्चै सार्थं सामन्तादकलङ्कमेव[2]॥

निश्चयत अकलकदेव द्वारा जैन न्यायका सम्वर्द्धन हुआ है। अभिलेख न० १०८ मे पूज्यपादके पश्चात् अकलकदेवका स्मरण किया गया है और मिथ्यात्व अन्धकारको दूर करनेके लिये सूर्यके तुल्य बताया गया है

तत पर शास्त्रविदा मुनीना-
मग्रेसरोऽभूदकलङ्कसूरि।
मिथ्यान्धकारस्थगिताखिलार्था
प्रकाशिता यस्य वचोमयूखै[3]॥

१ जैन शिलालेख सग्रह, प्रथम भाग, अभिलेख ४७, पृ० ६२, पद्य ३०।
२. वही, पृ० १९८-१९९, पद्य २१।
३ वही, पृ० २११, पद्य १८, अभिलेख १०८।

अकलक मान्यखेटके राजा, शुभतुगके मन्त्री पुरुषोत्तमके पुत्र थे। 'राजावलिकथे' मे इन्हे काञ्चीके जिनदास नामक ब्राह्मणका पुत्र कहा गया है। पर तत्त्वार्थवार्तिकके प्रथम अध्यायके अन्तमे उपलब्ध प्रशस्तिसे ये लघुहव्वनृपतिके पुत्र प्रतीत होते है। प्रशस्तिमे लिखा है

> जीयाच्चिरमकलङ्कब्रह्मा लघुहव्वनृपतिवरतनयः।
> अनवरतनिखिलजननुतविद्य प्रशस्तजनहृद्य ॥

ये लघुहव्वनृपति कौन है और किस प्रदेशके राजा थे, यह इस पद्यसे या अन्य स्रोतसे ज्ञात नही होता। नामसे इतना प्रतीत होता है कि उन्हे दक्षिणका होना चाहिए और उसी क्षेत्रके वे नृपति रहे होगे।

प्रभाचन्द्रके कथाकोपमे अकलकको कथा देते हुए लिखा है कि एकबार अष्टाह्निका पर्वके अवसरपर अकलकके माता-पिता अपने पुत्र अकलंक और निष्कलक सहित मुनिराजके पास दर्शन करने गये। धर्मोपदेश श्रवण करनेके पश्चात् उन्होने आठ दिनोके लिये ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया और पुत्रोको भी ब्रह्मचर्यव्रत दिलाया। जब दोनो भाई वयस्क हुए और माता-पिताने उनका विवाह करना चाहा, तो उन्होने मुनिके समक्ष ली गयी प्रतिज्ञाकी याद दिलायी और विवाह करनेसे इन्कार कर दिया। पिताने पुत्रोको समझाते हुये कहा कि "वह व्रत तो केवल आठ दिनोके लिये ही ग्रहण किया गया था। अत विवाह करनेमे कोई भो रुकावट नही है।" पिताके उक्त वचनोको सुनकर पुत्रोने उत्तर दिया "उस समय, समय-सोमाका जिक्र नही किया गया था। अत ली गयी प्रतिज्ञाको तोडा नही जा सकता।"

पिताने पुन कहा "वत्स! तुम लोग उस समय अबुद्ध थे। अत ली गयी प्रतिज्ञामे समय-सोमाका ध्यान नही रखा। वहाँ लिये गये व्रतका आशय केवल आठ दिनोके लिये हो था, जीवन-पर्यन्तके लिये नही। अतएव विवाह कर तुम्हे हमारी इच्छाओको पूर्ण करना चाहिये।"

पुत्र बोले "पिताजी! एक बार ली गयी प्रतिज्ञाको तोडा नही जा सकता। अत यह व्रत तो जीवन-पर्यन्तके लिये है। विवाह करनेका अब प्रश्न ही नही उठता।"

पुत्रोकी दृढताको देखकर माता-पिताको आश्चर्य हुआ। पर वे उनके अभ्युदयका ख्यालकर उनका विवाह करनेमे समर्थ न हुए। अकलक और निष्कलक ब्रह्मचर्यको साधना करते हुए विद्याध्ययन करने लगे।

काञ्चीपुरीमे बौद्धधर्मके पालक पल्लवराजकी छत्रच्छायामे अकलंकने बौद्धन्यायका अध्ययन किया। अकलक शास्त्रार्थी विद्वान् थे। इन्होने दीक्षा लेकर सुधापुरके देशीयगणका आचार्यपद सुशोभित किया। अकलकने हिम-शीतल राजाकी सभामे शास्त्रार्थ कर तारादेवीको परास्त किया।'

'ब्रह्म नेमिदत्तकृत आराधनाकथाकोष और मल्लिषेण-प्रशस्तिसे भी उक्त तथ्य पुष्ट होता है। मल्लिषेण-प्रशस्तिका अकनकाल शक स० १०५० है। अतएव ई० सन् १०७१ के लगभग अकलकदेवके सम्बन्धमे उक्त मान्यता प्रच-लित हो गयी थी

तारा येन विनिर्ज्जिता घट-कुटी-गूढावतारा सम
बौद्धैर्यो धृत-पीठ-पीडित-कुदृग्देवात्त-सेवाञ्जलि ।
प्रायश्चित्तमिवाङ्घ्रि वारिज-रज-स्नानं च यस्याचरत्
दोषाणा सुगतस्स कस्य विषयो देवाकलङ्क कृती ॥

चूर्ण्णि ॥ यस्येदमात्मनोऽनन्य-सामान्य-निरवद्य-विद्या-विभवोपवर्ण्णनमाकर्ण्यते॥

राजन्साहसतुङ्ग सन्ति वहव. श्वेतातपत्रा नृपा
किन्तु त्वत्सदृशा रणे विजयिनस्त्यागोन्नता दुर्ल्लभा ।
त्वद्वत्सन्ति वुधा न सन्ति कवयो वादीश्वरा वाग्मिनो
नाना-शास्त्र-विचारचातुरधिय काले कलौ मद्विधा[1] ॥

नेमिदत्तके आराधनाकथाकोषमे वताया है 'मान्यखेटके राजा शुभतुग थे। उनके मत्रीका नाम पुरुषोत्तम था। पद्मावती उनकी पत्नी थी। पद्मावतीके गर्भसे दो पुत्र उत्पन्न हुए अकलक और निष्कल क। अष्टाह्निका महोत्सवके प्रारम्भमे पुरुषोत्तम मन्त्री सकुटुम्ब रविगुप्त नामक मुनिके दर्शनार्थ गये और वहाँ उन्होने पुत्रो सहित आठ दिनोका ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया। युवावस्था होनेपर पुत्रोने विवाह करनेसे इन्कार कर दिया और विद्याध्ययनमे सलग्न हो गये। उस समय बौद्धधर्मका सर्वत्र प्रचार था। अतएव वे दोनो महाबोधि-विद्यालयमे बौद्ध-शास्त्रोका अध्ययन करने लगे।

एक दिन गुरुमहोदय शिष्योको सप्तभगी-सिद्धान्त समझा रहे थे, पर पाठ अशुद्ध होनेके कारण वे उसे ठीक नही समझा सके। गुरुके कही चले जाने पर अकलकने उस पाठको शुद्ध कर दिया। इससे गुरुमहोदयको उनपर जैन होनेका सन्देह हुआ। कुछ दिनोमे उन्होने अपने प्रयत्नो द्वारा उनको जैन प्रमाणित कर लिया। दोनो भाई कारागृहमे बन्द कर दिये गये। रात्रिके

१ जैन शिलालेखसग्रह, प्रथमभाग, अभिलेख ५४, पृ० १०४, पद्य २०–२१।

समय दोनो भाईयोने कारागृहसे निकल जानेका प्रयत्न किया। वे अपने प्रयत्नमे सफल भी हुये और कारागृहसे निकल भागे। प्रात काल ही बौद्ध गुरुको उनके भाग जानेका पता चला। उन्होने चारो ओर घुडसवारोको दौडाकर दोनो भाईयोको पकड लानेका आदेश दिया।

घुडसवारोने उनका पीछा किया। कुछ दूर आगे चलने पर दोनो भाईयोने अपने पीछे आनेवाले घुडसवारोको देखा और अपने प्राणोकी रक्षा न होते देख अकलक निकटके एक तालावमे कूद पडे। और कमलपत्रोसे अपने आपको आच्छादित कर लिया। निष्कलक भी प्राणरक्षाके लिये शीघ्रतासे भाग रहे थे। उन्हे भागता देख तालावका एक धोवी भी भयभीत होकर साथ-साथ भागने लगा। घुडसवार निकट आ चुके थे। उन्होने उन दोनोको शीघ्र ही पकड लिया और उनका वध कर डाला। घुडसवारोके चले जाने पर, अकलक तालावसे निकल निर्भय होकर भ्रमण करने लगे।

कलिंग देशके रतनसचयपुरका राजा हिमशीतल था। उसकी रानी मदनसुन्दरी जिनधर्मकी भक्त थी। वह वडे उत्साहके साथ जैनरथ निकालना चाहती थी। किन्तु बौद्ध गुरु रथ निकलने देनेके पक्षमे नही थे। उनका कहना था कि कोई भी जैन विद्वान जव तक मुझे शास्त्रार्थमे पराजित नही कर देगा, तवतक रथ नही निकाला जा सकता है। गुरुके विरुद्ध राजा कुछ नही कर सकता था। वड़े धर्मसकटका समय उपस्थित था। जव अकलकको यह समाचार मिला, तो वे राजा हिमशीतलकी सभामे गये और बौद्ध गुरुसे शास्त्रार्थ करनेको कहा। दोनोमे छ मास तक परदेके अन्दर शास्त्रार्थ होता रहा। अकलकको इस शास्त्रार्थसे वड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होने इसका रहस्य जानना चाहा। उन्हे शीघ्र ही ज्ञात हो गया कि बौद्ध गुरुके स्थान पर, परदेके अन्दर घडेमे बैठी बौद्धदेवी तारा शास्त्रार्थ कर रही है। उन्होने परदेको खोलकर घडेको फोड डाला। तारादेवी भाग गयी और बौद्ध गुरु पराजित हुए। जैनरथ निकाला गया और जैनधर्मका महत्त्व प्रकट हुआ।'

'राजावलिकथे'मे भी उक्त कथा प्राय समान रूपमे मिलती है। अन्तर इतना ही है कि काञ्चीके बौद्धोने हिमशीतलकी सभामे जैनोसे इसी शर्त पर शास्त्रार्थ किया कि हारने पर उस सम्प्रदायके सभी मनुष्य कोल्हूमे पेलवा दिये दिये जाये। इस कथाके अनुसार यह शास्त्रार्थ १७ दिनो तक चला है। अकलकको कुसुमाण्डिनी देवीने स्वप्नमे दर्शन देकर कहा कि तुम अपने प्रश्नोको प्रकारान्तरसे उपस्थित करने पर जीत सकोगे। अकलकने वैसा ही किया और वे विजयी हुए। बौद्ध कलिंगसे सिलोन चले गये।

उपर्युक्त कथानकोसे यह स्पष्ट है कि अकलंकदेव दिग्विजयी शास्त्रार्थी विद्वान् थे। मल्लिषेण-प्रशस्तिके दूसरे पद्यमे आया है कि राष्ट्रकूटवंशी राजा साहसतुंगकी सभामे उन्होने सम्पूर्ण बौद्ध विद्वानोको पराजित किया। काञ्चीके पल्लववंशी राजा हिमशीतलकी राजसभामे भी उन्होने अपूर्व विजय प्राप्त की थी। इसी कारण विद्यानन्दने अकलंकको सकलतार्किकचक्रचूड़ामणि कहा है।

समय-निर्धारण अकलंकदेवके समयके सम्बन्धमे दो धारणाएँ प्रचलित हैं। प्रथम धारणाके प्रवर्तक डा० के० बी०[1] पाठक हैं और दूसरी धारणाके प्रवर्तक प्रो० श्रीकण्ठ शास्त्री तथा आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार हैं। डा० पाठकने मल्लिषेण-प्रशस्तिके 'राजन् साहसतुंग' श्लोकके आधार पर इन्हे राष्ट्रकूट-वंशी राजा दन्तिदुर्ग या कृष्णराज प्रथमका समकालीन सिद्ध किया है तथा अकलंकचरितके निम्नलिखित पद्यमे आये हुए 'विक्रमार्क' पदका अर्थ शक संवत् किया है

विक्रमार्कशकाब्दीयशतसप्तप्रमाजुषि।
काले अकलंकयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत्॥

अत इनके मतानुसार अकलंकका समय शक सं० ७०० (७७८ ई०) है।

दूसरी विचारधाराके पोषक श्रीकण्ठशास्त्री और आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार उक्त पद्यमें आये हुए 'विक्रमार्क' पदका अर्थ विक्रम संवत् करते हैं। अत: अकलंकका समय वि० सं० ७०० (ई० सन् ६४३) का विद्वान् मानते हैं। प्रथम परम्पराके समर्थकोमे स्व० डा० आर० जी० भण्डारकर, स्व० डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण और स्व० श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी हैं। दूसरी धारणाके

१. डा० के० बी० पाठक (भर्तृहरि) और कुमारिल ज० ब० रा० ए० सो० भाग १८), डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण—(हि० इ० ला० पृ० १८६), डा० एस० आल्टेकर (दी राष्ट्रकूटाज एण्ड देअर टाइम्स, पृ० ४०९) पं० नाथूरामजी प्रेमी (जै० हि० भाग ११ अक ५-८), डा० बी० ए० सालेतोर (मिडि० जैनि पृ० ३५), आर नरसिंहाचार्य (इन्स० एट श्रवणबेलगोलाके द्वि० स० की भूमिका), एस० श्रीकण्ठ शास्त्री (ए० भा० ओ० रि० इ० भाग १२ में 'दी एज आफ शंकर'), पं० जुगलकिशोर मुख्तार (जै० सा० इ० वि० प्र० पृ० ५४१), डा० ए० एन० उपाध्ये (डा० पाठकाज व्यु ऑन अनन्तवीर्याज डेट ए० भा० दि० ई० भाग १३, पृ० १६१), पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री (न्या० कु० च०, प्रथम भागकी प्रस्ता० पृ० १०४), डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन जैन सन्देश शोधाक तथा प० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य (सि० वि० की प्रस्ता०, पृ० ४४), डा० आर० जी० भण्डारकर (शान्तरक्षितान रिपर्टेसन), पिटर्सन आदि।

पोषकोमे डा० ए० एन० उपाध्ये, आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार और श्री प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री प्रभृति विद्वान् हैं।

उक्त दोनो धारणाओका आलोडन कर डा० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने अकलकद्वारा भर्तृहरि, कुमारिल, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर और कर्णगोमी आदि आचार्योंके विचारोकी आलोचना पाकर अकलंकका समय ई० सन् ८ वी शती सिद्ध किया है। न्यायाचार्यजीके प्रमाण पर्याप्त सबल है। आपने अकलकदेवके ग्रन्थोका सूक्ष्म अध्ययन कर उक्त निष्कर्ष निकाला है[1]।

आचार्य कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने गहन अध्ययन कर अकलकदेवका समय ई० सन् ६२०–६८० तक निश्चित किया है और महेन्द्रकुमारजीके अनुसार यह समय ई० सन् ७२०–७८० आता है। इस तरह इन दोना समयोके मध्यमे १०० वर्षोका अन्तर है।

धनञ्जयने अपनी नाममालामे एक पद्य लिखा है, जिसमे अकलकके प्रमाणका जिक्र आया है। लिखा है

प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
धनञ्जयकवे. काव्य रत्नत्रयमपश्चिमम्॥

अकलकका प्रमाण, पूज्यपादका व्याकरण और धनञ्जय कविका काव्य ये तीनो अपश्चिम रत्न हैं।

अकलकदेवकी जैनन्यायको सबसे बडी देन है प्रमाण। इनके द्वारा की गयी प्रमाणव्यवस्था दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो सम्प्रदायोके आचार्योंने अपनी-अपनी प्रमाणमीमांसाविषयक रचनाओमे ज्यो-का-त्यो अनुकरण किया है। अत धनंजयने इस पद्यमे जैन तार्किक अकलकदेव और उनके प्रमाणशास्त्रका उल्लेख किया है।

धनञ्जयके पश्चात् वीरसेनस्वामीने अपनी धवला तथा जयधवला टीकाओमे और उनके शिष्य जिनसेनने महापुराणमे अकलकका निर्देश किया है। वीरसेन स्वामीने अकलकदेवका नामोल्लेख किये बिना 'तत्त्वार्थभाष्य' के नामसे उनके तत्त्वार्थवार्तिकका तथा सिद्धिविनिश्चयका उल्लेख करके उनके उद्धरण दिये हैं। जिनसेनने लिखा है

१ न्यायकुमुदचन्द्र, भाग २, अकलकग्रन्थत्रय एव सिद्धिविनिश्चयटीका इन तीनो ग्रन्थोकी प्रस्तावना।

भट्टाकलङ्कश्रीपालपात्रकेसरिणां गुणाः ।
विदुषां हृदयारूढा हारायन्तेऽतिनिर्मलाः[1] ।

अर्थात् भट्ट अकलंक, श्रीपाल और पात्रकेसरी आदि आचार्योंके अत्यन्त निर्मल गुण विद्वानोंके हृदयमें मणिमालाके समान सुशोभित होते हैं।

वीरसेनने धवलाटीकामें 'इति' शब्दका अर्थ बतलानेके लिए एक पद्य उद्धृत किया है, जो धनञ्जय कविकी अनेकार्थनाममालाका ३९ वाँ पद्य है। अत. धनञ्जय वीरसेनसे पूर्ववर्त्ती है और धनञ्जयसे पूर्ववर्त्ती अकलंक हुए हैं। अतएव अकलंकका समय सातवीं शतीका उत्तरार्द्ध सिद्ध होता है।

रचनाएँ

अकलंकदेवकी रचनाओंको दो वर्गोंमें विभक्त किया जा सकता है। प्रथम वर्गमें उनके स्वतन्त्र-ग्रन्थ और द्वितीय वर्गमें टीका-ग्रन्थ रखे जा सकते हैं। स्वतन्त्र-ग्रन्थ निम्नलिखित हैं

१ स्वोपज्ञवृत्तिसहित लघीयस्त्रय
२ न्यायविनिश्चय सवृत्ति
३ सिद्धिविनिश्चय सवृत्ति
४. प्रमाणसंग्रह सवृत्ति

टीकाग्रन्थ

१ तत्त्वार्थवार्तिक सभाष्य ।
२. अष्टशती देवागमविवृत्ति ।

१ लघीयस्त्रय[2] - में तीन छोटे-छोटे प्रकरणोंका संग्रह है (१) प्रमाण-प्रवेश (२) नयप्रवेश और (३) निक्षेपप्रवेश। प्रमाणप्रवेशके चार परिच्छेद हैं (१) प्रत्यक्षपरिच्छेद (२) विषयपरिच्छेद (३) परोक्षपरिच्छेद और (४) आगम-परिच्छेद। इन चार परिच्छेदोंके साथ नयप्रवेश तथा प्रवचनप्रवेशको मिलाकर कुल छ परिच्छेद स्वोपज्ञविवृत्तिमें पाये जाते हैं। लघीयस्त्रयके व्याख्याकार आचार्य प्रभाचन्द्रने प्रवचनप्रवेशके भी दो परिच्छेद करके कुल सात परिच्छेदों पर अपनी 'न्यायकुमुदचन्द्र' व्याख्या लिखी है। लघीयस्त्रयमें कुल ७८ कारिकाएँ हैं किन्तु मुद्रित लघीयस्त्रयमें ७७ ही कारिकाएँ हैं, "लक्षण क्षणिकैकान्ते" (कारिका ३५) नहीं है। इसके प्रथम परिच्छेदमें साढे छ, द्वितीय परिच्छेदमें ३, तृतीयमें १२, चतुर्थमें ७, पंचममें २१ तथा षष्ठमें २८ इस प्रकार कुल ७८ कारिकाएँ हैं।

१. आदिपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण, १।५३ ।
२ अकलङ्कग्रन्थत्रयके अन्तर्गत, सिंघी सिरीज ।

अकलंकदेवने इसपर संक्षिप्त विवृति भी लिखी है। पर यह विवृति कारिकाओंका व्याख्यानरूप न होकर सूचित विषयोंकी पूरक है। यह मूल श्लोकोंके साथ ही साथ लिखी गयी है। प० महेन्द्रकुमारजीने लिखा है "मालूम होता है कि अकलङ्कदेव जिस पदार्थको कहना चाहते हैं, वे उसके अमुक अंशकी कारिका बनाकर बाकीको गद्यभागमें लिखते हैं। अतः विषयकी दृष्टिसे गद्य और पद्य दोनों मिलकर ही ग्रन्थकी अखण्डता स्थिर रखते हैं। धर्मकीर्तिकी प्रमाणवार्तिककी वृत्ति भी कुछ इसी प्रकारकी है। उसमें भी कारिकोक्त पदार्थकी पूर्ति तथा स्पष्टताके लिए बहुत कुछ लिखा गया है।"[1]

लघीयस्त्रयके प्रथम परिच्छेदमें सम्यक्ज्ञानकी प्रमाणता, प्रत्यक्ष-परोक्षका लक्षण, प्रत्यक्षके सांव्यवहारिक और मुख्य रूपसे दो भेद, सांव्यवहारिकके इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षरूपसे दो भेद, मुख्यप्रत्यक्षका समर्थन, सांव्यवहारिकके अवग्रहादिरूप भेद तथा उनके लक्षण, अवग्रहादिके बह्वादिरूप भेद, भावइन्द्रिय, द्रव्यइन्द्रियके लक्षण, पूर्व-पूर्व ज्ञानकी प्रमाणता और उत्तरोत्तर ज्ञानोंकी फलरूपता आदि विषयोंका कथन आया है।

द्वितीय परिच्छेदमें द्रव्य पर्यायात्मक वस्तुका प्रमाणविषयत्व तथा अर्थक्रियाकारित्वके विवेचनके पश्चात् नित्यैकान्त और क्षणिकैकान्तमें क्रम-योगपद्यसे अर्थक्रियाकारित्वका अभाव प्रतिपादित किया है। वस्तुको नित्य माननेपर आनेवाले दोषोंकी समीक्षा की है। वस्तु न सर्वथा नित्य है और न अनित्य। वह किसी नयविशेषकी अपेक्षासे नित्य है और इतर नयकी अपेक्षासे अनित्य। लिखा है कि भेदाभेदात्मक वस्तु द्रव्यार्थिक और पर्यार्थिक नयकी अपेक्षासे ही घटित होती है। द्रव्यार्थिक अभेदका आश्रय करता है और पर्यार्थिक भेदका। यथा

अर्थक्रिया न युज्यते नित्य-क्षणिकपक्षयोः।
क्रमाऽक्रमाभ्यां भावानां सा लक्षणतया मता[2]॥

तृतीय परिच्छेदमें मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता तथा अभिनिबोधका शब्दयोजनासे पूर्व अवस्थामें मतिव्यपदेश तथा उत्तर अवस्थामें श्रुतव्यपदेश, व्याप्तिका ग्रहण प्रत्यक्ष और अनुमानके द्वारा सम्भव न होनेसे व्याप्तिग्राही तर्कका प्रामाण्य, अनुमानका लक्षण, जलचन्द्रके दृष्टान्तसे कारणहेतुका समर्थन, कृत्तिकोदय आदि पूर्वचर हेतुका समर्थन, अदृश्यानुपलब्धिसे परचैतन्य आदिका

१ अकलङ्कग्रन्थत्रय, प्रस्तावना, पृष्ठ ३५-३६।
२ लघीयस्त्रय, कारिका ८।

अभावज्ञान, नैयायिकाभिमत उपमानका सादृश्यप्रत्यभिज्ञानमे अन्तर्भाव, प्रत्यभिज्ञानके वैसादृश्य, आपेक्षिक प्रतियोगी आदि भेदोका निरूपण, बौद्धमतमे स्वभावादि हेतुओके प्रयोगमे कठिनता, अनुमान-अनुमेयव्यवहारकी वास्तविकता एव विकल्पबुद्धिकी प्रमाणता आदि परोक्षज्ञानसे सम्बन्ध रखनेवाले विषयोका निरूपण किया है।

चतुर्थ परिच्छेदमे ज्ञानमे ऐकान्तिक प्रमाणता या अप्रमाणताका निषेध कर प्रमाणाभासका स्वरूप, सविकल्प ज्ञानमे प्रत्यक्षाभासताका अभाव, अविसवाद और विसवादसे प्रमाण-प्रमाणाभासव्यवस्था, विप्रकृष्ट विषयोमें श्रुतकी प्रमाणता, हेतुवाद और आप्तोक्त रूपसे द्विविध श्रुतकी अविसवादि होनेसे प्रमाणता, शब्दोके विवक्षावाचित्वका खण्डनकर उनकी अर्थवाचकता आदि श्रुतसम्बन्धी विषयोका विवेचन किया गया है। प्रमाणके स्वरूप, सख्या, विषय और फलका निरूपण भी प्रमाणप्रवेशमे किया है।

पञ्चम परिच्छेदमे नय-दुर्नयके लक्षण, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक रूपसे नयके मूल भेद, सद्रूपसे समस्त वस्तुओके ग्रहणका संग्रहनयत्व, ब्रह्मवादका सग्रहाभासत्व, बौद्धाभिमत क्षणिक एकान्तका निरास, गुण-गुणी, धर्म-धर्मीकी गौण-मुख्य विवक्षामे नैगमनयकी प्रवृत्ति, वैशेषिकसम्मत गुण-गुण्यादिके एकान्त भेदका नैगमाभासत्व, प्रमाणिक भेदका व्यवहारनयत्व, काल्पनिक भेदका व्यवहाराभासत्व, कालकारकादिके भेदसे अर्थभेदनिरूपणकी शब्दनयता, पर्यायभेदसे अर्थभेदक कथनका समभिरूढनयत्व, क्रियाभेदसे अर्थभेदप्ररूपणका एवभूतनयत्व, सामग्री-भेदसे अभिन्न वस्तुमे भी षट्कारकीका सम्भवत्व प्रतिपादित किया गया है। यहाँ लघीयस्त्रयका द्वितीय प्रकरण नयप्रवेश समाप्त होता है। शब्दज्ञानकी प्रत्यक्षताका निरसनकर अनुमानवत् उसकी परोक्षता सिद्ध करते हुए अकलङ्कदेवने लिखा है

'अक्षशब्दार्थविज्ञानमविसवादत समम्।
अस्पष्ट शब्दविज्ञान प्रमाणमनुमानवत्॥

तदुत्पत्तिसारूप्यादिलक्षणव्यभिचारेऽपि आत्मना यदर्थपरिच्छेदलक्षण ज्ञान तत्तस्येति सम्बन्धात्। वागर्थज्ञानस्यापि स्वयमविसवादात् प्रमाणत्व समक्षवत्। विवक्षाव्यतिरेकेण वागर्थज्ञान वस्तुतत्त्व प्रत्याययति अनुमानवत्, सम्बन्धनियमाभावात्। वाच्यवाचकलक्षणस्यापि सम्बन्धस्य बहिरर्थप्रतिपत्तिहेतुतोपलब्धे'।[1]

१ लघीयस्त्रय, सवृत्ति, कारिका ४६।

प्रवचनप्रवेशमे प्रमाण, नय और निक्षेपके कथनकी प्रतिज्ञा, अर्थ और आलोककी ज्ञानकारणताका खण्डन, अन्धकारको ज्ञानका विषय होनेसे आवरणरूपताका अभाव, तज्जन्म, ताद्रूप्य और तदध्यवसायका प्रमाणमे अप्रयोजकत्व, श्रुतके सकलादेश और विकलादेशरूप उपयोग, "स्यादस्त्येव जीव" इस वाक्यकी विकलादेशता, "स्याज्जीव एव" इस वाक्यकी सकलादेशता, शब्दकी विवक्षासे भिन्न वास्तविक अर्थकी वाचकता, नैगमादि सात नयोमेसे आदिके चार नयोका अर्थनयत्व, शेष तीन नयोका शब्दनयत्व, नामादि चार निक्षेपोके लक्षण, अप्रस्तुतनिराकरण तथा प्रस्तुत अर्थका निरूपणरूप निक्षेपका फल इत्यादि प्रवचनके अधिगमोपायभूत प्रमाण, नय और निक्षेपका निरूपण किया गया है। शास्त्रज्ञानका सादित्व-अनादित्व सिद्ध करते हुए लिखा है। यथा

श्रुतादर्थमनेकान्तमधिगम्याभिसन्धिभि ।
परीक्ष्य तास्तान् तद्धर्माननेकान् व्यावहारिकान् ॥
नयानुगतनिक्षेपैरुपायैर्भेदवेदने ।
विरचय्यार्थवाक्प्रत्ययात्मभेदान् श्रुतार्पितान् ॥
अनुयुज्यानुयोगैश्च निर्देशादिभिदा गतै ।
द्रव्याणि जीवादीन्यात्मा विवृद्धाभिनिवेशन ॥
जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानतत्त्ववित् ।
तपोनिर्जीर्णकर्माऽय विमुक्त सुखमृच्छति[1] ॥

इस प्रकार इसमे प्रमाण, नय और निक्षेपका निरूपण किया है।

२ न्यायविनिश्चय सवृत्ति[2]

विनिश्चयान्त ग्रन्थ लिखनेकी प्रणाली प्राचीन रही है। धर्मकीर्तिका भी प्रमाणविनिश्चय नामक ग्रन्थ मिलता है। 'तिलोयपण्णत्ति' मे भी 'लोकविनिश्चय' नामक ग्रन्थकी सूचना है। न्यायविनिश्चयमे प्रत्यक्ष, अनुमान और प्रवचन ये तीन प्रस्ताव हैं। प्रथम प्रस्तावमे १६९½, द्वितीयमे २१६½ और तृतीयमे ९४, कुल ४८० कारिकाएँ हैं। सिद्धसेनके न्यायावतारमे भी प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द इन तीन प्रमाणोका विवेचन किया गया है।

प्रथम प्रत्यक्षप्रस्तावमे प्रत्यक्ष-प्रमाणपर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। इसमे इन्द्रियप्रत्यक्षका लक्षण, प्रमाणसम्प्लवसूचन, चक्षुरादि-

१ लघीयस्त्रय, कारिका ७३–७६।

२ वादिराजसूरिकी टीकासहित भारतीय ज्ञानपीठ काशी द्वारा प्रकाशित है।

बुद्धियोका व्यवसायात्मकत्व, विकल्पके अभिलापकत्व आदि लक्षणोंका खण्डन, ज्ञानके परोक्षवादका निराकरण, ज्ञानके स्वसंवेदनकी सिद्धि, ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानका निरास, अचेतनज्ञाननिरास, साकारज्ञाननिरास, निराकारज्ञानसिद्धि, संवेदनाद्वैतनिरास, विभ्रमवादनिरास, बहिरर्थसिद्धि, चित्रज्ञानखण्डन, परमाणुरूप बहिरर्थका निराकरण, अवयवोसे भिन्न अवयवीका खण्डन, द्रव्यका लक्षण, गुण-पर्यायका स्वरूप, सामान्यका स्वरूप, अर्थके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यका समर्थन, अपोहरूप सामान्यका निरास, व्यक्तिसे भिन्न सामान्यका खण्डन, धर्मकीर्तिसम्मत प्रत्यक्षलक्षणका खण्डन, बौद्धकल्पित स्वसंवेदन, योगि, मानस प्रत्यक्ष निरास, साख्यकल्पित प्रत्यक्षलक्षणका खण्डन, नैयायिकके प्रत्यक्षका समालोचन, अतीन्द्रियप्रत्यक्षका लक्षण आदि विषयोका विवेचन किया गया है।

द्वितीय अनुमानप्रस्ताव अनुमानसे सम्बद्ध है। इसमे अनुमानका लक्षण, प्रत्यक्षकी तरह अनुमानकी बहिरर्थविषयता, साध्य-साध्याभासके लक्षण, बौद्धादि मतोमे साध्य-प्रयोगकी असम्भवता, शब्दका अर्थवाचकत्व, शब्दसङ्केतग्रहणप्रकार, भूतचैतन्यवादका निराकरण, गुण-गुणीभेदका निराकरण, साधन-साधनाभासके लक्षण, प्रमेयत्वहेतुकी अनेकान्तसाधकता, सत्त्वहेतुकी परिणामिता प्रसाधकता, त्रैरूप्यखण्डनपूर्वक अन्यथानुपपत्तिसमर्थन, तर्ककी प्रमाणता, अनुपलम्भहेतुका समर्थन, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर हेतुका समर्थन, असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर हेत्वाभासोका विवेचन, दूषणाभासलक्षण, जातिलक्षण, जयेतरव्यवस्था, दृष्टान्त, दृष्टान्ताभासविचार, वादका लक्षण, निग्रहस्थानलक्षण, वादाभासलक्षण आदि अनुमानसे सम्बन्ध रखनेवाले विषयोका वर्णन आया है।

तृतीय प्रवचनप्रस्तावमे आगमसम्बन्धी विचार किया गया है। इसमे प्रवचनका स्वरूप, सुगतके आप्तत्वका निरास, सुगतके करुणावत्व तथा चतुरार्यसत्यप्रतिपादकत्वका समालोचन, आगमके अपौरुषेयत्वका खण्डन, सर्वज्ञत्व समर्थन, ज्योतिर्ज्ञानोपदेश, सत्यस्वप्नज्ञान तथा ईक्षणिकादि विद्याके दृष्टान्त द्वारा सर्वज्ञत्वसिद्धि, शब्दनित्यत्वनिरास, जीवादितत्त्वनिरूपण, नैरात्म्य भावनाकी निरर्थकता, मोक्षका स्वरूप, सप्तभंगीनिरूपण, स्याद्वादमे दिये जाने वाले संशयादि दोषोका परिहार, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदिका प्रामाण्य, प्रमाणका फल आदि विषयोका विवेचन आया है।

यह ग्रन्थ कई दृष्टियोसे महत्त्वपूर्ण है। कारिकाओके साथ उत्थानिकावाक्य भी गद्यमे निबद्ध हैं। विवृत्ति टीकात्मक न होकर विशेष विषयके सूचन

रूपमें लिखी गयी है। कारिकाएँ और वृत्ति दोनों प्रौढ एवं गम्भीर भाषामें निबद्ध हैं। उनसे अकलङ्कदेवकी सूक्ष्म प्रज्ञा और तीक्ष्ण समालोचना अवगत कर पाठक प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। उदाहरणार्थ नित्यैकान्त, क्षणिकैकान्त आदिकी उनके द्वारा की गयी समीक्षा दृष्टव्य है

अत्यन्ताभेदभेदौ न तद्वतो न परस्परम्।
दृश्यादृश्यात्मनोर्बुद्धिनिर्भासक्षणभङ्गयो ॥
सर्वथाऽर्थक्रियाऽयोगात् तथा सुप्तप्रबुद्धयो।
अशयोर्यदि तादात्म्यमभिज्ञानमनन्यवत् ॥
सयोगसमवायादिसम्बन्धाद्यादि वर्त्तते।
अनेकत्रैकमेकत्रानेक वा परिणामिन'[1] ॥

सर्वथा नित्यका खण्डन करते हुए लिखा है

नित्य सर्वगत सत्त्व निरश व्यक्तिभिर्यदि ॥
व्यक्त व्यक्त सदा व्यक्त त्रैलोक्य सचराचरम्।
सत्तायोगाद्विना सन्ति यथा सत्तादयस्तथा ॥
सर्वेऽर्था देशकालाश्च सामान्य सकल मतम्।
सर्वभेदप्रभेद सत् सकलाङ्ग शरीरवत्[2] ॥

३. प्रमाणसंग्रह[3]

इसमें ९ प्रस्ताव और ८७½ कारिकाएँ हैं। प्रथम प्रस्तावमें ९ कारिकाएँ, द्वितीयमें ९, तृतीयमें १०, चतुर्थमें ११½, पञ्चममें १०½, षष्ठमें १२½, सप्तममें १०, अष्टममें १३ और नवममें २ कारिकाएँ हैं। प्रथम प्रस्तावमें प्रत्यक्षका लक्षण, श्रुतका प्रत्यक्षानुमानागमपूर्वकत्व, प्रमाणका फल, मुख्यप्रत्यक्षका लक्षण आदि प्रत्यक्षविषयक सामग्री वर्णित है।

द्वितीय प्रस्तावमें स्मृतिकी प्रमाणता, प्रत्यभिज्ञानका प्रामाण्य, तर्कका लक्षण, प्रत्यक्षानुपलम्भसे तर्कका उद्भव, कुतर्कका लक्षण, विवक्षाके बिना भी शब्दप्रयोगका सम्भव, परोक्ष पदार्थोंमें श्रुतसे अविनाभावग्रहण आदिका कथन है।

इस प्रस्तावमें परोक्षके भेद, स्मृति प्रत्यभिज्ञान और तर्कका विशेष रूपसे कथन आया है।

१ न्यायविनिश्चय सवृत्ति, प्रत्यक्षप्रस्ताव, कारिका १४१–१४३।
२. वही, प्रत्यक्षप्रस्ताव, कारिका १५१–१५३।
३. अकलङ्कग्रन्थत्रय सिंघी सिरीज।

तृतीय प्रस्तावमे अनुमानके अवयव, साध्य-साधनका लक्षण, साध्याभासका लक्षण, सदसदेकान्तमे साध्यप्रयोगकी असम्भवता, सामान्यविशेषात्मक वस्तुकी साध्यता एवं अनेकान्तात्मक वस्तुमे दिये जानेवाले संशयादि आठ दोषोकी समीक्षा अङ्कित है। चतुर्थ प्रस्तावमे हेतुसम्बन्धी विचार आया है। इसमे त्रिरूप हेतुका खण्डन करके अन्यथानुपपत्तिरूप हेतुलक्षणका समर्थन किया गया है। हेतुके उपलब्धि और अनुपलब्धिरूप भेदोका विवेचन कर पूर्व-चर, उत्तरचर और सहचर हेतुसम्बन्धी विचार किया गया है। इस प्रस्तावमे विभिन्न मतोकी समीक्षापूर्वक हेतुका स्वरूप निर्धारित किया है।

पञ्चम प्रस्तावमे असिद्ध, विरुद्धादि हेत्वाभासोका निरूपण, सर्वथा एकान्तमे सत्त्वहेतुकी विरुद्धता, सहोपलम्भनियम, हेतुकी विरुद्धता, विरुद्धा-व्यभिचारीका विरुद्धमे अन्तर्भाव, अज्ञातहेतुका अकिञ्चित्करमे अन्तर्भाव आदि हेत्वाभासविषयक प्ररूपण आया है तथा इसमे अन्तर्व्याप्तिका भी समर्थन किया है।

षष्ठ प्रस्तावमे वादका लक्षण, जय-पराजयव्यवस्थाका स्वरूप, जातिका लक्षण, दध्युष्ट्रत्वादिके अभेदप्रसंगका संयुक्तिक उत्तर, उत्पादादित्रयात्मकत्व समर्थन, सर्वथा नित्य सिद्ध करनेमे सत्त्वहेतुका असिद्धत्वादि निरूपण आया है। इस प्रस्तावमे शून्यवाद, संवृतिवाद, विज्ञानवाद, निर्विकल्पकदर्शन, अपोहवाद, क्षणभंगवाद, असत्कार्यवाद आदिकी भी समीक्षा की गयी है।

सप्तम प्रस्तावमे प्रवचनका लक्षण, सर्वज्ञसिद्धि, अपौरुषेयत्वका निरसन, तत्त्वज्ञानसहित चारित्रको मोक्षहेतुता आदि विषयोका विवेचन आया है।

अष्टम प्रस्तावमे सप्तभंगीके निरूपणके साथ नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजु-सूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवम्भूत इन सात नयोका कथन आया है।

नवम प्रस्तावमे प्रमाण, नय और निक्षेपका उपसंहार किया गया है।

४ सिद्धिविनिश्चय सवृत्ति[1]

सिद्धिविनिश्चयमे १२ प्रस्ताव हैं। इनमे प्रमाण, नय और निक्षेपका विवेचन है। प्रथम प्रस्ताव प्रत्यक्ष-सिद्धि है। इसमे प्रमाणका सामान्य लक्षण, प्रमाणका फल, बाह्यार्थकी सिद्धि, व्यवसायात्मक विकल्पकी प्रमाणता और विशदता, चित्रज्ञानकी तरह विचित्र बाह्य पदार्थोंकी सिद्धि, निर्विकल्पक प्रत्यक्षका निरास,

१ सिद्धिविनिश्चय अनन्तवीर्यकी टीका सहित, भारतीय ज्ञानपीठ काशी संस्करण।

स्वसंवेदनप्रत्यक्षके निर्विकल्पकत्वका खण्डन, अविसंवादकी बहुलतासे प्रमाण-व्यवस्था आदि विषयोका विचार किया गया है।

द्वितीय सविकल्पसिद्धि-प्रस्तावमे अवग्रहादि ज्ञानोका वर्णन, मानस-प्रत्यक्ष-की आलोचना, निर्विकल्पसे सविकल्पकी उत्पत्ति एव अवग्रहादिमे पूर्व-पूर्वकी प्रमाणता और उत्तर-उत्तरमे फलरूपताकी सिद्धि की गयी है।

तृतीय प्रमाणान्तर-सिद्धिमे स्मरणको प्रमाणता, प्रत्यभिज्ञानका प्रामाण्य, उपमानका सादृश्यप्रत्यभिज्ञानमे अन्तर्भाव, तर्ककी प्रमाणताका समर्थन, क्षणिक-पक्षमे अर्थक्रियाका अभाव आदिकी समीक्षा आयी है।

चतुर्थ जीवसिद्धि-प्रस्तावमे ज्ञानको ज्ञानावरणके उदयसे मिथ्याज्ञान, क्षणिकचित्तमे कार्यकारणभाव, सन्तान आदिको अनुत्पत्ति, जीव और कर्म चेतन और अचेतन होकर भी बन्धके प्रति एक हैं, कर्मास्रव तत्त्वोपप्लववाद, भूतचैतन्यवाद एव विभिन्न दर्शनोमे मान्य आत्मस्वरूपका विवेचन किया है।

पञ्चम प्रस्ताव जल्प-सिद्धि है। इसमे जल्पका लक्षण, उसकी चतुरङ्गता, जल्पका फलमार्ग प्रभावना, शब्दकी अर्थवाचकता, निग्रहस्थान एव जय-पराजयव्यवस्थाकी समीक्षा की गयी है।

छठा हेतुलक्षणसिद्धि-प्रस्ताव है। इसमे हेतुका अन्यथानुपपत्तिलक्षण, तादात्म्य-तदुत्पत्तिसे ही अविनाभावकी व्याप्ति नही, हेतुके भेद, कारण आदि-का कथन आया है।

सप्तम प्रस्ताव शास्त्र-सिद्धि है। इसमे श्रुतका श्रेयोमार्गसाधकत्व शब्दका अर्थवाचकत्व, स्वप्नादि दशामे भी जीवकी चेतनता, भेदैकान्तमे कारक, ज्ञापक स्थितिका अभाव, ईश्वरवाद, पुरुषाद्वैतवाद, वेदका अपौरुषेयवाद आदिका समालोचन किया है।

अष्टम सर्वज्ञसिद्धि-प्रस्तावमे सर्वज्ञकी सिद्धि और नवम शब्दसिद्धि प्रस्तावमे शब्दका पौद्‌गलिकत्व सिद्ध किया है। दशम प्रस्तावका नाम अर्थनयसिद्धि है। इसमे नयका स्वरूप, नैगम, सग्रह, व्यवहार और ऋजु-सूत्र इन चार अर्थ-नयो और नयाभासोका वर्णन आया है।

ग्यारहवाँ शब्दनयसिद्धि-प्रस्ताव है। इसमे शब्दका स्वरूप, स्फोटवादका खण्डन, शब्दनित्यत्वका निरास, शब्दनय, समभिरूढनय एव एवम्भूतनय आदिका वर्णन आया है।

बारहवाँ निक्षेपसिद्धि-प्रस्ताव है। इसमे निक्षेपका लक्षण, भेद, उपभेदोका स्वरूप एव उनकी सम्भावनाओ पर विचार किया गया है।

५ तत्त्वार्थवार्त्तिक सभाष्य

इस ग्रन्थके मंगलपद्यके चतुर्थ चरणसे 'वक्ष्ये तत्त्वार्थवार्त्तिकं' लिखकर अकलंकदेवने इस ग्रन्थको 'तत्त्वार्थवार्त्तिक' कहा है। तत्त्वार्थसूत्रके प्रत्येक सूत्रपर वार्त्तिकरूपमें व्याख्या लिखे जानेके कारण यह तत्त्वार्थवार्त्तिक कही गयी है। वार्त्तिक श्लोकात्मक भी होते हैं और गद्यात्मक भी। कुमारिलका मीमांसाश्लोकवार्त्तिक और धर्मकीर्तिका 'प्रमाणवार्त्तिक' पद्योंमें लिखे गये हैं। पर न्यायदर्शनके सूत्रोंपर उद्योतकरने जो वार्त्तिक रचा है, वह गद्यात्मक है। अतएव यह अनुमान लगाना सहज है कि अकलंकने उद्योतकरके अनुकरण पर गद्यात्मक तत्त्वार्थवार्त्तिक रचा है। अकलङ्ककी विशेषता यह है कि उन्होंने तत्त्वार्थसूत्रके सूत्रोंपर वार्त्तिक रचे और वार्त्तिकोंपर भाष्य भी लिखा है। इस तरह इस ग्रन्थमें वार्त्तिक पृथक् हैं और उनकी व्याख्या-भाष्य अलग है। इसी कारण इसकी पुष्पिकाओंमें इसे 'तत्त्वार्थवार्त्तिकव्याख्यानालंकार' संज्ञा दी गयी है।

यह ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्रकी व्याख्या होनेके कारण दश अध्यायोंमें विभक्त है। इसका विषय भी तत्त्वार्थसूत्रके विषयके समान ही सैद्धान्तिक और दार्शनिक है। तत्त्वार्थसूत्रके प्रथम तथा पंचम अध्यायमें क्रमशः ज्ञान एवं द्रव्योंकी चर्चा आयी है और ये दोनों विषय ही दर्शनशास्त्रके प्रधान अंग हैं। अतः अकलंक-देवने इन दोनों अध्यायोंमें अनेक दार्शनिक विषयोंकी समीक्षा की है। दर्शन शास्त्रके अध्येताओंके लिये तत्त्वार्थवार्त्तिकके ये दोनों अध्याय विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

तत्त्वार्थवार्त्तिककी एक प्रमुख विशेषता यह है कि जितने भी मन्तव्य उसमें चर्चित हुए, उन सबका समाधान अनेकान्तके द्वारा किया गया है। अतः दार्श-निक विषयोंसे सम्बद्ध सूत्रोंके व्याख्यानमें 'अनेकान्तात्'वार्त्तिक अवश्य पाया जाता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि वार्त्तिककारने दार्शनिक विषयोंके कथन-सन्दर्भमें आगमिक विषयोंको भी प्रस्तुत कर अनेकान्तवादकी प्रतिष्ठा की है।

तृतीय, चतुर्थ अध्यायोंमें लोकानुयोगसे सम्बद्ध विषय आये हैं। इस विषयके प्रतिपादनमें 'तिलोयपण्णत्ति' आदि प्राचीन ग्रन्थोंकी अपेक्षा अनेक नवीनताओं-का समावेश किया गया है। इस ग्रन्थकी विशेषताओंके सम्बन्धमें प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजीने लिखा है "राजवार्त्तिक और श्लोकवार्त्तिकके इतिहासज्ञ अभ्यासी-को मालूम पड़ेगा कि दक्षिण हिन्दुस्तानमें जो दार्शनिक विद्या और स्पर्धाका समय आया और अनेकमुख पाण्डित्य विकसित हुआ, उसीका प्रतिबिम्ब इन दोनों ग्रन्थोंमें है। प्रस्तुत दोनों वार्त्तिक जैनदर्शनका प्रामाणिक अभ्यास करने-के पर्याप्त साधन हैं। परन्तु इनमेंसे 'राजवार्त्तिक'का गद्य सरल और विस्तृत

होनेसे तत्त्वार्थके सम्पूर्ण टीकाग्रन्थोकी गरज अकेला ही पूर्ण करता है। ये दो वार्त्तिक यदि नही होते, तो दशवी शताब्दी तकके दिगम्बर साहित्यमे जो विशिष्टता आयी, और उसकी जो प्रतिष्ठा बँधी वह निश्चयसे अधूरी ही रहती। ये दो वार्त्तिक साम्प्रदायिक होनेपर भी अनेक दृष्टियोसे भारतीय दार्शनिक साहित्यमे विशिष्ट स्थान प्राप्त करे, ऐसा योग्यता रखते हैं। इनका अवलोकन बौद्ध और वैदिक परम्पराके अनेक विषयो पर तथा अनेक ग्रन्थो पर ऐतिहासिक प्रकाश डालता है।"

'तत्त्वार्थवार्त्तिक'का मूल आधार पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि है। सर्वार्थसिद्धि-की वाक्यरचना, सूत्र जैसी सतुलित और परिमित है। यही कारण है कि अकलकदेवने उसके सभी विशेष वाक्योको अपने वार्तिक बना डाले हैं, और उनका व्याख्यान किया है। आवश्यकतानुसार नये वार्त्तिकोकी भी रचना की है, पर सर्वार्थसिद्धिका उपयोग पूरी तरहसे किया है। जिस प्रकार बीज वृक्षमे समाविष्ट हो जाता है, उसी प्रकार समस्त सर्वार्थसिद्धि तत्त्वार्थवार्त्तिकमे समाविष्ट है, पर विशेषता यह है कि सर्वार्थसिद्धिके विशिष्ट अभ्यासीको भी यह प्रतीति नही हो पाती कि वह प्रकारान्तरसे सर्वार्थसिद्धिका अध्ययन कर रहा है।

तत्त्वार्थवार्त्तिक'मे यो तो अनेक विषयोकी चर्चा की गयी है, पर विशेषरूपसे जिन विषयोपर प्रकाश डाला गया है, वे निम्नलिखित हैं

१ कर्त्ता और करणके भेदाभेदकी चर्चा। तीनो वाच्यो द्वारा ज्ञानकी व्युत्पत्ति २ आत्माका ज्ञानसे भिन्नाभिन्नत्व।

३. केवल ज्ञानप्राप्तिके द्वारा मोक्षकी मान्यताका निरसन कर मोक्षमार्ग-का निरूपण। सन्दर्भानुसार साख्य, वैशेषिक, न्याय और बौद्ध दर्शनोकी समीक्षा

४. मुख्य और अमुख्योका विवेचन करते हुए अनेकान्तदृष्टिका समर्थन।

५ सप्तभगीके निरूपणके पश्चात् अनेकान्तमे अनेकान्तकी सुघटना।

६ अनेकान्तमे प्रतिपादित छल, सशय आदि दोषोका निराकरण करते हुए अनेकान्तात्मकताकी सिद्धि।

७. एकान्तवादमे ज्ञानके करण-कर्तृत्त्वका अभाव।

८. आत्म-अनात्मवादियोका समीक्षा।

९. प्रत्यक्ष-परोक्षसम्बन्धी ज्ञानकी व्याख्याओका विस्तृत विवेचन।

इस सन्दर्भमे पूर्वपक्षके रूपमे बौद्ध, न्याय, वैशेषिक, मीमासक आदि दार्श-निकोकी समीक्षा।

१. तत्त्वार्थसूत्र, भारत जैन महामंडल वर्धा, द्वितीय सस्करण, सन् १९५२, पृ० ७८, ७९।

१० चक्षुके प्राप्यकारित्व और श्रोत्रके अप्राप्यकारित्वका निराकरण ।

११. श्रुतज्ञानके अन्तर्गत अनुमानके पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट भेद तथा उपमान, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभावका समावेश ।

१२ आत्मसिद्धि ।

१३ स्वात्मा और परमात्माके विश्लेषणके साथ सप्तभंगीके सकलादेश और विकलादेशोका विवेचन ।

१४ 'द्रव्यत्वयोगात् द्रव्य' और 'गुणसद्भावो द्रव्य'की विस्तृत समीक्षा ।

१५ विभिन्न दर्शनोके आलोकमे शब्दके मूर्तिकत्वका विवेचन ।

१६ स्फोटवाद-समीक्षा ।

१७ कौक्कल, काण्ठेविद्धि, कौशिक, हरि, श्मश्रुमान, कपिल, रोमश, हरितारव, मुण्ड और आश्वलायन आदि क्रियावादियोका समालोचन ।

१८ मरीचिकुमार, उलूक, कपिल, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, माठर, मौद्गलायन आदि अक्रियावादी दार्शनिकोकी समीक्षा ।

१९ साकल्य, वासकल, कुथुमि, सात्यमुग्री, चारायण, कठ, माध्यन्दिन, मौद, पैपलादि, वादरायण, येतिकायन, वसु और जैमिनि आदि अज्ञानवादियोका समालोचन ।

२०. वशिष्ठ, पाराशर, जतुकर्ण, वाल्मीकि, रोमहर्षिणी, व्यास, एलापुत्र, औपमन्यव, इन्द्रदत्त आदि वैनिक वादियोकी समीक्षा ।

२१ जीव-अजीव आदि तत्वोका निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधानपूर्वक विवेचन ।

२२ ज्ञानोके विषयक्षेत्रका कथन ।

२३ नयोका सोपपत्तिक निरूपण ।

२४ शरीरोका सविस्तर निरूपण ।

२५ लोकरचना क्षेत्रफल और घनफलोका निरूपण ।

२६ गुणस्थान, ध्यान, अनुप्रेक्षा एव मार्गणा आदिका विस्तृत कथन ।

२७. द्रव्य और तत्वोंकी व्यवस्थाका कथन ।

इस प्रकार 'तत्त्वार्थराजवार्तिक' मे अनेक विशेष वातोका कथन आया है । यह ग्रन्थ अध्याय, आह्निक और वार्तिकोमे विभक्त है । यहाँ उदाहरणार्थ एकाध वार्तिक प्रस्तुत करते हैं, जिससे अकलंकदेवको विषयप्रतिपादनसम्बन्धी विशेषता अभिव्यक्त हो जायगी ।

प्रमाणनयार्पणाभेदात् "एकान्तो द्विविध. सम्यगेकान्तो मिथ्यैकान्त इति । अनेकान्तोऽपि द्विविध सम्यगनेकान्तो मिथ्यानेकान्त इति । तत्र सम्य-

गेकान्तो हेतुविशेषसामर्थ्यापेक्ष प्रमाणप्ररूपितार्थैकदेशादेश । एकात्मावधारणेन अन्याशेषनिराकरणप्रवणप्राणिधिर्मिथ्यैकान्त । एकत्र सप्रतिपक्षानेकधर्मस्वरूप-निरूपणो युक्त्यागमाभ्यामविरुद्ध सम्यगनेकान्त । तदतत्स्वभाववस्तुशून्य परि-कल्पितानेकात्मक केवल वाग्विज्ञान मिथ्याऽनेकान्त । तत्र सम्यगेकान्तो नय इत्युच्यते । सम्यगनेकान्त' प्रमाणम् । नयार्पणादेकान्तो भवति एकनिश्चयप्रवण-त्वात्, प्रमाणार्पणादनेकान्तो भवति अनेकनिश्चयाधिकरणत्वात्[1] ।

६. अष्टशती

जैनदर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है। आचार्य समन्तभद्र अनेकान्तवादके सबसे बडे व्यवस्थापक हैं। उन्होने आप्तमीमासा नामक ग्रन्थ द्वारा उसकी व्यवस्था की है। इसी आप्तमीमासापर अकलकदेवने अपनी 'अष्टशती' वृत्ति लिखी है। इस वृत्तिका प्रमाण ८०० श्लोक है, अत यह अष्टशती कहलाती है। विद्यानन्दने समन्तभद्रके उक्त ग्रन्थपर अष्टसहस्री नामकी टीका लिखी है, जिसमे अष्टशतीको 'दूधमे चीनी' की तरह समाविष्ट कर लिया है। शतीके रचयिता अकलकदेवने इसमे अनेक नये तथ्योपर प्रकाश डाला है। विभिन्न दर्शनोके द्वैत-अद्वैतवाद, शाश्वत-अशाश्वतवाद, वक्तव्य-अवक्तव्यवाद, अन्यता-अनन्यतावाद, सापेक्ष-अनपेक्षवाद, हेतु-अहेतुवाद, विज्ञान-बहिरर्थवाद, दैव-पुरुषार्थ-वाद, पुण्य-पापवाद और बन्ध-मोक्षकारणवादकी समीक्षा की गयी है। उनके प्रतिपादनका एक उदाहरण प्रस्तुत है

"स्वभावान्तरात्स्वभावव्यावृत्तिरन्यापोह" संविदो ग्राह्याकारात्कथञ्चिद्-व्यावृत्तौ अनेकान्तसवित्ते स्वलक्षणप्रत्यक्षवृत्तावपि सवेद्याकारविवेक स्व-भावान्तरानुपलब्धे स्वभावव्यावृत्ति शबलविषयनिर्भासेऽपि लोहितादीना पर-स्परव्यावृत्तिरन्यथाचित्रप्रतिभासासभवात्, तदन्यतमवत्तदालम्बनस्यापि नीला-देरभेदस्वभावापत्ते. तद्वतस्तेभ्यो व्यावृत्तिरेकानेकस्वभावत्वात् रूपादिवत् अन्यथा द्रव्यमेव स्यान्न रूपादय" ।[2]

अनेकान्तात्मकवस्तुकी सिद्धि करते हुए लिखा है

"यत्सत् तत्सर्वमनेकान्तात्मक वस्तुतत्त्व सर्वथा तदर्थक्रियाकारित्वात्। स्वविषयाकारसवित्तिवत्। न किञ्चिदेकान्त वस्तुतत्त्व सर्वथा तदर्थक्रियासभ-

१ तत्त्वार्थवार्त्तिक, भारतीय ज्ञानपीठ काशी सस्करण, १।६-७।
२. अष्टशती, भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी सस्था, काशी, सन् १९१४ ई०, कारिका ११, पृ० १०।

वात् गगनकुसुमादिवत्। नास्ति सदेकान्त सर्वव्यापारविरोधप्रसंगात् असदेकान्तवदिति विधिना प्रतिषेधेन वा वस्तुतत्त्वं नियम्यते"।[1]

शैली एवं काव्यप्रतिभा

अकलंकदेवकी शैली गूढ एवं शब्दार्थगर्भित है। ये जिस विषयको भी ग्रहण करते हैं, उसका गम्भीर और अर्थपूर्ण वाक्योंमे विवेचन करते हैं। अत कम-से-कम शब्दोमे अधिक से-अधिक विषयका निरूपण करना इनका लक्ष्य है। अकलंकदेवकी उनकी रचनाओंपरसे षड्दर्शनोंका गम्भीर और सूक्ष्म चिन्तन अवगत होता है। फलत उनका अतल तलस्पर्शी ज्ञान सर्वत्र उपलब्ध है। इनकी कारिकाओंमे अर्थगाम्भीर्य है, प्रसंगवश वे वादियोंपर करारा व्यंग्य करनेसे भी चूकते नही हैं। व्यंग्यके समय इनकी रचनाओंमे सरसता आ जाती है, और दर्शनके शुष्क विषय भी साहित्यके समान सरस प्रतीत होने लगते हैं। अदृश्यानुपलब्धिसे अभावकी सिद्धि न माननेपर वे बौद्धोंपर व्यंग करते हुए कहते हैं

> दध्यादौ न प्रवर्त्तेत बौद्धः तद्भुक्तये जनः।
> अदृश्यां सौगतीं तत्र तनूं संशङ्कमानकः॥
> दध्यादिके तथा भुक्ते न भुक्तं काञ्जिकादिकम्।
> इत्यसौ वेत्तु नो वेत्ति न भुक्ता सौगती तनुः[2]॥

अदृश्यकी आशंकासे बौद्ध दही खानेमे निःशंक प्रवृत्ति नही कर सकेंगे, क्योंकि वहाँ सुगतके अदृश्य शरीरकी शंका बनी रहेगी। दही खानेपर काञ्जी नही खायी, यह तो वे समझ सकते हैं, पर बुद्ध शरीर नहीं खाया, यह समझना उन्हें असम्भव है।

यह कितना मार्मिक व्यंग्य है। धर्मकीर्तिके अभेदप्रसंगका उत्तर भी अकलंकदेवने व्यंग्यात्मक रूपमे दिया है। अकलंकदेव कठिन-से-कठिन विषयको भी व्यंग्यात्मक सरलरूपमे प्रस्तुत करते हैं। यो तो अकलंकदेवने अनुष्टुप् छन्दोमे ही अधिकांश कारिकाएँ लिखी हैं, पर उन्हे शार्दूलविक्रीडित और स्रग्धरा छन्द भी विशेष प्रिय हैं। जहाँ उन्हे थोडा-सा भी अवसर मिलता है कि वे इन छन्दोंका प्रयोग करने लगते हैं। न्यायके प्रकरणोमे उद्देश्यनिर्देशक और उपसंहारात्मक पद्योमे इन छन्दोंका प्रयोग पाया जाता है। मंगलाचरणके पद्योमे अलंकारोंका नियोजन भी विद्यमान है। निम्नलिखित पद्यमे सम्यग्ज्ञानको जल-

१ अष्टशती, कारिका १०९, पृ० ४८।
२ सिद्धिविनिश्चयटीका, भारतीय ज्ञानपीठ काशी संस्करण, भाग २, पृ० ४३७।

रूपक प्रदान कर मलिन हुए न्यायमार्गके प्रक्षालनकी बात वे कितनी सदयतासे व्यक्त करते हैं

> बालाना हितकामिनामतिमहापापै पुरोपार्जितै
> माहात्म्यात्तमस स्वय कलिबलात् प्रायो गुणद्वेषिभि ।
> न्यायोऽय मलिनीकृत कथमपि प्रक्षाल्य नेनीयते,
> सम्यग्ज्ञानजलैर्वचोभिरमल तत्रानुकम्पापरै ॥[१]

इसी प्रकार अनुप्रास, यमक आदि अलकार भी इनके दर्शन-ग्रन्थोमे काव्य-रचना न होनेपर भी प्राप्त है। शैलीकी दृष्टिसे अकलक निश्चय ही उद्योतकर और धर्मकीर्तिके समकक्ष हैं।

एलाचार्य

एलाचार्यका स्मरण आचार्य वीरसेनने विद्यागुरुके रूपमे किया है। उन्होने लिखा है

> जस्सपसाएसेण मए सिद्धतमिद हि अहिलहुद ।
> महु सो एलाइरियो पसियउ वरवीरसेणस्स ॥

जिसके आदेशसे मैने इस सिद्धान्तग्रन्थको लिखा है वह एलाचार्य मेरे ऊपर प्रसन्न हो।

वीरसेनाचार्यने जयधवलाटीकामे भी एलाचार्यका स्मरण किया है तथा उनकी कृपासे प्राप्त आगम-सिद्धान्तको लिखे जानेका निर्देश किया है। बताया है "एदेण वयणेण सुत्तस्स देसामासियत्त जेण जाणाविद तेण चउण्ह गईणं उच्चारणाबलेण एलाइरियपसाएण य सेसकम्माण परूवणा कीरदे।"[२]

अर्थात् उच्चारणाके बलसे और एलाचार्यके प्रसादसे चारो गतियोमे शेष कर्मों की प्ररूपणा करते हैं कालानुगमकी अपेक्षा निर्देश दो प्रकारका है ओघनिर्देश और आदेशनिर्देश। इनमेसे ओघकी अपेक्षा मिथ्यात्वकी तीन प्रकृत्तियोका जघन्यकाल एक समय है, तथा उत्कृष्टकाल दो समय है। इसी प्रकार असख्यातभागहानि, सख्यातभागहानि, सख्यातगुण-हानि और असख्यातगुण-हानिके जघन्य और उत्कृष्ट कालका आनयन एलाचार्यके उपदेशसे किया है।

१ धवलाटीका, अन्तिम प्रशस्ति, पुस्तक १६, गाथा १।

२ जयधवलाटीका समन्वित कसायपाहुड, भाग ४, पृ० १६९।

परिचय

गृद्धपिच्छके नामान्तरोमे एलाचार्यके नामकी गणना पायी जाती है। किन्तु प्रस्तुत एलाचार्य उनसे भिन्न हैं। ये वीरसेनके समकालीन है और उनका सैद्धान्तिक पाण्डित्य असाधारण होगा। इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमे एलाचार्यके सम्बन्धमे लिखा है

> काले गते कियत्यपि तत पुनश्चित्रकूटपुरवासी।
> श्रीमानेलाचार्यो बभूव सिद्धान्ततत्वज्ञ ॥
> तस्य समीपे सकल सिद्धान्तमधीत्य वीरसेनगुरु।
> उपरितमनिवन्धनाद्यधिकारानष्ट च लिलेख[1] ॥

वप्पदेवके पश्चात् कुछ वर्ष वीत जानेपर सिद्धान्तशास्त्रके रहस्य ज्ञाता एलाचार्य हुए। ये चित्रकूट नगरके निवासी थे। इनके पार्श्वमे रहकर वीरसेनाचार्यने सकल सिद्धान्तोका अध्ययन कर निवन्धनादि आठ अधिकारोको लिखा।

इस उद्धरणसे यह स्पष्ट है कि वीरसेन आचार्यने आगमग्रन्थोका अध्ययन एलाचार्यसे किया था। प्राचीन समयमे विद्यागुरु और दीक्षागुरु पृथक्-पृथक् हुआ करते थे। अत एलाचार्य वीरसेनके विद्यागुरुके रूपमे रहे होगें।

जयधवलाटीकाके प्रथम भागमे एलाचार्यके वात्सल्यको आचार्य वीरसेनने प्रशसा की है। लिखा है 'जीॱममेलाइरियवच्छओ'[2] इस कथनसे ध्वनित होता है कि एलाचार्य वीरसेनको वहुत स्नेह करते थे। यही कारण है कि उन्होने अपनेको एलाचार्यका वत्स कहा है।

समय-निर्णय

इनके समयका निर्धारक रूपसे वडा प्रमाण यही है कि वीरसेनने उन्हे अपना गुरु बताया है और उन्हीके आदेशसे सिद्धान्त-ग्रन्थोका प्रणयन किया है। अत एलाचार्य वीरसेनके समकालीन अथवा कुछ पूर्ववर्ती हैं। वीरसेनने धवलाटीका शक सवत् ७३८ (ई० सन् ८१६)मे समाप्त की थी। अतएव एलाचार्य आठवी शताब्दीके उत्तरार्ध और नवमी शतीके पूर्वार्द्धके विद्वानाचार्य हैं।

प्रतिभा एवं वैदुष्य

एलाचार्यके ग्रन्थ उपलब्ध नही हैं और न कोई ऐसी कृति ही उपलब्ध है,

१. इन्द्रनन्दि श्रुतावतार, श्लोक १७७-१७८।

२. जयधवलाटीका समन्वित कसायपाहुड, १ पृ० ८१।

एलाचार्यकी कृतियोंके उद्धरण ही मिलते हो। वीरसेनके गुरु होनेके कारण ये सिद्धान्तशास्त्रके मर्मज्ञ विद्वान् थे, इसमें सन्देह नहीं। वीरसेनस्वामीने जयधवलाटीकामें मतभेदोका निर्देश करते हुए स्पष्ट लिखा है कि भट्टारक एलाचार्यके द्वारा उपदिष्ट व्याख्यान ही समीचीन होनेसे ग्राह्य है। यथा

"तदो पुव्वुत्तमेलाइरियभडारएण उवइट्ठवक्खाणमेव पट्ठाणभावेण एत्थ घेतव्व[1]।"

इस उद्धरणसे एलाचार्यकी प्रतिभाका अनुमान लगाया जा सकता है। एलाचार्य वाचकगुरु थे और उनकी प्रतिभा अप्रतिम थी।

वीरसेनाचार्य

जिनसेन प्रथमने अपने हरिवशपुराणमे कविचक्रवर्तीके रूपमे वीरसेन आचार्यका स्मरण किया है। यथा

जितात्म-परलोकस्य कवीना चक्रवर्तिन'।
वीरसेनगुरो कीर्तिरकलङ्कावभासते ॥[2]

जिन्होने स्वपक्ष और परपक्षके लोगोको जीत लिया है तथा जो कवियोंके चक्रवर्ती हैं, ऐसे वीरसेनस्वामीकी निर्मल कीर्ति प्रकाशित हो रही है।

आचार्य वीरसेन सिद्धान्तके पारङ्गत विद्वान् तो थे ही, साथ ही गणित, न्याय, ज्योतिष, व्याकरण आदि विषयोका भी तलस्पर्शी पाण्डित्य उन्हे प्राप्त था। इनका बुद्धिवैभव अत्यन्त अगाध और पाण्डित्यपूर्ण है। वीरसेनस्वामीके शिष्य जिनसेनने अपने आदिपुराण एव धवला-प्रशस्तिमे इनको 'कविवृन्दारक' कहकर स्तुति की है। उन्होने लिखा है

श्रीवीरसेन इत्यात्तभट्टारकपृथुप्रथ ।
स न. पुनातु पूतात्मा कविवृन्दारको मुनिः ॥
लोकवित्त्व कवित्वञ्च स्थित भट्टारके द्वयम्।
वाड्मिताऽवाड्मिता यस्य वाचा वाचस्पतेरपि ॥
सिद्धान्तोपनिबन्धाना विधातुर्मद्गुरोश्चिरम् ।
मन्मन सरसि स्थेयान् मृदुपादकुशेशयम् ॥[3]

१ कसायपाहुड, भाग १, पृ० १६२।
२ हरिवशपुराण १।३९।
३ आदिपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ सस्करण, १।५५–५७।

वे अत्यन्त प्रसिद्ध वीरसेन भट्टारक हमे पवित्र करें, जिनकी आत्मा स्वयं पवित्र है, जो कवियोमे श्रेष्ठ हैं, जो लोकव्यवहार और काव्यस्वरूपके महान् ज्ञाता हैं तथा जिनकी वाणीके समक्ष औरोकी तो बात ही क्या, स्वयं सुर-गुरु बृहस्पतिकी वाणी भी सीमित अल्प जान पडती है। सिद्धान्त षट्खण्डागम सिद्धान्तग्रन्थके ऊपर उपनिबन्धन निबन्धात्मक टीका रचनेवाले मेरे गुरु वीरसेन भट्टारकके कोमल चरण-कमल सर्वदा मेरे मनरूपी सरोवरमे विद्यमान रहे।

ऊपरके अवतरणसे यह स्पष्ट है कि वीरसेनाचार्य कवि और वाग्मी तो थे ही, साथ ही सिद्धान्तग्रन्थोके टीकाकारके रूपमें भी प्रसिद्ध थे।

जीवन-परिचय

वीरसेनने अपनी धवलाटीका-प्रशस्तिमे अपने गुरुका नाम एलाचार्य लिखा है। पर इसी प्रशस्तिकी चौथी गाथामे गुरुका नाम आर्यनन्दि और दादागुरुका नाम चन्द्रसेन कहा है। डॉ० हीरालाल[1] जैनका अनुमान है कि एलाचार्य इनके विद्या-गुरु और आर्यनन्दि इनके दीक्षा-गुरु थे। इनकी शाखा पञ्चस्तूपान्वय कही गयी है। इस शाखाका सम्बन्ध उत्तर भारतके मथुरा और हस्तिनापुरके साथ रहा है। इसकी एक उपशाखा दक्षिण भारतमे भी जा बसी थी। प्रशस्तिसे[2] वीरसेनाचार्य सिद्धान्त, छन्द, ज्योतिष, व्याकरण और न्याय शास्त्रके वेत्ता तथा भट्टारकपदसे विभूषित सिद्ध होते हैं।

इन्द्रनन्दिके 'श्रुतावतार'से[3] ज्ञात होता है कि बप्पदेवकी टीका लिखे जानेके उपरान्त कितने ही वर्ष पश्चात् सिद्धान्तोंके तत्त्वज्ञ एलाचार्य हुए, ये चित्रकूटमे निवास करते थे। वीरसेनने इनके पास समस्त सिद्धान्तग्रन्थोका अध्ययन किया। गुरुकी अनुज्ञा प्राप्त कर वाटग्राम (बड़ौदा) मे आये और वहाँके आनतेन्द्र द्वारा बनवाये हुए जिनालयमे ठहरे। यहाँ बप्पदेव गुरु द्वारा निर्मित टीका प्राप्त हुई। अनन्तर उन्होने ७२००० श्लोकप्रमाण समस्त षट्खण्डागमकी धवलाटीका लिखी। तत्पश्चात् कषायप्राभृतकी चार विभक्तियोकी २०,००० श्लोकप्रमाण ही जयधवलाटीका लिखे जानेके उपरान्त उनका स्वर्गवास हो

१. धवलाटीका, पुस्तक प्रथम, प्रस्तावना, पृ० ३६।

२ सिद्धंत-छंद-जोइस-वायरण-पमाणसत्थणिवुणेण।
भट्टारएण टीका लिहिएसा वीरसेणेण ॥५॥

धवलाटीकाकी अन्तिम प्रशस्ति।

३ श्रुतावतार श्लोक १७७–१८४।

गया और उनके शिष्य जिनसेन द्वितीयने अवशेष जयधवलाटीका ४०,००० श्लोकप्रमाण लिखकर पूरी की।

भट्टारक पदवीको प्राप्त वीरसेनस्वामी साक्षात् केवलीके समान समस्त विद्याओके पारगामी थे। उनकी भारती[1] दिव्यवाणी भारती भरतचक्रवर्तीकी आज्ञाके समान षट्खण्डमे प्रवत्तित थी। अर्थात् जिस प्रकार षट्खण्ड-पृथ्वीपर भरतचक्रवर्तीकी आज्ञाका अबाधगतिसे पालन किया जाता था, उसी प्रकार आचार्य वीरसेनकी वाणीका भी सञ्चार छह खण्डरूप षट्खण्डागम नामके परमागममे सब ही विषयोमे निर्विवादरूपसे मान्य है। उन्होने मूल ग्रन्थमे आये हुए विषयोकी बहुत स्पष्ट व्याख्या की है, जिसका खण्डन कोई नही कर सकता है। चक्रवर्ती भरतकी आज्ञा जहाँ सम्पत्ति लक्ष्मीवन्तोको प्रसन्न करनेवाली थी, वहाँ वीरसेनकी मधुर वाणी समस्त प्राणियोको प्रमुदित करनेवाली थी। भरतकी आज्ञाका सञ्चार यदि उनके द्वारा आक्रान्त समस्त पृथ्वी पर था, तो उनकी वाणीका सञ्चार कुशाग्र बुद्धिके कारण समस्त विषयोमे सिद्धान्त, न्याय एव व्याकरण आदि शास्त्रोमे था। उनकी स्वाभाविक प्रज्ञा अदृष्ट और अश्रुतपदार्थोको अवगत करने रूप योग्यताको देखकर विज्ञजनोकी सर्वज्ञके विषयमे आशङ्का नष्ट हो गयी थी। यत जब एक व्यक्ति आगम द्वारा इतना बडा ज्ञानी हो सकता है, तो अतीन्द्रियप्रत्यक्षज्ञानधारी सर्वज्ञ समस्त पदार्थोका ज्ञाता यदि है, तो इसमे कौन-सा आश्चर्य है। बताया है

> यं प्राहु· प्रस्फुरद्बोधदीधितिप्रसरोदय ।
> श्रुतकेवलिनं प्राज्ञा प्रज्ञाश्रमणसत्तमम् ॥
> यस्य नैसर्गिकी प्रज्ञा दृष्ट्वा सर्वार्थगामिनीम् ।
> जाता सर्वज्ञसद्भावे निरारेका मनीषिण ॥

जयधवलाप्रशस्ति, पद्य २२–२१।

स्थिति-काल

आचार्य वीरसेनका स्थिति-काल विवादास्पद नही है, क्योकि उनके शिष्य जिनसेनने उनकी अपूर्ण जयधवलाटीकाको शक सवत् ७५९ की फाल्गुन शुक्ला दशमीको पूर्ण किया है। अत इस तिथिके पूर्व ही वीरसेनाचार्यका समय होना चाहिए और उनकी धवलाटीकाकी समाप्ति इससे बहुत पहले होनी चाहिए। यह टीका जयतुङ्गदेवके राज्यमे समाप्त हुई थी। राष्ट्रकूट

१ प्रीणितप्राणिसम्पत्तिराक्रान्ताशेपगोचर। ।
भारती भारतीवाज्ञा पट्खण्डे यस्य नास्खलत् ॥ जयधवलाप्रशस्ति।

नरेशोमे जयतुङ्ग उपाधि अनेक राजाओकी है, पर इनमेसे प्रथम जयतुङ्ग गोविन्द तृतीय थे, जिनके शिलालेख शक संवत् ७१६–७३५ के मिले हैं। अतएव यह अनुमान लगाना सहज है कि धवलाटीकाकी समाप्ति इन्ही गोविन्द तृतीयके समयमे हुई है। डॉ० हीरालालजी जैनने अनेक प्रमाणोके आधारपर धवलाटीकाका समाप्ति-काल शक संवत् ७३८ सिद्ध किया है। आपने लिखा है कि जब जयतुङ्गदेवका राज्य पूर्ण हो चुका था और बोद्दण-राय (अमोघ वर्ष) राजगद्दीपर आसीन हो चुका था, उस समय धवलाटीका समाप्त हुई।[1]

अत: आचार्य वीरसेनका समय ई० सन्‌की ९वी शताब्दि (ई० सन् ८१६) है।

रचनाएँ

इनकी दो ही रचनाएँ उपलब्ध हैं। इन दोमेसे एक पूर्ण रचना है और दूसरी अपूर्ण। इन्होने बहत्तर हजार श्लोकप्रमाण प्राकृत और संस्कृत-मिश्रित भाषामे मणि-प्रवालन्यायसे 'धवला'टीका लिखी है।

दूसरी रचना 'जयधवला'टीका है। इस टीकाको केवल बीस हजार श्लोक-प्रमाण ही लिख सके थे कि असमयमें उनका स्वर्गवास हो गया। इस तरह वीरसेनस्वामीने बानवे हजार श्लोकप्रमाण रचनाएँ लिखी हैं। एक व्यक्ति अपने जीवनमे इतना अधिक लिख सका, यह आश्चर्यकी वस्तु है। इन टीकाओसे वीरसेनकी विशेषज्ञताके साथ बहुज्ञता भी प्रकट होती है। सैद्धान्तिक विषयो-की कितनी सूक्ष्म जानकारी थी, यह देखते ही बनता है।

धवलाटीकाकी रचना करनेका हेतु

इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारसे ज्ञात होता है कि बप्पदेवकी टीकाको देखकर वीरसेनाचार्यको धवलाटीका लिखनेकी प्रेरणा प्राप्त हुई। इस टीकाके स्वाध्यायसे वीरसेनने अनुभव किया कि सिद्धान्तके अनेक विषयोका निर्वचन छूट गया है, तथा अनेक स्थलोपर विस्तृत सिद्धान्त-स्फोटन सम्बन्धी व्याख्याएँ भी अपेक्षित हैं। अतएव इन्होने एक नयी विवृति लिखनेकी परम आवश्यकता अनुभव की। फलत बप्पदेवकी टीकासे प्रेरणा प्राप्त कर 'धवला' एवं 'जयधवला' नामक टीकाएँ लिखी।

टीकासम्बन्धी मौलिकताएँ

वीरसेनाचार्य मूलत सैद्धान्तिक, दार्शनिक और कवि हैं। आचार्य जिन-

1. धवलाटीका समन्वित षट्खण्डागम, प्रथम पुस्तक, प्रस्तावना, पृ० ४०–४१।

सेनने उन्हे उपनिबन्धनकर्ता कहा है। अतएव इनकी धवला एवं जयधवला टीकाएँ वस्तुतः उपनिबन्धन हैं। उपनिबन्धनमे परम्परानुमोदनके साथ जिस विषयका प्रस्तुतीकरण किया जाता है, उस विषय या वस्तुपर उसके स्वरूप, प्रकृति, गुण-दोष आदिकी दृष्टिसे तर्कपूर्ण विवेचन या समालोचन भी अपेक्षित होता है। इस टीकामे विचार-प्रगल्भता, अनुभव-शीलता एव विषयकी प्रौढता रहनेके कारण ही इसे उपनिबन्धकी सज्ञा दी गयी है। सास्कृतिक उपकरणोका अत्यधिक बाहुल्य है। निमित्त, ज्योतिष एव न्यायशास्त्रकी अगणित सूक्ष्म और विशेष बातें पायी जाती हैं। इसमे दो मान्यताओका उल्लेख उपलब्ध होता है (१) दक्षिण प्रतिपत्ति और (२) उत्तर प्रतिपत्ति[१]।

दक्षिण प्रतिपत्तिको आचार्य प्रमाण मानते हैं और उत्तर प्रतिपत्तिको वाम, क्लिष्ट एव आचार्यानिनुमोदित। टीकामे उक्त दोनों प्रतिपत्तियोका विवेचन करते हुए लिखा है कि तिर्यञ्च, दो मास और मुहूर्त्तपृथकत्वके ऊपर सम्यक्त्व और सयमासयमको तथा मनुष्य गर्भसे लेकर आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्त्तके ऊपर सम्यक्त्व, सयम और सयमासयमको प्राप्तकर सकते हैं[२]। इस उपदेशको आचार्य-परम्परागत होनेसे उन्होने दक्षिण प्रतिपत्ति या ऋजु प्रतिपत्ति बतलाया है। इसके विपरीत तिर्यञ्च तीन पक्ष, तीन दिन और तीन अन्तमुहूर्तके ऊपर सम्यक्त्व, सयमासयमको तथा मनुष्य आठवर्षके ऊपर सम्यक्त्व, सयमासयमको प्राप्तकर सकते हैं। इस उपदेशको परम्परागत न होनेके कारण उत्तर प्रतिपत्ति या अनृजु कहा गया[३] है।

१ के वि पुव्वुत्तपमाण पचूण करेंति। एद पचूण वक्खाण पवाइज्जमाण दक्खिण-माइरियपरपरागयमिद ज वुत्त होइ। पुव्वुत्तवक्खाणमपवाइज्जमाण वाउ आइरिय-परपरा-अणागदमिदि णायव्व एसा उत्तरपडिवत्ती। एत्थ दस अवणिदे दक्खिण-पडिवत्ती हवदि।

धवलाटीका खण्ड १, भाग २, पु० ३, पृ० ९२-९४।

२ एत्थ वे उवदेसा त जहा तिरिक्खेसु वेमास-मुहुत्त-पुधत्तस्सुवरि सम्मत्त सजमा-सजम च जीवो पडिवज्जदि। मणुस्सेसु गब्भादिअट्ठवस्सेसु अतोमुहुत्तब्भहिएसु सम्मत्त सजम सजमासजम च पडिवज्जदि त्ति। एसा दक्खिणपडिवत्ती। दक्खिण उज्जुव आइरियपरपरागदमिदि एयट्ठो। धवला, पु० ५, पृ० ३२।

३ (क) तिरिक्खेसु तिण्णिपक्ख-तिण्णिदिवस-अतोमुहुत्तस्सुवरि सम्मत्त सजमासजम च पडिवज्जदि। मणुस्सेसु अट्ठवस्साणमुवरि सम्मत्त सजम सजमासजम च पडिवज्जदि त्ति। एसा उत्तरपडिवत्ती उत्तरमणुज्जुव। आइरियपरपराए णागदमिदि। धवला, पु० ५, पृ० ३२।

जयधवलाप्रशस्तिसे अवगत होता है कि वीरसेनकी टीका ही यथार्थ टीका है। शेष तो पद्धति या पंजिका है। यथा

टीका श्रीवीरसेनीया शेषा पद्धति-पञ्जिका[1]।

स्पष्ट है कि वीरसेनस्वामीने अपनी इन विशाल टीकाओंमें सैद्धान्तिक चर्चाओंका पूर्णतया समावेश किया है। समस्त श्रुतज्ञानकी ऐसी सुन्दर व्याख्या अन्यत्र मिलना सम्भव नहीं। महाकर्मप्रकृतिप्राभृत और कषायप्राभृतसंबंधी जो ज्ञान वीरसेनको गुरुपरम्परासे उपलब्ध हुआ, उसे इन दोनों टीकाओंमें यथावत् निबद्ध किया गया है। आगमकी परिभाषामें ये दोनों टीकाएँ दृष्टिवाद-के अंगभूत दोनों प्राभृतोंका प्रतिनिधित्व करती हैं। अतएव इन्हें स्वतन्त्र ग्रन्थोंकी संज्ञा दी जा सकती है। यही कारण है कि आज 'षट्खण्डागम' सिद्धांत धवलसिद्धान्तके नामसे और 'पेज्जदोसपाहुड' जयधवलसिद्धान्तके नामसे ख्यात हैं।

टीकाकी प्रामाणिकताके लिए वीरसेनाचार्यने समस्त परम्पराके अनुसार ही विवक्षित विषयका प्रतिपादन किया है। यदि उन्हें कहीं किसी आचार्यका अभिप्राय सूत्रविरुद्ध या परम्पराविरुद्ध प्रतीत हुआ है, तो उन्होंने उसे अग्राह्य घोषित किया है। उदाहरणार्थ द्रव्यप्रमाणसूत्र ७ की व्याख्यामें प्रमत्त-संयतोंका प्रमाण ५९, ३९, ८२, ०, ६ बतलाया गया है। इसपर वहाँ शङ्का की गयी है कि सूत्रमें जब उनका प्रमाण कोटिपृथक्त्व ही निर्दिष्ट किया गया है तब उसे एक निश्चित संख्यामें कैसे गिनाया गया? इस शंकाके उत्तरमें बताया गया है कि हमने इसे आचार्यपरम्परागत जिनोपदेशसे जाना[2] है।

यदि वीरसेनको कहीं किसी आचार्यका व्याख्यान सूत्रसे विरुद्ध मालूम हुआ है, तो उसे उन्होंने अप्रमाण बताया है। यथा परिकर्ममें राजुके अर्धच्छेदोंकी संख्या और द्वीप-सागरसंख्या जम्बूद्वीपके अर्धच्छेदोंसे एक अधिक निर्दिष्ट की गयी है। इस व्याख्यानको सूत्रविरुद्ध बतलाकर अग्राह्य कहा है।

(ख) एसा उत्तरपडिवत्ती। एत्थ दस अवणिदे दक्खिणपडिवत्ती हवदि।

धवला, पु० ३, पृ० ९४।

(ग) एसा दक्खिणपडिवत्ती एत्तो उत्तरपडिवत्तिं वत्तइस्सामो।

वही, ३।९८, ९९।

१. जयधवला प्रशस्ति, पद्य ३९।

२ एदमेत्तिय होदि त्ति कधं णव्वदे? आइरियपरंपरागदजिणोवदेसादो।

धवला पु० ३, पृ० ८९।

जहाँ उन्हें आचार्यपरम्परागत उपदेश प्राप्त नही हुआ, किन्तु गुरुका उपदेश प्राप्त रहा है वहाँ उन्होने उसके आधारसे भी विषयका विवेचन किया है[1]।

यदि उन्हे कहीपर उक्त दोनों ही प्रकारका उपदेश नही प्राप्त हुआ, तो वहाँ उन्होने युक्तिवलसे सूत्रके अनुकूल विपय-व्यवस्था प्रतिपादित की है। पर इसकी घोषणा उन्होने कर दी है। यथा

द्वीपसमुद्रोकी संख्याके विषयमे आचार्योंमे मतभेद रहा है। आचार्य वीरसेन-स्वामी ज्योतिषी देवोकी सख्या लानेके लिए स्वम्भूरमण समुद्रकी 'बाह्यवेदिका' के आगे भी पृथ्वीका अस्तित्व स्वीकार करते हैं, तथा राजुके सख्यात अर्द्धच्छेदो-का पतन भी अनिवार्य मानते हैं। इस प्रकार उनकी अर्द्धच्छेदोके प्रमाणकी परीक्षा-विधि अन्य आचार्यो की उपदेश-परम्पराका अनुसरण नही करती है। यह तो केवल 'तिलोयपणत्ती'के अनुसार ज्योतिषी देवोके भागहारको उत्पन्न करनेवाले सूत्रके आश्रयसे युक्ति द्वारा कथन किया है। इस सम्बन्धमे अन्य उदाहरण भी दृष्टव्य हैं। यथा, सासादन स्थानगत जीवोकी सख्या निकालनेमे 'अन्तर्मुहूर्त' शब्दमे अवस्थित 'अन्तर' शब्दको सामीप्य अर्थका वाचक मानकर मुहूर्तसे अधिक कालको भी अन्तर्मुहूर्त स्वीकार करते हुए असख्यात आवली प्रमाण अवहार कालका कथन किया है। इसी प्रकार आयतचतुरस्र लोकका कथन किया है।

आचार्य वीरसेनस्वामीने सूत्रो द्वारा प्राप्त होनेवाले विरोधोका भी समन्वय करनेकी चेष्टा की है।

सूत्रविरोध-समन्वय

आचार्य वीरसेनने सूत्रोमे प्राप्त होनेवाले पारस्परिक विरोधोका समन्वय करते हुए व्याख्यान किया है। छुद्रकवन्धके अन्तर्गत अल्पबहुत्व अनुयोगद्वारके ७४ वें सूत्रमे सूक्ष्म वनस्पतिकायिकजीवोसे वनस्पतिकायिक जीवोका प्रमाण विशेष अधिक कहकर ७५ वें सूत्रमे निगोदजीवोंको उन वनस्पतिकायिकजीवोंसे विशेष अधिक निर्दिष्ट किया है। इसपर शकाकारने निगोदजीवोके वनस्पति-कायिकजीवोसे भिन्न न होनेके कारण उक्त वनस्पतिकायिकोके ही अन्तर्गत होनेसे इस ७५ वें सूत्रको निरर्थक वताया है। आचार्य वीरसेनने शकाकारकी शकाका समाधान करते हुए लिखा है कि वनस्पतिकायिकजीवोके अल्पवहुत्वका कथन करनेके पश्चात् उसके आगे निगोदजीवोको विशेष अधिक कहनेवाला

१ सव्वकम्माण ट्ठिदीओ ण घेप्पति, किंतु एक्कस्सेव कम्मट्ठिदी घेप्पदि। कुदो? गुरूवदेसादो। धवला, पुस्तक ४, पृ० ४०२।

वह सूत्र यदि न माना जाय, तो सिद्धान्त-विरोध आयगा। केवली और श्रुत-केवलीके न रहनेके कारण उपलब्ध सूत्रोमे कौन सूत्र आवश्यक है और कौन आवश्यक नही, इसका निर्णय सम्भव नही है। अतएव सूत्रकी आशातनाके भयसे दोनो ही सूत्रोकी व्याख्या करना आवश्यक है। हमने तो गौतमस्वामी द्वारा प्रतिपादित अभिप्रायका कथन किया है।

इसी प्रकार भागाभागानुगम अनुयोगद्वारमे भी यही समस्या उपस्थित हुई है। वहाँ सूक्ष्म वनस्पतिकायिकजीवोके साथ-साथ सूक्ष्म निगोदियाजीवोका निर्देश भी अलगसे किया गया है। अतएव निम्नलिखित तीनो सूत्रोका समन्वय नही हो पाता है

सुहुमवणप्फदिकाइया सुहुमणिगोदजीवा सव्वजीवाणं केवडियो भागो?
सुहुमवणप्फदिकाइय-सुहुमणिगोदजीवपज्जत्ता सव्वजीवाणं केवडियो भागो?
सुहुमवणप्फदिकाइय-सुहुमणिगोदजीवअपज्जत्ता सव्वजीवाणं केवडियो भागो[1]?

इसका समाधान करते हुए वीरसेनस्वामीने लिखा है "णिगोदा सव्वे वणप्फदिकाइया चेव, ण अण्णे, एदेण अहिप्पाएण काणि वि भागाभागसुत्ताणि ट्ठिदाणि। कुदो? सुहुमवणप्फदिकाइयभागाभागस्स तिसु वि सुत्तेसु णिगोदजीव-णिद्देसाभावादो। तदो तेहि सुत्तेहि एदेसिं सुत्ताण विरोहो होदि त्ति भणिदे जदि एवं तो उवदेस लद्धूण इदं सुत्तं इदं चासुत्तमिदि आगमणिउणा भणतु, ण च अम्हे एत्थ वोत्तु समत्था, अलद्धोवदेसत्तादो।"[2] यहाँ ३४वें सूत्रकी व्याख्यामे शका उठायी गयी है कि भागाभागसे सम्बद्ध कुछ सूत्र ऐसे हैं, जिनके अभिप्रायसे सब निगोदजीव वनस्पतिकायिक ही सिद्ध होते हैं, उनसे वे भिन्न सिद्ध नही होते, क्योकि उक्त तीनो सूत्रोमे केवल सूक्ष्मवनस्पतिकायिक जीवोका ही निर्देश किया गया है, निगोदजीवोका निर्देश वहाँ अलगसे नही आया है। ऐसी अवस्थामे उन सूत्रोसे इन सूत्रोका विरोध होना अनिवार्य है? इस शकाके उत्तरमे आचार्य वीरसेनने बताया है कि यदि ऐसा है, तो यह सूत्र है और यह सूत्र नही है, इसका कथन उपदेश पाकर वे करें, जो आगममे निपुण हैं। हम इस प्रसगमे कुछ नही कह सकते, क्योकि इसके सम्बन्धमे हमे उपदेश प्राप्त नही है।

इसी प्रकार वर्गणाखण्डके अन्तर्गत प्रकृतिअनुयोगद्वारके १२०वें सूत्रमे मनुष्यगतिप्रयोग्यानुपूर्वीके भेदोकी सख्या निर्दिष्ट की गयी है। इस सूत्रके व्याख्यानमे कुछ आचार्योका अभिप्राय तो यह है कि उर्ध्वकपाटछेदनसे निष्पन्न

१. षट्खण्डागम, पुस्तक ७, सूत्र २९, ३१, ३३ पृ० ५०३-५०६।
२. षट्खण्डागम, पु० ७, पृ० ५०६-५०७।

४५ लाख योजन बाहुल्यरूप तिर्यक् प्रतरोंकी श्रेणीके असख्यातवें भागमात्रं अवगाहनाभेदोसे गुणित करने पर प्राप्त राशि प्रमाण मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वीके भेद हैं, और दूसरोका मत यह है कि ४५ लाख योजनोके राजुप्रतरके अर्द्धच्छेद करने पर पल्योपमके असख्यातवें भागमात्र जो अर्द्धच्छेद प्राप्त होते हैं, उतने प्रमाण मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वीके भेद हैं।

इसपर धवलाकारने कहा है कि उपदेश प्राप्त कर, कौन व्याख्यान सत्य है और कौन असत्य, इसका निर्णय करना चाहिये। ये दोनो ही उपदेश सूत्र सिद्ध हैं। यत आगे इन दोनो ही उपदेशोके आश्रयसे पृथक्-पृथक् अल्पबहुत्वकी प्ररूपणा की गयी है। यथा "एत्थ उवदेस लद्धूण एद चेव वक्खाण सच्चमण्ण असच्चमिदि णिच्छओ कायव्वो। एदे च दो वि उवएसा सुत्तसिद्धा। कुदो? उवरि दो वि उपदेसे अस्सिदूण अप्पाबहुगपरूवणादो"। इस प्रकार विरोधी सूत्रोका समन्वयकर आगमप्रमाणका कथन किया है।

अन्य ग्रन्थोके निर्देश

वीरसेनस्वामीके वैदुष्यका परिज्ञान इसी बातसे किया जा सकता है कि उन्होने अपनी इस टीकामे प्राचीन आगमके उपलब्ध साहित्यका पूर्णतया उपयोग किया है। जिन आचार्योंके नामका निर्देश ग्रन्थोल्लेखपूर्वक किया गया है, वे निम्न प्रकार हैं

१ गृद्धपिच्छाचार्यका[२] तत्त्वार्थसूत्र, २ तत्त्वार्थभाष्य[३] (तत्त्वार्थवार्त्तिकभाष्य), ३ सन्मतिसूत्र,[४] ४ सत्कर्मप्राभृत,[५] ५ पिण्डिया[६], ६ तिलोयपण्णत्ति,[७] ७. व्याख्याप्रज्ञप्ति[८], ८ पचास्तिकायप्राभृत[९], ९ जीवसमास[१०], १०. पूज्यपाद-

१ धवलाटीका समन्वित षट्खण्डागम, पु० १३, पृ० ३८१।
२ वही, पु० ४, पृ० ३१६, पु० १, पृ० २५८।
३ वही, पु० १, पृ० १०३।
४ वही, पु० १, पृ० १५. पु० ९, पृ० २४३-४४।
५ वही, पु० १, पृ० २१७, २२१ पु० ११, पृ० २१।
६ वही, पु० २, पृ० ७८८।
७ वही, पु० ३, पृ० ३६, पु० ४, पृ० १५७।
८ वही, पु० ३, पृ० ३५, पु० १०, पृ० २३८।
९ वही, पु० ४, पृ० ३१५-३१७।
१० वही, पु० ४, पृ० ३१५।

विरचित[1] सारसंग्रह, ११ प्रभाचन्द्र[2] भट्टारक (ग्रन्थकार), १२. समन्तभद्र[3] स्वामी (ग्रन्थकार), १३ छेदसूत्र[4], १४ सत्कर्मप्रकृतिप्राभृत[5], १५. मूलतन्त्र[6], १६. योनिप्राभृत[7] और १७ सिद्धिविनिश्चय[8]।

इनके अतिरिक्त 'षट्खण्डागम'के अन्तर्गत विविध अनुयोगद्वार जैसे सन्तसूत्र (पु० २, पृ० ६५७), वर्गणासूत्र (पु० १, पृ० २९०), वेदनाक्षेत्रविधान (पु० ४, पृ० ९४), चूलिकासूत्र (पु० ६, पृ० ११८) और वर्गणासूत्र (पु० १, पृ० २९०) इत्यादि उसी षट्खण्डागमके छठे खण्डस्वरूप महाबन्ध (पु० ७, पृ० १९५) तथा कसायपाहुड (पु० १, पृ० २१७) व उससे सम्बद्ध चूर्णिसूत्र (पु० ६, पृ० १७७), उच्चारणाचार्य (पु० १०, पृ० १४४), निक्षेपाचार्य (पु० १०, पृ० ४५७), महावाचक आर्यनन्दी (पु० १६, पृ० ५७७), आर्यमक्षु क्षमाश्रमण (पु० १६, पृ० ५१८) और नागहस्ती (पु० १५, पृ० ३२७) आदिका उल्लेख तो जहाँ-तहाँ बहुतायतसे हुआ है। इसमे सन्देह नही कि आचार्य वीरसेनने 'कसायपाहुड' और उससे सम्बद्ध चूर्णिसूत्रोका अध्ययन भी सूक्ष्मरूपसे किया है। धवलाटीकामे अनेक स्थलोपर चूर्णिसूत्र और कसायपाहुडके उल्लेख आये हैं। निम्नलिखित ग्रन्थोके उद्धरण या नाम भी धवलाटीकामे पाये जाते है। १ आचाराङ्गनिर्युक्ति, २ मूलाचार, ३ प्रवचनसार, ४ सन्मतिसूत्र, ५ पचास्तिकायप्राभृत, ६ दशवैकालिक, ७ भगवती-आराधना, ८ अनुयोगद्वार, ९ चारित्रप्राभृत, १० स्थानागसूत्र, ११ शाकटायनन्यास, १२ आचाराङ्गसूत्र, १३ लघीयस्त्रय, १४ आप्तमीमासा, १५ युक्त्यनुशासन, १६ विशेषावश्यकभाष्य, १७ सर्वार्थसिद्धि, १८ सौन्दरनन्द, १९ धनञ्जयनाममाला और अनेकार्थनाममाला, २० भावप्राभृत, २१ बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, २२ नन्दिसूत्र, २३ समवायाङ्ग, २४ आवश्यकसूत्र, २५ प्रमाणवार्तिक, २६ साख्यकारिका और २७ कर्मप्रकृति।

धवलाटीकामे जिन गाथाओको उद्धृत किया गया है उनमेसे अधिकाश

१ धवलटीका समन्वित षट्खण्डागम, पु० ९ पृ० १६७।
२ वही, पु० ९ पृ० १६६।
३ वही, पु० ९, पृ० ६७।
४ वही, पु० ११, पृ० ११५।
५ वही, पु० ९, पृ० ३१८ पु० १५, पृ० ४३।
६ वही, पु० १३, पृ० ९०।
७ वही, पु० १३, पृ० ३४९।
८ वही, पु० १३, पृ० ३५६।

गाथाएँ गोम्मटसारमें उपलब्ध होती है। कुछ गाथाएँ 'त्रिलोकसार', 'जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति' और 'वसुनन्दिश्रावकाचार'मे भी पायी जाती है। ये सब ग्रन्थ धवलाटीकाके पश्चात् रचे गये हैं। अत यह अनुमान होता है कि इन प्राचीन गाथाओका स्रोत एक ही रहा है। उस एक ही स्रोतसे वीरसेनाचार्यने गाथाएँ ग्रहण की हैं और उसी स्रोतसे अन्य ग्रन्थरचयिताओने भी। अतएव वीरसेनाचार्यका वैदुष्य बहुज्ञके रूपमे स्पष्टतया अवगत होता है।

ज्यौतिष एवं गणित विषयक निर्देश

आचार्य वीरसेन ज्यौतिष, गणित, निमित्त आदि विषयोके भी ज्ञाता थे। ज्यौतिषको अनेक महत्त्वपूर्ण चर्चाएँ इनकी टीकामे आयी हैं। ५ वी शताब्दीसे लेकर ८ वी शताब्दी तक ज्यौतिषविषयक इतिहास लिखनेके लिए इनकी यह रचना बडी ही उपयोगी है।

ज्यौतिषसम्बन्धी चर्चाओमे नन्दा, भद्रा, जया, रिक्ता, पूर्णा सज्ञाओके नाम आये हैं। रात्रि-मुहूर्त और दिन-मुहूर्तों की भी चर्चा की गयी है। वर्ष, अयन और ऋतु सम्बन्धी विचार भी महत्त्वपूर्ण हैं। निमित्तोमे व्यजन और छिन्न निमित्तोको चर्चाएँ आयी हैं।

वीजगणित

गणितकी दृष्टिसे भी यह ग्रन्थ अपूर्व है। यहाँ हम गणितके कुछ उदाहरण प्रस्तुत करेंगे।

इसमे प्रधानरूपसे एकवर्णसमीकरण, अनेकवर्णसमीकरण, करणी, कल्पितराशियाँ, समानान्तर, गुणोत्तर, व्युत्क्रम, समानान्तर श्रेणियाँ, क्रम, सचय, घाताको और लघुगणकोका सिद्धान्त आदि वीजसम्बन्धी प्रक्रियाएँ मिलती हैं। धवलामे $अ^{\frac{३}{२}}$ को अके घनका प्रथम वर्गमूल कहा है। $अ^{९}$ को अके घनका घन बताया है। $अ^{६}$ को अके वर्गका घन वतलाया है। अके उत्तरोत्तरवर्ग और घनमूल निम्नप्रकार है

अ का प्रथम वर्ग अर्थात् $(अ^{२}) = अ^{२}$
,, द्वितीय वर्ग ,, $(अ^{२})^{२} = अ^{४} = अ^{२^{२}}$
,, तृतीय वर्ग ,, $(अ^{२})^{३} = अ^{६} = अ^{२^{३}}$
,, चतुर्थ वर्ग ,, $(अ^{२})^{४} = अ^{८} = अ^{२^{४}}$
इसी प्रकार क वर्ग ,, ,, $(अ^{२})^{क} = अ^{२^{क}}$

इन्ही सिद्धान्तोपरसे घातांक-सिद्धान्त निम्न प्रकार बनाया है

१. $अ^{क} + अ^{व} = अ^{क+व}$ २. $अ^{म} । अ^{न} = अ^{म-न}$ ३. $(अ^{म})^{न} = अ^{म.न}$, इन घातांक-सिद्धान्तोके उदाहरण धवलाके फुटकर गणितमे मिलते[1] हैं।

श्रेणीव्यवहार, अर्द्धच्छेद, व्यास, त्रिज्या, चतुरस्र, त्रिकोण एव अनेक प्रकारके बहुभुज क्षेत्रोके क्षेत्रफलानयनकी विधि विस्तारपूर्वक वर्णित है। गणितानुयोगकी दृष्टिसे वीरसेनाचार्यका ज्ञान असाधारण था। उन्होने वर्गांक, घातांक, वर्गवर्गांक, घनांक, ऋण एव घन करणियोके गणित विस्तारपूर्वक वर्णित किये हैं। कोण, रेखा, समकोण, अधिकोण, न्यूनकोण, समतल, घन-परिमाण, व्यवच्छेदक, सूचीछेद, वक्ररेखा आदिकी गणितविधियाँ भी वर्णित हैं।

शैली

धवला और जयधवला टीकाओकी शैलीमे निम्नलिखित पाँच गुण समाहित हैं

१. प्रसादगुण
२ समाहारशक्ति
३ तर्क या न्यायशैली
४ पाठकशैली
५ सर्जकशैली

१ प्रसादगुण

विषय-विवेचनमे आचार्यने पद और वाक्योका अर्थ तो स्पष्ट किया ही है, पर साथ ही तत्सम्बन्धी विषयको उपस्थित कर सूत्रोका इतना स्पष्टीकरण किया है, जिससे सूत्रके समान्य अर्थके साथ उसके विशेष हृदयको भी अवगत करनेमे बुद्धिको व्यायाम नही करना पड़ता है। शका-समाधानद्वारा विषय-निरूपणमे सरलता, स्वच्छता और आडम्बरहीनता परिलक्षित होती है। इस टीकाका धवलानाम भी विषय-प्रतिपादनकी स्वच्छताका द्योतक है। यथा "'एत्तो' एतस्मादित्यर्थ.। कस्मात्, प्रमाणात्। कुत एतदवगम्यते ? प्रमाणस्य जीवस्थानस्याप्रमाणादवतारविरोधात्। नाजलात्मकहिमवतो निपतज्जलात्मक-गङ्गया व्यभिचार, अवयविनोऽवयस्यात्र वियोगापायस्य विवक्षितत्वात्। नावय-

१ छट्ठवग्गस्स उवरि सत्तमवग्गस्स हेट्ठदो त्ति वुत्ते अत्थवत्तो ण जादेत्ति।
धवला, पुस्तक ३, पृ० २५३।

विनोऽवयवो भिन्नो, विरोधात् । तदपि प्रमाण द्विविध द्रव्यभावप्रमाणभेदात् । द्रव्यप्रमाणात् संख्येयासख्येयानन्तात्मकद्रव्यजीवस्थानस्यावतार । भावप्रमाण पञ्चविधम्—आभिणिबोहियभावपमाण सुदभावपमाण मणपज्जवभावपमाण ओहिभावपमाण केवलभावपमाण चेदि"[1] ।

२ समाहारशक्ति

शका-समाधान द्वारा विषयका समन्वय और सक्षेपण करते हुए विविध भगोका सयोजन करना समाहारशक्तिके अन्तर्गत है । टीकामे इस गुणके कारण अपने विषयकी पुष्टिके लिए पूर्वाचार्यो द्वारा प्ररूपित गाथाओ और वाक्योका 'उक्तञ्च' कहकर ऐसा उपन्यास किया है, जिससे उद्धृताश विषयमे दूध-पानीकी तरह मिश्रित हो गये हैं । आचार्यकी यह समाहारशक्तिका ही परिणाम है, जिससे विस्तृत विवृतिमे विभिन्न विषयोका समावेश गगामे समाविष्ट होनेवाली विभिन्न नदियोके समान एक ही स्थान पर हुआ है और सभी विषय अन्तिम निष्कर्षके रूपमे एक ही तथ्यकी सम्मिलित रूपमे अभिव्यञ्जना करते है । यथा "तद्व्यतिरिक्त द्विविध कर्मनोकर्ममङ्गलभेदात् । तत्र कर्ममङ्गल दर्शन-विशुद्धयादि-षोडशधा-प्रविभक्त-तीर्थकर-नामकर्म-कारणैर्जीव-प्रदेश -निबद्ध-तीर्थंकर-नामकर्म माङ्गल्य-निबन्धनत्वान्मङ्गलम् । यत्तन्नोकर्ममङ्गल तद् द्विविधम्, लौकिक लोकोत्तरमिति । तत्र लौकिक त्रिविधम्, सचित्तमचित्त मिश्रमिति । तत्राचित्तमङ्गलम्

सिद्धत्थ-पुण्ण-कुभो वदणमाला य मगल छत्तं ।
सेदो वण्णो आदसणो य कण्णा य जच्चस्सो ॥

सचित्तमङ्गलम् । मिश्रमङ्गल सालङ्कारकन्यादि[2] ।"

तर्क या न्यायशैली

न्यायकी शैलीमे स्वय नानाप्रकारके विकल्प उठाकर तटस्थभावसे विषय-को प्रस्तुत करना और विषयके उपस्थापनमे तर्कका आश्रय लेकर निष्कर्ष निकालना आचार्य वीरसेनको अभीष्ट है । लौकिक और सैद्धान्तिक दोनो ही प्रकारके विषयोके प्ररूपणमे उक्त प्रक्रियाको अपनाया गया है । यथा "स्याद-अस्तु वग्रहो निर्णयरूपो वा स्यादनिर्णयरूपो वा ? आद्ये अवायान्तर्भाव । चेन्न, तत पश्चात्सशयोत्पत्तेरभावप्रसगान्निर्णयस्य विपर्ययानध्यवसाय विरोधात् । अनिर्णयरूपश्चेत्, सशयविपर्ययानध्यवसायेष्वन्तर्भावादिति ? न,

१ धवलाटीका समन्वित षट्खण्डागम, पु० १, पृ० ९२-९३ ।
२ वही, पु० १, पृ० २६-२७ ।

अवग्रहस्य द्वैविध्यात् । द्विविधोऽवग्रहो विशदाविशदावग्रहभेदेन । तत्र विशदो निर्णयरूप अनियमेनेहावाय-धारणाप्रत्ययोत्पत्तिनिबन्धन"[1] । यहाँ अवग्रह निर्णयरूप है या अनिर्णयरूप । प्रथम पक्षमे उसका अवायमे अन्तर्भाव होना चाहिये, पर ऐसा सम्भव नही, क्योकि ऐसा माननेपर उसके सशयकी उत्पत्तिके अभावका प्रसग आयगा । तथा निर्णयके विपर्यय और अनध्यवसाय रूप होनेका विरोध भी है । अनिर्णयस्वरूप माननेपर अवग्रह प्रमाण नही हो सकता, क्योकि ऐसा होनेपर उसका सशय, विपर्यय और अनध्यवसायमे अन्तर्भाव होगा ? उक्त शङ्का ठीक नही है, क्योकि अवग्रह दो प्रकारका है विशदावग्रह और अविशदावग्रह । इस प्रकार तर्कपूर्वक विषयका प्रस्तुतीकरण किया गया है ।

४ पाठकशैली

जिस प्रकार कोई पाठक शिक्षक अपने छात्रको विषय समझाते समय ज्ञानकी विभिन्न दिशाओसे तथ्योका चयन कर उदाहरणो और दृष्टान्तो द्वारा विषयबोध कराता है तथा अपने अभिमतकी पुष्टिके लिए प्रामाणिक व्यक्तियोके मतोको उद्धरणके रूपमे उपस्थित करता है । ठीक इसी प्रकारकी धवलाटीका-की शैली है । कठिन शब्दो और वाक्योके निर्वचन एक कुशल प्राध्यापककी शैलीमे निबद्ध किये गये हैं ।

५ सर्जकशैली

'धवलाटीका' टीका होनेपर भी, एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है । आचार्य वीरसेनने इस टीकाको टीका या भाष्यके रूपमे ही ग्रथित नही किया है, वल्कि एक स्वतन्त्र ग्रन्थके रूपमे विषयको उपस्थित किया है । स्वतन्त्रग्रन्थकर्त्ता और भाष्य-प्रणेतामे मूल अन्तर यह होता है कि स्वतन्त्रग्रन्थरचयिता विषयकी अभि-व्यञ्जना अपने क्रमसे निश्चित शैलीमे प्रस्तुत करता है, साथ ही मौलिक तथ्योकी स्थापना भी करता चलता है । विषयप्ररूपणके लिए उसके समक्ष किसी भी तरहका अवरोध या अन्य कोई बन्धन नही रहता है । भाष्य या विवृतिकारके समक्ष मूल-ग्रन्थकार द्वारा निरूपित विषयोकी सीमा एव उनके प्रतिपादनके मार्गमे विभिन्न प्रकारके अवरोध उपस्थित रहते हैं । अत टीकाकार-मे परवशानुवर्तित्व पाया जाता है । विवृति-लेखक स्वतन्त्र मतकी स्थापनाके लिए भीतरसे बेचैन रहता है, पर उसकी सीमा उसे आगे बढनेसे रोकती है । आचार्य वीरसेनमे परवशानुवर्तित्व रहनेपर भी स्वतन्त्र रूपसे कर्म-सिद्धान्त एव विभिन्न दार्शनिक मान्यताओके निरूपणकी पूर्ण क्षमता है । यही कारण है

१. षट्खण्डागम, धवला पु० ९, पृ० १४४-१४५ ।

कि उन्होंने कतिपय तथ्य बहुत मौलिक और नूतनरूपमे अभिव्यक्त किये हैं। अतएव वीरसेनस्वामीकी शैलीमे सर्जनात्मक प्रतिभाका पूर्ण समावेश पाया जाता है।

मूल्य एवं निष्कर्ष

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि धवलाटीकाका मूल्य किसी भी स्वतन्त्र ग्रन्थसे कम नही है। इसमें ग्रहीतग्राही ज्ञानको प्रमाण माना गया है। आचार्य वीरसेनकी दृष्टिमे प्रमाणताका कारण सशय, विपर्यय और अनध्यवसायका न उत्पन्न होना है। जिस ज्ञानमे तीनो अज्ञानोकी निवृत्ति रहती है, वह ज्ञान प्रमाण होता है। इसी प्रकार अवग्रह, ईहा आदि ज्ञानोके निर्वचन भी नवीन रूपमे प्रस्तुत किये गये हैं। उपयोगके स्वरूप-विवेचनमे सामान्यपदसे आत्माका ग्रहण कर दर्शनोपयोगका स्वरूप आभ्यन्तरप्रवृत्ति और ज्ञानोपयोगका स्वरूप बाह्यप्रवृत्ति बतलाया है। सक्षेपमे इस टीकाका मूल्य निम्नलिखित सूत्रोमे अभिव्यक्त किया जा सकता है

१. पूर्वाचार्योंकी मान्यताओका पुष्टीकरण।

२ पारिभाषिक शब्दोके व्युत्पत्तिमूलक निर्वचनोका विवेचन।

३ नवीन दार्शनिक मान्यताओका सयुक्तिक प्रतिपादन।

४ मणि-प्रवालन्यायद्वारा मिश्रित भाषाका प्रयोग कर अपने युग तककी भाषामूलक प्रवृत्तियोका निरूपण।

५ पाठकशैलीद्वारा विषयोका विशदीकरण।

६ सख्याओ, सूत्रो एव गणितविषयक मान्यताओका विवेचन।

७ भग और विकल्प जालका विस्तार कर विषयका वितत भिन्नकी प्रक्रिया द्वारा उत्थापन।

८ मूलसूत्रोमे प्रयुक्त प्रत्येक पदका पर्याप्त विस्तार और सन्दर्भोंका विशदीकरण।

९. प्रश्नोत्तरो द्वारा विषयका स्फुटीकरण।

१० शंकाओ और समाधानोके सन्दर्भमे पाठान्तरोका सकेतीकरण।

११ पूर्वाचार्योके सन्दर्भोंको उद्धृत कर ऐतिहासिक तथ्योका प्रतिपादन।

१२ स्वकथनके पुष्टीकरणके हेतु अन्य आचार्यो के वाक्यो या मान्यताओका प्रस्तुतीकरण।

१३ विरोधी विषयोमे गुरु-परम्पराका अनुसरण कर निर्णयका प्रतिपादन।

१४ श्रुतबहुभागको विस्मृतिके गर्भसे निकालकर स्वतन्त्र एव सर्जनात्मक शक्तिमे निबद्धीकरण।

१५ सूत्रकारके वशानुवर्तित्व रहनेपर भी स्वतन्त्ररूपसे कर्म-सिद्धान्त एव दार्शनिक सिद्धान्तोका निरूपण।

वीरसेनाचार्यने अकेले वह कार्य किया है, जो कार्य महाभारतके रचयिताने किया है। महाभारतका प्रमाण एक लक्ष श्लोक है और यह टीका भी लगभग इतनी ही वडी है। अतएव 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तद्क्वचिद्' उक्ति यहाँ भी चरितार्थ है।

जिनसेन द्वितीय

आचार्य जिनसेन द्वितीय, श्रुतधर और प्रबुद्धाचार्योंके बीचकी कडी होनेके कारण इनका स्थान सारस्वताचार्योंमे परिगणित है। ये प्रतिभा और कल्पनाके अद्वितीय धनी है। यही कारण है कि इन्हे 'भगवत् जिनसेनाचार्य' कहा जाता है। श्रुत या आगम ग्रन्थोकी टीका रचनेके अतिरिक्त मूलग्रन्थरचयिता भी हैं। इनका पाण्डित्य साहित्य-गगनमे भास्करके समान निरन्तर प्रकाशित है।

जीवन-परिचय

इनके वैयक्तिक जीवनके सम्बन्धमे विशेष जानकारी अप्राप्त है। जयधवला टीकाके अन्तमे दी गयी पद्य-रचनासे इनके व्यक्तित्वके सम्बन्धमे कुछ जानकारी प्राप्त होती है। इन्होने बाल्यकालमे (अविद्धकर्ण कर्णसस्कारके पूर्व) ही जिन-दीक्षा ग्रहण कर ली थी। कठोर ब्रह्मचर्यकी साधना द्वारा वाग्देवीकी आराधनामे तत्पर रहे। इनका शरीर कृश था, आकृति भी भव्य और रम्य नही थी। बाह्य व्यक्तित्वके मनोरम न होनेपर भी तपश्चरण, ज्ञानाराधन एव कुशाग्र बुद्धिके कारण इनका अन्तरङ्ग व्यक्तित्व बहुत ही भव्य था। ये ज्ञान और अध्यात्मके अवतार थे। इनको जन्म देनेका गौरव किस जाति-कुलको प्राप्त हुआ, यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता।

जिनसेन मूलसघके पञ्चस्तूपान्वयके आचार्य हैं। इनके गुरुका नाम वीरसेन और दादागुरुका नाम आर्यनन्दि था। वीरसेनके एक गुरुभाई जयसेन थे। यही कारण है कि जिनसेनने अपने आदिपुराणमे 'जयसेन'का भी गुरुरूपमे स्मरण किया है। जिनसेनके सतीर्थ दशरथ नामके आचार्य थे। उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमे गुणभद्राचार्यने बताया है कि जिस प्रकार चन्द्रमाका सधर्मी सूर्य होता है, उसी प्रकार जिनसेनके सधर्मी या सतीर्थ दशरथ गुरु थे, जो कि ससारके पदार्थोका अवलोकन करानेके लिए अद्वितीय नेत्र थे। इनकी वाणीसे जगत्का स्वरूप

अवगत किया जाता था।[1]

जिनसेन और दशरथ गुरुका सुप्रसिद्ध शिष्य गुणभद्र हुआ, जो व्याकरण, सिद्धान्त और काव्यका पारगामी था। गुणभद्रने आदिपुराणके अवशिष्ट अशको आरम्भ करते समय जिनसेनके प्रति अपनी बडी भारी श्रद्धा-भक्ति समर्पित की है तथा उनके ज्ञान-चरित्रकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है।

जिनसेनका चित्रकूट, वकापुर और वटग्रामसे सम्बन्ध रहा है।[2] वकापुर उस समय वनवास देशकी राजधानी था, जो वर्तमानमे धारवाड जिलेमे है। इसे राष्ट्रकूट अकालवर्षके सामन्त लोकादित्यके पिता वंकेयरसने अपने नामसे राजधानी बनाया था।[3] वटग्राम और वटपदको एक मानकर कुछ विद्वान् बडौदा-को वटग्राम या वटपद कहते हैं। चित्रकूट भी वर्तमान चित्तौडसे भिन्न नही है। इसी चित्रकूटमे एलाचार्य निवास करते थे, जिनके पास जाकर वीरसेनस्वामीने सिद्धान्तग्रन्थोका अध्ययन किया था।

जिनसेनके समयमे राजनीतिक स्थिति सुदृढ थी तथा शास्त्रसमुन्नतिका यह युग था। इनके समकालीन नरेश राष्ट्रकूटवशी जयतुङ्ग और नृपतुङ्ग अपरनाम अमोघवर्ष (सन् ८१५-८७७ ई०) थे। इनकी राजधानी मान्यखेटमे उस समय विद्वानोका अच्छा समागम था। अमोघवर्ष स्वयं कवि और विद्वान् था। उसने 'कविराजमार्ग' नामक एक अलङ्कारविषयक ग्रन्थ कन्नड भाषामे लिखा है। अमोघवर्ष जिनसेनका बडा भक्त था। महावीराचार्यके 'गणितसार-सग्रह'[4] और 'सस्कृतकाव्य प्रश्नोत्तररत्नमाला'के उल्लेखोसे स्पष्ट है कि अमोघ-वर्षने जैन दीक्षा ग्रहण कर ली थी। अमोघवर्षके समयमे केरल, मालवा, गुर्जर और चित्रकूट भी राष्ट्रकूट राज्यमे सम्मिलित थे। श्री प० नाथूरामजी प्रेमीका अनुमान है कि बडौदा भी अमोघवर्षके राज्यमे सम्मिलित था। आन-तेन्द्र कोई राष्ट्रकूट राजा या सामन्त रहा होगा, जिसके बनवाये मन्दिरमे धवलाटीका लिखी गयी।[5] अतएव जिनसेनका सम्बन्ध चित्रकूटके साथ रहनेसे तथा अमोघवर्ष द्वारा सम्मानित होनेसे इनका जन्मस्थान महाराष्ट्र और कर्णा-टककी सीमाभूमिको अनुमानित किया जा सकता है।

१ उत्तरपुराणप्रशस्ति श्लोक ११-१३ तक।
२ आगत्य चित्रकूटात्तत स भगवान् गुरोरनुज्ञानात्।
३ उत्तरपुराण प्रशस्ति ३२-३४ तथा श्रुतावतार श्लोक—१७९।
४ महावीर गणितसार, शोलापुर सस्करण, ११३, ११८।
५ आदिपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रथम सस्करण प्रस्तावना, पृ० १९।

अभिलेखोमे वर्णित जिनसेनका व्यक्तित्व

श्रवणवेलगोलाके अभिलेखोमे जिनसेनके उल्लेख अनेक स्थानो पर आये हैं। अभिलेखसख्या ४७, ५०, १०५ और ४२२ मे जिनसेनका निर्देश आया है।

मेघचन्द्रप्रशस्तिमे लिखा है

"सिद्धान्ते जिन-वीरसेन-सदृश शास्त्राब्ज-भा-भास्कर ।"[1]

जीयाज्जगत्या जिनसेनसूरिर्यस्योपदेशोज्ज्वलदर्पणेन ।
व्यक्तीकृत सर्वमिद विनेया. पुण्य पुराण पुरुषा विदन्ति ॥
विनय-भरण-पात्र भव्यलोकैकमित्र विबुधनुतचरित्र तद्गणेन्द्राग्रपुत्र ।
विहितभुवनभद्र वीतमोहोरुनिद्र विनमत गुणभद्रं तीर्णविद्यासमुद्र ॥[2]

इन दोनो पद्योमे जिनसेन और गुणभद्र दोनोकी प्रशसा की गयी है। जिनसेनके उपदेशसे गुणभद्रने अवशिष्ट आदिपुराणको पूर्ण किया और उत्तरपुराणकी रचना की है। अभिलेखसख्या ४२२ मे जिन जिनसेनका नाम आया है वे आचार्य जिनसेन द्वितीयसे भिन्न कोई भट्टारक हैं। अत अभिलेखोसे यह स्पष्ट है कि जिनसेन द्वितीय सिद्धान्त, पुराण और काव्यरचनामे अत्यन्त पटु थे। इनकी कविता-निर्झरिणीके सीकरोसे सन्तुष्ट भव्यजन आनन्दमे मग्न होने लगते हैं। सरस्वतीका यह लाडला अपने युगका महान् विद्वान् और आचार्य है।

अभिलेखमे जो जिनसेनके उपदेशकी वात कही गयी है उसकी पुष्टि महापुराणके मङ्गलपद्योसे भी होती है। उन्होने मङ्गलाचरणमे ही यह निर्देश कर दिया है कि यदि मेरे द्वारा यह ग्रन्थ पूर्ण न हो सके तो तुम (गुणभद्र) इसे पूर्ण करना। अत अभिलेखोका सम्बन्ध जिनसेनाचार्यके साहित्यके साथ भी घटित हो जाता है।

समय-विचार

हरिवशपुराणके रचयिता जिनसेन प्रथमने वीरसेन और जिनसेनका उल्लेख किया है। उन्होने लिखा है

जितात्मपरलोकस्य कवीना चक्रवर्तिन ।
वीरसेनगुरो कीर्तिरकलङ्कावभासते ॥
याऽमिताभ्युदये पार्श्वे जिनेन्द्रगुणसस्तुति. ।
स्वामिनो जिनसेनस्य कीर्त्ति सङ्कीर्तयत्यसौ ॥

१. जैनशिलालेख सग्रह, प्रथम भाग, अभिलेख ४७, पृ० ६२, पद्य ३०।
२. वही, अभिलेख–१०५, पृ० १९९, पद्य २२-२३।

वर्धमानपुराणोद्यद्दादित्योक्तिगभस्तय ।
प्रस्फुरन्ति गिरीशान्त स्फुटस्फटिकभित्तिषु[1] ॥

जिन्होने परलोकको जीत लिया है और जो कवियोके चक्रवर्ती हैं उन वीरसेनगुरुकी कलङ्करहित कीर्ति प्रकाशित हो रही है। जिनसेनस्वामीने पार्श्वनाथ भगवानके गुणोकी स्तुति बनायी है पार्श्वाभ्युदयकी रचना की है, वही स्तुति उनकी कीर्त्तिका वर्णन कर रही है। इन जिनसेनके वर्धमानपुराण रूपी उदित होते हुए सूर्यकी उक्तिरूपी रश्मियाँ विद्वद् पुरुषोके अन्त करण-रूपी स्फटिक-भूमिमे प्रकाशमान हो रही है।

उक्त सन्दर्भमे प्रयुक्त 'अवभासते', 'सङ्कीर्तयति', 'प्रस्फुरन्ति' जैसे वर्त्तमानकालिक क्रियापद हरिवशपुराणके रचयिता जिनसेनका इनको समकालीन सिद्ध करते हैं। हरिवशपुराणकी रचना शक सवत् ७०५ (ई० सन् ७८३) में पूर्ण हुई है। अत· जिनसेनस्वामीका समय ई० सन्की आठवी शतीका उत्तरार्द्ध है। जयधवलाटीकाकी प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि इसकी समाप्ति जिनसेनने शक सवत् ७५९ फाल्गुन शुक्ला दशमीके पूर्वाह्णमे की है। इस टीकाको वीरसेनस्वामीने प्रारम्भ किया था, पर वे ४० हजारश्लोकप्रमाण ही लिख सके थे। अपने गुरुके इस अपूर्ण कार्यको जिनसेनने पूर्ण किया है। जिनसेनने आदिपुराणका प्रारम्भ अपनी वृद्धावस्थामे किया होगा। इसी कारण वे इसके ४२ पर्व ही लिख सके। अत जयधवलाटीकाके अनन्तर आदिपुराणकी रचना माननेसे जिनमेनका अस्तित्व ई० सन्की नवम् शती तक माना जा सकता है। गुणभद्रने उत्तरपुराणकी समाप्ति ई० सन् ८९७मे की है।

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि जिनसेनाचार्यके शिष्य गुणभद्रने आदिपुराणके ४३ वें पर्वके चतुर्थ पद्यसे समाप्तिपर्यन्त कुल १६२० श्लोक रचे हैं। महापुराणके द्वितीय भागस्वरूप उत्तरपुराणको गुणभद्रने पूर्ण किया है। आदिपुराणमे आदितीर्थङ्करका जीवनवृत्त है और उत्तरपुराणमे अजितनाथतीर्थङ्करसे महावीरपर्यन्त २३ तीर्थङ्कर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ बलभद्र और ९ प्रतिनारायण तथा जीवन्धर स्वामी आदि विशिष्ट पुण्यात्मा पुरुषोके कथानक अकित किये गये हैं। उत्तरपुराणके अन्तमे गुणभद्रके शिष्य लोकसेन द्वारा लिखित प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि शक सवत ८२०, श्रावण शुक्ला पचमी गुरुवारको इस ग्रन्थकी पूजा की गयी। अत उत्तरपुराणकी

१ हरिवशपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ सस्करण, १।३९ ४३।

समाप्ति इससे पहले होनी चाहिये। इस प्रकार गुणभद्रका समय भी ई० सन्‌की दशम शताब्दि माननेमे किसी प्रकारकी वाधा नही आती है। वास्तवमे वीरसेन, जिनसेन और गुणभद्र इन तीनो आचार्यो का साहित्यिक व्यक्तित्व अत्यन्त महनीय है और तीनो एक दूसरेके अनुपूरक है। वीरसेनके अपूर्ण कार्यको जिनसेनने पूर्ण किया है और जिनसेनके अपूर्ण कार्यको गुणभद्रने।

रचनाएँ

जिनसेनाचार्य काव्य, व्याकरण, नाटक, दर्शन, अलङ्कार, आचार, कर्म-सिद्धान्त प्रभृति अनेक विषयोके वहुज्ञ विद्वान् थे। इनकी केवल तीन ही रचनाएँ उपलब्ध हैं। वर्धमानचरितकी सूचना अवश्य प्राप्त होती है, पर यह कृति अभी तक देखनेमे नही आयी है।

१. पार्श्वाभ्युदय
२ आदिपुराण
३ जयधवलाटीका

१ पार्श्वाभ्युदय[1]

यह कालिदासके मेघदूत नामक काव्यकी समस्यापूर्ति है। इसमे कही मेघदूतके एक और कही दो पादोको लेकर पद्य-रचना की गयी है। इस काव्य-ग्रन्थमे सम्पूर्ण मेघदूत समाविष्ट है। अत. मेघदूतके पाठशोधनके लिए भी इस ग्रन्थका मूल्य कम नही है।

दीक्षा धारण कर तीर्थंकर पार्श्वनाथ प्रतिमायोगमे विराजमान हैं। पूर्व भवका विरोधी कमठका जीव शम्वर नामक ज्योतिष्कदेव अवधिज्ञानसे अपने शत्रुका परिज्ञान कर नानाप्रकारके उपसर्ग देता है। इसी कथावस्तुकी अभिव्यञ्जना पार्श्वाभ्युदयमे की गयी है। शृगाररससे ओत-प्रोत मेघदूतको शान्तरसमे परिवर्तित कर दिया गया है। साहित्यिक दृष्टिसे यह काव्य वहुत सुन्दर और काव्यगुणोसे मडित है। इसमे चार सर्ग हैं प्रथम सर्गमे ११८, द्वितीय सर्गमे ११८, तृतीयमे ५७ और चतुर्थमे ७१ पद्य हैं। इस काव्यमे शम्वर (कमठ) यक्षके रूपमे कल्पित है। कविता अत्यन्त प्रौढ एव चमत्कार-पूर्ण है। यहाँ उदाहरणार्थ एक-दो पद्य उद्धृत किये जाते है—

तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलै सारयित्वा कथञ्चित्
स्वाङ्गुल्यग्रै कुसुममृदुभिर्वल्लरीमस्पृशन्ती।

१ पार्श्वाभ्युदय, निर्णय सागर प्रेस. वम्वई।

ध्यायं ध्यायं त्वदुपगमनं शून्यचिन्तानुकण्ठी,
भूयोभूय स्वयमपि कृता मूर्छना विस्मरन्ती[1] ॥

आम्रकूट पर्वतके शिखर पर मेघके पहुँचने पर कवि पर्वत-शोभाका वर्णन करता हुआ कहता है

कृष्णाहि· किं बलयिततनु मध्यमस्याधिशेते,
किं वा नीलोत्पलविरचित शेखर भूभृत· स्यात् ।
इत्याशङ्का जनयति पुरा मुग्धाविद्याधरीणा,
त्वय्यारूढे शिखरमचल स्निग्धवेणीसवर्णे[2] ॥

समस्यापूर्तिमे कविने सर्वथा नवीन भावयोजना की है। मार्गवर्णन और वसुन्धराकी विरहावस्थाका वर्णन मेघदूतके समान ही है। परन्तु इसका सदेश मेघदूतसे भिन्न है। शम्बर पार्श्वनाथके धैर्य, सौजन्य, सहिष्णुता और अपार शक्तिसे प्रभावित होकर स्वय वैरभावका त्याग कर उनकी शरणमे पहुँचता है और पश्चात्ताप करता हुआ अपने अपराधकी क्षमायाचना करता है। कविने काव्यके बीचमे "पापापाये प्रथममुदित कारण भक्तिरेव" जैसी सूक्तियोकी भी योजना की है। इस काव्यमे कुल ३६४ मन्दाक्रान्ता पद्य हैं।

२· आदिपुराण[3]

यह आकर ग्रन्थ है। पुराण होते हुए भी इसमे इतिहास, भूगोल, सस्कृति समाज, राजनीति और अर्थशास्त्र आदि विषय भी समाविष्ट है। जिनसेनने पुराणके लिए आठ वर्ण्य विषय बतलाये हैं।

१ लोक लोक-सस्थान, लोक-आकृति, क्षेत्रफल, भेद एव उर्ध्व, मध्य और अधोलोकका वर्णन, क्षेत्र, द्वीप, पर्वत, नदी आदिका वर्णन।

२· देश जनपदोका चित्रण।

३ नगर अयोध्या, वाराणसी प्रभृति नगरियोका चित्रण।

४· राज्य राज्योकी समृद्धिका चित्रण।

५· तीर्थ धर्मप्रवृत्ति एव तीर्थभूमियोका निरूपण।

६· दान-तप तप-दानकी फलोत्पादक कथाओका वर्णन।

७ गति—चतुर्गतिके दु खोका वर्णन।

८ फल पुण्य-पापके फलके साथ मोक्षप्राप्तिका निरूपण।

१ पार्श्वाभ्युदय ३·३९।
२· वही १।७०।
३ यह भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित है।

इन आठ विषयोके अतिरिक्त आदिपुराणमे निम्नलिखित पौराणिक तत्व भी विद्यमान हैं—

१. शलाकापुरुषोके कथानकसयोगोका दैवी घटनाओ पर आश्रयण।

२ आख्यानोमे सहसा दिशापरिवर्तन।

३. समकालीन सामाजिक समस्याओका उद्घाटन।

४. पारिवारिक जीवनके कटु-मधु चित्र।

५ सवादतत्वकी अल्पता रहनेपर भी घटनासूत्रो द्वारा आख्यानोमे गतिमत्वधर्मकी उत्पत्ति।

६ कथाओके मध्यमे पूर्वजन्मके आख्यानोका समवाय, धर्मतत्त्व और धर्मसिद्धान्तोका नियोजन।

७ रोचकता मध्यविन्दु तक रहती है। अत आगेकी कथावस्तुमे सघनता और घटनाओका वाहुल्य।

८. अलकृत वर्णनोके साथ लोकतत्त्व और कथानकरूढियोका प्रयोग।

९. लोकानुश्रुतियाँ, पुराणगाथाएँ, लोकविश्वास प्रभृतिका सयोग।

१०. प्रेम, शृंगार, कुतूहल, मनोरजन, रहस्य एव धर्मश्रद्धाका वर्णन।

११ जनमानसका प्रतिफलन, पूर्वजन्मके सस्कार और फलोपभोगोकी तरलताका चित्रण।

आदिपुराणकी संक्षिप्त कथा-वस्तु

आदिपुराणकी कथा-वस्तुके प्रधान नायक आदि तीर्थंकर ऋषभदेव और उनके पुत्र भरतचक्रवर्ती हैं। इन दोनो शलाकापुरुषोके जीवनसे सम्पर्क रखनेवाले कितने ही अन्य महापुरुषोकी कथाएँ भी आयी हैं। इस महाग्रन्थकी कथा-वस्तु ४७ पर्वो मे विभक्त है। प्रथम दो पर्वोमे कथाके वक्ता, श्रोता एव पुराण श्रवणका फल आदि वर्णित है। तृतीय पर्वमे उत्सर्पण और अवसर्पण कालोके सुषुमसुषुमादिभेदो एव भोगभूमिकी व्यवस्थापर प्रकाश डाला गया है। प्रतिश्रुति आदि कुलकरोकी उत्पत्ति, उनके कार्य और उनकी आयु आदिका वर्णन आया है। अन्तिम कुलकर नाभिरायके समयमे गगनाङ्गणमे सर्वप्रथम घनघटा, विद्युत् प्रकाश और सूर्यकी स्वर्णरश्मियोके सम्पर्कसे उसमे रंग-विरगे इन्द्रधनुष दिखलायी पड़ते हैं। वर्षा होती है और वसुधातल जलमय हो जाता है। मयूर नृत्य करने लगते हैं और चिरसतप्त चातक सन्तोषकी साँस लेता है। कल्पवृक्ष नष्ट हो जाते हैं और विविध प्रकारके धान्य अपने-आप उत्पन्न होने लगते हैं। कल्पवृक्षोके न रहनेसे प्रजामे व्याकुलता व्याप्त हो जाती है और

सभी लोग आजीविकाविहीन दुःखी हो, नाभिरायके पास जाकर निर्वाह योग्य व्यवस्था पूछते हैं।

नाभिराय चौदहवे कुलकर-मनु थे। उन्होने धान्य, फल, इक्षु, रस आदि-की उपयोग करनेकी विधि बतलायी तथा मिट्टीके बर्तन बनाकर आवश्यकताकी पूर्ति करनेका उपदेश दिया। प्रजामे सुख और शान्ति बनाये रखनेके लिए दण्डव्यवस्था भी प्रतिपादित की। इसी पर्वमें सभी कुलकरोके कार्योका वर्णन आया है। चतुर्थ पर्वमे पुराणके वर्णनीय विषयोका प्रतिपादन करनेके अनन्तर जम्बू द्वीपके विदेह क्षेत्रके अन्तर्गत गन्धिलदेश और उसकी अलकानगरीका चित्रण आया है। इस नगरीके अधिपति अतिबल विद्याधर और उसकी मनोहरा नामक राज्ञीका वर्णन किया है। इस दम्पतिके महाबल नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। अतिबल विरक्त होकर दीक्षित हो गया और महाबलको शासन-भार प्राप्त हुआ। महाबलके महामति, सम्भिन्नमति, शतमति और स्वयबुद्ध ये चार मन्त्री थे। राजा मन्त्रियोके ऊपर शासनभार छोडकर भोगोपभोगोके सेवनमे आसक्त हो गया।

पचम पर्वमें महाबलकी विरक्ति और सल्लेखनाका निरूपण किया है। २२ दिनोकी सल्लेखनाके प्रभावसे महाबल ऐशान स्वर्गमे ललिताग नामका महर्द्धिक देव होता है। षष्ठ पर्वमें आयुके छ मास शेष रहनेपर ललिताग दुःखी होता है, पर समझाये जानेपर वह अच्युत स्वर्गकी जिनप्रतिमाओका पूजन करते-करते चैत्यवृक्षके नीचे पचनमस्कार मन्त्रका जाप करते-करते स्वर्गकी आयुको पूर्ण करता है। ललिताग स्वर्गसे च्युत हो, पुष्कलावति देशके उत्पल-खेट नगरके राजा वज्रबाहु और रानी वसुन्धराके गर्भसे वज्रजघ नामका राजपुत्र होता है। ललितागकी प्रिया स्वयप्रभा पुण्डरीकिणी नगरीके राजा वज्रदन्तके यहाँ श्रीमती नामकी पुत्री होती है। यशोधर गुरुके कैवल्यमहोत्सव के लिए देवोको आकाशमे जाते देखकर श्रीमतीको पूर्वभवका स्मरण हो आता है और वह अपने प्रिय ललितागदेवको प्राप्त करनेके लिए कृतसकल्प हो जाती है। पण्डिताधाय उसकी सहायता करती है। वह श्रीमती द्वारा निर्मित पूर्वभव-के प्रतीकोसे युक्त चित्रपटको लेकर उत्पलखेटके महापूत जिनालयमे पहुँचती है। यहापर चित्रपटको फैला देती है। दर्शकवृन्द उसे देखकर चकित हो जाते हैं, पर उसके यथार्थ रहस्यसे अनभिज्ञ ही रहते हैं।

सप्तम पर्वमे बताया गया है कि ललितागदेवका जीव वज्रजघ महापूत चैत्यालयमे आता है, और उस चित्रपटको देखते ही, उसे अपने पूर्वजन्मका स्मरण हो जाता है, जिससे वह अपनी प्रिया स्वयप्रभाको प्राप्त करनेके लिए

बेचैन हो जाता है। पण्डिताधायको वह भी एक चित्रपट भेंट करता है, जिसमे स्वयप्रभाके जीवनरहस्यको अकित किया गया है। वज्रजघ पुण्डरीकिणी नगरीमे आता है और श्रीमतीके साथ उसका विवाह हो जाता है। ललितागदेव और स्वयप्रभा पुन वज्रजघ और श्रीमतीके रूपमे सयोगको प्राप्त करते हैं।

अष्टम पर्वमे वज्रजघ और श्रीमतीके भोगोपभोगोका वर्णन किया गया है। वज्रजघका श्वसुर वज्रदन्त चक्रवर्ती कमलमे वन्द मृत भ्रमरको देखकर विरक्त हो जाता है। पुत्र अमिततेजके द्वारा शासन स्वीकृत न किये जानेपर वह उसके पुत्र पुण्डरीकको राज्य देकर यशोधर मुनिके समक्ष अनेक राजाओके साथ दीक्षित हो जाता है। पण्डिताधाय भी दीक्षित हो जाती है। चक्रवर्तीकी पत्नी लक्ष्मीमति पुण्डरीकको अल्पवयस्क जानकर राज्य सम्भालनेके लिए अपने जामाता वज्रजघको वुलाती है। वज्रजघ अपनी प्रिया श्रीमतीके साथ पुण्डरीकिणी नगरीको प्रस्थान करता है। वह मार्गमे चारणऋद्धिधारी मुनियोको आहारदान देता है। वह दमधर नामक मुनिराजसे अपने भवान्तर जानना चाहता है, मुनिराज उसे आठवे भवमे तीर्थंकर होने तथा श्रीमतीको दानतीर्थका प्रवर्तक श्रेयास होनेकी भविष्यवाणी करते हैं। वज्रजघ पुण्डरीकिणी नगरमे पहुँचकर सबको सान्त्वना देता है और अपने नगरमे लौट आता है।

नवम पर्वके प्रारम्भमे भोगोपभोगोका चित्रण आया है। एक दिन वज्रजघ और श्रीमती शयनागारमे शयन कर रहे थे, सुगन्धित द्रव्यका धूम्र फैलनेसे शयनागार अत्यन्त सुवासित हो रहा था। सयोगवश द्वारपाल उस दिन गवाक्ष खोलना भूल गया, जिससे श्वास रुक जानेके कारण उन दोनोकी मृत्यु हो गयी। पात्रदानके प्रभावसे दोनो उत्तरकुरुमे आर्य-आर्या हुए। प्रीतिकर मुनिराजके सम्पर्कसे आर्य मरण कर ईशान स्वर्गमे श्रीधर नामका देव हुआ। आर्या भी उसी स्वर्गमे देवी हुई।

दशम पर्वके प्रारम्भमे प्रीतिकरके केवलज्ञान-उत्सवका वर्णन आया है। श्रीधर भी इस उत्सवमे सम्मिलित हुआ। अन्तमे वह स्वर्गसे च्युत होकर जम्बूद्वीपके पूर्व विदेहकी सुषमा नगरीमे सुदृष्टि राजाकी सुन्दरनन्दा नामक रानीके गर्भसे सुविधि नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। यह चक्रवर्ती राजा हुआ और श्रीमतीका जीव केशव नामक इसका पुत्र हुआ। सुविधि पुत्रके अनुरागके कारण मुनि न वन सका, पर घरपर ही श्रावकके व्रतोका पालन कर सन्यासके प्रभावसे सोलहवें स्वर्गमे अच्युतेन्द्र हुआ।

एकादश पर्वमे अच्युतेन्द्रके पर्याय वज्रनाभिका वर्णन आया है। वज्रनाभि चक्ररत्नकी प्राप्तिके अनन्तर दिग्विजयके लिए प्रस्थान करता है। राज्यको

समृद्ध करनेके पश्चात् वह दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारणभावनाओंका चिंतन कर तीर्थंकरप्रकृतिका बन्ध करता है। अन्तमे प्रायोपगमन सन्यास धारण कर सर्वार्थसिद्धि विमानमे उत्पन्न होता है।

द्वादश पर्वमे अहमिन्द्रका जीव ऋषभदेवके रूपमे नाभिराय और मरुदेवी-के यहाँ जन्म धारण करता है। इस पर्वमे मरुदेवीकी गर्भावस्था और देवियोंकी की गयी सेवाका वर्णन किया गया है।

त्रयोदश पर्वमे आदितीर्थंकर ऋषभदेवका इन्द्र द्वारा जन्माभिषेक उत्सवके किये जानेका निरूपण आया है। उनका सुमेरु पर्वतपर एक हजार आठ कलशो-के द्वारा अभिषेक सम्पन्न होता है। चतुर्दश पर्वमे इन्द्राणी बालकको वस्त्रा-भूषणोसे सुसज्जित कर माताको सौंप देती है। इन्द्र ताण्डवनृत्य कर उनका ऋषभदेव नाम रखता है।

पञ्चदश पर्वमे ऋषभदेवके शारीरिक सौन्दर्य और उनके एक हजार आठ शुभ लक्षणोका वर्णन आया है। महाराज नाभिराय युवक होनेपर पुत्रसे विवाह करनेका अनुरोध करते है। फलस्वरूप कच्छ और महाकच्छकी बहनें यशस्वती और सुनन्दाके साथ ऋषभदेवका विवाह सम्पन्न होता है।

षोडशपर्वके अनुसार यशस्वतीके उदरसे भरतचक्रवर्तीका जन्म होता है और सुनन्दाके उदरसे बाहुबलीका। ऋषभदेवको यशस्वतीसे अन्य ९८ पुत्र और ब्राह्मी नामक कन्याकी प्राप्ति होती है। सुनन्दासे बाहुबलीके अतिरिक्त सुन्दरी नामक कन्यारत्न भी उपलब्ध होती है। ऋषभदेव प्रजाको असि, मषि, कृषि, वाणिज्य, सेवा और शिल्प इन षट् आजाविकोपयोगी कर्मोकी शिक्षा देते हैं। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णो की व्यवस्था करते है।

सप्तदश पर्वमे ऋषभदेवको विरक्ति प्राप्त करनेके लिए एक मार्मिक घटना घटित होती है। नीलाञ्जना नामक नर्तकी अचानक विलीन हो जाती है। ऋषभदेव इस अघटित घटनाको देखते ही विरक्त हो जाते हैं। स्वर्गसे लौका-न्तिकदेव आकर उनके वैराग्यकी पुष्टि करते हैं। वे अयोध्याके पट्टपर भरतका राज्याभिषेक कर अन्य पुत्रोको यथायोग्य राज्य देते हैं। सिद्धार्थवनमे जाकर परिग्रहका त्यागकर चैत्र कृष्णा नवमीके दिन ऋषभदेव दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। इनके साथ चार हजार अन्य राजा भी दीक्षित हो जाते है।

अष्टदश पर्वमे बताया गया है कि ऋषभदेव छ माहका योग लेकर शिलापट्टपर आसीन हो जाते हैं। दीक्षा धारण करते ही मन पर्ययज्ञान उत्पन्न हो जाता है। साथमे दीक्षित हुए राजा भ्रष्ट हो जाते है और विभिन्न मतोका

प्रचार करते हैं। कच्छ, महाकच्छके पुत्र नमि-विनमि भगवान ऋषभदेवसे कुछ माँगने आते हैं। धरणेन्द्र उन्हे समझाकर विजयार्धपर्वत पर ले जाता है।

एकोनविंश पर्वमे धरणेन्द्र द्वारा नमि-विनमिको विजयार्द्धपर्वतकी नगरियोका परिचय दिया गया है। विंशपर्वमे आदितीर्थंकर ऋषभदेवका एक वर्षके तपश्चरणके अनन्तर हस्तिनापुरमे श्रेयासके यहाँ इक्षुरसका आहार होता है।

एकविंश पर्वमे ध्यानका वर्णन किया गया है। द्वाविंश पर्वमे ऋषभदेवको केवलज्ञानकी प्राप्ति, ज्ञानकल्याणक उत्सव एव समवशरणका चित्रण आया है। त्रयोविंश पर्वमे समवशरणमे इन्द्रने आदि तीर्थंकरकी पूजा स्तुति की है। चतुर्विंश पर्वमे भरत द्वारा भगवान ऋषभदेवकी पूजा की गयी है। इसी पर्वमे भगवानकी दिव्यध्वनिका भी वर्णन आया है। पचविंश पर्वमे अष्टप्रातिहार्य, चौतीस अतिशय और अनन्तचतुष्टय सुशोभित तीर्थंकरकी स्तुति की गयी है। इस पर्वमे सहस्रनामरूप महास्तवन भी आया है।

षड्विंशतितम पर्वमे भरत द्वारा चक्ररत्नकी पूजा और पुत्रोत्सव सम्पन्न करनेका वर्णन समाहित है। चक्रवर्ती दिग्विजयके लिए पूर्व दिशाकी ओर प्रस्थान करता है। सप्तविंशतितम पर्वमे गगा और वन शोभाका वर्णन आया है। अष्टविंशतितम पर्वका आरम्भ दिग्विजयार्थ चक्रवर्तीके सैनिक प्रयाणसे होता है। चक्रवर्तीकी सेना स्थलमार्गसे गगाके किनारेके उपवनमे प्रविष्ट होती है। उसने लवण समुद्रको पार कर मागधदेवको जीता। एकोनत्रिंशत्तम पर्वमे दक्षिण दिशाकी ओर अभियान करनेका वर्णन आया है। त्रिंशतितम पर्वमे चक्रवर्ती दक्षिणको विजय कर पश्चिम दिशाकी ओर बढता है और विन्ध्यगिरिपर पहुँचता है। अनन्तर समुद्रके किनारे-किनारे जाकर लवण समुद्रके तटपर पहुँचता है।

एकत्रिंशत्तम पर्वमे आया है कि अठारह करोड घोडोका अधिपति भरत उत्तरकी ओर प्रस्थान करता है और विजयार्द्धकी उपत्यकामे पहुँचता है। द्वात्रिंशत्तमपर्वमे विजयार्धके गुहा-द्वारके उद्घाटनके अनन्तर नागजातिको वशमे किये जानेका वर्णन है। चिलात और आवर्त दोनो ही मलेच्छ राजा निरुपाय होकर शरणमे आते हैं।

त्रयस्त्रिंशत्तम पर्वमे बताया है कि भरतचक्रवर्ती दिग्विजय करनेके पश्चात् सेना सहित अपनी नगरीमे आता है। मार्गमे अनेक देश, नगर और नदियोका उल्लघन कर कैलासपर्वतपर अनेक राजाओके साथ ऋषभदेवकी पूजा करता है।

चतुस्त्रिंशत्तम पर्वमे चक्रवर्ती कैलाससे उतरकर अयोध्याकी ओर बढ़ता है। यहाँ चक्ररत्न नगरीके भीतर प्रविष्ट नही होता, निमित्तज्ञानियो द्वारा भाइयोको विजित करनेकी बात ज्ञातकर भरत उनके पास दूत भेजता है। बाहुबलीको छोड भरतके अन्य सब भाई ऋषभदेवके चरणमूलमे जाकर दीक्षित हो जाते हैं।

पञ्चत्रिंशत्तमपर्वमे बाहुबलिद्वारा भरतका युद्ध-निमन्त्रण स्वीकार कर लिया जाता है। षट्त्रिंशत्तमपर्वमे भरत और बाहुबलिके नेत्र, जल और मल्ल-युद्धका वर्णन आया है। उक्त तीनो युद्धोमे बाहुबलिको विजयी देखकर भरत कुपित हो चक्ररत्नका उपयोग करते हैं, जिससे बाहुबलि विरक्त हो जिन-दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। सप्तत्रिंशत्तम पर्वमे चक्रवर्तीके अयोध्या नगरीमे प्रवेश-का वर्णन आया है। अष्टत्रिंशत्तम पर्वमे भरतद्वारा अणुव्रतियोको अपने घर बुलाये जानेका उल्लेख आता है। भरत इस सन्दर्भमे ब्राह्मणवर्णकी स्थापना करते हैं। एकोनचत्वारिंशत्तम और एकचत्वारिंशत्तम पर्वो मे क्रियाओ और सस्कारोका वर्णन आया है। द्विचत्वारिंशत्तम पर्वमे राजनीति और वर्णाश्रम-धर्मका उपदेश अकित है। त्रिचत्वारिंशत्तम और चतुश्चत्वारिंशत्तम पर्वोमे जयकुमारका सुलोचनाके स्वयवरमे सम्मिलित होना तथा अन्य राजाओके साथ युद्ध करनेका वर्णन आया है।

पञ्चचत्वारिंशत्तम पर्वमे जयकुमार और सुलोचनाके प्रेम-मिलनका चित्रण आया है। जयकुमार सुलोचनाको पटरानी बनाता है। षट्चत्वारिंशत्तमपर्वमे जयकुमार और सुलोचनाके अपने पूर्वभवका स्मरणकर मूर्छित होनेका वर्णन आया है। अन्तिम सप्तचत्वारिंशत्तम पर्वमे पूर्वभवावलोकी चर्चा करते हुए कहा है कि जयकुमार ससारसे विरक्त हो जाता है और दीक्षित हो ऋषभदेवके समवशरणमे गणधरपद प्राप्त करता है। चक्रवर्ती भरत दीक्षा ग्रहण करता है, और उसे तत्काल केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है। भगवान् ऋषभदेव अन्तिम विहार करते हैं और कैलासपर्वतपर उन्हे निर्वाणप्राप्ति हो जाती है।

इस प्रकार आदिपुराणमे ऋषभदेवके दस पूर्वभवोकी कथाएँ आयी हैं। दोनो शलाकापुरुषोका विस्तृत जीवन-परिचय इस पुराणमे अकित है।

इस ग्रन्थके ४२ वर्ष (पर्व) जिनसेनने लिखे हैं और उनकी मृत्यु हो जानेपर शेष पाँच पर्व उनके शिष्य गुणभद्रने लिखे हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ 'महापुराण' के नामसे प्रसिद्ध है और सुयोग्य गुरु-शिष्यकी यह अनुपम कृति मानी जाती है।

२ जयधवलाटीका

कषायप्राभृतके प्रथम स्कन्धको चारो विभक्तियो पर जयधवला नामकी

वीस हजार श्लोकप्रमाण टीका लिखनेके अनन्तर आचार्य वीरसेनका स्वर्गवास हो गया, अत उनके शिष्य जिनसेनने अवशिष्ट भागपर चालीस हजार श्लोक-प्रमाण टीका लिखकर उसे पूर्ण किया[1]। यह टीका भी वीरसेनस्वामीकी शैली (सस्कृतमिश्रित प्राकृत भाषा) मे मणि-प्रवालन्यायसे लिखी गयी है। टीका इस रूपमे लिखी गयी है कि अन्त परीक्षणसे भी यह निर्णय नही किया जा सकता कि गुरु और शिष्यमसे किसने कितना भाग रचा है। इसीसे जिनसेनाचार्यके वैदुष्य और रचनाचातुर्यका अनुमान किया जा सकता है। इन्होने जयधवलाकी प्रशस्तिमे लिखा है कि गुरुके द्वारा बहुवक्तव्य पूर्वार्धके प्रकाशित कर दिये जानेपर, उसको देखकर इस अल्पवक्तव्य उत्तरार्धको पूरा किया।

इस टीकाको तीन स्कन्धोमे विभाजित किया गया है १ प्रदेशविभक्ति-पर्यन्त प्रथम स्कन्ध, २. सक्रम, उदय और उपयोग द्वितीय स्कन्ध एव ३ शेष भाग तृतीय स्कन्ध है। इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारके अनुसार सक्रमके पहलेका विभक्तिपर्यन्त भाग वीरसेनस्वामीने रचा है। गणना करनेपर विभक्तिपर्यन्त ग्रन्थका परिमाण साढे छब्बीस हजार श्लोक है, पर यहाँ गणना स्थूलरूपमे ग्रहणकर वीस हजार प्रमाण कहा गया है। अवशेष टीका जिनसेनस्वामीकी है।

आचार्य विद्यानन्द

आचार्य विद्यानन्द ऐसे सारस्वत है, जिन्होने प्रमाण और दर्शनसम्बन्धी ग्रन्थोको रचनाकर श्रुतपरम्पराको गतिशील बनाया है। इनके जीवनवृत्तके सम्बन्धमे प्रामाणिक इतिवृत्त ज्ञात नही है। 'राजावलीकथे'मे विद्यानन्दिका उल्लेख आता है और सक्षिप्त जीवन-वृत्त भी उपलब्ध होता है, पर वे सारस्वताचार्य विद्यानन्द नहीं हैं, परम्परा-पोषक विद्यानन्दि हैं।

जीवन-वृत्त

आचार्य विद्यानन्दको रचनाओके अवलोकनसे यह अवगत होता है कि ये दक्षिण भारतके कर्णाटक प्रान्तके निवासी थे। इसी प्रदेशको इनकी साधना और कार्यभूमि होनेका सौभाग्य प्राप्त है। किंवदन्तियोके आधारपर यह माना जाता है कि इनका जन्म ब्राह्मण परिवारमे हुआ था। इस मान्यताकी सिद्धि इनके प्रखर पाण्डित्य और महती विद्वतासे भी होती है। इन्होने कुमारावस्थामे

---

१ षष्ठिरेव सहस्राणि ग्रन्थाना परिमाणत । श्लोकेनानुष्टुभेनात्र निर्दिष्टान्यनुपूर्वश. ।।
विभक्ति प्रथमस्कन्धो द्वितीयः सक्रमोदयौ । उपयोगश्च शेषस्तु तृतीय स्कन्ध इष्यते ।।
जयधवला प्रशस्ति ९।१० ।

ही वैशेषिक, न्याय, मीमांसा, वेदान्त आदि दर्शनोंका अध्ययन कर लिया था। इन आस्तिक दर्शनोंके अतिरिक्त ये दिङ्नाग, धर्मकीर्ति और प्रज्ञाकर आदि बौद्ध दार्शनिकोंके मन्तव्योंसे भी परिचित थे। शक संवत् १३२० के एक अभिलेखमें[1] वर्णित नन्दिसंघके मुनियोंकी नामावलिमें विद्यानन्दका नाम प्राप्त कर यह अनुमान सहजमें लगाया जा सकता है कि इन्होंने नन्दिसंघके किसी आचार्यसे दीक्षा ग्रहण की होगी। जैन-वाङ्मयका आलोडन-विलोडन कर इन्होंने अपूर्व पाण्डित्य प्राप्त किया। साथ ही मुनि-पद धारणकर तपश्चर्या द्वारा अपने चरितको भी निर्मल बनाया।

इनके पाण्डित्यकी ख्याति १० वीं, ११ वीं शतीमें ही हो चुकी थी। यही कारण है कि वादिराजने (ई० सन् १०५५) अपने 'पार्श्वनाथचरित' नामक काव्यमें इनका स्मरण करते हुए लिखा है

> ऋजुसूत्रं स्फुरद्रत्नं विद्यानन्दस्य विस्मयः ।
> शृण्वतामप्यलङ्कारं दीप्तिरङ्गेषु रङ्गति[2] ॥

आश्चर्य है कि विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और अष्टसहस्री जैसे दीप्तिमान अलङ्कारोंको सुननेवालोंके भी अङ्गोंमें दीप्ति आ जाती है, तो उन्हें धारण करनेवालोंकी बात ही क्या है?

इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि सारस्वताचार्य विद्यानन्दकी कीर्ति ई० सन् की १०वीं शताब्दिमें ही व्याप्त हो चुकी थी। उनके महनीय व्यक्तित्वका सभी पर प्रभाव था। दक्षिणसे उत्तर तक उनकी प्रखर न्यायप्रतिभासे सभी आश्चर्यचकित थे।

समय-विचार

आचार्य विद्यानन्दने अपनी किसी भी कृतिमें समयका निर्देश नहीं किया है। अतः इनके समयका निर्णय इनकी रचनाओंकी विषय-वस्तुके आधारपर ही सम्भव है। विद्यानन्द और इनकी कृतियोंपर पूर्ववर्ती ग्रन्थकार गृद्धपिच्छाचार्य, स्वामी समन्तभद्र, श्रीदत्त, सिद्धसेन, पात्रस्वामी, भट्टाकलङ्क, कुमारसेन, कुमारनन्दि भट्टारकका प्रभाव स्पष्टतया लक्षित होता है। अतः विद्यानन्द इन आचार्योंके पश्चात्वर्ती हैं। विद्यानन्दने 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें श्रीदत्तके जल्प और वाद सम्बन्धी नियमोंका उल्लेख किया है। वादके दो भेद हैं: १ वीतरागवाद और २ आभिमानिकवाद। वीतरागवाद तत्त्व-जिज्ञासुओंमें होता है। अतः

१. जैनशिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, लेखाङ्क १०५, (२५४)।
२. पार्श्वनाथचरित, १।२८।

इसके दो अग हैं वादी और प्रतिवादी। आभिमानिकवाद जिगीषुओमे होता है और उसके वादी, प्रतिवादी, सभापति और प्राश्निक ये चार अङ्ग हैं। आभिमानिकवादके भी दो भेद हैं (१) तात्त्विकवाद और (२) प्रातिभवाद। अपने इस वादसम्बन्धी कथनकी पुष्टिके लिए श्रीदत्तके मतका उपस्थापन किया है। जल्पके भी तात्त्विक और प्रतिभ ये दो भेद किये गये हैं। इस प्रकार विद्यानन्दने अपनेसे पूर्ववर्ती श्रीदत्त और उनके 'जल्पनिर्णय' ग्रन्थका उल्लेख किया है।

आचार्य जिनसेन द्वितीयने श्रीदत्तका स्मरण किया है और जिनसेनका समय ई० सन् नौवी शताब्दि है। अत श्रीदत्तका सयय इनसे पहले होना चाहिए। आचार्य पूज्यपादने अपने जैनेन्द्रव्याकरणके "गुणे श्रीदत्तस्य स्त्रिया"[1] सूत्र द्वारा श्रीदत्तका उल्लेख किया है। यदि ये श्रीदत्त ही प्रस्तुत श्रीदत्त हो तो श्रीदत्तका समय पूज्यपादसे पूर्व अर्थात् छठी शताब्दिसे पूर्व आता है। अत इस आधारसे विद्यानन्दका समय छठी शताब्दिके बाद सिद्ध होता है।

विद्यानन्दने 'तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक'मे[2] सिद्धसेनके सन्मतिसूत्रके तीसरे काण्डगत "जो हेउवायपक्खम्मि" आदि ४५वी गाथा उद्धृत की है। एक दूसरी जगह[3] "जावदिया वयणवहा तावदिया होंति णयवाया" ,आदि तीसरे काण्डकी ४७वी गाथाका सस्कृतरूपान्तर दिया है। अत विद्यानन्द सिद्धसेनके पश्चाद्वर्ती हैं, यह स्पष्ट है। पात्रस्वामी और भट्टाकलङ्कके उद्धरण और नामोल्लेख भी इनके ग्रन्थोमे मिलते है। अकलङ्ककी 'अष्टशती' को तो अष्टसहस्रीमे आत्मसात् ही कर लिया गया है। अतएव इनका समय सातवीं शताब्दिके पश्चात् होना चाहिए। अकलङ्कके उत्तरवर्ती कुमारनन्दि भट्टारकके वादन्यायका 'तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक', 'प्रमाणपरीक्षा' और 'पत्रपरीक्षा'मे नामोल्लेख किया है, तथा वादन्यायसे कुछ कारिकाएँ भी उद्धृत की हैं। अत विद्यानन्द कुमारनन्दि भट्टारकके उत्तरवर्ती हैं। कुमारनन्दि अकलङ्क और विद्यानन्दके मध्यमें हुए हैं। अत इनका समय आठवी और नौवी शताब्दिका मध्यभाग होना चाहिए।

विद्यानन्दका प्रभाव माणिक्यनन्दि, वादिराज, प्रभाचन्द्र, अभयदेव, देवसूरि आदि आचार्योपर है। माणिक्यनन्दिका समय विक्रमकी ११ वी शती है और अकलकदेवका समय विक्रमकी ८ वी शती है। अतएव विद्यानन्दका समय माणिक्यनन्दि और अकलकका मध्य अर्थात् ९ वी शती होना चाहिए।

१ जैनेन्द्रव्याकरण १।४।३४।

२. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० ३।

३ वही, पृ० ११४।

विद्यानन्दने अपने 'तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक' और अष्टसहस्री' मे उद्योतकर, वाक्यपदीयकार भर्तृहरि, कुमारिलभट्ट, प्रभाकर, प्रशस्तपाद, व्योमशिवाचार्य, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, मण्डनमिश्र और सुरेश्वरमिश्रके मतोकी समीक्षा की है। है। इन दार्शनिक विद्वानोका समय ई० सन् ७८८ के पहले ही है। अत विद्यानन्दके समयकी पूर्ववर्ती सीमा ७८८ ई० है और उत्तर सीमा पार्श्वनाथ-चरित और न्यायविनिश्चयविवरण (प्रशस्ति श्लोक २) मे विद्यानन्दका उल्लेख रहनेसे ई० सन् १०२५ है। इन दोनो समय-सीमाओके बीच ही इनका स्थितिकाल है।

आचार्य विद्यानन्दने 'प्रशस्तपादभाष्य' पर लिखी गयी चार टीकाओमेसे व्योमशिवकी 'व्योमवती' टीकाके अतिरिक्त अन्य तीन टीकाओमेसे किसी भी टीकाकी समीक्षा नही की है। अत स्पष्ट है कि श्रीधरकी न्यायकन्दली (ई० सन् ९९१) और उदयनकी किरणावली (ई० सन् ९८४) के पूर्व विद्यानन्दका समय होना चाहिए। इस प्रकार इनकी उत्तर सीमा ई० सन् १०२५ से हटकर ई० सन् ९८४ हो जाती है।

'अष्टसहस्री' की अन्तिम प्रशस्तिमे बताया है कि कुमारसेनकी युक्तियोके वर्धनार्थ ही यह रचना लिखी जा रही है। यथा

वीरसेनाख्यमोक्षगे चारुगुणानर्घ्यरत्नसिन्धुगिरिसततम्।
सारतरात्मध्यानगे मारमदाम्भोदपवनगिरिगह्वरायितु॥
कष्टसहस्री सिद्धा साष्टसहस्रीयमत्र मे पुष्यात्।
शश्वदभीष्टसहस्री कुमारसेनोक्तिवर्धमानार्था॥ (नर्द्धा)[1]

इससे ध्वनित होता है कि कुमारसेनने आप्तमीमापर कोई विवृति या विवरण लिखा होगा, जिसका स्पष्टीकरण विद्यानन्दने किया है। निश्चयत. कुमारसेन इनके पूर्ववर्ती हैं। कुमारसेनका समय ई० सन् ७८३ के पूर्व माना गया है। जिनसेन प्रथमने अपने हरिवशपुराणमे कुमारसेनका उल्लेख किया है

"आकूपार यशो लोके प्रभाचन्द्रोदयोज्ज्वलम्।
गुरो कुमारसेनस्य विचरत्यजितात्मकम्[2]॥

और जिनसेनने अपने हरिवशपुराणकी रचना ई० सन् ७८३मे की है। यहाँ यह विचारणीय है कि जिनसेन प्रथमने कुमारसेनका तो स्मरण किया है, पर विद्यानन्दका नही। अत इससे सिद्ध होता है कि हरिवशपुराणकी

१ अष्टसहस्री, निर्णयसार प्रेस, बम्बई, सन् १९१५, अन्तिम प्रशस्ति पृ० २९५।
१ हरिवंशपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण, १९३८ पृ० ५।

रचनाके समय तक विद्यानन्दको ऐसी ख्याति प्राप्त नही हुई थी, जिससे पुराण-कार उनका स्मरण करता।

कतिपय विद्वानोका अभिमत है कि विद्यानन्दका कार्यक्षेत्र दक्षिणमे गग-वशका गगवाड़ी प्रदेश है और विद्यानन्दकी स्थिति गगनरेश शिवमार द्वितीय तथा राममल्ल सत्यवाक्य प्रथम (ई० सन् ८१०-८१६)के समयमे रही है। विद्यानन्दने प्राय अपनी समस्त कृतियोंको रचना गंगनरेशोके राज्यकालमे की है। अत सम्भव है कि पुन्नाटवशी जिनसेनने इनका स्मरण न किया हो।

जैनन्यायके उद्भट विद्वान् डॉ० प० दरबारीलाल कोठियाने विद्यानन्दके जीवन और समय पर विशेप विचार किया है। उन्होने निष्कर्प निकालते हुए लिखा है

"विद्यानन्द गङ्गनरेश शिवमार द्वितीय (ई० सन् ८१०) और राचल्ल सत्य-वाक्य प्रथम (ई० सन् ८१६) के समकालीन हैं। और इन्होने अपनी कृतियाँ प्राय इन्हीके राज्य-समयमे बनाई हैं, विद्यानन्दमहोदय और तत्त्वार्थश्लोक-वार्त्तिकको शिवमार द्वितीयके और आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा तथा युक्त्यनुशा-सनालङ्कृति ये तीन कृतियाँ राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम (ई० ८१६-८३०) के राज्यकालमे बनी जान पड़ती हैं। अष्टसहस्री, श्लोकवार्त्तिकके बादकी और आप्तपरीक्षा आदिके पूर्वकी रचना है—करीब ई० ८१०-८१५ मे रची गयी प्रतीत होती है। तथा पत्रपरीक्षा, श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र और सत्यशासनपरीक्षा ये तीन रचनाएँ ई० सन् ८३०-८४० मे रची ज्ञात होती हैं। इससे भी आचार्य विद्यानन्दका समय ई० सन् ७७५-८४० ई० प्रमाणित होता है।"[२]

डॉ० कोठिया द्वारा निर्धारित समय भी उपर्युक्त समयके समकक्ष है। अतएव आचार्य विद्यानन्दका समय ई० सन् की नवम शती है।

रचनाएँ

आचार्य विद्यानन्दकी रचनाओको दो वर्गो मे विभक्त किया जा सकता है १ स्वतन्त्र ग्रन्थ और २ टीका ग्रन्थ।

स्वतन्त्र ग्रन्थ

इनकी स्वतन्त्र रचनाएँ निम्नलिखित हैं

१ आप्तपरीक्षा स्वोपज्ञवृत्तिसहित

१. श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र, वीर सेवा मन्दिर सरसावा, सन् १९४९ ई०, प्रस्तावना, पृ० १२।

२ आप्तपरीक्षा, वीरसेवामन्दिर संस्करण, सन् १९४९, पृ० ५२।

२ प्रमाणपरीक्षा
३. पत्रपरीक्षा
४ सत्यशासनपरीक्षा
५ श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र
६. विद्यानन्दमहोदय

टीकाग्रन्थ

१. अष्टसहस्री
२ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक
३. युक्त्यनुशासनालङ्कार

१ आप्त-परीक्षा[1] स्वोपज्ञवृत्तिसहित

इस ग्रन्थमे १२४ कारिकाएँ, स्वोपज्ञ वृत्ति सहित निवद्ध हैं। इस ग्रन्थमे परमेष्ठीगुणस्तोत्रकी आवश्यकता प्रतिपादित करनेके पश्चात् पर-अपर निःश्रेयस्का स्वरूप, वन्ध और वन्धकारणोंकी सिद्धि, उनके अभावकी सिद्धि, सहेतुक निर्जराकी सिद्धि परमेष्ठीगत प्रसादका लक्षण, मगलकी निर्युक्ति और अर्थ, शास्त्रारम्भमे परमेष्ठीगुणस्तोत्रकी आवश्यकता एव पराभिमत आप्तोंके निराकरणकी सार्थकता वतलायी गयी है।

ईश्वर-परीक्षा प्रकरणमे ईश्वरके मोक्षमार्गोपदेशकी असम्भवता, वैशेषिकाभिमत षट्पदार्थ समीक्षा, द्रव्यलक्षणके योगसे एक द्रव्यपदार्थकी असिद्धि, द्रव्यलक्षणत्वके योगसे दो द्रव्यलक्षणोमे एकताकी असिद्धि, द्रव्यत्वके योगसे एक द्रव्यपदार्थकी असिद्धि, गुणत्वादिके योगसे एक-एक गुणादि पदार्थोंकी असिद्धि, 'इहेदम् प्रत्यय' सामान्यसे भी द्रव्यादि पदार्थोंकी असिद्धि, सग्रहसे भी द्रव्यादि पदार्थोंकी असिद्धि, द्रव्यत्वाभिसम्वन्धसे एक द्रव्यपदार्थ माननेका निरास, गुणत्वादि अभिसम्वन्धसे एक-एक गुणादिपदार्थ माननेका निरास, पृथ्वीत्वादि अभिसम्बन्धसे एक-एक पृथ्वी आदि द्रव्य माननेका निरास, सग्रहके तीन भेद और उनकी समीक्षा, ईश्वरके जगत् कर्तृत्वकी समालोचना, ईश्वरके नित्य ज्ञान माननेमे दोष-प्रदर्शन, ईश्वरके अनित्यज्ञानकी मीमासा, अव्यापक ज्ञानमे दोष, ईश्वरके नित्य व्यापक ज्ञानमे दोष, समवायका स्वरूप और समीक्षा, सयोग और समवायकी व्यर्थता, सत्ता और समवायके एकत्वका खण्डन, सत्ताकी

१ डॉ० दरवारीलाल कोठिया द्वारा सम्पादित और वीरसेवा मन्दिर द्वारा प्रकाशित, १९४९।

स्वतन्त्र पदार्थ न माननेमे दोष एवं ईश्वर-परीक्षाका उपसहार आदि विषय वर्णित हैं।

कपिल-परीक्षाके अन्तर्गत कपिलके मोक्षमार्गोपदेशकत्वका निरास, प्रधानके मुक्तामुक्तत्वकी कल्पना और उसकी समीक्षा एव प्रधानके मोक्षमार्गोपदेशकत्वका समालोचन आया है।

सुगत-परीक्षामे सुगतके आप्तत्वका परीक्षण किया गया है। इस प्रकरणमें सुगतके मोक्षमार्गोपदेशकत्वका निराकरण, सौत्रान्तिकोंके मतकी समीक्षा, योगाचार सवेदनाद्वैत और चित्राद्वैतका समालोचन विस्तारपूर्वक किया गया है।

परमपुरुष-परीक्षाके अन्तर्गत ब्रह्माद्वैत प्रतिभाससामान्य-अद्वैतकी समीक्षा आयी है।

अर्हत्सर्वज्ञसिद्धि-प्रकरणमे प्रमेयत्वहेतुसे सामान्यसर्वज्ञकी सिद्धि की गयी हैं। सर्वज्ञाभाववादी भट्टके मतको उपस्थितकर उसके मतका निराकरण किया गया है। बाधकाभावहेतुसे अर्हन्तको सर्वज्ञ सिद्ध किया है और पुष्टिके लिए प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, आगम और अभाव प्रमाणके द्वारा सर्वज्ञके बाधकत्वका निरास किया गया है।

अर्हत्-कर्मभूभृत्भेतृत्व-सिद्धिप्रसङ्गमे सञ्चित और आगामी कर्मोंके निरोधका कारण सवर और निर्जराको सिद्ध किया है। इस सन्दर्भमे नैयायिक, वैशेषिक और साख्य द्वारा अभिमत कर्मके स्वरूपका विवेचन कर उसकी पौद्गलिकता सिद्ध की गयी है।

अर्हन्तको मोक्षमार्गका नेता सिद्ध करते हुए मोक्ष, आत्मा, संवर, निर्जरा आदिके स्वरूप और भेदोका प्रतिपादन किया है। नास्तिक मतका प्रतिवाद कर मोक्षमार्गका स्वरूप और उसके प्रणेताको सर्वज्ञ सिद्ध किया गया है। यह ग्रन्थ निम्नलिखित प्रकरणोमे विभक्त है

१ परमेष्ठीगुणस्तोत्र
२ परमेष्ठीगुणस्तोत्रका प्रयोजन
३. ईश्वरपरीक्षा
४ कपिलपरीक्षा
५. सुगतपरीक्षा
६ परमपुरुषपरीक्षा या ब्रह्माद्वैतपरीक्षा
७ अर्हत्सर्वज्ञसिद्धि

८ अर्हत्कर्मभूभृद्भेतृत्वसिद्धि
९. अर्हन्मोक्षमार्गनेतृत्वसिद्धि
१० अर्हद्वन्द्यत्वसिद्धि

२. प्रमाणपरीक्षा[1]

प्रमाणपरीक्षामे प्रमाणका स्वरूप, प्रामाण्यकी उत्पत्ति एव ज्ञप्ति, प्रमाणकी संख्या, विषय एव उसके फल पर विचार किया गया है। आरम्भमे 'सम्यग्ज्ञान प्रमाणं प्रमाणत्वान्यथानुपपत्तेः। सन्निकर्षादिरज्ञानमपि प्रमाण स्वार्थप्रमितौ साधकतमत्वात्, इति नाशकनीयं, तस्य स्वप्रमितौ साधकतमत्वासभवात्"[2]। अर्थात् सम्यग्ज्ञान प्रमाण है, क्योकि प्रमाणत्वकी उपपत्ति अन्यथा नही हो सकती। सन्निकर्षादि अज्ञानमय होनेके कारण प्रमाण नही है, और न वे अर्थक्रियाके प्रति साधकतम ही हैं, जो स्वप्रमितिके प्रति साधकतम होता है, वही प्रमाण हो सकता है, अन्य नही। इस प्रकार ज्ञानको प्रमाण सिद्ध कर सन्निकर्ष, इन्द्रिय आदिका खण्डन किया है। प्रमाणके प्रसंगमे तादूरूप्य, तदुत्पत्ति और तदाकारताका भी निरसन किया गया है। विद्यानन्दने अपने समालोचनको पुष्ट बनानेके हेतु 'उक्तञ्च' कहकर अन्य व्यक्तियोकी कारिकाएँ भी उद्धृत की हैं।

इस सन्दर्भमे सविकल्पक और निर्विकल्पक ज्ञानकी प्रामाणताका भी विचार किया गया है। सौगत अभ्यास, प्रकरण, बुद्धिपाटव आदिके कारण निर्विकल्पकको प्रमाण मानता है। विद्यानन्दने इस सन्दर्भमे सौगतमतकी सुन्दर समीक्षा की है और स्वलक्षणका भी निरसन किया है। क्षणिकवादी बौद्ध स्थूलपदार्थोका अस्तित्व स्वीकार न कर स्वलक्षण परमाणु पदार्थको ही ज्ञानका विषय मानता है। ब्रह्माद्वैतवाद और स्वलक्षणवादकी समीक्षा कर स्वप्नज्ञानकी प्रामाणिकताका भी निरसन किया है। 'नैक स्वस्मात्प्रजायते' को उद्धृत करते हुए ज्ञानके ज्ञानान्तरवेद्यत्वका खण्डन किया है।

कपिलमत-समीक्षा और तत्वोपप्लवादका विचार-विमर्श करते हुए अनुमान और आगम प्रमाणकी सिद्धि की गयी है। यहाँ उपमान और अर्थापत्तिका प्रत्यभिज्ञान और अनुमानमे अन्तर्भाव दिखलाया गया है। 'प्रमेयद्वैविध्यात् प्रमाणद्वैविध्यम्' की समीक्षा करते हुए स्वार्थानुमान और परार्थानुमानकी सिद्धि की गयी है। प्रत्यक्षके साव्यवहारिक और अनिन्द्रिय प्रत्यक्षका निरूपण करते हुए अवग्रह

१ सनातन जैन ग्रन्थमालामें आप्तमीमासाके साथ प्रकाशित तथा डॉ० दरबारीलाल कोठिया द्वारा सम्पादित एव वीर सेवामन्दिर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित, १९७३।

२ प्रमाणपरीक्षा, सनातन जैन ग्रन्थमाला सस्करण, पृ० ५१।

ईहा, अवाय और धारणाका विचार किया गया है। "साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम्" का विचार करते हुए व्याप्ति, साध्य-साधनका स्वरूप निर्धारण किया गया है। हेतुके त्रैरूप्य और पाँचरूप्यकी समीक्षा करते हुए अन्यथानुपपन्नत्वको ही हेतुका निर्दोष स्वरूप बताया है। पात्रकेसरीके त्रिलक्षणकदर्थनका उद्धरण देते हुए लिखा है

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किं।
नान्यथानुपपन्नत्व यत्र तत्र त्रयेण किं॥

इसीके अनुकरणपर विद्यानन्दने पाँचरूप्यके खण्डनके लिए निम्न कारिका रची है

अन्यथानुपपन्नत्व रूपै. किं पचभि कृत।
नान्यथानुपपन्नत्व रूपै किं पचभिः कृत[1]॥

पदार्थके स्वरूपका विवेचन करते हुए उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त पदार्थकी स्थिति स्वीकार की है। प्रमाणके फलका विवेचन करते हुए उसे प्रमाणसे कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न बताया है। अन्तमे ग्रन्थका सार और उसका उपयोग बताते हुए लिखा है

इति प्रमाणस्य परीक्ष्य लक्षण विशेषसंख्याविषयं फल तत।
प्रबुध्य तत्त्व दृढशुद्धदृष्टयः प्रयान्तु विद्याफलमिष्टमु ्चकै[2]॥

३. पत्रपरीक्षा[3]

इस लघुकाय ग्रन्थमे विभिन्न दर्शनोंकी अपेक्षा 'पत्र' के लक्षणोको उद्धृत कर जैन दृष्टिकोणसे 'पत्र' का लक्षण दिया गया है तथा प्रतिज्ञा और हेतु इन दो अवयवोको ही अनुमानका अंग बताया है। प्रतिपाद्याशयानुरोधसे दशावयवोका भी समर्थन किया है। पर ये दश अवयव न्यायदर्शनप्रसिद्ध दशावयवोसे भिन्न हैं। पत्रका लक्षण बताते हुए लिखा है "पुन प्रसिद्धावयवत्वादिविशेषणविशिष्टं वाक्यं पत्रं नाम, तस्य श्रुतिपथसमधिगम्यपदसमुदायविशेषरूपत्वात्, पत्रस्य तद्विपरीताकारत्वात्। न च यद्यतोऽन्यत्तत्तेन व्यपदिश्यतेऽतिप्रसगात्। नीलादयोपि हि कवलादिस्योऽन्ये न ते नीलादिव्यपदेशहेतव , तेषा तद्व्यपदेशहेतुतया प्रतीयमानत्वात्, किरीटादीना पुरुषे तद्व्यपदेशहेतुत्ववत्, तद्योगात्तत्र मत्व-

१. प्रमाणपरीक्षा, सनातन ग्रन्थमाला सस्करण, पृ० ७२।

२ वही, पृ० ८०।

३, आप्तपरीक्षाके साथ सनातन जैन ग्रन्थमाला द्वारा सन् १९१३ में प्रकाशित।

र्थीयविधानात् । नीलादय: सन्ति येषा ते नीलादय. कंबलादय इति गुणवचनेभ्यो मत्वर्थीयस्याभावप्रसिद्धेरिति चेत्, उपचरितोपचारादिति क्रम ।" इस प्रकार पत्रका लक्षण लिखकर अन्य मतमतान्तरोकी विस्तारपूर्वक समीक्षा की गयी है। वाद-विवादके लिए प्रतिज्ञा और हेतु इन दो अवयवोको ही अनुमानके अवयव माने गये है। नैयायिक, वैशेषिक, मीमासक, कपिल, सुगत आदिके मतोकी समीक्षा करते हुए स्फोटवादका भी निरसन किया है। बीच-बीचमे प्राचीन आचार्योके श्लोकोको उद्धृत किया गया है। इस प्रकार इस लघुकाय ग्रन्थमे वाद-विषयक चर्चाका समावेश किया है।

४ सत्यशासनपरीक्षा[1]

सत्यशासनपरीक्षाकी महत्ताके सम्बन्धमे पडित महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने लिखा है "तर्कग्रन्थोके अभ्यासी विद्यानन्दके अतुल पाण्डित्य, तलस्पर्शी विवेचन, सूक्ष्मता तथा गहराईके साथ किये जानेवाले पदार्थोके स्पष्टीकरण एव प्रसन्न भाषामे गूँथे गये युक्तिजालसे परिचित होगे। उनके प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा और आप्तपरीक्षा प्रकरण अपने-अपने विषयके बेजोड निबन्ध हैं। ये ही निबन्ध तथा विद्यानन्दके अन्य ग्रन्थ आगे बने हुए समस्त दिगम्बर, श्वेताम्बर न्यायग्रन्थोके आधारभूत हैं। इनके ही विचार तथा शब्द उत्तरकालीन दिगम्बर, श्वेताम्बर न्यायग्रन्थोपर अपनी अमिट छाप लगाये हुए हैं। यदि जैन न्यायके कोषागारसे विद्यानन्दके ग्रन्थोको अलग कर दिया जाय, तो वह एकदम निष्प्रभ-सा हो जायगा। उनकी यह सत्यशासनपरीक्षा ऐसा एक तेजोमय रत्न है, जिससे जैन न्यायका आकाश दमदमा उठेगा। यद्यपि इसमे आये हुए पदार्थ फुटकर रूपसे उनके अष्टसहस्री आदि ग्रन्थोमे खोजे जा सकते हैं, पर इतना सुन्दर और व्यवस्थित तथा अनेक नये प्रमेयोका सुरुचिपूर्ण सकलन, जिसे स्वयं विद्यानन्दने ही किया है, अन्यत्र मिलना असम्भव है[2]।"

इस ग्रन्थमे निम्नलिखित शासनोकी परीक्षा की गयी है

१. पुरुषाद्वैत-शासन-परीक्षा।

२. शब्दाद्वैत-शासन-परीक्षा।

३ विज्ञानाद्वैत-शासन-परीक्षा।

४ चित्राद्वैत-शासन-परीक्षा।

१. भारतीय ज्ञानपीठ काशी द्वारा डॉ० गोकुलचन्द्र जैनके सम्पादकत्वमे सन् १९६४ ई० में प्रकाशित।

२ अनेकान्त, वर्ष ६, किरण ११।

५. चार्वाक-शासन-परीक्षा ।
६ बौद्ध-शासन-परीक्षा ।
७ सेश्वरसाख्य-शासन-परीक्षा ।
८. निरीश्वरसाख्य-शासन-परीक्षा ।
९ नैयायिक-शासन-परीक्षा ।
१० वैशेषिक-शासन-परीक्षा ।
११. भाट्ट-शासन-परीक्षा ।
१२ प्रभाकर-शासन-परीक्षा ।
१३ तत्त्वोपप्लव-शासन-परीक्षा ।
१४. अनेकान्त-शासन-परीक्षा ।

उपर्युक्त शासनोको दो श्रेणियोमे विभक्त किया गया है (१) अद्वैतवादी या अभेदवादी और (२) द्वैतवादी या भेदवादी। अद्वैतवादी सिद्धान्तोमे एक तत्त्वकी प्रमुखता है और ससारके समस्त पदार्थ उस तत्त्वके ही रूपान्तर हैं। द्वैतवादी वे सम्प्रदाय हैं जो एक से अधिक तत्त्व मानते है। नैयायिक, वैशेषिक चार्वाक और बुद्ध आदि दर्शन एकाधिक तत्त्वोको महत्त्व देनेके कारण द्वैतवादी कहे जाते हैं।

पुरुषाद्वैतकी परीक्षा करते समय अनुमान द्वारा पूर्वपक्ष स्थापित किया है ब्रह्म एक है, अद्वितीय है, अखण्ड ज्ञानानन्दमय है, सम्पूर्ण अवस्थाओको व्याप्त करनेवाला है, प्रतिभासमात्र होनेसे। यतः एक ही ब्रह्म अनेक पदार्थोमे जलमे चन्द्रमाकी तरह भिन्न-भिन्न प्रकारसे दिखलाई देता है, इसी प्रकार पृथ्वी आदि ब्रह्मविवर्त हैं, भिन्न तत्त्व नही। अतएव चराचर ससारकी उत्पत्ति ब्रह्मसे होती है। इस प्रकार पूर्वपक्षकी स्थापना कर उत्तरमे बताया है कि ब्रह्माद्वैत प्रत्यक्षविरुद्ध है। प्रत्यक्षसे बाह्य अर्थ परस्परभिन्न और सत्य दिखलायी पडते है, अतएव ब्रह्माद्वैत नही बन सकता। इस तरह प्रतिभासमात्रहेतुमे अनेक दोषोका उद्भावन कर पुरुषाद्वैतकी समीक्षा की गयी है।

शब्दाद्वैतमे भी ब्रह्माद्वैतके समान दोष आते हैं। विज्ञानाद्वैतकी परीक्षाके प्रसंगमे पूर्वपक्षकी सिद्धिके लिए अनुमान उपस्थित करते हुए लिखा है कि सम्पूर्ण ग्राह्य-ग्राहकाकार ज्ञान भ्रान्त है। जिस प्रकार स्वप्न और इन्द्रजाल आदि ज्ञान भ्रान्त होते हैं, उसी प्रकार ग्राह्य-ग्राहकाकार आदि प्रत्यक्ष भी भ्रान्त हैं। भ्रान्त प्रत्यक्ष आदिके द्वारा जाने गये बाह्य अर्थ वास्तविक नही हैं, अन्यथा स्वप्नप्रत्यक्षको भी वास्तविक मानना होगा। इस तरह बाह्य अर्थ असम्भव है, स्वसवित्ति ही खण्डश. प्रतिभासित होती हुई समस्त वेद्य-वेदक

व्यवहारको करती है। अत पृथ्वी, जल, अग्नि आदि पदार्थ ज्ञानसे भिन्न नही हैं।

उत्तर पक्षमे पूर्ववत् असिद्ध, विरुद्ध आदि दोषोंकी उद्भावना की गयी है। अनुमानसे सवित्तिका वेद्य-वेदकभाव मानने पर बाह्य अर्थमे भी उसीसे वेद्य-वेदकभाव मान लेना चाहिए, क्योकि दोनोमे कोई अन्तर नही है। "सन्ति वहिरर्था साधनदूषणप्रयोगात्" द्वारा बाह्य पदार्थ सिद्ध किये गये हैं। इसी प्रकार चित्राद्वैतकी परीक्षा भी की है।

चार्वाक, बौद्धशासन, साख्यपरीक्षा, वैशेषिकशासनपरीक्षा, नैयायिकशासन-परीक्षा, मीमासकपरीक्षा और भाट्ट-प्रभाकरशासनपरीक्षा भी तर्कपूर्वक लिखी गयी है।

इस ग्रन्थ पर तत्त्वार्थसूत्रका प्रभाव भी दिखलायी पडता है। विद्यानन्दने अपनेसे पूर्ववर्त्ती आचार्योका प्रभाव ग्रहण किया है। बीच-बीचमे अनेक ग्रन्थो-के उद्धरण भी आये हैं।

५ विद्यानन्दमहोदय

आचार्य विद्यानन्दकी यह सबसे पहली रचना है। इसके पश्चात् ही उन्होने तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक और अष्टसहस्री आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोकी रचना की है। यह ग्रन्थ आज उपलब्ध नही हैं, पर उसका नामोल्लेख श्लोक-वार्त्तिक आदि ग्रन्योमे मिलता है। देवसूरिने तो अपने स्याद्वादरत्नाकरमे इसकी एक पक्ति भी उद्धृत की है "महोदये च 'कालान्तराविस्मरणकारण हि धारणाभिधान ज्ञान सस्कार प्रतीयते' इति वदन् (विद्यानन्द) सस्कारधारणयोरैकार्थ्यमचकथत्[१]"। इस ग्रन्थका नाम विद्यानन्दमहोदय और सक्षिप्त महोदय है।

६ श्रीपुर-पार्श्वनाथ-स्तोत्र

श्रीपुर या अन्तरिक्षके पार्श्वनाथको स्तुतिमे तीस पद्य लिखे गये हैं। इस स्तोत्रमे दर्शन और काव्यका गगा-यमुनी सगम है। रूपक अलकारकी योजना करते हुए आराध्यकी भक्तिकी प्रशसा की गयी है। कवि कहता है -

> शरण्य नाथाऽर्हन् भव भव भवारण्य-विगति-
> च्युतानामस्माक निरवकर-कारुण्य-निलय।
> यतोऽगण्यात्पुण्याच्चिरतरमपेक्ष्य तव पदम्
> परिप्राप्ता भक्त्या वयमचल-लक्ष्मीगृहमिदम्[२] ॥

१ स्याद्वादरत्नाकर, पृ० ३४९।

२ श्रीपुरपार्श्वनाथ-स्तोत्र, पद्य २९, वीरसेवामन्दिर-सस्करण।

हे नाथ ! अर्हन् ! आप संसाररूपी वनमे भटकनेवाले हम संसारियोके लिए शरण हैं। आप हमे अपना आश्रय प्रदान कर ससार-परिभ्रमणसे मुक्त करें, यत आप पूर्णतया करुणानिधान हैं। हम चिरकालसे आपके पदो चरणोकी अपेक्षा कर रहे हैं। आज वडे पुण्योदयसे मोक्षलक्ष्मीके स्थानभूत आपके चरणो-की भक्ति प्राप्त हुई।

इस पद्यमे भवारण्य, कारुण्यनिलय और लक्ष्मीगृह पदोमे रूपक है। कविने भक्तिकी निष्ठा दिखलाते हुए अन्य दार्शनिको द्वारा अभिमत आप्तका निरसन किया है। भाषाका प्रवाह और शैलीकी उदात्तता सहृदय पाठकके मनको सहज ही अपनी ओर आकृष्ट करती है।

त्वदन्येऽप्यक्षादि - प्रतिहत - वचो - युक्ति - विषया
विलुप्ताभा लोक-व्यपलपन - सम्बन्ध - मनस ।
भजन्ते नाऽऽप्तत्व तदिह विदिता वञ्चन - कृति
विसवादस्तेषा प्रभवति तदर्थापरिगते [1] ॥
इच्छा वा नियतेतरा न लभते सम्बन्धमीशेन तत्
कर्मप्राभवत सुखादिविभव पर्याप्तमेतेन हि ।
भेत्ता कर्ममहीभृता सकलविज्ञानादिसिद्धस्ततो
यत्कारणाद्‌हताक्षपादगदित तत्स्यात्कथ श्रेयसे [2] ॥

प्रथम पद्यमे आप्तकी समीक्षा करते हुए कपिलादिकको अनाप्त वताया गया है, क्योकि वे प्रत्यक्षादिविरुद्ध अर्थका प्रतिपादन करनेवाले हैं। प्रामाणिकता रूप सच्ची ज्योतिसे शून्य हैं और लोगोको गुमराह करनेवाले हैं। चूँकि लोकमे उनकी वञ्चना प्रसिद्ध है तथा पदार्थोका यथार्थ ज्ञान न होनेसे उनके विसम्वाद भी स्पष्ट है, अतएव वे आप्तताको प्राप्त नही होते। द्वितीय पद्यमे नैयायिक और वैशेषिको द्वारा अभिमत ईश्वरेच्छाको जगतके कारणका खण्डन किया है। ससारके समस्त पदार्थोका निर्माण ईश्वरकी इच्छासे सम्भव नही है। यह इच्छा नियत नित्य है अथवा अनियत अनित्य। यदि नित्य है, तो एकस्वभाव ईश्वरकी तरह, वह भी एक स्वभाववाली हो जायगी और ससारके सभी कार्य एक समान होने लगेंगे। यदि अनित्य है, तो ससारके कार्य ही उत्पन्न नही हो पायेंगे। अतएव सुख-दु खादि ईश्वरेच्छाजन्य नही, अपितु कर्मजन्य हैं। कोई भी परमात्मा अनादिसिद्ध सर्वज्ञ नही होता। वह कर्म-

१. श्रीपुरपार्श्वनाथ स्तोत्र, पद्य १६।
२. वही, पद्य २०।

समूहको नाश करके ही सर्वज्ञपद प्राप्त करता है। ऐसी अवस्थामे नैयायिक और वैशेषिको द्वारा, जो अनादिसिद्ध सर्वज्ञ माना गया है, उससे जगत्-कर्तृत्व सिद्ध नही हो सकता।

इस स्तोत्रमे सर्वज्ञसिद्धि, अनेकान्तसिद्धि, भावाभवात्मक वस्तुनिरूपण, सप्त-भगीनय, सुनय, निक्षेप, जीवादिपदार्थ, मोक्षमार्ग, वेदकी अपौरुषेयताका निरा-करण, ईश्वरके जगत्कर्तृत्वका खण्डन, सर्वथा क्षणिकत्व और नित्यत्व मीमासा, कपिलाभिमत पच्चीस तत्त्व समीक्षा, ब्रह्माद्वैत-मीमासा, चार्वाक-समीक्षा आदि दार्शनिक विषयोका समावेश किया गया है। भगवान् पार्श्वनाथको राग-द्वेषका विजेता सिद्ध करते हुए, उनकी दिव्यवाणीका जयघोष किया है

विदधेदतिशयममित-मति-मुनिनाथ-मान्यमनन्यभाङ्
नमित-सुर-रवि-भुवन-परगुरु-तीर्थकृत्व-सनामयत् ।
उदय-पथ-नात - तदनु - विसृतिरशेष-तत्त्व-विभासिनी
जयति जिन जिन विजित-मनसिज भारती तव भासुरा[1] ॥

इस प्रकार विद्यानन्दने इस दार्शनिक ग्रन्थमे भी काव्यत्वका निर्वाह किया है।

७ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक[2]

टीकाग्रन्थोमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक है। यह ग्रन्थ आचार्य गृद्धपिच्छके सुप्रसिद्ध तत्त्वार्थसूत्रपर कुमारिलके मीमासाश्लोक-वार्तिक और धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिककी तरह पद्यात्मक शैलीमे लिखा गया है। साथ ही पद्यवार्तिको पर उन्होने स्वय भाष्य अथवा गद्यमे व्याख्यान भी लिखा है। यह जैनदर्शनके प्रमाणभूत ग्रन्थोमे प्रथमकोटिका ग्रन्थ है। विद्या-नन्दने इसकी रचना करके कुमारिल, धर्मकीर्ति जैसे प्रसिद्ध तार्किकोके जैनदर्शन पर किये गये आक्षेपोका उत्तर दिया है। इस ग्रन्थकी समता करनेवाला जैन-दर्शनमे तो क्या अन्य किसी भी दर्शनमे एक भी ग्रन्थ नही है।

इस ग्रन्थमे आगमके मूल आप्तकी सिद्धि कर पराभिमत आप्तका खण्डन किया गया है। विषयका वर्गीकरण तत्त्वार्थसूत्रके समान ही दश अध्यायोमे है। चार्वाक आत्माका अस्तित्व न मानकर भूतचतुष्टयका अस्तित्व स्वीकार करता है। अत विद्यानन्दने चार्वाकका खण्डन कर आत्मतत्त्वको सिद्धि की है। यत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी उत्पत्तिका स्थान आत्मा ही

१. श्रीपुरवा० पद्य २७।
२ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, सम्पादक पडित मनोहरलाल शास्त्री, प्रकाशक गाधी नाथा-रग जैन ग्रन्थमाला, पोस्ट माण्डवी बम्बई, सन् १९१८।

है। आत्माके सद्भावमे ही मोक्ष और मोक्षके कारणीभूत तत्वोंकी सिद्धि सम्भव है।

प्रथम अध्यायमे मोक्षमार्गके निरूपणके साथ-साथ मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानका विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है। बताया है

ज्ञानमेव स्थिरीभूत समाधिरिति चेन्मतम्।
तस्य प्रधानधर्मत्वे निवृत्तिरतत्क्षयाद्यदि ॥
तदा सोपि कुतो ज्ञानादुक्तदोषानुषगत.
समाध्यतरतश्चेन्न तुल्यपर्यनुयोगत [1] ॥

स्पष्ट है कि आचार्य विद्यानन्दने तत्त्वार्थसूत्रके प्रमेयोका अत्यन्त सूक्ष्म और विस्तृत वर्णन इस ग्रन्थमे किया है। प्रथम सूत्रके वार्तिकोमे मोक्षोपायके सम्बन्धमे अत्यन्त गवेषणाके साथ विचार किया है। जीवका अन्तिम ध्येय मोक्ष है। बन्धनबद्ध आत्माको मुक्तिके अतिरिक्त और क्या चाहिए? अतः मुक्तिके साधनभूत रत्नत्रयमार्गका सुन्दर और गहन विवेचन किया है। अनन्तर सम्यग्दर्शनका स्वरूप, भेद, अधिगमोपाय, तत्वोका स्वरूप और भेद, एव सत्-सख्या-क्षेत्रादि तत्त्वज्ञानके साधनो पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। पश्चात् सम्यग्ज्ञानका स्वरूप, सम्यग्ज्ञानके भेद, मतिज्ञान और श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञानके विषय, क्षेत्र, स्वामी आदिका निर्देश किया है। इस सन्दर्भमे सर्वज्ञसिद्धिका भी प्रकरण आया है, जिसमे मीमासक द्वारा उठाई गयी शकाओका समाधान भी किया है।

श्रुतज्ञान बाह्य अर्थों को किस प्रकार विषय करता है, इस आशकाका उत्तर देते हुए आचार्य विद्यानन्दने लिखा है

श्रुतेनार्थं परिच्छिद्य वर्त्तमानो न बाध्यते।
अक्षजेनेव तत्तस्य बाह्यार्थालम्बना स्थिति ॥

सामान्यमेव श्रुत प्रकाशयति विशेषमेव परस्परनिरपेक्षमुभयमेवेति वा-शकामपाकरोति।

अनेकान्तात्मक वस्तु सप्रकाशयति श्रुत।
सद्बोधत्वाद्यथाक्षोत्थबोध इत्युपपत्तिमत् ॥
नयेन व्यभिचारश्चेन्न तस्य गुणभावतः।
स्वगोचरार्थधर्माण्यधर्म्मार्थप्रकाशनात् ॥

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, प्रथम अध्याय, श्लोक ५१–५२, पृ० १७।

श्रुतस्यावस्तुवेदित्वे परप्रत्यायनं कुत ।
सवृतेश्चेद् वृथैवैषा परमार्थस्य निश्चिते ॥

ननु स्वत एव परमार्थव्यवस्थितेः कुतश्चिदविद्याप्रक्षयान्न पुन श्रुतविकल्पात् । तदुक्त "शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते । अनागमविकल्पा हि स्वयं विद्योपवर्त्तत" इति, तदयुक्त, परेष्टतत्त्वस्याप्रत्यक्षविषयत्वात्तद्विपरीतस्यानेकान्तात्मनो वस्तुन. सर्वदा परस्याप्यवभासनात् । लिङ्गस्य त्वस्याङ्गीकरणीयत्वात्[1] ।

अर्थात् श्रुतज्ञान द्वारा अर्थकी परिच्छित्ति कर प्रवृत्ति करनेवाला पुरुष अर्थक्रिया करनेमे उसी प्रकार बाधा नही प्राप्त करता है, जिस प्रकार इन्द्रियजन्य मतिज्ञान द्वारा अर्थको अवग्रह कर प्रवृत्ति करने वाला पुरुष बाधाको प्राप्त नही करता है। श्रुतज्ञान सामान्यका प्रकाशन करता है, विशेषका प्रकाशन करता है या निरपेक्ष दोनोका प्रकाशन करता है? इस शकाका उत्तर देते हुए आचार्य विद्यानन्दने बताया है सामान्यविशेषात्मक अनेकान्तरूप वस्तुको श्रुतज्ञान अवगत करता है। जिस प्रकार इन्द्रियोसे उत्पन्न हुआ साव्यवहारिक प्रत्यक्षज्ञान अनेकान्तात्मक अर्थका प्रकाशन करता है, उसी प्रकार श्रुतज्ञान सामान्यविशेषात्मक वस्तुको प्रकाशित करनेमे समर्थ रहता है। अत "अनेकान्तात्मक वस्तु श्रुत प्रकाशयति, सद्‌बोधत्वात्" यह अनुमान समीचीन है। इसका नयके साथ भी दोष नही है, क्योकि नयज्ञान मुख्यरूपसे एक धर्मको जानता है, पर गौणरूपसे वस्तुके अन्य धर्मो का भी वह ज्ञाता है। अत श्रुतज्ञानका नयज्ञानके साथ दोष नही आता।

यदि श्रुतज्ञानको वस्तुभूत पदार्थका ज्ञापक नही माना जाय, तो प्रतिवादी या शिष्योको स्वकीय तत्त्वोका ज्ञान किस प्रकार कराया जा सकेगा। अतएव श्रुतज्ञान द्वारा ज्ञात वस्तु प्रमाणभूत है। इस प्रकार विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमे प्रमेयोका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

८ अष्टसहस्री

जैन न्यायका यह अत्यन्त महनीय ग्रन्थ है। इस एक ग्रन्थके अध्ययन कर लेनेपर अन्य ग्रन्थ पढनेकी आवश्यकता नही। विद्यानन्दने स्वय ही यह प्रकट किया है

१ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, गाधी नाथारग जैन ग्रन्थमाला, प्रथम अध्याय, सूत्र २६ श्लोक १५–१८ तथा गद्याश, पृ० २४९।

श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतै किमन्यै' सहस्रसंख्यानै. ।
विज्ञायेत ययैव हि स्वसमय-परसमयसद्भाव ॥[1]

अर्थात् हजार शास्त्रोको सुननेसे क्या, केवल अष्टसहस्रीको सुन लेनेसे, स्व-सिद्धान्त और परसिद्धान्तोका ज्ञान हो जायगा ।

यह समन्तभद्रविरचित आप्तमीमांसा अपरनाम देवागमस्तोत्रपर लिखा गया विस्तृत एव महत्त्वपूर्ण भाष्य है। विद्यानन्दने बडी ही कुशलताके साथ अकलकदेव द्वारा रचित अष्टशतीको अष्टसहस्रीमे अन्त प्रविष्ट कर लिया है। यह न्यायकी प्राञ्जलभाषामे रचा गया दुरूह और जटिल ग्रन्थ है। स्वय विद्या-नन्दने इसे कष्टसहस्री कहा है। उन्होने लिखा है

'कष्टसहस्री सिद्धा साष्टसहस्रीयमत्र मे पुष्यात्'[2]

इस ग्रन्थमे एकादश नियोग, विधि और भावनावाद और उनका निरसन, चार्वाकमत, तत्त्वोपप्लववाद, सवेदनाद्वैत, चित्राद्वैत, ब्रह्माद्वैत, सर्वज्ञाभाव, अनुमानद्वारा सर्वज्ञसिद्धि, अर्हद्सर्वज्ञसिद्धि आदि अनेक विषयोका समावेश किया गया है। यह ग्रन्थ दश परिच्छेदोमे विभक्त है। प्रथमपरिच्छेद सबसे बडा है और आधा ग्रन्थ इसीमे समाप्त है ।

प्रथमपरिच्छेदमे अनुमान द्वारा सर्वज्ञको सिद्धिके पश्चात् भाव, अभाव, भावाभवरूप, तत्त्वका निराकरण कर अनेकान्तात्मक वस्तुको सिद्धि की गयी है। इस सन्दर्भमे भावापह्नववादी बौद्ध और अत्यन्ताभावप्रागभाव और प्रध्वसाभाव अस्वीकार करनेवाले साख्य मतमे दूषण दिया गया है। वस्तुत इस अध्यायमे नैयायिक, साख्य, वेदान्त, बौद्ध, मीमासक आदि दर्शनोका वस्तुतत्त्वके सम्बन्धमे विचार किया गया है। द्वितीय परि-च्छेदमे द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत आदिका विचार किया है। तृतीयपरिच्छेदमे क्षणिकवादमे दोषोका प्रतिपादन कर कार्यकरिणादि समन्वित कथञ्चित्क्षणिक वस्तुको सिद्धि को गयी है। प्रागभावको सर्वथा अभाव न मानकर कथञ्चित् सद्भावरूप सिद्ध किया गया है। वैशेषिक और नैयायिकाभिमत अवयव-अवयवी का विचार किया गया है। चतुर्थमे वैशेषिकाभिमत भेदैकान्तका खण्डन कर कथचित् भेदाभेदात्मक वस्तुकी सिद्धि की है। पचम परिच्छेदमे बौद्धकी अपेक्षासे सर्वथा अनापेक्षिक वस्तुका निरसन किया है। षष्ठ परिच्छेदमे वस्तुकी सिद्धिके लिए प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीनो प्रमाणोकी सिद्धि की गयी है। वेद-

१ अष्टसहस्री, पृ० १५७।

२. अष्टसहस्री, अन्तिम प्रशस्ति, पृ० २९५।

प्रमाण्यवादकी समीक्षा भी विस्तारपूर्वक इसी परिच्छेदमे प्रतिपादित है। सप्तम परिच्छेदमे बौद्धाभिमत ज्ञानैकान्तका निरसन किया गया है। उपेय और उपाय तत्त्वकी चर्चा भी इसी परिच्छेदमे आयी है। अष्टम परिच्छेदमे दैवपुरुषार्थवाद-की समीक्षा है। नवममे पुण्य-पापकी समीक्षा की गयी है। दशममे साख्य, नैयायिक और बौद्धमतानुसार बन्ध, मोक्ष और उनके कारणोकी चर्चा आयी है। वाक्य और नयका लक्षण भी इसी परिच्छेदमे वर्णित है।

९ युक्त्यनुशासनालङ्कार

स्वामी समन्तभद्रके ६४ कारिकात्मक दार्शनिक 'युक्त्यनुशासनस्तोत्र' पर विद्यानन्दने मध्यम परिमाणकी यह 'युक्त्यनुशासनालङ्कार' टीका लिखी है। टीका सरल एवं विशद है।

वस्तुत समन्तभद्रने मूल कारिकाओमे जिन प्रमेयोकी स्थापना की है, उन-पर विस्तारपूर्वक इसमें विचार किया है। अद्वैतवाद द्वैतवाद, शाश्वतवाद, अशाश्वतवाद, वक्तव्यवाद, अवक्तव्यवाद, अन्यतावाद, अनन्यतावाद, अपेक्षावाद, अनपेक्षावाद, हेतुवाद, अहेतुवाद, विज्ञानवाद, बहिरर्थवाद, दैववाद, पुरुषार्थ-वाद, पाप-पुण्यवाद, बन्धवाद, मोक्षवाद और बन्ध-मोक्षकारणवादकी समीक्षा विभिन्न दर्शनोके पूर्वपक्षोको उपस्थित कर की है। निश्चयत समग्र दर्शनोके प्रमेयोका विचार इस ग्रन्थमे किया गया है। अत हमे विद्यानन्दकी "श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतै किमन्यै सहस्रसख्यानै। विज्ञायते ययैव स्वसमयपरसमय-सद्भाव ॥" आदि गर्वोक्ति स्वभावोक्ति प्रतीत होती है।

आचार्य देवसेन

देवसेन नामके कई आचार्योके उल्लेख मिलते हैं। एक देवसेन वे हैं, जिन्होंने विक्रम स० ९९० मे दर्शनसारनामक ग्रन्थकी रचना की थी। आलापपद्धति, लघुनयचक्र, आराधनासार और तत्त्वसार नामक ग्रन्थ भी देवसेनके द्वारा रचित हैं। इन सब ग्रन्थोको दर्शनसारके रचयिता देवसेनकी कृति माना जाता है। दर्शनसारके अन्तमे प्रशस्तिरूप दो गाथाएँ आयी है, जो निम्न प्रकार हैं

पुव्वायरियकयाइ गाहाइ सचिऊण एयत्थ।
सिरिदेवसेणगणिणा धाराए सवसतेण ॥
× × × ×
रइओ दसणसारो हारो भव्वाण णवसए णवए।
सिरिपासणाहगेहे सुविसुद्धे माहसुद्धदसमीए ॥[1]

1 दर्शनसार, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, वि० स १९७४, गाथा—४९-५०।

अर्थात् पूर्वाचार्योंके द्वारा रची हुई गाथाओंको एकत्र करके यह दर्शनसार नामका ग्रन्थ श्री देवसेनगणिने माघ शुक्ला दशमी, विक्रम सं० ९९०में धारानगरीमे निवास करते समय पार्श्वनाथ भगवानके मन्दिरमे रचा, जो भव्यजीवोके हृदयमे हारके समान शोभा देगा।

तत्त्वसारकी प्रशस्तिमे बताया गया है

सोऊण तच्चसार रइय मुणिणाहदेवसेणेण।
जो सद्दिट्ठी भावइ सो पावइ सासय सोक्ख ॥[1]

मुनिनाथ देवसेनने सुनकर तत्त्वसार रचा, जो सम्यक्दृष्टि उसकी भावना करता है वह शाश्वत सुख प्राप्त करता है। आराधनासारके अन्तमे बताया है-

ण य मे अत्थि कवित्तं ण मुणामो छदलक्खणं किं पि।
णियभावणाणिमित्त रइयं आराहणासार ॥[2]
अमुणियतच्चेण इम भणिय ज किं पि देवसेणेण।
सोहतु त मुणिंदा अत्थि हु जइ पवयण-विरुद्ध ॥

न मुझे कवित्वका परिज्ञान है, न छन्दका और न व्याकरणका ही। अपनी-भावनाके निमित्त मैंने आराधनासार रचा है। पूर्णतत्त्वज्ञानसे अपरिचित देवसेनने जो कुछ भी इसमे कहा है यदि उसमे आगमविरुद्ध कथन हो तो मुनीन्द्र उसे शुद्ध कर लें।

इस तरह देवसेनने दर्शनसारमे रचनाकाल और रचना-स्थानका निर्देश किया है किन्तु अन्य रचनाओमे रचना-काल और रचना-स्थानका निर्देश नही है। दर्शनसारमे देवसेनने अपनेको देवसेनगणि कहा है और तत्त्वसारमे मुनिनाथ देवसेन कहा है तथा आराधनासारमे केवल देवसेन। गणि और मुनिनाथपदको एकार्थवाचक मान लेने पर एकरूपता आ सकती है।

भावसग्रहके अतिरिक्त अन्यत्र किसी भी रचनामे गुरुके नामका स्पष्ट निर्देश नही मिलता है, पर प्रकारान्तरसे गुरुके नामका अध्याहार किया जा सकता है। आराधनासारकी मङ्गलगाथामे "विमलगुणसमिद्ध" पदके द्वारा, दर्शनसारमे "विमलणाण" पद द्वारा, नयचक्रमे "विगयमल" और "विमलणाण-सयुत्त" पदोके द्वारा गुरुके नामका उल्लेख माना जा सकता है। अत आराधनासार, दर्शनसार, भाव-सग्रह आदिके रचयिता एक ही व्यक्ति हैं। दर्शनसार और भाव-सग्रह तो एक ही व्यक्तिकी रचनाएँ हैं क्योकि श्वेताम्बर मतकी

१ तत्त्वसार, अन्तिम प्रशस्ति, गाथा ७४।
२ आराधनासार, गाथा ११४-११५।

उत्पत्तिके सम्बन्धमे दी गयी गाथाओमेसे एक गाथा ज्यो-की-त्यो है और अन्य गाथाओंके भाव प्राय: मिलते हैं। यहाँ तुलनाके लिए कुछ गाथाएँ उद्धृत की जाती हैं। यथा

छत्तीसे वरिससए विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
सोरट्ठे उप्पण्णो सेवडसघो हु वलहीए॥
आसि उज्जेणिणयरे आयरिओ भद्दबाहुणामेण।
जाणिय सुणिमित्तधरो भणिओ सघो णिओ तेण॥
होहइ इह दुब्भिक्ख बारह वरसाणि जाम पुण्णाणि।
देसंतराइ गच्छह णियणियसघेण सजुत्ता॥
सोऊण इमं वयणं णाणादेसेहिं गणहरा सव्वे।
णियणियसंघपउत्ता विहरीआ जत्थ सुब्भिक्ख[1]॥

दर्शनसारमे श्वेताम्बरमतकी उत्पत्ति निम्न प्रकार बतायी है

छत्तीसे वरिस-सए विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
सोरट्ठे वलहीए उप्पण्णो सेवडो संघो॥
सिरिभद्दबाहुगणिणो सीसो णामेण सति आइरिओ।
तस्स य सीसो दुट्ठो जिणचदो मदचारित्तो॥
तेण किय मयमेय इत्थीण अत्थि तब्भवे मोक्खो।
केवलणाणीण पुणो अद्दक्खाण तहा रोओ[2]॥

इन गाथाओकी तुलनासे यह स्पष्ट है कि दोनो ग्रन्थोका रचयिता एक ही व्यक्ति है।

पण्डित परमानन्दजी शास्त्री दिल्लीका अभिमत है कि 'भावसग्रह' 'दर्शनसार'के रचयिता देवसेनकी कृति नही है, क्योकि 'दर्शनसार' मूल सघका ग्रन्थ है, उसमे काष्ठासघ, द्रविडसघ, यापनीयसघ और माथुरसघको जैनाभास घोषित किया है। पर 'भावसंग्रह' केवल मूलसघका ही मालूम नही होता, क्योकि उसमे 'त्रिवर्णाचार'के समान आचमन, सकलीकरण और पञ्चामृताभिषेक आदिका विधान है। इतना ही नही, अपितु इन्द्र, अग्नि, यम, नैऋत्य, वरुण, पवन, यक्ष और ऐशान आदि दिग्पाल देवोको सशस्त्र और युवतिवाहन सहित आह्वानन करने, बलि, चरु आदि पूजा-द्रव्य तथा यज्ञके भागको बीजाक्षरयुक्त मन्त्रोसे देनेका विधान है। अतएव प० परमानन्दजीने बताया है कि

१ भावसग्रह, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, गाथा १३७-१४०।
२ दर्शनसार, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, गाथा ११-१३।

अपभ्रंश-भाषाके 'सुलोचनाचरिउ'के रचयिता देवसेन ही 'भावसंग्रह'के कर्त्ता हैं। इनके गुरुका नाम भी विमलसेनगणि है।

श्री प्रेमीजीने भी उनके इस मतको प्राय स्वीकार करते हुए लिखा है "एक ओर प्राकृत ग्रन्थ 'भाव संग्रह' है, जो विमलगणिके शिष्य देवसेनका है। यह भी मुद्रित हो चुका है। इसमे कई जगह 'दर्शनसार'की अनेक गाथाएँ उद्धृत हैं। इसपरसे हमने अनुमान किया था कि 'दर्शनसार'के कर्त्ता ही इसके कर्त्ता हैं, परन्तु परमानन्दजी शास्त्रीने (अनेकान्त वर्ष ७ अक ११-१२मे) इस पर सन्देह किया है और सुलोचनाचरिउके कर्त्ता तथा भावसग्रहके कर्त्ताको एक बतलाया है, जो कि विमलगणिके शिष्य है।"[1]

'सुलोचनाचरिउ'मे उसके रचना-कालका निर्देश करते हुए लिखा है कि संवत्सरकी श्रावण शुक्ला चतुर्दशीके दिन यह ग्रन्थ पूर्ण हुआ। प० परमानन्दजीने ज्यौतिष गणनाका प्रमाण देते हुए उक्त कालको विक्रम सवत् ११३२ तथा ११९२ मे पडता हुआ लिखा है।

पता नही प० परमानन्दजीने किस आधारपर यह ज्यौतिष गणना की है। राक्षस-सवत्सर श्रावण शुक्ला चतुर्दशीको ग्रह-लाघवके गणितानुसार वि० स० १०१२ मे आता है। यो राक्षससंवत्सरकी स्थिति वि० स० ९५२, १०१२, १०७२, ११३२ और ११९२ मे आती है, पर श्रावणशुक्ला चतुर्दशीको राक्षस सवत्सरका योग विक्रम स० १०१२ के अतिरिक्त १३७२ मे आता है। इसके बीचके सवत्सरोमे बार्हस्पत्य गणनानुसार राक्षससवत्सर और श्रावण शुक्ला चतुर्दशीकी स्थिति एक साथ घटित नही होती है। अत अनुमान है कि दर्शनसार, भावसग्रह और सुलोचनाचरिउ इन तीनो ग्रन्थोका कर्त्ता एक देवसेन नही है। श्री जुगलकिशोर मुख्तारने श्री प० परमानन्दजीकी समालोचना करते हुए लिखा है

"अत भावसग्रहके कर्त्ता देवसेन उनसे पहले हुए, तब सुलोचनाचरिउके कर्त्ता देवसेन और पाण्डवपुराणकी गुरुपरम्परावाले देवसेनके साथ उनकी एकता किसी भी तरह स्थापित नही की जा सकती और न उन्हे १२वी १३वी शताब्दीका विद्वान् ही ठहराया जा सकता है। इसलिए जब तक भिन्न कर्तृकताका द्योतक कोई दूसरा स्पष्ट प्रमाण सामने न आ जावे, तब तक दर्शनसार और भावसग्रहको एक ही देवसेनकृत माननेमे कोई खास बाधा मालूम नही होती"।[2]

१ जैन साहित्य और इतिहास, द्वितीय सस्करण पृ०-१७६

२ पुरातनवाक्यसूचीकी प्रस्तावना, पृ० १६।

मुख्तार साहबके इस कथनसे स्पष्ट है कि सुलोचनाचरित्र १४ वी शतीके किसी देवसेनका है। भावसंग्रह और दर्शनसार एक ही कर्त्ताकी रचनाएँ हैं।

श्री प० परमानन्दजी का यह तर्क कि 'दर्शनसार' मूलसंघका ग्रन्थ है और 'भावसंग्रह' मूलसंघसे इतर संघका ग्रन्थ है, क्योंकि इसमे पञ्चामृत अभिषेक आदिकी विधि प्रतिपादित की गयी है, अधिक सबल नही है, क्योंकि काष्ठासंघमे, जो कि मूलसंघके समान ही मान्य था, पञ्चामृत-अभिषेक आदिका विधान किया है।

श्री प्रेमीजीने दर्शनसारके अन्तर्गत आये हुए संघोकी समीक्षा करते हुए लिखा है कि दर्शनसारमे आये हुए चार संघोमे यापनीयसंघको छोड शेप तीन संघोका मूलसंघसे इतना पार्थक्य नही है कि वे जैनाभास बतला दिये जायें। दर्शनसारकी रचना वि० स० ९९० मे की है। भावसंग्रह, आराधनासार और तत्त्वसार इनकी रचना दर्शनसारके बाद की गयी है। अत हमारा अनुमान है कि दर्शनसार देवसेनकी सबसे पहली रचना है। इस रचनाके समयमे वे कट्टर मूलसंघी रहे होगे। पर पाँच-दस वर्षके बीच उनके विचार और अधिक परिपक्व हुए तथा वे काष्ठासंघी आचार्योके सम्पर्कमे पहुँचे, जिससे उन्होने प्रभावित होकर वि० सं० १००५ के लगभग भावसंग्रह लिखा।

श्री मुख्तार साहबने श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीके मतको उपस्थित करते हुए लिखा है "इसके प्रारम्भिक अंशमे अन्य ग्रंथोके उद्धरणोकी भरमार है, जो मूल-ग्रन्थकारके द्वारा उद्धृत नही हुए हैं और अनेक स्थानोपर खासकर पाँचवे गुण-स्थानके वर्णनमे इसकेपद्योकी स्थिति रयणसार जैसी सन्दिग्ध पायी जाती है। अत प्राचीन प्रतियोको खोज करके इसके मूलरूपको सुनिश्चित करनेकी खास जरूरत है"[1]।

एक और तर्क भी विचारणीय है कि प्राकृत भाषाके ग्रन्थोकी रचनाके पश्चात् ही अपभ्रशमे रचनाएँ लिखी जाती हैं। कोई भी लेखक प्रथम प्राकृत और सस्कृतमे रचना करता है, तत्पश्चात् अपभ्रशमे। जो लेखक तीनो भाषाओमे ही रचनाओका प्रणयन करते हैं, वे प्रथम प्राकृत अनन्तर सस्कृत और तत्पश्चात् अपभ्रशमे ग्रन्थ लिखते हैं। अतएव देवसेनने भी प्राकृत, सस्कृत और अप-भ्रंशमे रचनाओका प्रणयन किया होगा। उनकी सरस्वती-आराधनाका काल वि० स० ९९० (ई० सन् ९३३) से वि० स० १०१२ (ई० सन् ९५५) तक है।

१ पुरातन जैन वाक्य-सूची, प्रस्तावना पृ० ६१।

अतएव दर्शनसार, भावसंग्रह, आराधनासार, तत्त्वसार आदि ग्रन्थोंके रचयिता विमलसेनगणिके शिष्य देवसेनगणि हैं।

रचनाएँ

१ दर्शनसार, २ भावसंग्रह, ३ आलापपद्धति, ४ लघुनयचक्र, ५ आराधनासार, ६ तत्त्वसार।

१ दर्शनसार इस लघुकाय ग्रन्थमे कुल ५१ गाथाएँ हैं। प्रथम गाथामे श्लेषमे गुरुका स्मरण करते हुए तीर्थङ्कर महावीरको नमस्कार किया है और पूर्वाचार्यों द्वारा कथित गाथाओका सग्रह किया है। उत्थानिकाके अनन्तर समस्त इतर दार्शनिक मतोका प्रवर्त्तक ऋषभदेवके पुत्र मरीचिको माना है। मरीचिने एकान्त, सशय, विपरीत, विनय और अज्ञान इन पाँचो एकान्त मार्गो का प्रवर्त्तन किया है। बताया है कि तीर्थङ्कर पार्श्वनाथके तीर्थकालमे सरयू नदीके तटवर्ती पलाश नामक नगरमे पिहितास्रव साधुका शिष्य बुद्धिकीर्ति मुनि हुआ, जो बहुत बडा शास्त्रज्ञ था। मत्स्याहारके कारण वह दीक्षासे भ्रष्ट हो गया और रक्ताम्बर धारण कर उसने एकान्तमतका प्रचलन किया। फल, दधि, दुग्ध, शक्कर आदिके समान मासमे भी जीव नही है, अतएव उसकी इच्छा करने और भक्षण करनेमे कोई पाप नही है। उसने बतलाया कि जिस प्रकार जल एक द्रव पदार्थ है, उसके सेवनमे दोष नही उसी प्रकार मद्य भी द्रव पदार्थ है, उसके सेवनमे भी किसी प्रकारका दोष नही है।

एक पाप करता है और फल दूसरा भोगता है। इस प्रकार अनर्गल सिद्धान्तोका प्रचार कर वह बुद्धकीर्ति नरक गया। कर्त्ता कोई अन्य व्यक्ति है और फल-भोक्ता कोई अन्य। इस सिद्धान्तमे क्षणिकवादका कथन किया गया है। इस प्रकार मरीचि और बुद्धकीर्तिने मिथ्या मतोका प्रचार किया।

इस अवतारणके पश्चात् श्वेताम्बर मत, विपरीत मत, वाचनिक मत, अज्ञान मत, द्राविडसघ, यापनीयसघ, काष्ठासघ, माथुरसघ और भिल्लकसघकी उत्पत्ति एव समीक्षा की गयी है। काष्ठासघकी समीक्षा करते हुए वीरसेन स्वामीके शिष्य जिनसेन, कुन्दकुन्द, गुणभद्र, विनयसेन, कुमारसेनके निर्देश आये हैं। कुमारसेनको काष्ठासघका उपदेशक बतलाया है और इस संघका उत्पत्तिकाल वि० स० ७५३ माना है। माथुरसघकी उत्पत्ति रामसेन द्वारा वि० स० ९५३ मे मथुरा नगरीमे मानी गयी है। भिल्लकसघकी उत्पत्ति भविष्य-कल्पनाके रूपमे अङ्कित है–

पणमिय वीरजिणिंदं सुरसेणणमसियं विमलणाणं।
वोच्छं दंसणसारं जह कहियं पुव्वसूरीहिं ॥[1]
भरहे तित्थयराणं पणमिय देविंदणागरुंडाणं।
समएसु होंति केई मिच्छत्तपवट्टगा जीवा ॥[2]

× × ×

सिरिपासणाहतित्थे सरयूतीरे पलासणयरत्थो।
पिहियासवस्स सिस्सो महासुदो बुड्ढकित्तिमुणी ॥[3]

× × ×

णंदियडे वरगामे कुमारसेणो य सत्थविण्णाणी।
कट्ठो दंसणभट्ठो जादो सल्लेहणाकाले ॥[4]
तत्तो दुसए तीदे महुराए माहुराण गुरुणाहो।
णामेण रामसेणो णिप्पिच्छं वण्णियं तेण ॥[5]

दर्शनसारसे देवसेनके अक्खड़ स्वभावका पता चलता है। उन्होंने अन्तिम गाथामें अपनी स्पष्टता व्यक्त करते हुए लिखा है

रूसउ तूसउ लोओ सच्चं अक्खतयस्स साहुस्स।
किं जूयभए साडी विवज्जियव्वा णरिंदेण ॥[6]

सत्य कहने वाले साधुसे कोई रुष्ट हो, चाहे सन्तुष्ट हो, इसकी चिन्ता नहीं। क्या राजाको यूका (जूँआ) के भयसे वस्त्र पहनना छोड देना चाहिए? कभी नहीं।

इससे देवसेनका अक्खडपना प्रकट होता है।

२ भावसंग्रह

इस ग्रन्थमे ७०१ गाथाएँ हैं। इसमें चौदह गुणस्थानोका अवलम्बन लेकर विविध विषयोका निरूपण किया गया है। दो गाथाओ द्वारा १४ गुणस्थानोके नाम वतला कर मिथ्यात्वगुणस्थानका स्वरूप प्रतिपादित किया है। मिथ्यात्वके एकान्त, विनय, संशय, अज्ञान और विपरीत इन पाँच भेदोको वतलाकर ब्राह्मण मतको विपरीतमिथ्यादृष्टि कहा है

मण्णइ जलेण सुद्धि तित्ति मसेण पियरवग्गस्स।
पसुकयवहेण सग्ग धम्म गोजोणिफासेण ॥
जइ जलण्हाणपउत्ता जीवा मुइ णिययपावेण।
तो तत्थ वसिय जलयरा सव्वे पावंति दिवलोयं ॥

१-५ दर्शनसार, गाथा १, २, ६, ३९, ४०।
६ दर्शनसार, गाथा ५१।

जं कम्मं दिढबद्धं जीवपएसेहि तिविहजोएण।
तं जलफासणिमित्ते कह फट्टइ तित्थण्हाणेण॥
मलिणो देहो णिच्च देही पुण णिम्मलो सयारूवी।
को इह जलेण सुज्झइ तम्हा ण्हाणे ण हु सुद्धी॥[1]

जलसे शुद्धि होती है, माँससे पितरोंकी तृप्ति होती है, पशुवलिसे स्वर्ग मिलता है और गोयोनिके स्पर्शसे धर्म होता है, इन चार ब्राह्मणधर्मके प्रमुख सिद्धान्तोकी समीक्षा करते हुए बताया है कि जलस्नानसे यदि समस्त पापोका प्रक्षालन सम्भव हो, तो नदी, समुद्र और तालावोमे रहनेवाले जलचर जीव भी स्वर्गको प्राप्त कर लेंगे। कर्म-मैलसे मलिन इस आत्माकी जलसे शुद्धि नही हो सकती है, जो जलसे शुद्धि मानता है, वह अच्छा विचारक नही है। आत्माकी शुद्धि तप, इन्द्रियनिग्रह और रत्नत्रयके द्वारा होती है। जिस प्रकार अग्निके सयोगसे स्वर्ण पवित्र हो जाता है, उसी प्रकार अनशन, ऊनोदर आदि तपोके करनेसे जीव भी पवित्र हो जाता है। जो व्यक्ति विषय और कषायमे सलग्न हैं और राग-द्वेषको उत्पन्न करनेवाले गृहकार्योमे आसक्त हैं उनकी जलस्नानसे शुद्धि नही हो सकती। कषायरहित, व्रतनियम और शीलसे युक्त व्यक्ति जल-स्नानके बिना भी आत्माको पवित्र कर सकता है।

माँसद्वारा पितरोकी तृप्ति माननेवाला व्यक्ति भी विवेकी नही है। हिंसा, क्रूरता और निर्दयता करनेवाला व्यक्ति चारो गतियोके दुःखोको उठाता है। जो माँस द्वारा श्राद्ध करके पितरोकी तृप्ति चाहता है वह व्यक्ति भी बालूसे तेल निकालना चाहता है। अतएव माँसको न तो दान ही माना जा सकता है, और न इससे पितरोकी तृप्ति ही हो सकती है।

जो श्राद्धद्वारा पितरोकी तृप्ति मानता है, वह भ्रममे है। किसीके भोजनसे किसीकी तृप्ति नही हो सकती। यदि पिता भोजन करता है, तो पुत्रका पेट नही भरता, और पुत्र भोजन करता है तो पिताका पेट नही भरता। जो भोजन करता है, वही तृप्त हो सकता है, अन्य कैसे तृप्त हो सकता है? जो यह मानता है कि पाप करके नरक जाने पर पिताको पिण्डदानद्वारा पुत्र स्वर्ग भेज सकता है, उसके यहाँ जो कार्य करनेवाला है उसे फल न मिल कर अन्यको होगा। अत कृतनाश और अकृताभ्यागम नामक दोष आयगा। इस प्रकार उक्त चारो सिद्धान्तोकी समीक्षा करते हुए गीता, महाभारत आदि ग्रन्थोसे ही समर्थनके लिए प्रमाण उद्धृत किये हैं।

विपरीतमिथ्यात्वके पश्चात् एकान्तमिथ्यात्वकी समीक्षा की गयी है।

१ भावसंग्रह, गाथा १७–२०।

इस प्रसंगमे क्षणिकैकान्तवादी बुद्धका खण्डन किया है। वैनायिक मिथ्यात्वके निरसनमे यक्ष, नाग, दुर्गा, चण्डिका आदिके पूजनेका निषेध किया है। सशय-मिथ्यात्वका निरूपण करते हुए उदाहरणके हेतु श्वेताम्बर मतका निरसन किया गया है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय स्त्रीमुक्ति, केवली कवलाहार और साधुओं-का वस्त्र-पात्र रखना इन तीनो बातोकी आलोचना की गयी है। श्वेताम्बर अपने साधुओको स्थविरकल्पी बतलाते हैं। ग्रन्थकारके मतसे वे स्थविर नही, बल्कि गृहस्थकल्पी है। जिनकल्प और स्थविरकल्पका विवेचन विस्तार-पूर्वक किया है। इस सन्दर्भमे बताया है

> दुद्धरतवरस भग्गा परिसहविसएहिं पीडिया जे य।
> जो गिहकप्पो लोए स थविरकप्पो कओ तेहिं[1] ॥

अर्थात् परीषहसे पीडित और दुर्द्धर तपसे भीत जनोने गृहस्थकल्पको स्थविर कल्प बना दिया है। १३७ वी गाथासे श्वेताम्बर मतकी उत्पत्तिकी कथा दी गयी है। इस कथामे बताया है कि सौराष्ट्र देशकी वलभी नगरीमे वि० स० १३६ मे श्वेताम्बर सघकी उत्पत्ति हुई। दर्शनसारमे भी श्वेताम्बर मतकी उत्पत्तिका यही समय अकित किया गया है।

अज्ञानमिथ्यात्वका कथन करते हुए लिखा है कि भगवान पार्श्वनाथके तीर्थकल्पमे मस्करीपूरण नामक ऋषि हुआ। यह भगवान महावीरके समवचरणमे गया, किन्तु उसके जानेपर भगवानकी वाणी नही खिरी। वह रुष्ट होकर समवशरणसे चला आया और कहने लगा मै ग्यारह अगोका धारी हूँ, फिर भी मेरे जाने पर तीर्थंकर महावीरकी दिव्यध्वनि प्रवाहित नही हुई और गौतमके आने पर दिव्यध्वनि होने लगी। गौतमने अभी दीक्षा ली है। वह तो वेदवादी पण्डित है। वह जिनोक्त श्रुतको क्या जाने। अत उसने अज्ञानसे लोगोके मध्य मोक्षका उपदेश दिया

> अण्णाणाओ मोक्ख एव लोयाण पयडमाणो हु।
> देवो ण अत्थि कोई सुण्ण झाएह इच्छाए[2] ॥

अर्थात् अज्ञानसे ही मोक्ष होता है। इसके लिये ध्यान, सयम, तप, सज्ज्ञान की आवश्यकता नही। इस प्रकार पाँचो मिथ्यात्वोकी समीक्षा करनेके पश्चात् चार्वाकके द्वारा मान्य दर्शनकी समीक्षा की है। चार्वाक चैतन्यको भूतोका विकारमात्र मानता है। ग्रन्थकारने इसे कौलिकाचार्यका मत कहा है

---

१ भावसग्रह, गाथा १३३।
२ भावसंग्रह, गाथा १६४।

कउलायरिओ अक्खइ अत्थि ण जीवो हु करता त पावं ।
पुण्ण वा करता भवे को गच्छइ णरय-सग्ग[1] वा ॥

यह कौलिकमत शैवतन्त्रका एकमत है। एक प्रकारसे यह वामाङ्गो है। है। माँस, मदिराके सेवनके साथ स्त्रीरमण एव स्वय शिव-पार्वतीका प्रतिरूपक अपनेको मानना आदि इसके सिद्धान्त हैं। यहाँ हमे ग्रन्थकारका भ्रम प्रतीत होता है। कौलिक और चार्वाक ये दोनो मत स्वतन्त्र हैं। दोनोमे समता इतनी है कि पुण्य-पाप, परलोक आदिकी स्थिति दोनोमे तुल्य है। कौलिक मतके ग्रन्थोमे वामाचारको भी पुण्यरूप कहा गया है तथा वाममार्गीधर्माचरणसे स्वर्गादिक सुखोकी उपलब्धि भी मानी गयी है। शिव और पार्वती रूप कृत्य-अकृत्योका सकल्प कर लेने पर कही कोई बाधा नही आती और स्वार्गादिक प्राप्त हो जाते हैं।

चार्वाकमतके पश्चात् साख्यमतकी समीक्षा की गयी है। बताया है कि जीव सदा अकर्त्ता है और पुण्य-पापका भोक्ता भी नही है। ऐसा लोकमे प्रकट करके बहन और पुत्रीको भी अगीकार किया गया है। यथा

जीवो सया अकत्ता भुत्ता ण हु होइ पुण्ण-पावरता ।
इय पयडिऊण लोए गहिया वहिणी सधूया वि[2] ॥
× × ×
धूयमायरिवहिणि अण्णावि पुत्तात्थिणि ।
आयति य पासवयणुपयडे वि विप्पे ।
जह रमियकामाउरेण वेयगव्वे उप्पण्णदप्पे ॥
बभणि-छिपिणि-डोवि-नडिय-वरुडि-रज्जइ-चम्मारि ।
कवले समइ समागमइ तह भुत्ति य परणारि[3] ॥

अर्थात् पुत्री, माता, बहन या अन्य कोई भी नारी पुत्रोत्पत्तिकी भावनासे कामवचन प्रकट करे, तो कामातुर हो वेदज्ञानी ब्राह्मणको उसका उपभोग करना चाहिये। लेखकने बतलाया है कि कपिलदर्शनमे प्रतिपादित ब्राह्मणी, डोम्बी, नटी, धोबिन, चमारिन आदि परनारियोके साथ भोग करना उचित है।

स्मृतिकारोके इस कथनका आशय लेकर कि जो पुरुष स्वय आगता नारीका भोग नही करता उसे ब्रह्महत्याका पाप लगता है, को लक्ष्यमे रखकर

१. भावसग्रह, गाथा १७२ ।
२ वही, गाथा १७९ ।
३. भावसग्रह, गाथा १८५ ।

ही उक्त कथन किया गया है। सांख्यदर्शनके साथ इसका कुछ भी मेल नही है। हाँ, कौलिक सम्प्रदायमे उक्त सिद्धान्त अवश्य स्वीकृत है। राजशेखरने अपनी 'कर्पूरमंजरी-सट्टक'मे रण्डा, चण्डा आदिके भोगका औचित्य बतलाया है। अत कपिलदर्शनका यह सिद्धान्त न होकर, स्मृति या कौलिक सम्प्रदायका सिद्धान्त है। देवसेनने इसी सिद्धान्तकी समीक्षा की है।

तृतीय मिश्रगुणस्थानका कथन करते हुए ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रकी समालोचना की गयी है। ब्रह्माकी आलोचना करते हुए तिलोत्तमा आदिके उपाख्यानोको उपस्थित किया है। विष्णुकी आलोचनामे उनके विभिन्न अवतारोकी समीक्षा की गयी है। रुद्रकी आलोचनामे उनके स्वरूप और ब्रह्महत्या आदि कार्योकी समीक्षा आयी है।

चतुर्थ अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानका स्वरूप बतलाते हुए सात तत्त्वोका कथन किया गया है। पाँचवें गुणस्थानका स्वरूप २५० गाथाओके द्वारा बहुत विस्तारसे बतलाया है। इसमे अणुव्रत, गुणव्रत, और शिक्षाव्रतोके साथ अष्टमूलगुणोका भी उल्लेख आया है। चार प्रकारके ध्यान, देवपूजा, स्वाध्याय, सयम, तप, दान, आदि श्रावकाचारका भी निरूपण आया है। अभिषेकके समय यम, वरुण, कुवेर, ईशान आदिके आह्वानपूर्वक पञ्चामृत-अभिषेक करनेका विधान किया है।

षष्ठ व सप्तम गुणस्थानके स्वरूपकथनमे पिण्डस्थ, पदस्थ रूपस्थ, और रूपातीत ध्यानोका कथन आया है। शेष गुणस्थानोका सामान्यतया स्वरूपविवेचन हुआ है। गुणस्थानोके स्वरूपकथनमे देवसेनने पचसग्रहप्राकृतसे अनेक गाथाएँ ज्यो-की-त्यो रूपमे ग्रहण की हैं। नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने गोम्मटसारमे पचसग्रहकी अनेक गाथाएँ ग्रहण की हैं। यहाँ तुलनाके लिए कतिपय सामान गाथाएँ दी जाती है-

मिच्छो सासण मिस्सो अविरयसम्मो य देसविरदो य।
विरओ पमत्त इयरो अपुव्व अणियट्टि सुहमो य॥
उवसत खीणमोहे सजोइकेवलिजिणो अजोगी य।
ए चउदस गुणठाणा कमेण सिद्धा य णायव्वा॥
णो इंदिएसु विरओ णो जीवे थावरे तसे वा पि।
जो सद्दहइ जिणुत्त अविरइसम्मो त्ति णायव्वो॥[1]

इस प्रकार अनेक गाथाएँ पचसग्रहमे प्राप्त होती हैं। इतना ही नही, भाव-

१. पचसग्रह, गाथा १०, ११, २६१।

संग्रहकी कई गाथाएँ कुछ रूपान्तरके साथ राजशेखरकी कर्पूरमंजरीमें भी मिलती हैं। कुछ गाथाएँ ऐसी भी हैं, जिनमे पंचसंग्रह और धवलाटीकाका मिश्रित रूप है।

पंचसंग्रह

जे तसवहाउ विरदो णो विरओ अक्खथावरवहाओ।
पडिसमय सो जीवो विरयाविरओ जिणेक्कमई॥ गाथा १३

धवला और जीवकांड

जो तसवहादु विरदो अविरदओ तह य थावरवहाओ।
एक्कसमयम्मि जीवो विरदाविरदो जिणेक्कमई॥ गाथा ३१

भावसंग्रह

जो तसवहाउ विरओ णो विरओ तह य थावरवहाओ।
एक्कसमयम्मि जीवो विरयाविरउ त्ति जिणु कहई॥ गाथा ३५१

भावसंग्रहपर कुन्दकुन्दाचार्यके पञ्चास्तिकाय ग्रन्थका भी प्रभाव है

पञ्चास्तिकाय

जीवो त्ति हवदि चेदा उवओयविसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता य देहमेत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो॥[1]
पाणेहि चदुहि जीवदि जीवस्सदि जो हु जीविदो पुव्व।
सो जीवो पाणा पुण बलमिंदियमाउ उस्सासो॥[2]

भावसंग्रह

जीवो अणाइ णिच्चो उवओगसजुदो देहमित्तो य।
कत्ता भोक्ता चेत्ता ण हु मुत्तो सहावउड्ढगई॥[3]
पाणचउक्कपउत्तो जीवस्सइ जो हु जीविओ पुव्व।
जीवेइ वट्टमाण जीवत्तणगुणसमावण्णो॥[4]

स्पष्ट हैं कि भावसंग्रहपर पञ्चास्तिकायका भी प्रभाव है।

१ पंचास्तिकाय, गाथा २७।
२ वही, गाथा ३०।
३ भावसंग्रह, गाथा-२८६।
४ भावसंग्रह, गाथा-२८८।

३. आराधनासार

एकसौ पन्द्रह प्राकृत-गाथाओमे यह ग्रन्थ रचा गया है। आराधनाओका वर्णन करते हुए बताया है

आराहणाइसारो तव-दसण-णाण-चरणसमवाओ।
सो दुब्भेओ उत्तो ववहारो चेव परमट्ठो[1]॥

अर्थात् तपाराधना, दर्शनाराधना, ज्ञानाराधना और चारित्राराधना इन चारो आराधनाओका सार इसमे वर्णित रहेगा। यह आराधनासार दो प्रकारका है (१) व्यवहार और (२) परमार्थ। व्यवहार-आराधनाका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है कि सूत्र और अर्थ द्वारा कथित वस्तुको ग्रहण करना ज्ञानाराधना है। अर्थात् तीर्थङ्करकी वाणी द्वारा प्रतिपादित ११ अग और १४ पूर्वोको अवगत करना ज्ञानाराधना है। भावशुद्धिपूर्वक १३ प्रकारके चारित्रका आचरण करना चारित्राराधना है। १३ प्रकारके चारित्रमे ५ महाव्रत, ५ समिति और ३ गुप्तिको स्थान दिया गया है। १२ प्रकारके तपोका आचरण करनेके लिए प्रवृत्त होना तपाराधना है। इस प्रकार व्यवहार-आराधनाका स्वरूप कथन कर निश्चय-आराधनाका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है

सुद्धणये चउखध उत्त आराहणाइ एरिसिय।
सव्ववियप्पविमुक्को सुद्धो अप्पा णिरालवो[2]॥

अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपरूप इन चारो भेद-विकल्पोका त्याग कर पञ्चेन्द्रियके विषयसुखसे रहित निर्विकल्प आत्मतत्त्वका आराधन करना निश्चय-आराधना है। आगे इसीके स्वरूपका विशेषरूपसे वर्णन करते हुए बताया है

सद्दहइ सहाव जाणइ अप्पाणमप्पणो सुद्ध।
त चि य अणुचरइ पुणो इदियविसए णिरोहित्ता[3]॥

अर्थात् स्वस्वरूपका श्रद्धान करना, शुद्ध आत्माको जानना और निज आत्मरूप आचरण करना एवं निज स्वरूप तपश्चरण करना निश्चयाराधना है। निश्चय-आराधनामे इन्द्रियोकी वृत्तियाँ रुक जाती हैं और आत्मस्वरूप श्रद्धान, ज्ञान, आचरण और तपाराधना होने लगती है। इसलिए दर्शन, ज्ञान,

१ आराधनासार, गाथा २।
२ आराधनासार, गाथा ८।
३. वही, गाथा ९।

चारित्र, तपरूप आत्मा ही है, जो राग-द्वेष छोड़कर इस शुद्ध आत्माका आराधन करता है उसीको निश्चय-आराधना होती है।

जीव चतुर्गतिमे भ्रमण करता है, भ्रमण करेगा और भ्रमण किया है। इसका कारण ज्ञानमयी आत्माराधनको प्राप्त न करना है। मरणकालमे वही व्यक्ति आत्माराधन कर सकता है जो राग-द्वेष रहित है। वताया है

अप्पसहावे णिरओ वज्जियपरदव्वसंगसुक्खरसो।
णिग्गहियरायदोसो हवई आराहओ मरणे॥
जो रयणत्तयमइओ मुत्तूणं अप्पणो विसुद्धप्पा।
चिंतेइ य परदव्वं विराहओ णिच्छय भणियो[1]॥

राग-द्वेषोको दूर कर और परद्रव्योके सयोगजन्य सुखका त्याग कर जो आत्मस्वभावमे निरत है वही मरण-कालमे आराधक होता है। जो रत्नत्रय-मयी विशुद्ध आत्माको छोडकर परद्रव्योका चिन्तन करता है वह आराधनाका विराधक माना जाता है। जो न सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चरित्ररूप आत्माको समझता है और न आत्मासे विलक्षण शरीरादि परद्रव्योको ही जानता है, उसे न ज्ञानकी प्राप्ति रहती है और न आराधनाकी ही।

जव तक वृद्धावस्था नही आती है, इन्द्रियोकी शक्ति क्षीण नही होती है, बुद्धि नष्ट नही होती है, आयुरूपी जल समाप्त नही होता है तव तक आत्म-कल्याणके लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। जो व्यक्ति यह सोचता रहता है कि अभी तो युवावस्था है, विषयसुख-सेवनके दिन है वह वृद्धावस्था आने पर कुछ नही कर सकता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपरूप आराधनाकी प्राप्ति शारीरिक शक्ति और इन्द्रियोकी शक्ति रहने पर ही सम्भव है। वताया है

जरवग्घिणी ण चपइ जाम ण वियलाइ हुंति अक्खाइ।
वुद्धी जाम ण णासइ आउजल जाम ण परिगलई॥
जा उज्जमो ण वियलइ सजम-तव-णाण-झाणजोएसु।
तावरिहो सो पुरिसो उत्तमठाणरस सभवई[2]॥

वाह्य और अन्तरङ्ग परिग्रहका त्यागकर अन्तरङ्ग कषाय और विकारोको कृश करनेका प्रयास करना ही वास्तविक आराधना है। कषाएँ अत्यधिक शक्तिशाली हैं। इन्हींके कारण चतुर्गति परिभ्रमण होता है। जव तक कषाय

१. आराधनासार, माणिकचन्द्र दिगम्वर जैन ग्रन्थमाला, गाथा १९,२०।
२. वही, गाथा २५, २८।

और भोगोका त्याग नही किया जायगा, तब तक संयमकी प्रवृत्ति नही हो सकती है और सयमरहित व्यक्तिके गुण विशुद्ध नही हो सकते । बताया है

जाम ण हणइ कसाए सकसाई णेव सजमी होई ।
सजमरहियस्स गुणा ण हुंति सव्वे विसुद्धियरा[1] ॥

जो परीषहोको सहन करता हुआ शान्तिभावपूर्वक व्रत, समिति और गुप्तियोका पालन करता है वह अनादिकालीन काम-क्रोधादिको नष्ट कर देता है। इस प्रसङ्गमे उपसर्ग और परीषहोंको सहन करनेवाले शिवभूति, सुकुमाल और सुकोशलके उदाहरण दिये गये है और मनुष्यकृत उपसर्ग सहन करनेमे गुरुदत्त, पाण्डव और गजकुमारके आख्यान दृष्टान्तके रूपमे प्रस्तुत किये हैं। देवकृत उपसर्गके सहन करनेमे प्रसिद्ध हुए श्रीदत्त, सुवर्णभद्र आदिके उदाहरण दिये गये हैं । इस प्रकार उदाहरणो और प्रत्युदाहरणो द्वारा सैद्धान्तिक विषयको भी सरस बनानेकी चेष्टा की है ।

मन, वचन और कायको वश करनेकी आवश्यकता पर जोर देते हुए लिखा है

सिक्खह मणवसियरण सवसीहूएण जेण मणुआण ।
णासति राय-दोसे तेसि णासे समो परमो ॥[2]

मनको वशमे करनेकी शिक्षा देनी चाहिए । जिसका मन वशीभूत है वही राग-द्वेषको नाश कर सकता है और राग-द्वेषके नाश करनेसे ही परमपदकी प्राप्ति होती है ।

उपशमवान जीव ही मनका निग्रह कर सकता है और मनका निग्रह करनेसे ही आत्मा परमात्मापदको प्राप्त कर सकती है ।

आचार्यने ध्यान, ध्याता और ध्येयका लक्षण बतलाया है और ध्यानके द्वारा ही सकल कर्मोका नाश होता है । अत राग-द्वेष, मोहका विनाश करने पर ही ध्यानकी प्राप्ति सम्भव है । जो यह अनुभव करता है कि न मैं देह हूँ, न मन हूँ और न मुझमे दुख ही है वह क्षपक समभावनासे युक्त होकर दुखका विनाश कर लेता है । यथा

णाह देहो ण मणो ण तेण मे अत्थि इत्थ दुक्खाइ ।
समभावणाइ जुत्तो वि सहसु दुक्ख अहो खवय ॥[3]

१. आराधनासार गाथा ३७ ।
२ वही, गाथा ६४ ।
३. वही, गाथा १०१ ।

इस प्रकार समस्त परिग्रहका त्यागकर आत्मसाधनामें संलग्न रहनेका निर्देश किया है।

४ तत्त्वसार

इस ग्रन्थमे ७४ गाथाएँ हैं। तत्त्वके मूलत दो भेद हैं (१) स्वगत तत्त्व और (२) परगत तत्त्व। स्वगत तत्त्व निजात्मा है और परगत तत्त्वमे परमेष्ठी है। स्वगत तत्त्वके भी दो भेद हैं (१) सविकल्पक और (२) निर्विकल्पक। आस्रवसहितको सविकल्पक कहते हैं और आस्रवरहितको निर्विकल्पक। इन्द्रियविषय-सुखके समाप्त होनेपर मनकी चंचलता जब अवरुद्ध हो जाती है तब आत्मा अपने स्वरूपमे निर्विकल्पक हो जाती है। यथा

> ज पुणु सगय तच्च सवियप्प हवइ तह य अवियप्प।
> सवियप्प सासवयं णिरासव विगयसकप्प॥
> इंदियविसयविरामे मणस्स णिल्लूरण हवे जइया।
> तइया त अविकप्प ससरुवे अप्पणो त तु॥[1]

जो अविकल्पक तत्त्व है वही मोक्षका कारण है। उसीको शुद्ध समझकर ध्यान करना चाहिए।

इस प्रकरणमे श्रमण और योगीकी व्युत्पत्ति बतलाते हुए लिखा है- "मन-वचन-कायसे जो बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहसे रहित है, वह निर्ग्रन्थ कहलाता है और जिसने जिनलिङ्गका आश्रय ग्रहण किया है वह श्रमण कहलाता है

> बहिरब्भतरगथा मुक्का जेणेह तिविहजोएण।
> सो णिग्गथो भणिओ जिणलिंगसमासिओ सवणो॥[2]

लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, मित्र-शत्रुको जो समानरूपसे ध्यान करता है वह योगी है। यथा

> लाहालाहे सरिसो सुहदुक्खे तह य जीविए मरणे।
> बंधव-अरयसमाणो झाणसमत्थो हु सो जोई॥[3]

जो व्यक्ति आत्माकी सिद्धि करना चाहता है वह ध्यान द्वारा कर्मोका क्षय कर मोक्षको प्राप्त करे। यह आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्रस्वरूप है, असख्यात प्रदेशी है और प्रदेशोके सहार तथा विसर्पणके कारण यह शरीरप्रमाण है जो

१. तत्त्वसार, गाथा-५,६।
२. वही, गाथा-१०।
३ वही, गाथा-११।

राग, द्वेष, मोहका त्याग कर जन्म-जरा-मरणसे रहित इस निरञ्जन आत्माका ध्यान करता है वह सिद्धिको प्राप्त कर लेता है। आत्मामे न रूप है, न रस है, न गन्ध है, न शब्द है। यह तो शुद्ध चेतनस्वरूप निरञ्जन है। यथा

फासरसरूवगधा सद्दादीया य जस्स णत्थि पुणो।
सुद्धो चेयणभावो णिरजणो सो अह भणिओ ॥[1]

व्यवहारनयसे इस आत्मामे कर्म-नोकर्म माने जाते है। आत्मा और कर्मका सम्बन्ध दूध-पानीके समान है। जिस प्रकार दूध और पानी अपने-अपने स्वभावसे विकृत होकर एकमे एक मिल जाते है उसी प्रकार आत्मा और पौद्गलिक कर्म भी अपने-अपने स्वभावको छोड एकमे एक मिल गये है। अतएव मैं शुद्ध हूँ, सिद्ध हूँ, ज्ञानरूप हूँ, कर्म-नोकर्मसे रहित हूँ, एक हूँ, निरालम्ब हूँ, देहप्रमाण हूँ, नित्य हूँ, असख्यातदेशिक हूँ, अमूर्त हूँ। इस प्रकार चिन्तन कर आत्म-स्वरूपको प्राप्त करना चाहिए। जब तक पर द्रव्योसे चित्त व्यावृत्त नही होता तब तक भव्यजीव मोक्षको प्राप्त नही कर सकता है। चाहे कितना भी उग्र तप क्यो न करता रहे। आत्मसिद्धिका मूलकारण राग-द्वेष और विषयसुखसे मुक्ति प्राप्त कर लेना है।

यह ग्रन्थ आध्यात्मिक है तथा इसमे आत्मानुभूति तथा आत्मसिद्धिका उपाय वर्णित है।

५ लघुनयचक्र

इस ग्रन्थमे ८७ गाथाएँ हैं। नयका स्वरूप, उपयोगिता एव उसके भेद-प्रभेदोका वर्णन किया है। नयका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है

ज णाणीण वियप्प सुयभेय वत्थूयससंगहण।
त इह णय पउत्त णाणी पुण तेहि णाणेहिं ॥[2]

जो वस्तुके एक अशका ग्रहण करता है श्रुतज्ञानका वह भेद नय कहलाता है। नयके बिना वस्तुस्वरूपकी प्रतिपत्ति नहीं हो सकती है और नय द्वारा ही स्याद्वादका ज्ञान होता है। अत नयका ज्ञान अनेकान्तात्मक वस्तुकी प्रतिपत्तिके लिए अत्यन्त आवश्यक है। नयसे जिन वचनोका बोध होता है और नयसे ही वस्तुकी प्रतिपत्ति होती है। मूल नय दो है द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। नयके सामान्यतया नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवम्भूत ये सात भेद हैं। अन्य भेद निम्न प्रकार हैं

१. त० सा०, गाथा २१।
२ लघुनयचक्र, गाथा २।

दव्वत्थ दहमेय छब्भेयं पज्जयत्थियं णेयं।
तिविह च णेगम तह दुविह पुण संगह तत्थ ॥
ववहार रिउसुतं दुवियप्प सेसमाहु एक्केक्का।[1]
उत्ता इह णयभेया उपणयभेया वि पभणामो ॥

द्रव्यार्थिकके १० भेद, पर्यायार्थिकके ६ भेद, नैगम नयके तीन भेद, संग्रहके दो, व्यवहार और ऋतुसूत्रके दो-दो भेद और शेष नयोका एक-एक भेद है। उपनयके तीन भेद हैं (१) सद्भूत, (२) असद्भूत और (३) उपचरित नय। सद्भूतके दो भेद हैं और असद्भूतके तीन तथा उपचरितके तीन। इस प्रकार नयके भेद-प्रभेदोका कथन कर द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोकी अपेक्षासे वस्तु-विवेचन किया गया है।

६ आलाप-पद्धति

यह सस्कृत-गद्यमे रचित छोटी-सी रचना हैं। अन्य ग्रन्थोके समान इसका प्रकाशन भी माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमालासे हुआ है। इस ग्रन्थमे गुण, पर्याय, स्वभाव, प्रमाण, नय, गुण-व्युत्पत्ति, स्वभाव-व्युत्पत्ति, प्रमाणका कथन, निक्षेपकी व्युत्पत्ति, नयोके भेदोंकी व्युत्पत्ति एव अध्यात्मनयोका कथन किया गया है। आरम्भमे वचनपद्धतिको ही आलापपद्धति कहा है। यह ग्रन्थ निम्नलिखित अधिकारोमे विभक्त है

१. द्रव्याधिकार, २ गुणाधिकार, ३. पर्यायाधिकार, ४ स्वभावाधिकार, ५ प्रमाणाधिकार, ६ नय-अधिकार, ७ गुण व्युत्पत्ति-अधिकार, ८ पर्याय-व्युत्पत्ति-अधिकार, ९. स्वभावव्युत्पत्ति-अधिकार, १०. एकान्तपक्षमे दोष, ११. नययोजना, १२. प्रमाणकथन, १३. नयलक्षण और भेद, १४. निक्षेप व्युत्पत्ति, १५ नयोके भेदोकी व्युत्पत्ति, १६. अध्यात्मनय।

नामानुसार विषयोका निरूपण इन अधिकारोमे किया गया है। जैन सिद्धान्तको अवगत करनेके लिए यह छोटा-सा ग्रन्थ वहुत उपयोगी है। द्रव्यके सामान्य और विशेष गुणोका विवेचन करते हुए लिखा है

"अस्तित्व, वस्तुत्वं, द्रव्यत्वं, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व-मचेतनत्व, मूर्त्तत्वममूर्त्तत्व द्रव्याणां दश सामान्यगुणा। प्रत्येकमष्टावष्टौ सर्वेषाम्।

[एकैकद्रव्ये अष्टौ अष्टौ गुणा भवति। जीवद्रव्ये अचेतनत्व मूर्तत्व च नास्ति, पुद्गलद्रव्ये चेतनत्वममूर्तत्व च नास्ति, धर्माधर्माकाशकालद्रव्येषु

१. आलापपद्धति, गाथा १३–१४।

चेतनत्व मूर्तत्व च नास्ति । एव द्विद्विगुणवर्जिते अष्टौ अष्टौ गुणा प्रत्येकद्रव्ये भवन्ति ।]

ज्ञानदर्शनसुखवीर्याणि स्पर्शरसगधवर्णा गतिहेतुत्व स्थितिहेतुत्वमवगाहन-हेतुत्वं वर्त्तनाहेतुत्व चेतनत्वमचेतनत्व मूर्तत्वममूर्तत्व द्रव्याणा षोडश विशेष-गुणा ।"[1]

"अर्थात् अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, चेत-नत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व और अमूर्तत्व ये द्रव्योके सामान्यगुण हैं। सदैव द्रव्योके साथ रहते हैं, द्रव्योसे पृथक् नही होते । प्रत्येक द्रव्यमे दश सामान्य-गुणोमेसे आठ-आठ गुण रहते हैं, दो-दो गुण नही होते । ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, अवगाहनहेतुत्व, वर्तना-हेतुत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व और अमूर्तत्व ये द्रव्योके सोलह विशेषगुण हैं ।

इस प्रकार द्रव्य, गुण, स्वभावके अतिरिक्त नय और प्रमाणका भी विवेचन किया है ।

आचार्य अमितगति प्रथम

जैन साहित्यमे अमितगति नामके दो आचार्योंके उल्लेख मिलते हैं। एक माधवसेनके शिष्य और नेमिषेणके प्रशिष्य हैं। और जिन्होने सुभाषितरत्न-सन्दोह, धर्मपरीक्षा, उपासकाचार, सस्कृतपञ्चसग्रह आदि ग्रन्थ रचे हैं। दूसरे अमितगति वे हैं, जो नेमिषेणके गुरु तथा देवसेनसूरिके शिष्य हैं और जिनका गुणकीर्तन सुभाषितरत्नसन्दोहकी अन्तिम प्रशस्तिमे उसके रचयिता अमितगतिने स्वय किया है । इस तरह सुभाषितरत्नसन्दोहके कर्ता अमितगति द्वारा उल्लिखित एव नेमिषेणके गुरु तथा देवसेनके शिष्य अमितगति प्रथम-अमितगति हैं और इनका उल्लेख करनेवाले तथा दो पीढी पीछे होनेवाले माधवसेनके शिष्य और नेमिषेणके प्रशिष्य सुभाषितरत्नसन्दोहकार अमित-गति द्वितीय अमितगति हैं । इन अमितगतिने प्रथम अमितगतिको 'त्यक्तनि-शेषशङ्क' विशेषण देकर अपनेको उनसे पृथक् सिद्ध किया है । प्रथम अमित-गतिने[2] स्वय उक्त विशेषण अपने साथ लगाया है । आचार्य जुगलकिशोर

१ आलापपद्धति, भारतीय ज्ञानपीठ सस्करण, पु० १३३–१३४ ।

२ 'नि सङ्गात्मामितगतिरिदं प्राभृत योगसारम्' योगसारप्राभृत, सम्पादक पण्डित जुगलकिशोर मुख्तार, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, सन् १९६८ अधिकार ९, पद्य ८३ ।

मुख्तारका अभिमत है "यह कृति (योगसार प्राभृत) निश्चितरूपसे अमितगति प्रथमकी कृति है, जिसका प्रमाण अमितगतिके साथ 'निःसङ्गात्मा' विशेषणका प्रयोग है, जिसे ग्रन्थकारने स्वयं अपने लिये प्रयुक्त किया है। । यह विशेषण अमितगति द्वितीयके लिये कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ है, बल्कि स्वयं अमितगति द्वितीयने इस विशेषणको 'त्यक्त-निःशेषसङ्गः' रूपमें अमितगति प्रथमके लिये प्रयुक्त किया है। जैसा कि सुभाषितरत्नसन्दोहकी प्रशस्तिके निम्नपद्यसे जाना जाता है और जिससे उक्त निश्चय एवं निर्णयकी भरपूर पुष्टि होती है

आशीर्विध्वस्त-कन्तोर्विपुलशममृतः श्रीमतः कान्तकीर्तेः
सूरेर्यातस्य पारं श्रुतसलिलनिधेर्देवसेनस्य शिष्यः।
विज्ञाताशेषशास्त्रो व्रतसमितिभृतामग्रणीरस्तकोपः
श्रीमान्मान्यो मुनीनाममितगतियतिस्त्यक्तनिःशेषसङ्गः॥

इस पद्यमें अमितगति प्रथमके गुरु देवसेनका नामोल्लेख करते हुए उन्हें विध्वस्तकामदेव, विपुलशममृत, कान्तकीर्ति और श्रुतसमुद्रका पारगामी आचार्य लिखा है तथा उनके शिष्य अमितगति योगीको अशेषशास्त्रोंका ज्ञाता, महाव्रत-समितियोंके धारकोंमें अग्रणी, क्रोधरहित, मुनिमान्य और समस्त बाह्याभ्यन्तर परिग्रहका त्यागी सूचित किया है। पिछला विशेषण सर्वोपरि मुख्य जान पड़ता है। इसीसे अमितगतिने उसे निःसङ्गात्माके रूपमें अपने लिये प्रयुक्त किया है।"[1]

इस प्रकार द्वितीय अमितगतिसे अमितगति प्रथमका 'निःसङ्गात्मा' विशेषण द्वारा पार्थक्य सिद्ध है। इसके अतिरिक्त अमितगति द्वितीयने सुभाषितरत्नसन्दोह, धर्मपरीक्षा आदि ग्रन्थोंमें अमितगति प्रथमके महान् गुणोंकी स्तुति की है। अतः अमितगति प्रथम उनसे पूर्ववर्ती हैं।

स्थितिकाल

अमितगति द्वितीयने सुभाषितरत्नसन्दोहको वि० सं० १०५० में पौष शुक्ला पञ्चमीके दिन समाप्त किया है। इसके पश्चात् धर्मपरीक्षाको वि० सं० १०७० में और पञ्चसंग्रहको वि० सं० १०७३ में पूरा किया है। अतएव अमितगति द्वितीयका समय वि० सं० १०५० है। इनके द्वारा उल्लिखित अमितगति प्रथम इनसे दो पीढ़ी पूर्व होनेसे उनका समय वि० सं० १००० निश्चित होता है।

१. योगसारप्राभृत, प्रस्तावना, पृ० २०।

रचना

इनका एकमात्र योगसारप्राभृत नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जो प्रकाशित हो चुका है। यह ग्रन्थ ९ अधिकारोमे विभक्त है १ जीवाधिकार, २. अजीवाधिकार, ३ आस्रवाधिकार, ४ बन्धाधिकार, ५. संवराधिकार, ६ निर्जराधिकार, ७. मोक्षाधिकार और ८ चारित्राधिकार और नवम अधिकारको नवाधिकार या नवमाधिकारके नामसे उल्लिखित किया है। इस अधिकारकी संज्ञा चूलिकाधिकारके रूपमे की गयी है।

प्रथम अधिकारमे मङ्गलाचरणके अनन्तर स्वभावकी उपलब्धिके हेतु जीव और अजीवके लक्षणोंके जाननेकी प्रेरणा की है, क्योकि दो प्रकारके पदार्थोसे भिन्न संसारमे तीसरे प्रकारका कोई पदार्थ नही है। सभीका अन्तर्भाव इन दो पदार्थोमे हो जाता है। जीव-अजीवको वास्तविक रूपमे जान लेनेसे जीवकी अजीवमे अनुरक्ति तथा आसक्ति नही रहती है और आत्मलीनतासे राग-द्वेषका क्षय हो जाता है। अन्तर जीवके उपयोग लक्षण और उसके भेद-प्रभेदोका निर्देश करके केवलज्ञान और केवलदर्शन नामके दोनो उपयोगोका कर्मोके क्षयसे और शेष उपयोगोका कर्मोंके क्षयोपशमसे उदित होना बताया है। आत्माको ज्ञानप्रमाण, ज्ञानको ज्ञेयप्रमाण, सर्वगत और ज्ञेयको लोकालोक-प्रमाण बतलाकर ज्ञानको आत्मप्रदेशोके तुल्य सिद्ध किया है। ज्ञान ज्ञेयको जानता हुआ भी ज्ञेयरूप परिणत नही होता है। आचार्यने इस अधिकारमे केवलज्ञानको त्रिकालगोचर, सभी सत्-असत् विषयोका ज्ञाता, युगपदभासक सिद्ध किया है।

आत्मा सम्यक्चारित्रको कब प्राप्त करती है, इस कथनके पश्चात् निश्चय और व्यवहारचारित्रका स्वरूप बतलाया है। इस प्रकार प्रथम अधिकारमे आत्माके शुद्धस्वरूपका निरूपण किया गया है।

दूसरे अधिकारमे धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल इन पाँचो अजीव-द्रव्योका कथन किया है। ये पाँचो अजीवद्रव्य परस्पर मिलते-जुलते एकदूसरेको अपनेमे अवकाश देते हुए कभी भी अपने स्वभावको नही छोडते। इनमे पुद्गलको छोड़कर शेष सब अमूर्तिक और निष्क्रिय हैं। जीवसहित ये पाँचो द्रव्य कह-लाते हैं, क्योकि गुणपर्ययवद्द्रव्य इस लक्षणसे युक्त हैं। इसके पश्चात् द्रव्यको निर्युक्तिपरक लिखकर सभी द्रव्योको सत्तात्मक कहा है।

पश्चात् पुद्गलके स्कन्ध, देश, प्रदेश और अणुमे चार भेद बतलाये गये हैं। सभी द्रव्योंके मूर्त और अमूर्तके भेदसे दो भेद बतलाकर उनका स्वरूपांकन किया है। कर्मरूप परिणत होनेवाली कर्मवर्गणाओका भी प्रतिपादन किया

है। मिथ्यात्व आदि १३ गुणस्थान भी पौद्गलिक तथा अचेतन है। देह-चेतनको एक मानना मोहका परिणाम है। जो इन्द्रियगोचर है, वह सब आत्मवाह्य है। जीव कभी कर्मरूप और कर्म कभी जीवरूप नही होता है।

तृतीय अधिकारमे मन-वचन-कायकी शुभाशुभ प्रवृत्तियोका कर्मास्रवरूप वर्णन आया है। निश्चय और व्यवहारनयकी दृष्टिसे आत्मा और कर्मके कर्तृत्व और भोक्तृत्वपर प्रकाश डाला गया है। एकको उपादानरूपसे दूसरेका कर्त्ता मानने तथा एकके कर्मफलका दूसरेको भोक्ता माननेपर, जो आपत्ति प्रस्तुत होती है, उसे दर्शाया है। कषायस्रोतसे आया हुआ कर्म ही जीवमे स्थित होता है। तदनन्तर ग्राही जीव कर्मसतति हेतु इन्द्रियजन्य सुख, कर्मोंके आस्रवबन्धके कारण आदिका कथन किया है।

चतुर्थ अधिकारमे बन्धका लक्षण लिखकर उसे जीवकी पराधीनताका कारण बताया है। बन्धके प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन चारो भेदोका निर्देश करते हुए कौन जीव कर्म बांधता है कौन नही बांधता, इसका सोदाहरण स्पष्टीकरण किया है। इसी प्रकार रागी, वीतरागी, ज्ञानी और अज्ञानीके कर्मबन्धके होने न होनेका भी निर्देश किया है। ज्ञानी जानता है, अज्ञानी वेदता है। इसलिए एक अवन्धक और दूसरा बन्धक होता है। पर द्रव्यगत दोषसे कोई वीतरागी बन्धको प्राप्त नही करता।

पञ्चम अधिकारमे सवरका लक्षण बतलाकर द्रव्य-भावके भेदसे उसके दो भेद वतलाये हैं। कषायोके निरोधको भावसवर और कषायोका निरोध होनेपर द्रव्यकर्मोंके आस्रवविच्छेदको द्रव्यसवर वतलाया है। कषाय और द्रव्यकर्म दोनोके अभावसे पूर्ण शुद्धि प्राप्त होती है। इस प्रकार इस अधिकारमे सवरका विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।

षष्ठ अधिकारमे निर्जरातत्त्वका कथन आया है। निर्जराकी निर्युक्तिके पश्चात् उसके पाकजा और अपाकजा दो भेद बतलाये हैं। सवरके बिना निर्जरा अकार्यकारी हैं। ध्यान और तप द्वारा योगी कर्मोंकी निर्जरा करता है और कर्ममलको धो डालता है।

सप्तम अधिकारमे मोक्षतत्त्वका निरूपण किया गया है। आत्मा शुद्धात्माके ध्यान विना मोहादिदोषोका नाश नही कर पाता। ध्यानवज्रसे कर्मग्रन्थका छेदन सम्भव है। इसी अधिकारमे जीवके शुद्ध और अशुद्ध इन दो भेदोका कथन भी आया है। कर्मसे युक्त ससारी जीव अशुद्ध है और कर्मरहित मुक्त जीव शुद्ध है। शुद्ध जीवको 'अपुनर्भव' कहनेके हेतुका निर्देश किया है। साथ ही मुक्तिमें आत्मा किस रूपमे निवास करती है, यह भी वतलाया है। ध्यान-

विधिसे कर्मोंका उन्मूलन होता है, अतएव ध्यानकी महिमाका वर्णन किया गया है। ध्यानको वाह्यसामग्रीके साथ, ध्यानप्राप्तिके लिए बुद्धिका आगम, अनुमान और ध्यानाभ्यासरससे संशोधन आवश्यक बतलाया है। इस प्रकार इस अधिकारमे ध्यानकी विभिन्न स्थितियोका निरूपण आया है।

अष्टम अधिकारमे चारित्रका निरूपण है। इसमे श्रमण बननेकी योग्यता और आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए श्रमणोके २८ मूलगुणोके नाम दिये गये हैं, जिनका योगी निष्प्रमाद रूपसे पालन करता है। जो इनके पालन करनेमें प्रमाद करता है, उस योगीको छेदोपस्थापक कहा है। श्रमणोके दो भेद बतलाये हैं, सूरि और निर्यापक। इन दोनोका विवेचन किया गया है। इस अधिकारमे श्रमणोकी चर्याका कथन आया है।

नवम अधिकारमे मुक्तात्माकी सदानन्दरूप स्थितिका उल्लेख करते हुए चेतनस्वभावकी अविनश्वरतापर प्रकाश डाला गया है। योगीके योगका लक्षण बतलाकर योगसे उत्पन्न सुखकी विशिष्टता, सुख-दुःखका संक्षिप्त लक्षण और उस लक्षणकी दृष्टिसे पुण्यसे उत्पन्न होनेवाले भोगोको भी दुःखरूप निर्दिष्ट किया है। संसारके विषयभोगोकी निस्सारता तथा भोक्ताकी स्थितिका विवेचन किया है। भोग ससारसे सच्ची विरक्ति कब प्राप्त होती है और निर्वाणतत्त्वमे परमभक्ति किस प्रकार उपलब्ध होती है, इसे भी बतलाया है। इस प्रकार इस ग्रन्थमे आत्मोपलब्धिके साधन, विषयभोगोकी अस्थिरता और ध्यानकी महत्तापर प्रकाश डाला गया है।

योगसम्बन्धी ग्रन्थोमे इस योगसारप्राभृतका महत्त्वपूर्ण स्थान है। निःसन्देह योगके अध्ययन, मनन और चिन्तनके लिए यह नितान्त उपादेय है।

अमितगति द्वितीय

आचार्य अमितगति द्वितीय भी प्रथितयश सारस्वताचार्य है। ये माथुर सघके आचार्य थे। दर्शनसारके कर्ता देवसेनने अपने 'दर्शनसार' मे माथुर सघको जैनाभासोमे परिगणित किया है। इसे निःपिच्छिक भी कहा गया है, क्योकि इस संघके मुनि मयूरपिच्छि नही रखते थे। यह सघ काष्ठासघकी एक शाखा है। इस सघकी उत्पत्ति वीरसेनके शिष्य कुमारसेन द्वारा हुई है।

अमितगति द्वितीयने अपनी धर्मपरीक्षामे, जो प्रशस्ति अंकित की है, उससे इनकी गुरुपरम्परापर प्रकाश पड़ता है

वीरसेन, इनके शिष्य देवसेन, देवसेनके शिष्य अमितगति प्रथम, इनके

शिष्य नेमिषेण, नेमिषेणके शिष्य माधवसेन और माधवसेनके शिष्य अमितगति हुए। अमितगतिकी शिष्यपरम्पराका परिज्ञान अमरकीर्तिके 'छक्कम्मोवएस' से भी होता है। इस ग्रन्थके अनुसार अमितगति, शान्तिषेण, अमरसेन, श्रीसेन, चन्द्रकीर्ति और चन्द्रकीर्तिके शिष्य अमरकीर्ति हुए हैं। इनकी गुरु-शिष्य-परम्परा निम्न प्रकार ज्ञातव्य है

(अमितगति द्वितीयकी धर्मपरीक्षानुसार)

वीरसेन

|

देवसेन

|

योगसारप्राभृतकार **अमितगति** (प्रथम)

|

नेमिषेण

|

माधवसेन

|

धर्मपरीक्षादिकार **अमितगति** (द्वितीय)

|

(अमरकीर्तिके 'छक्कम्मोवएस' के अनुसार)

शान्तिषेण

|

अमरसेन

|

श्रीसेन

|

चन्द्रकीर्ति

|

'छक्कम्मोवएस' के कर्ता **अमरकीर्ति**
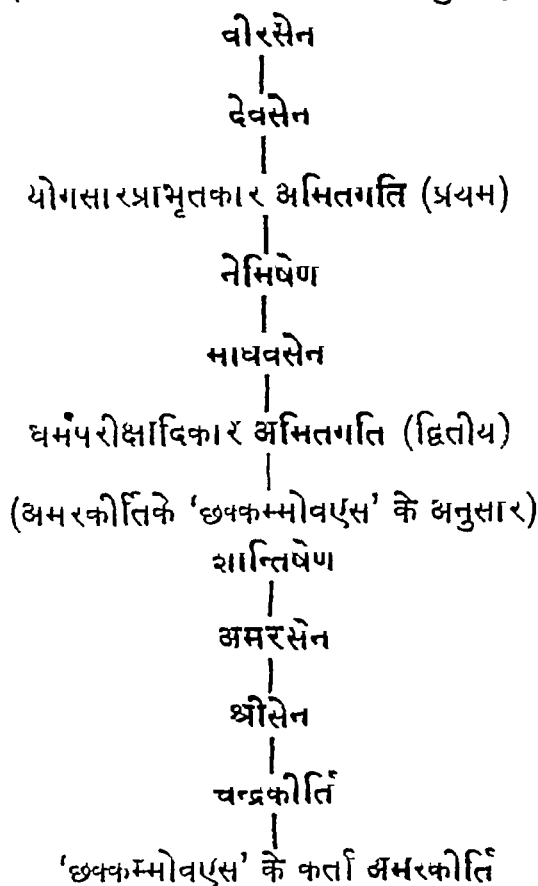
श्री पण्डित विश्वेश्वरनाथ[1] रेउने अमितगति द्वितीयको वाक्पतिराज मुञ्जकी सभाके एक रत्नके रूपमे स्वीकार किया है।

अमितगति बहुश्रुत थे। उन्होने विविध विषयोपर ग्रन्थोका निर्माण किया है। काव्य, न्याय, व्याकरण, आचारप्रभृति अनेक विषयोके विद्वान् थे। इन्होने पञ्चसंग्रहकी रचना मसूतिकापुरमे की थी। यह स्थान धारसे सात कोस दूर मसीदकिलौदा नामक गाँव बताया जाता है।

१ भारतके प्राचीन राजवंश, प्रथम भाग, प्रकाशक हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय वम्बई, सन् १९२०, पृ० १०१।

समय-विचार

श्री विश्वेश्वरनाथ रेउने लिखा है "अमितगतिने विक्रम स० १०५० (ई० सन् ९९३)मे राजा मुजके राज्यकालमे सुभाषितरत्नसदोहनामक ग्रन्थ बनाया और वि० स० १०७० (ई० १०१३)मे धर्मपरीक्षानामक ग्रन्थकी रचना की। इनके गुरुका नाम माधवसेन था[1]"।

'सुभाषितरत्नसदोह'की प्रशस्तिमे रचनाकालका निर्देश निम्न प्रकार है
"समारूढे पूतत्रिदशवसतिं विक्रमनृपे सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पचाशदधिके।
समाप्ते पचम्यामवति धरणी मुजनृपतौ सिते पक्षे पौषे बुधहितमिद शास्त्रमनघम्[2]॥

अर्थात् वि० सं० १०५० पौष शुक्ला पञ्चमीको मुज राजाके राज्यकालमे यह निर्दोष शास्त्र पूर्ण हुआ।

धर्मपरीक्षाका रचना-काल वि० स० १०७० और सस्कृतपञ्चसग्रहका वि० स० १०७३ है। पचसग्रहकी प्रशस्तिमे लिखा है

त्रिसप्तत्याधिकेऽब्दाना सहस्रे शकविद्विष.।
मसूतिकापुरे जातमिद शास्त्र मनोरमम्[3]॥

अर्थात् वि० स० १०७३ मे, जबकि मुजके राज्यपट्टपर भोज आसीन हुआ, यह ग्रन्थ लिखा गया। अतएव स्पष्ट है कि अमितगतिका समय वि० स०की ११वी शताब्दि है।

रचनाएँ

अमितगतिकी अनेक रचनाएँ मानी जाती हैं। पर जिन्हे निर्विवादरूपसे अमितगतिकी रचना माना गया है उनके नाम निम्नलिखित हैं

१ सुभाषितरत्नसदोह
२ धर्मपरीक्षा
३ उपासकाचार
४. पञ्चसग्रह
५. आराधना
६ भावनाद्वात्रिंशतिका

१ भारतके प्राचीन राजवश, प्रथम भाग, हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, सन् १९३०, पृ० १०६।
२ सुभाषितरत्नसदोह, पद्य ९२२।
३ पञ्चसग्रह, अन्तिम प्रशस्ति, पृ० २३९, पद्य ६।

७. चन्द्र-प्रज्ञप्ति

८. सार्द्धद्वयद्वीप-प्रज्ञप्ति

९. व्याख्या-प्रज्ञप्ति

१ सुभाषितरत्नसंदोह

सुभाषितरत्नसंदोह काव्यमे सुभाषितरूपी रत्नोका भण्डार निबद्ध है। इसमे ९२२ पद्य हैं। कविने सासारिक विषयनिराकरण, माया-अहङ्कार-निराकरण, इन्द्रिय-निग्रहोपदेश, स्त्री-गुण-दोष, कोप-लोभ-निराकरण, सदसद्स्वरूपनिरूपण, ज्ञाननिरूपण, चारित्रनिरूपण, जातिनिरूपण, जरा-निरूपण, मृत्यु-सामान्यनित्यता-देव-जठर-जीव-सम्बोधन-दुर्जन-सज्जन-दान-मद्यनिषेध-मासनिषेध-मधुनिषेध - कामनिषेध - वेश्यासग-द्यूत-आत्मस्वरूप गुरुस्वरूप-धर्म-शोक-शौच-श्रावकधर्म और द्वादशविध तपश्चरण इस प्रकार बत्तीस विषयोका प्रतिपादन किया है।

कविने अपने सुभाषितोका उद्देश्य बतलाते हुए लिखा है

जनयति मुदमन्तर्भव्यपाथोरुहाणा, हरति तिमिरराशिं या प्रभा मानवीव।
कृतनिखिलपदार्थद्योतना भारतीद्धा वितरतु धुतदोषा सोऽर्हति भारती व[1]॥

अर्थात् जिस प्रकार सूर्यकी किरणे अन्धकारका नाश कर समस्त पदार्थोको प्रकाशित करती हैं और कमलोको विकसित करती है, उसी प्रकार ये सुभाषित चेतन-अचेतनविषयक अज्ञानको दूर कर भक्तोके सहृदयोके चित्तको प्रसन्न करते हैं।

कविने उत्प्रेक्षाद्वारा वृद्धावस्थाका कितना सजीव और साङ्गोपाङ्ग चित्रण किया है। काव्य-कलाकी दृष्टिसे यह चित्रण रमणीय है-

प्रबलपवनापातध्वस्तप्रदीपशिखोपमै
रलमलनिचयै कामोद्भूतै सुखैर्विषसनिभै।
समपरिचितैर्दुःखप्राप्तै सतामतिनिन्दितै
रिति कृतमनाः शङ्के वृद्धः प्रकम्पयते करौ[2]॥

अर्थात् वृद्धावस्थामे जो हाथ काँपते हैं, वे यह प्रकट करते हैं कि युवावस्थामे जो कामजन्य सुख भोगे थे वे विषतुल्य हानिकारक सिद्ध हुए। आँधीके वेगसे शान्त की गयी दीपककी लौके समान क्षण-विध्वसी और अत्यन्त दुःख-

१. सुभाषितरत्नसदोह, पद्य १।
२. वही, पद्य २७०।

कारक इन विषयभोगोंकी सज्जनोने पहले निन्दा की थी, वह निन्दा, निन्दा नही है, यथार्थ है।

उक्त पद्यमे हाथोके काँपनेपर कवि द्वारा की गयी कल्पना सहृदयोको अपनी ओर आकृष्ट करती है। उक्ति-वैचित्र्य भी यहाँ निहित है।

मदिराकी उपमा देकर वृद्धावस्थाका जीवन्त चित्रण किया है। यह उपमा श्लेषमूलक है। विशेषण जरा और मदिरा दोनो पक्षोमे समानरूपसेघटित होते हैं। यथा

> चलयति तनु दृष्टेर्भ्रान्ति करोति शरीरिणा
> रचयति बलादव्यक्तोक्ति तनोति गतिक्षितिम्।
> जनयति जनेनुद्या निन्दामनर्थपरम्परा
> हरति सुरभिगन्ध देहाज्जरा मदिरा यथा[1]॥

जिस प्रकार मदिरा-पान शरीरको अस्त-व्यस्त कर देता है, आँखे घूमने लगती हैं, मुँहसे अस्फुट वचन निकलते है, चलनेमे बाधा होती है, लोगोमे निन्दाका पात्र बन जाता है एव शरीरसे दुर्गन्धि निकलती है उसी प्रकार वृद्धावस्था शरीरको कँपा देती है, नेत्रोकी ज्योति घट जाती है, दाँत टूट जानेसे मुँहसे अस्फुट ध्वनि निकलती है, चलनेमे कष्ट होता है, शरीरसे दुर्गन्धि निकलती और नाना प्रकारकी अवहेलना होनेसे निन्दा होती है। इस प्रकार कविने मदिरा-पानकी स्थितिसे वृद्धावस्थाकी तुलना की है।

इस सुभाषित काव्यमे नारीकी सर्वत्र प्रशसा की गयी है। कवि नारीको श्रेष्ठरत्नका रूपक देकर उसके गुणोका उद्घाटन करता हुआ कहता है

> यत्कामार्ति धुनीते सुखमुपचिनुते प्रीतिमाविष्करोति
> सत्पात्राहारदानप्रभववरवृषस्यास्तदोषस्य हेतु.।
> वशाभ्युद्धारकर्तुर्भवति तनुभुव कारण कान्तकीर्ति-
> स्तत्सर्वाभीष्टदात्री प्रवदत न कथ प्रार्थ्यते स्त्रीसुरत्नम्[2]॥

अर्थात् स्त्री वासना शान्त करती है, परम सुख देती है, अपना प्रेम प्रकट करती है, सत्पात्रको आहारदान देनेमे सहायता करती है, वशोद्धार करनेवाले पुत्रको जन्म देती है। नारी-श्रेष्ठ-रत्न समस्त मनोरथोको पूर्ण करनेमे समर्थ है। कवि कहता है कि स्वल्पज्ञानी बकुल और अशोक वृक्ष जब नारीका सम्मान करते हैं उसके सान्निध्यसे प्रसन्न हो जाते हैं, तब मनुष्यकी

१ सुभाषि०, पद्य २७१।
२ वही, पद्य १०९।

वात ही क्या। जो पुरुष नारीका परित्याग कर देता है, वह जड़ वृक्षोंसे भी हीन है, विवेक-शून्य है।

कारणमालालङ्कारकी योजना करते हुए ज्ञानका महत्त्व प्रदर्शित किया है

ज्ञानं विना नास्त्यहितान्निवृत्तिस्ततः प्रवृत्तिर्न हिते जनानाम्।
ततो न पूर्वार्जितकर्मनाशस्ततो न सौख्यं लभतेऽप्यभीष्टम्[1]॥

अर्थात् ज्ञानके विना मनुष्यकी अहितसे निवृत्ति नही होती है और अहितकी निवृत्ति न होनेसे हितकार्यमे प्रवृत्ति नही होती। हितकार्यमे प्रवृत्ति न होनेसे पूर्वोपार्जित कर्मोका नाश नही होता और पूर्वोपार्जित कर्मके नाश न होनेसे अभीष्ट मोक्ष-सुख नही मिलता। कषायका सद्भाव ही चरित्रका असद्भाव है। कषायकी जितने रूपमे कमी होने लगती है उतने ही रूपमे चरित्रका विकास होने लगता है। कविने ससार, कषाय और चरित्र इन तीनोकी व्याख्या वडे ही सुन्दर रूपमे की है।

शोकाभिभूत व्यक्तिकी अवस्थाका चित्रण करता हुआ कवि कहता है

वितनोति वच करुण विमना
विधुनोति करौ च रणौ च भृशाम्।
रमते न गृहे न वने न जने
पुरुष कुरुते न किमत्र शुचा॥[2]

शोकके कारण व्यक्ति निर्मनस्क हो जाता है, दीन वचन बोलता है, हाथ पैरोको पटकता है और घर-वाहर स्वजनो एव परिजनोके वीच कही भी शान्तिलाभ प्राप्त नही करता। शोकके कारण मनुष्यकी स्थिति वहुत विचित्र हो जाती है। कवि द्वारा अङ्कित चित्र वहुत ही सजीव है। अतएव ससारकी यथार्थ स्थितिका चित्रण करता हुआ कवि कहता है

स्वजनोऽन्यजन कुरुते न सुखं न धन न वृषो विषयो न भवेत्।
विमते. स्वहितस्य शुचा भविन स्तुतिमस्य न कोपि करोति वुव[3]॥

शोकसे विह्वलचित्त पुरुष स्वहितसे वचित रहता है। अत वह न तो स्वजनोसे सुख प्राप्त करता है और न परिजनोके सम्वन्धसे ही आनन्दित होता

१. सुभाषि०, पद्य १९८।
२ वही, पद्य ७१३।
३ वही, पद्य ७१६।

है, न धनसे ही किसी प्रकारकी शान्ति प्राप्त करता है और न किसी धर्म-ध्यानका आचरण कर पाता है और न इन्द्रियविषयका सेवन ही कर पाता है। कवि शोक-त्यागके लिए पुन जोर देता हुआ कहता है

> यदि रक्षणमन्यजनस्य भवेद्यदि कोऽपि करोति बुध स्तवन ।
> यदि किञ्चन सौख्यमय स्वतनयोर्यदि कञ्चन तस्य गुणो भवति ॥
> यदि वाऽऽगमन कुरुतेऽत्र मृत. सगुण भुवि शोचनमस्य तदा ।
> विगुण विमना बहु शोचति यो विगुणा स दशा लभते मनुज ॥[1]

यदि शोक करनेसे अन्य व्यक्तिकी रक्षा हो जाय या शोक करनेवाले व्यक्तिकी लोग प्रशसा करें अथवा शोक करनेसे शरीरको सुख प्राप्त हो या शोककरनेसे मृत प्राणि जीवित हो जायँ, तभी शोक करना उचित कहा जायगा। शोक करनेसे कोई भी गुण तो प्राप्त नही होता है बल्कि शोक करनेसे श्रेष्ठ गुणोका विनाश हो जाता है। अतएव शोक करना निरर्थक है।

इस ग्रन्थमे आध्यात्मिक आचारात्मक और नैतिक तथ्योकी अभिव्यजना सुभाषितो द्वारा की गयी है।

२ धर्मपरीक्षा

सस्कृत-साहित्यमे व्यग्यप्रधान यह अपने ढगकी अद्भुत रचना है। इसमे पौराणिक ऊटपटाग कथाओ और मान्यताओको बडे ही मनोरञ्जकरूपमे अविश्वसनीय सिद्ध किया है। तथ्योकी अभिव्यञ्जनाके लिए कथानकोका आश्रय लिया गया है। इस ग्रन्थमे निम्नलिखित मान्यताओकी समीक्षा कथाओ द्वारा की गयी है

१. सृष्टि-उत्पत्तिवाद
२. सृष्टि-प्रलयवाद
३. त्रिदेव-ब्रह्मा, विष्णु और महेश सम्बन्धी भ्रान्त धारणाएँ
४ अन्ध-विश्वास
५ अस्वाभाविक मान्यताएँ अग्निका वीर्यपान, तिलोत्तमाकी उत्पत्ति
६ जातिवाद सम्भ्रान्त जातिमे उत्पन्न होनेका अहङ्कार
७ ऋषियोंके सम्बन्धमे असम्भव और असगत मान्यताएँ
८ अमानवीय तत्त्व
९ अविश्वसनीय और अबुद्धिसगत पौराणिक उपाख्यान

१ सुभाषि०, पद्य ७१८, ७१९।

यद्यपि इस ग्रन्थका आधार हरिभद्रका धूर्ताख्यान है, पर कविने स्वेच्छया कथावस्तुमे परिवर्तन भी किया है। सस्कृतकाव्यमे उस कोटिके व्यग्यप्रधान काव्योका प्राय. अभाव है। इस ग्रन्थकी कथाओकी शैली आक्रमणात्मक नही है, सुझावात्मक है। व्यग्य और सकेतोके आधारपर असम्भव एव मनगढन्त वातोका निराकरण किया गया है।

३. उपासकाचार

यह अमितगति-श्रावकाचारके नामसे प्रसिद्ध है। उपलब्ध श्रावकाचारोमे यह वहुत विशद, सुगम और विस्तृत है। इसमे १३५२ पद्य और १५ अध्याय है। अन्तमे गुरुपरम्परा तो पायी जाती है, पर रचना-काल निर्दिष्ट नही है। मिथ्यात्व और सम्यक्त्वका अन्तर, सप्ततत्त्व, अष्टमूलगुण, द्वादशव्रत और उनके अतिचार, सामायिकादि षट् आवश्यक, दान, पूजा, उपवास एव १२ भावनाओका सुविस्तृत वर्णन आया है। अन्तिम अध्यायमे ध्यानका वर्णन ११४ पद्योमे किया गया है। ध्यान, ध्याता, ध्येय और ध्यान-फल इन चारोका विस्तृत वर्णन किया गया है।

४ आराधना

शिवार्यकृत प्राकृत आराधनाका यह सस्कृत रूपान्तर है। कविने इस रूपान्तरको चार महीनेमे पूर्ण किया है। इसमे दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चारो आराधनाओका प्राकृत आराधनाके समान ही वर्णन किया है। प्रसगवश जैनधर्मके प्राय समस्त प्रमेय इसमे समाविष्ट है। प्रशस्तिमे देवसेनसे लेकर अमितगति तककी गुरुपरम्परा भी दी गयी है।

५. भावना द्वात्रिशतिका

३२ पद्योका यह छोटा-सा प्रकरण है। ससारके पदार्थोसे पृथक् अनुभवकर आत्मशुद्धिकी भावना व्यक्त की गयी है। हृदयको पवित्र वनानेके लिए यह एक अच्छा काव्य है। इसके पढनेसे पवित्र और उच्च भावनाओका सञ्चार होता है। प्रारम्भमे ही प्राणी-मात्रके साथ मैत्रीकी भावना प्रकट करते हुए लिखा है—

सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोद क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ्यभाव विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव ॥[1]

कविने इसमे परपदार्थोसे भिन्न आत्मानुभूति करते हुए अपने द्वारा किये

१ द्वात्रिशतिका, प्रथम पद्य, यह ग्रन्थ माणिकचन्द्र ग्रन्थमालामे प्रकाशित है, साथ ही काशीसे प्रकाशित प्रथम गुच्छकमे भी सगृहीत है।

गये मिथ्याचरणकी निन्दा की है। प्रत्येक जीवात्मा प्रमाद और कषायके योगसे नाना प्रकारके कदाचारका सेवन करता है। इतस्तत भ्रमण करनेवाले एक-इन्द्रियादि जीवोकी विराधना करता है और द्वीन्द्रियादि त्रसजीवोको भी कष्ट पहुँचाता है। इसके लिए उसे अपनी निन्दा आदिके द्वारा प्रायश्चित्त करना चाहिए।

कविने आराध्य देवकी वडे ही सुन्दररूपमे स्तुति की है। यह आराध्य वीतरागी, हितोपदेशी और सर्वज्ञ ही हो सकता है। कवि उसकी स्तुति करता हुआ कहता है

य स्मर्यते सर्वमुनीन्द्रवृन्दैर्य स्तूयते सर्वनरामरेन्द्रै ।
यो गीयते वेदपुराणशास्त्रै स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥
यो दर्शनज्ञानसुखस्वभाव समस्तससारविकारबाह्य ।
समाधिगम्य परमात्मसज्ञ स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥
निषूदते यो भवदु खजाल निरीक्षते यो जगदन्तराल ।
योऽन्तर्गतो योगिनिरीक्षणीय स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥
विमुक्तिमार्गप्रतिपादको यो यो जन्ममृत्युव्यसनाद्यतीत ।
त्रिलोकलोकी विकलोऽकलङ्क स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥
क्रोडीकृताशेषशरीरिवर्गा रागादयो यस्य न सन्ति दोषा ।
निरिन्द्रियो ज्ञानमयोऽनपाय स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥
यो व्यापको विश्वजनीनवृत्ते सिद्धो विवुद्धो धुतकर्मबन्ध ।
ध्यातो धुनीते सकल विकार स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥[1]

यह छोटा-सा ग्रन्थ अत्यन्त सरस और हृदयको पावन करनेवाला है। परमात्माका स्वरूप इसमे निर्धारित किया गया है और उसी परमात्माकी स्तुति की गयी है।

६ पञ्चसग्रह (संस्कृत)

यह पञ्चसग्रह प्राकृतपञ्चसग्रहके समान पाँच प्रकरणोमे विभक्त है। जीवसमास, प्रकृतिस्तव, कर्मबन्धस्तव, शतक और सप्तति। प्रथमप्रकरणमे ३५३ पद्य, द्वितीयमे ४८, तृतीयमे १०६, चतुर्थमे ७७८ और पञ्चममे ९० पद्य हैं। कुल पद्योकी सख्या १३७५ है। प्राकृतपचसग्रहके समान सस्कृतपचसग्रहमे भी पद्योके साथ गद्य भी प्रयुक्त मिलता है। यह प्राकृतपचसग्रहका रूपान्तर होनेपर भी कई दृष्टियोसे विशिष्ट है। जहाँ प्राकृतमे दो गाथाओमे बात कही गयी है, वहाँ

१ द्वात्रिश०, पद्य १२-१७।

संस्कृतपंचसग्रहमें एक ही पद्यमे उसी तथ्यमे सन्निविष्ट कर दिया गया है और जहाँ एक पद्यमे तथ्य कहा गया है उसे दो या अधिक पद्योमे भी कहा गया है। अमितगतिकी यह रचना अत्यन्त सरल और मधुर है। कही-कही अन्य ग्रन्थोसे आधार ग्रहणकर नये पद्य भी लिखे गये हैं। अत. प्राकृतपचसग्रहकी अपेक्षा यह सस्कृत पचसग्रह किन्ही रूपोमे विशिष्ट है। प्राकृतपचसग्रहके प्रथम प्रकरणमे वेदमार्गणाके अन्तर्गत द्रव्यवेद और भाववेदकी अपेक्षासे जीवोकी सदृशता और विसदृशताका वर्णन करनेवाली दो गाथाएँ आयी हैं। इनके स्थानपर अमितगतिने सस्कृतपद्यसग्रहमे एक ही पद्य रचा है। यथा

प्राकृतपंचसग्रह

तिव्वेद एव सव्वे वि जीवा दिट्ठा हु दव्वभावादो।
ते चेव हु विवरीया सभवति जहाकमं सव्वे ॥१०३॥
इत्थी पुरसि णउसय वेया खलु दव्व-भावदो होति।
ते चेव य विवरीया हवति सव्वे जहाकमसो ॥१०४॥

संस्कृतपंचसंग्रह

स्त्रीपुन्नपुसका जीवा: सदृशा द्रव्य-भावत.।
जायन्ते विसदृक्षाश्च कर्मपाकनियन्त्रिता ॥१९२॥

प्राकृतपञ्चसग्रह

छद्दव्व-णवपयत्थे दव्वाइचउव्विहेण जाणते।
वदित्ता अरहते जीवरस परूवण वोच्छ ॥ १ ॥

संस्कृतपञ्चसंग्रह

ये षट् द्रव्याणि बुध्यते द्रव्यक्षेत्रादिभेदत ।
जिनेशास्तास्त्रिधा नत्वा करिष्ये जीवरूपणम् ॥ ३ ॥

प्राकृतपंचसंग्रह

गुण जीवा पज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य।
उवओगो वि य कमसो वीसं तु परूवणा भणिया ॥ २ ॥

सस्कृतपंचसंग्रह

विज्ञातव्या गुणा जीवा: प्राणपर्याप्तिमार्गणा.।
उपयोगा बुधै सज्ञा विंशतिर्जीवरूपणा ॥ ११ ॥

प्राकृतपंचसंग्रह

जेहिं दु लक्खिज्जते उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं।
जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरिसीहिं ॥ ३ ॥

जीवा यैरवबुध्यन्ते भावैरौदयिकादिभि ।
गुणागुणस्वरूपज्ञैरत्र ते गदिता गुणा ॥ १२ ॥

अमितगतिके पञ्चसंग्रहका वैशिष्टच

प्राकृतपंचसग्रहकी अपेक्षा संस्कृतपञ्चसंग्रहमे कई विशेषताएँ हैं। इन विशेषताओको हम निम्नलिखित वर्गोंमे विभक्त कर सकते हैं

१. सक्षेपीकरण,

२ पल्लवन,

३. विषयोका प्रकारान्तरसे सयोजन।

उपर्युक्त विशेषताओके स्पष्टीकरणके लिए प्राकृतपचसग्रहके साथ तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है।

जीवसमास नामक प्रथम प्रकरणमे चौदह गुणस्थानो और सिद्धोका कथन करनेके वाद किस गुणस्थानमे कौन भाव होता है, इसका विवेचव किया है। अनन्तर चौदह गुणस्थानोमे रहनेवाले जीवोकी सख्याका निरूपण आया है। यह कथन गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ११–१४ तथा ६२२–६३२मे किया गया है। सस्कृत पचसग्रहमे इससे भी कुछ विशेष कथन आया है। अमितगतिने जीवट्ठाणके द्रव्यप्रमाणानुगमकी धवलाटीकासे उक्त विषय ग्रहण किया गया है। इसी प्रकार योगनिरूपणके अन्तमे पद्य १८१–१८५ तक विग्रहगति आदिमे शरीरोका कथन आया है। यह कथन प्राकृतपञ्चसग्रहकी अपेक्षा विशिष्ट है। इसी तरह वेदमार्गणाके कथनके अन्तमे पद्य १९३–२०२मे वेदवैषम्यके नवभगोका विवेचन तथा स्त्रीवेद आदिके चिह्नोका कथन भी प्राकृतपचसग्रहकी अपेक्षा विशिष्ट है। ज्ञानमार्गणाके निरूपणमे भी कई विशेषताएँ आयी हैं। इन सन्दर्भोंमे प्राकृतपंचसग्रहका आधार न ग्रहणकर तत्त्वार्थवार्तिकका आधार ग्रहण किया गया है। मतिज्ञानके २८८, ३३६ और ३८४ भेद आये हैं तथा श्रुतपूर्वक श्रुतका भी समर्थन किया गया है। अवधिज्ञानके लक्षणो और चिह्नोका कथन तत्त्वार्थवार्तिकके अनुसार आया है।

प्राकृतपचसग्रहमे लेश्याका कथन प्रथम प्रकरणमे दो स्थलोपर आया है, पर सस्कृतपञ्चसग्रहमे अमितगतिने इसे एक ही स्थानपर निवद्ध कर दिया है।

रूपान्तरोमे भी मौलिकताका कई जगह समावेश किया है। यहाँ एक उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है

भव्वो पर्चिदिओ सण्णी जीवो पज्जत्तओ तहा।
काललद्धाइ-सजुत्तो सम्मत्त पडिवज्जए ॥१।१५८॥

अमितगतिने इसका रूपान्तर निम्न प्रकार किया है -

पूर्णपचेन्द्रिय सज्ञी लब्धकालादिलब्धिक' ।
सम्यक्त्वग्रहणे योग्यो भव्यो भवति शुद्धधी' ॥ २८६ ॥

अर्थात् सज्ञी पचेन्द्रिय जीव कालादिलब्धिकी प्राप्ति होनेपर सम्यक्त्व ग्रहण करने योग्य होता है। अमितगतिने यहाँ लब्धियोका वर्णन भी विस्तारपूर्वक किया है और तत्त्वार्थवार्तिकके नवम अध्यायके प्रथम सूत्रसे वहुत-सा गद्याश ज्यो-का-त्यो ले लिया है। सम्यक्त्वके भेद-प्रभेदोका विवेचन भी विस्तारपूर्वक किया गया है, जो प्राकृतपचसग्रहमे प्राप्त नही है। इसी सन्दर्भमे मिथ्यात्वका कथन करते हुए ३६३ मतोकी उत्पत्ति दी गयी है, जो कर्मकाण्डके अनुरूप है। प्रथम अध्यायके अतिरिक्त अन्य अध्यायोके कथनमे भी यत्र-तत्र वैशिष्ट्य दृष्टि-गोचर होता है। चतुर्थ अध्यायमे ९वे गुणस्थानमे होनेवाले प्रत्ययोका कथन प्राकृतपचसग्रहमे आया है। यथा

सजलण-तिवेदाण णवजोगाण च होइ एयदरं ।
सढणदुवेदाण एयदर पुरिसवेदो य १।४।२०१ ॥
- ज्ञानपीठ सस्करण

अर्थात् नवे गुणस्थानके सवेद भागमे चार सज्वलन कषायमेसे एक, तीन वेदोमेसे एक और नौ वेदोमेसे एक होता है। नपु सकवेदकी उदयव्युच्छित्ति हो जानेपर दो वेदोमे से एक वेदका उदय होता है और स्त्रीवेदकी उदय-च्छित्ति हो जानेपर एक पुरुषवेदका उदय होता है। अत ४ × ३ × ९ = १०८, ४ × २ × ९ = ७२ और ४ × १ × ९ = ३६ भग होते है और कुल भग १०८ + ७२ + ३६ = २१६ ये भग सवेद भागके हुए। अवेदभागमे भगोका क्रम निम्नप्रकार है

चदुसजलणणवण्हं जोगाण होइ एयदर दो ते ।
कोहूणमाणवज्ज मायारहियाण एगदरग वा ॥४।२०२॥
ज्ञानपीठ सस्करण

अर्थात् अवेदभागमे चार स्वजलन कषायोमेसे एकका, तथा नौ योगोमेसे एकका उदय होता है। क्रोधकी उदयव्युच्छित्ति हो जानेपर तीन कषायोमेसे एकका उदय होता है। मानकी व्युच्छित्ति हो जानेपर दो कषायोमेसे एकका उदय और मायाकी व्युच्छित्ति हो जानेपर केवल लोभ कषायका उदय होता है। नौ योगोमेसे एक योगका उदय सर्वत्र रहता है। अतएव ४ × १ × ९ = ३६, ३ × १ × ९ = २७, २ × १ × ५ = १८ और १ × १ × ९ = ९ इस प्रकार

अवेदभागके कुल भंग ३६ + २७ + १८ + ९ = ९० । सवेद और अवेद भागके कुल भंग २१६ + ९० = ३०६ ।

अमितगतिने संस्कृतपञ्चसग्रहमे नवे गुणस्थानके अवेद भागमे चार कषाय और ९ योगोमेसे एक-एकके उदयकी अपेक्षा ४×९ = ३६ भग बताये हैं

जघन्यौ प्रत्ययौ ज्ञेयौ द्वाववेदानिवृत्तिके ।
सज्वालेषु चतुर्ष्वेको योगाना नवेक पर ।४।६६॥

१×१ भग = ४।९ अन्योन्याभ्यस्त करनेपर ४×३×९ = १०८ सवेद भाग । यहाँ ४ कषाय, ३ वेद और ९ योगोमेसे एक-एक योगका उदय होता है । अवेद भागमे

कषायवेदयोगानामेकैकग्रहणे सति ।
अनिवृत्ते सवेदस्य प्रकृष्टा प्रत्ययास्त्रय ॥४।६७॥

४।३।९ अन्योन्याभ्यस्त करनेपर १०८ होते हैं ।

इस प्रकार अनिवृत्तिकरण गुणस्थानके सवेदमाग और अवेदभागमे १४४ भग योगकी अपेक्षा मोहनीयके उदयस्थान बतलाये गये हैं । प्राकृतपंचसग्रहमे भी इतने ही भग लिये हैं । गोम्मटसार कर्मकाण्डमे भी १४४ ही भगसख्या आयी है । यही कारण है कि अमितगतिने सर्वसम्मत १४४ भेदोको ही मान्यता दी है, शेष भगोका उल्लेख नही किया ।

पञ्चम अध्यायमे भी कई विशेषताएँ पायी जाती हैं । प्राकृतपचसग्रहमे मनुष्यगतिमे नामकर्मके २६०९ भग बतलाये हैं, पर सस्कृत पञ्चसग्रहमे २६६८ भग आये हैं । यहाँ २६०९ भगोमे सयोगकेवलीके ५९ भग और जोड़े गये हैं । इसप्रकारके जोडनेकी प्रक्रिया प्राकृतपंचसग्रहमे नही मिलती है ।

प्राकृतपचसग्रह और सस्कृतपञ्चसग्रहमे योगकी अपेक्षा गुणस्थानोमे मोहनीयकर्मके उदयस्थानोके भग १३२०९ बतलाये हैं और कर्म-काण्डमे छठे १२९५३ भग आये हैं । इस अन्तरका कारण यह है कि कर्मकाण्डमे छठे गुण-स्थानमे आहारकका उदय स्त्रीवेद और नपुसकवेदके उदयमे नही माना गया है । अत छठे गुणस्थानमे पञ्चसग्रहकी अपेक्षा २११२ भग होते हैं और कर्मकाण्ड-की अपेक्षा १८५६ भग होते हैं । इस प्रकार २५६ भगका अन्तर पडता है । यहाँ यह स्मरणीय है कि अमितगतिने प्रथम अध्यायके ३४३वें पद्य द्वारा इसबातको स्वीकार किया है कि आहारकऋद्धि, परिहार विशुद्धि, तीर्थंकरप्रकृतिका उदय और मन पर्ययज्ञान ये स्त्रीवेद और नपुसकवेदके उदयमे नही होते ।

प्रथम प्रकरण जीवसमास है। इसमे गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, सज्ञा, चौदह मार्गणा और उपयोग इन २० प्ररूपणाओ द्वारा जीवोकी विविध दशाओका वर्णन किया गया है।

मोह और योगके निमित्तसे होनेवाले जीवोके परिणामोके तारतम्यरूप क्रम-विकसित स्थानो भावोको गुणस्थान कहा है। गुणस्थान १४ हैं मिथ्यात्व, सासादन, सम्यग्मिथ्यात्व, अविरतसम्यक्त्व, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्त-विरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली। प्रथम प्रकरणके प्रारम्भमे ही इन गुणस्थानो-का स्वरूप विवेचन किया गया है।

दूसरी प्ररूपणा जीवसमास है। जिन धर्मविशेषोके द्वारा नाना जीव और नाना प्रकारकी उनकी जातियाँ जानी जाती हैं, उन धर्मविशेषोको जीवसमास कहते है। जीवसमासके सक्षेपकी अपेक्षा १४ भेद हैं और विस्तारकी अपेक्षा २१, ३०, ३२, ३६, ३८, ४८, ५४ और ५७ भेद हैं। प्रथम प्रकरणमे इन समस्त भेदोका विस्तारपूर्वक विवेचन आया है।

तीसरी पर्याप्तिप्ररूपणा है। प्राणोके कारणभूत शक्तिकी प्राप्तिको पर्याप्ति कहते हैं। पर्याप्तियाँ छह हैं आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, श्वा-सोच्छ्वासपर्याप्ति, भाषापर्याप्ति और मन पर्याप्ति। एकेन्द्रियजीवके प्रारम्भकी चार पर्याप्तियाँ, द्वीइन्द्रियसे लेकर असज्ञी पञ्चेन्द्रियपर्यन्त पाँच पर्याप्तियाँ और संज्ञी पचेन्द्रिय जीवकी छह पर्याप्तियाँ होती हैं।

चौथी प्राणप्ररूपणा है। पर्याप्तियोके कार्यरूप, इन्द्रियादिकके उत्पन्न होनेको प्राण कहते हैं। प्राणोके दश भेद हैं पाँच इन्द्रियाँ, मनोवल, वचनवल, कायवल, आयु और श्वासोच्छ्वास। एकेन्द्रिय जीवके स्पर्शन इन्द्रिय, कायवल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण होते हैं। द्वीन्द्रियजीवके रसनेन्द्रिय और वचनवल इन दो प्राणोके अधिक होनेसे छह प्राण होते हैं। त्रीन्द्रियजीवके घ्राणेन्द्रिय बढनेसे सात प्राण, चतुरिन्द्रियजीवके चक्षु इन्द्रिय बढनेसे आठ प्राण, असज्ञी पचेन्द्रियजीवके कर्णेन्द्रिय बढनेसे ९ प्राण और सज्ञी पचेन्द्रियजीवके मनोवल बढनेसे दश प्राण होते हैं।

पाँचवी सज्ञाप्ररूपणा है। आहारादिकी वाञ्छाको सज्ञा कहते हैं। सज्ञा-के चार भेद हैं आहारसज्ञा, भयसज्ञा, मैथुनसज्ञा और परिग्रहसज्ञा। चारो सज्ञाएँ सभी ससारी जीवोमे पायी जाती हैं।

जिन अवस्थाविशेषोमे जीवोंका अन्वेषण किया जाता है, उन्हे मार्गणा कहते है। मार्गणाओके चौदह भेद हैं गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, सयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, सज्ञी और आहारमार्गणा। प्रथम प्रकरणमे इन १४ मार्गणाओका विस्तारके साथ वर्णन किया गया है।

२०वी उपयोगप्ररूपणा है। वस्तुके स्वरूपको जाननेके लिए जीवका जो भाव प्रवृत्त होता है, उसे उपयोग कहते हैं। उपयोग दो प्रकारका होता है साकारोपयोग और निराकारोपयोग। निराकारोपयोगके चार भेद हैं।

इस प्रकार प्रथम जीवसमासप्रकरणमे २० प्ररूपणाओ द्वारा जीवोकी विविध दशाओका विस्तारके साथ वर्णन किया है।

दूसरा प्रकरण प्रकृतिसमुत्कीर्तन नामका है। इसमे कर्मोकी मूलप्रकृतियो और उत्तरप्रकृतियोका वर्णन किया गया है। मूलप्रकृतियाँ आठ है ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। इनकी उत्तर प्रकृतियाँ क्रमश पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, तिरानवे, दो और पाँच है। सब उत्तरप्रकृतियाँ १४८ होती हैं। इनमेसे बन्धयोग्य १२० प्रकृतियाँ, उदय-योग्य १२२ प्रकृतियाँ, उद्वेलन ११ प्रकृतियाँ, ध्रुवबन्धी ४७, अध्रुवबन्धी ११, वर्तमान प्रकृतियाँ ६२ एव सत्त्वयोग्य १४८ प्रकृतियाँ है। पञ्चसग्रहके पाँचो प्रकरणोमे यह सबसे छोटा प्रकरण है।

कर्मस्तव नामका तीसरा प्रकरण है। इसके अन्य नामान्तर बन्धस्तव और कही कर्मबन्धस्तव भी है। इस प्रकरणमे १४ गुणस्थानोमे बधनेवाली, नही बधने वाली और बन्धव्युच्छित्तिको प्राप्त होनेवाली प्रकृतियोका तथा सत्वयोग्य, असत्वयोग्य और सत्वसे व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियोका विवेचन किया गया है। अन्तमे चूलिकाके अन्तर्गत नौ प्रश्नोको उठाकर उनका समाधान करते हुए बतलाया गया है कि किन प्रकृतियोकी बन्धव्युच्छित्ति, उदयव्युच्छित्ति और सत्वव्युच्छित्ति पहिले, पीछे या साथमे होती है। इस नौ प्रश्नरूप चूलिकामे कर्मप्रकृतियोके बन्ध, उदय और सत्वव्युच्छित्ति सम्बन्धी कितनी ही ज्ञातव्य बातें बतलाई गयी हैं।

चौथे प्रकरणका नाम शतक है। इस प्रकरणमे १४ मार्गणाओके आधारसे जीवसमास, गुणस्थान, उपयोग और योगका वर्णन करनेके अनन्तर कर्मबन्धके कारणभूत मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग बन्धप्रत्ययोका विस्तार-से वर्णन किया है। साथ ही मिथ्यात्व आदि गुणस्थानोमे जघन्य और उत्कृष्ट प्रत्ययोकी अपेक्षा सम्भव सयोगी भगोका विस्तृत विवेचन किया है। तत्पश्चात् ज्ञानावरणादि आठ कर्मोके विशेष बन्धप्रत्ययोका वर्णन किया गया है।

पञ्चम प्रकरणका नाम सप्तति या सप्ततिका है। इसे सित्तरी भी कहते हैं। इस प्रकरणमे मूल कर्मो और उनके अवान्तर भेदोके बन्धस्थान, उदय-स्थान और सत्वस्थानोका स्वतन्त्र रूपसे एव चौदह जीवसमास और गुण-स्थानोके आश्रयसे भंगोका विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। अन्तमे कर्मोंकी उपशमना और क्षपणाका विवेचन आया है। शतक और सप्ततिका इन दोनो ही प्रकरणोमे भगोका विवेचन करनेवाले पद्य प्राकृतपचसग्रहके तुल्य ही हैं। कर्मसिद्धान्तको अवगत करनेके लिये यह एक अच्छा साधनग्रन्थ है।

उपर्युक्त ग्रन्थोके अतिरिक्त लघु एवं वृहत् सामायिक पाठ, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सार्द्धद्वयद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति ग्रन्थ भी इनके द्वारा रचे गये माने जाते हैं। सामायिकपाठमे १२० पद्य हैं। इसमे सामायिकका स्वरूप, विधि और महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। शेष चार ग्रन्थ अभी तक उप-लब्ध नही हैं।

अमृतचन्द्रसूरि

सारस्वताचार्योमे टीकाकार अमृतचन्द्रसूरिका वही स्थान है, जो स्थान संस्कृतकाव्यरचयिताओमे कालिदासके टीकाकार मल्लिनाथका है। कहा जाता है कि यदि मल्लिनाथ न होते, तो कालिदासके ग्रन्थोंके रहस्यको समझना कठिन हो जाता। उसी तरह यदि अमृतचन्द्रसूरि न होते, तो आचार्य कुन्दकुन्दके रहस्यको समझना कठिन हो जाता। अतएव कुन्दकुन्द आचार्यके व्याख्याताके रूपमे और मौलिक ग्रन्थरचयिताके रूपमे अमृतचन्द्रसूरिका महत्त्वपूर्ण स्थान है। निश्चयत इन आचार्यकी विद्वत्ता, वाग्मिता और प्राञ्जल शैली अप्रतिम है। इनका परिचय किसी भी कृतिमे प्राप्त नही होता है, पर कुछ ऐसे सकेत अवश्य मिलते हैं, जिनसे इनके व्यक्तित्वका निश्चय किया जा सकता है।

अध्यात्मिक विद्वानोमे कुन्दकुन्दके पश्चात् यदि आदरपूर्वक किसीका नाम लिया जा सकता है, तो वे अमृतचन्द्रसूरि ही हैं। इन्होने टीकाओके अन्तमे जो सक्षिप्त परिचय दिया है उससे अवगत होता है कि ये बडे निस्पृह आध्या-त्मिक आचार्य थे। 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' के अन्तमे लिखा है

वर्णै कृतानि चित्रै. पदानि तु पदै कृतानि वाक्यानि।
वाक्यै. कृत पवित्रं शास्त्रमिद न पुनरस्माभि ॥ २२६ ॥

अर्थात् नाना प्रकारके वर्णोसे पद बन गये, पदोसे वाक्य बन गये और वाक्योसे यह पवित्र शास्त्र बन गया। इसमे मेरा कर्तृत्व कुछ भी नही है।

इसमे अमृतचन्द्रसूरिकी कितनी निस्पृहता और आध्यात्मिकता टपक रही है। अत' वे अपनेको आत्मभावोका ही कर्त्ता मानते हैं, परवस्तुका नही। इससे उनकी आध्यात्मिकता तो सिद्ध होती ही है, साथ ही वे आचार्य या मुनिपदसे विभूषित भी व्यक्त होते हैं।

जीवन-परिचय

पडित आशाधरने अमृतचन्द्रसूरिका उल्लेख ठक्कुरपदके साथ किया है

'एतच्च विस्तरेण ठक्कुरामृतचन्द्रसूरिविरचितसमयसारटीकाया दृष्टव्यम्।' अनगारधर्मामृतटीका, पृ० ५८८।

यहाँ 'ठक्कुर' शब्द विचारणीय है। ठक्कुरका प्रयोग जागीरदार या जमीदारोके लिए होता है। हरिभद्रसूरिने अपनी 'समराइच्चकहा' मे ठक्कुर पदका प्रयोग किया है। यह पद क्षत्रिय और ब्राह्मण इन दोनोके लिए समान रूपमे प्रयुक्त होता है। अत. यह नही कहा जा सकता कि अमृतचन्द्रसूरि क्षत्रिय थे या ब्राह्मण। इतना निश्चित है कि वे किसी सम्मानित कुलके व्यक्ति थे।

संस्कृत और प्राकृत इन दोनो ही भाषाओपर इनका पूर्ण अधिकार था। ये मूलसघके आचार्य थे।

समय-विचार

पण्डित आशाधरजीने अमृतचन्द्रसूरिका उल्लेख किया है और आशाधरजीका समय वि० सं० १३०० है। अत' अमृतचन्द्रसूरिका समय वि० स० १३०० के पहले होना चाहिये। अमृतचन्द्रसूरिने प्रवचनसारकी टीकामे चार गाथाये उद्धृत की है। "णिद्धा णिद्धेण" और "णिद्धस्स णिद्धेण" ये दो गाथाएँ क्रमसे एक साथ उद्धृत की हैं और 'जावदिया वयणवहा' तथा 'परसमयाण वयण' आदि दो गाथाएँ 'तदुक्तम्' कहकर क्रमसे एक साथ टीकाके अन्त (पृ० ३७२) मे उद्धृत हैं। पहलेको दोनो गाथाएँ गोम्मटसार जीवकाण्डकी क्रमश ६१२ तथा ६१४ सख्यक हैं और दूसरी दोनो गाथाएँ गोम्मटसार कर्मकाण्डकी ८९४ और ८९५ सख्यक हैं। इन गाथाओके सम्बन्धमे डॉ० उपाध्येने लिखा है कि चूँकि गोम्मटसार कर्मकाण्डमे वे दोनो गाथाएँ उसी क्रमसे पायी जाती हैं और उनमे शाब्दिक समानता भी है। अतएव यह अनुमान लगाना असगत नही है कि अमृतचन्द्रने इन गाथाओको गोम्मटसार कर्मकाण्डसे लिया है। बहुत सम्भव है कि ये दोनो गाथाएँ 'धवला' और 'जयधवला' टीकामे भी मिल जाएँ। इन दोनोमेसे 'जावदिया वयणवहा' गाथा सन्मतितर्क (३।४७) मे भी पायी जाती है। डॉ० उपाध्येने लिखा है कि अमृतचन्द्र सिद्धसेनके सन्मतितर्कसे परिचित

अवश्य थे, पर उन्होने उक्त गाथा वहाँसे उद्धृत नही की है। इसके प्रमुख दो कारण है। पहली बात तो यह है कि सिद्धसेनकी गाथाका रूप महाराष्ट्री है जबकि अमृतचन्द्रके द्वारा उद्धृत गाथाएँ शौरसेनीमे हैं। दूसरी बात यह है कि अमृतचन्द्रने दोनो गाथाओको एक साथ उद्धृत किया है जबकि सिद्धसेनके ग्रथ-मे उनमेसे एक ही पायी जाती है। अत डॉ० उपाध्येने अमृतचन्द्रका समय गोम्मटसार जीवकाण्ड व कर्मकाण्डके कर्त्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके बाद अर्थात् ई० सन् की दशवी शताब्दीके लगभग माना है।

डॉ० उपाध्येके अभिमतकी समीक्षा पण्डित परमानन्दजीने की है। उनका कथन है कि वि० सं० १०५५ मे बने हुए धर्मरत्नाकर ग्रन्यमे आचार्य अमृत-चन्द्रके कुछ पद्य उद्धृत हैं, तो अमृतचन्द्र वि० की ११ वी शतीके पूर्वार्द्धमे रचे गये गोम्मटसारसे कैसे पद्य उद्धृत कर सकते हैं? प्रवचनसारकी प्रस्तावना लिखते समय डॉ० उपाध्येके सामने धर्मरत्नाकरवाली बात नही थी। तया अमृतचन्द्रके द्वारा प्रवचनसारकी टीकामे उद्धृत चारो गाथाओमेसे प्रथम दो गाथाएँ 'षट्खण्डागम'की धवलाटीकासे उद्धृत की गयी हैं, किन्तु दूसरी दो गाथाओमेसे प्रथम गाथा सिद्धसेनके सन्मतितर्कमे भी है, पर उसके साथवाली दूसरी गाथा गोम्मटसार कर्मकाण्डके अतिरिक्त अन्यत्र नही मिलती। अत धर्म-रत्नाकरमे अमृतचन्द्रके पद्योको उद्धृत देखकर यह माननेके लिए वाध्य होना पडता है कि गोम्मटसारमे वह गाथा किसी अन्य स्रोतसे ग्रहण की गयी है। अथवा यह भी सम्भव है कि गोम्मटसारमे ही दोनो उक्त गाथाएँ अमृतचन्द्रके प्रवचनसारकी टीकासे ली गयी हो, क्योकि गोम्मटसार एक सग्रहग्रन्थ है। यदि गोम्मटसारकी रचना अमृतचन्द्रके पश्चात् हुई है, तो निश्चयत' ये दोनो गाथाएँ प्रवचनसारकी टीकासे ली गयी हैं। अत अमृतचन्द्रका समय आचार्य नेमिचन्द्रके पहले है। श्री पण्डित नाथूरामजी प्रेमीने अमृतचन्द्रके सम्बन्धमे जो नया प्रकाश प्राप्त किया है उसके आधारपर उन्होने बताया है कि माधवचन्द्र-के शिष्य अमृतचन्द्र विहार करते हुए बाँमणबाडेमे आये। कविने रल्हणके पुत्र सिह या सिद्ध नामक कविको 'पज्जुण्णचरिउ' बनानेकी प्रेरणा की। उस समय वहाँका राजा गुहिलवशी भुल्लण था, जो मालवनरेश वल्लालका माण्डलिक था, जिसका राज्यकाल वि० स० १२०० के आस-पास है। यदि इस उल्लेखके आधारपर मलहधारि माधवचन्द्रके शिष्य अमृतचन्द्रको इन अमृतचन्द्रसे अभिन्न मान लिया जाये, तो अमृतचन्द्रका समय ११ वी शताब्दीका उत्तरार्ध या १२ वी शताब्दीका पूर्वार्द्ध सिद्ध होता है।

आचार्य शुभचन्द्रने अपने ज्ञानार्णवमे अमृतचन्द्रके पुरुषार्थसिद्धयुपायका

'मिथ्यात्ववेदरागा' आदि पद्य 'उक्तञ्च' रूपसे उद्धृत किया है। अतएव अमृतचन्द्र, शुभचन्द्रसे भी पूर्ववर्ती हैं और पद्मप्रभ मलधारिदेवने शुभचन्द्रके ज्ञानार्णवका एक श्लोक उद्धृत किया है। अतएव शुभचन्द्र पद्मप्रभसे पूर्ववर्ती हैं। पद्मप्रभका समय वि० की १२ वी शतीका अन्त माना जाता है। अत अमृतचन्द्रका समय इसके पहले होना चाहिये। हमारा अनुमान है कि इनका समय ई० सन्‌की १०वी शताब्दीका अन्तिम भाग है। पट्टावलीमे अमृतचन्द्रके पट्टारोहणका समय वि० स० ९६२ दिया है, जो ठीक प्रतीत होता है। पुरुषार्थ-सिद्धयुपायमे जयसेनके धर्मरत्नाकरके कई पद्य पाये जाते है और धर्मरत्नाकरका रचनाकाल वि० स० १०५५ है, अतएव अमृतचन्द्रकी यह उत्तरसीमा समय है।

रचनाएँ

अमृतचन्द्रसूरिकी निम्नलिखित रचनाएँ मानी जाती है। इनकी रचनाओ-को दो कोटिमे रखा जा सकता है मौलिक और टीकाग्रन्थ।

मौलिक रचनाएँ १ पुरुषार्थसिद्धयुपाय, २ तत्त्वार्थसार, ३ समयसारकलश।
टीकाग्रन्थ ४ समयसारटीका, ५ प्रवचनसारटीका, ६ पचास्तिकायटीका।

१. पुरुषार्थसिद्धयुपाय यह श्रावकाचार सम्बन्धी ग्रन्थ है। इसमे २२६ पद्य हैं। आर्यावृत्तमे लिखा गया है। प्रारम्भके आठ पद्योमे ग्रन्थकी उत्थानिका दी गयी है। इस उत्थानिकामे निश्चय और व्यवहार नयका स्वरूप, कर्मोका कर्ता और भोक्ता आत्मा, जीवपरिणमन एव पुरुषार्थसिद्धयुपायका अर्थ बतलाया गया है। ग्रन्थ पाँच भागोमे विभक्त है १. सम्यक्त्व-विवेचन, २ सम्यक्-ज्ञानव्याख्यान, ३ सम्यक्चारित्रव्याख्यान, ४ सल्लेखनाधर्मव्याख्यान, ५ सकलचारित्रव्याख्यान। यह आत्मा ज्ञान, दर्शन, सुखस्वरूप है, चेतनायुक्त है, अमूर्तिक है और स्पर्श, गध, रस, वर्णसे रहित है। यह अनादिकालसे अशुद्ध हो रही है। रागादिरूप भावकर्मोके कारण पुद्गलद्रव्य आत्मामे प्रविष्ट हो कर्म-बन्धरूप परिणमन करता है। कर्मबन्धकी इस प्रक्रियाका वर्णन करते हुए कहा है

जीवकृत परिणाम निमित्तमात्र प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गला. कर्मभावेन[1] ॥१२॥

जिस समय जीव राग-द्वेष-मोहभावरूप परिणमन करता है, उस समय उन भावोका निमित पाकर पुद्गलद्रव्य स्वत ही कर्मअवस्थाको धारण कर लेते हैं। जो प्रशस्त रागादिरूप परिणमन करता है उसके शुभ कर्मबन्ध होता है

१ पुरुषार्थसि०, पद्य १२।

और जो अप्रशस्त राग-द्वेष-मोहरूप परिणमन करता है उसके पापबन्ध होता है। आचार्यने कर्मबन्धके प्रति निमित्तकारणका कथन करते हुए कहा है

> परिणममानस्य चितश्चिदात्मकै: स्वयमपि स्वकैर्भावै: ।
> भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि[1] ॥१३॥

इस प्रकार राग-द्वेष, कर्म-बन्धके स्वरूप विश्लेषणके पश्चात् श्रावकधर्मका व्याख्यान किया गया है। आरम्भमे रत्नत्रयको मोक्षमार्ग बतलाकर गृहस्थको यथाशक्ति इसके सेवन करनेपर जोर दिया है। और बताया है कि सम्यक्त्वके बिना ग्यारह अगपर्यन्त किया हुआ पठन-पाठन ज्ञान भी अज्ञान कहलाता है तथा महाव्रतादिकाको साधनासे अन्तिम ग्रैवेयकपर्यन्त बन्धयोग्य विशुद्ध परिणामोसे भी असयमी कहलाता है। परन्तु सम्यक्त्वसहित थोडा-सा ज्ञान भी सम्यक्ज्ञान और अल्पत्याग भी सम्यकचारित्र कहलाता है। जिस प्रकार अकरहित शून्य कुछ भी कार्यसाधक नही होता, उसी प्रकार सम्यक्त्वरहित ज्ञान और चारित्र भी कार्यसाधक नही होता। इस तरह सम्यक्त्वका महत्त्व बतलाते हुए उसके स्वरूपका विवेचन किया है

> जीवाजीवादीना तत्त्वार्थाना सदैव कर्त्तव्यम्।
> श्रद्धान विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूप तत्[2] ॥

जीव-अजीव आदि तत्त्वरूप पदार्थोंका विपरीत आग्रह रहित श्रद्धान करना सम्यक्त्व कहलाता है।

सम्यक्त्वकी परिभाषाके अनन्तर नि शकित, नि काक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टित्व, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना इन आठो अंगोके स्वरूपका विवेचन किया है।

पदार्थका जो स्वरूप जिनागममे मिलता है, उसे यथावत् जानना सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शनमे कार्यकारणभावका सम्बन्ध है। सम्यग्ज्ञान कार्य है और सम्यग्दर्शन कारण। इन दोनोके एक कालमे उत्पन्न होनेपर भी दीपक और प्रकाशके समान कार्य-कारणभाव घटित होता है। अतएव तत्त्वार्थ-श्रद्धान प्राप्त करनेके अनन्तर सशय, विपर्यय और अनध्यवसायसे रहित हो पदार्थोके स्वरूपको अवगत करनेके लिए प्रवृत्त होना चाहिये। ग्रन्थका ज्ञान आठ प्रकारसे प्राप्त किया जाता है १ शब्दाचार, २ अर्थाचार, ३

१ पुरुषा०, पद्य १३।

२ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य २२।

उभयाचार, ४ कालाचार, ५ विनयाचार ६ उपधानाचार, ७. बहुमानाचार, ८ अनिन्ह्वाचार ज्ञानप्राप्तिके ये आठ अग हैं।

तृतीय अधिकारमे सम्यक्चारित्रका व्याख्यान किया गया है और सकलचारित्र और विकलचारित्र कहकर मुनिधर्म और श्रावकधर्मका विवेचन किया है। पचव्रतोके प्रसगमे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहका मुनि एव गृहस्थकी अपेक्षासे स्वरूप बतलाया गया है। कषायसे 'अपने' और 'पर'के भावप्राण और द्रव्यप्राणका घात करना हिंसा है। हिंसा और अहिंसाका सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए लिखा है

अप्रादुर्भाव खलु रागादीना भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य सक्षेप ॥
युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ॥
यस्मात्सकषाय सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम्।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणा[1] तु ॥

निश्चयत रागादि भावोका प्रकट न होना अहिंसा है और रागादिभावोकी उत्पत्ति होना हिंसा है। रागादि भावोके न रहनेपर सन्त पुरुषोके केवल प्राणपीडनसे हिंसा नही होती। रागादि भावोंके वशमे प्रवृत्त हुई अयतनाचाररूप प्रमाद अवस्थामे जीव मरे अथवा न मरे हिंसा अवश्य होती है। आशय यह है कि हिंसाशब्दका अर्थ घात करना है। यह घात दो प्रकारका है एक आत्मघात दूसरा परघात। जिस समय आत्मामे कषायभावोकी उत्पत्ति होती है उसी समय आत्मघात हो जाता है। पश्चात् यदि अन्य जीवकी आयु पूरी हो गयी हो अथवा पापका उदय आया हो, तो उनका भी घात हो जाता है। अन्यथा आयुकर्म पूर्ण न हुआ हो, पापका उदय न आया हो तो कुछ भी नही होता है, क्योकि उनका घात उनके कर्मोके अधीन है। परन्तु आत्मघात तो कषायोकी उत्पत्ति होते ही हो जाता है और आत्म तथा परघात दोनो ही हिंसा हैं। इस प्रकार रागादि कषायभावको हिंसा बताया है। इन रागादिभावोंके सद्भावके कारण ही हिंसा न करनेपर भी हिंसाका सद्भाव बताया है तथा कई भगो द्वारा हिंसा-अहिंसाका विवेचन किया है।

१ एक व्यक्ति पाप करता है और अनेक व्यक्ति फल भोगते हैं।
२ अनेक व्यक्ति हिंसा करते हैं और एक व्यक्ति फल भोगता है।

१ पुरुषार्थसिद्धयुपाय, पद्य ४४. ४५, ४७।

३ हिंसा करनेपर भी अहिंसक बना रहता है।

४ प्राणघात न करने पर भी हिंसक हो जाता है।

इस प्रकार अनेक भगो द्वारा हिंसाके अल्पबहुत्वका कथन किया गया है। हिंसाके कारण, मद्य, माँस, मधु और पचउदम्बर फलोके त्यागका उपदेश दिया गया है। इस प्रसगमे मद्य, माँस, मधु और पंचउदम्बर फलोके दोषोका भी विश्लेषण किया गया है। इसके पश्चात् अनृतका वर्णन आया है। अनृतके अन्तर्गत गर्हित, सावद्य और अप्रिय वचन भी सम्मिलित हैं। गर्हितवचनोमे शास्त्रविरुद्ध कहे जानेवाले वचनोको शामिल किया गया है। छेदन-भेदन, मारण, कर्षण, वाणिज्य, चौर्य आदि वचन सावद्यवचन कहलाते हैं। अरतिकर, भीतिकर, खेदकर, वैरकर, शोककर, कलहकर आदि सन्ताप देनेवाले वचन अप्रियवचन कहलाते हैं। स्तेयका विवेचन करते हुए धनके साथ अधिकार अपहरणको भी स्तेय बतलाया है। रागादिकके आवेगसे मैथुनरूप प्रवृत्ति करना अब्रह्म है। इस अब्रह्मके त्यागको ब्रह्मचर्यव्रत कहा है। मूर्छाको परिग्रहलक्षण बतलाकर अन्तरग और बहिरग परिग्रहके भेद-प्रभेदोको निरूपण किया है। पचव्रतोके पश्चात् रात्रिभोजनत्यागका महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। पञ्चव्रतोका पालन करनेके लिए सात शीलव्रतोंका पालन करना चाहिये। जिस प्रकार परकोटा नगरकी रक्षा करता है, उसी प्रकार तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत पञ्चव्रतोकी रक्षा करते हैं। गुणव्रतके तीन भेद बतलाये हैं दिक्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत। अनर्थदण्डव्रतके अपध्यान, पापोपदेश, प्रमादचर्या, हिंसादान और दुःश्रुति इन पाँच भेदोका स्वरूपसहित विवेचन किया गया है। शिक्षाव्रतके सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिसविभाग और भोगोपभोगपरिमाण इन चारोका विवेचन किया है।

चतुर्थ सल्लेखना-अधिकरणमे सल्लेखनाका स्वरूप, आवश्यकता और उसकी विधिका वर्णन किया गया है। पचम-सकलचारित्रव्याख्यानाधिकारमे मुनियोके व्रत चरित्रका वर्णन किया है। इसमे द्वादश तप, दशधर्म, द्वादश अनुप्रेक्षा, बाईस परिषहजयका वर्णन किया है। इस प्रकार इस लघुकाय ग्रन्थमे श्रावकधर्मका वर्णन आया है।

[1]तत्त्वार्थसार

यह ग्रन्थ ९ अधिकारोमे विभक्त है। प्रथम अधिकारमे ५४ पद्य, द्वितीय अधिकारमे २३८ पद्य, तृतीय अधिकारमे ७७ पद्य, चतुर्थ अधिकारमे १०५ पद्य,

१ यह पण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्य द्वारा सम्पादित-अनूदित और श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला काशी द्वारा सन् १९७० में प्रकाशित है।

पंचम अधिकारमें ५४ पद्य, षष्ठ अधिकारमें ५२ पद्य, सप्तम अधिकारमें ६० पद्य, अष्टम अधिकारमे ५५ पद्य और नवम अधिकारमे २३ पद्य हैं। इन अधिकारोके नाम क्रमश निम्न प्रकार हैं

१ मोक्षमार्गाधिकार जीवाधिकार
२ जीवतत्त्वनिरूपणाधिकार
३. अजीवाधिकार,
४ आस्रवतत्त्वाधिकार,
५ बन्धतत्त्वाधिकार,
६ सवरतत्त्वाधिकार,
७ निर्जरातत्त्वाधिकार,
८ मोक्षतत्त्वाधिकार,
९ उपसहार,

इस ग्रन्थको आचार्यने मोक्षमार्गका प्रकाश करनेवाला दीपक बतलाया है, क्योकि इसमे युक्ति और आगमसे सुनिश्चित सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका स्वरूप प्रतिपादित किया है। सम्यग्दर्शनादिका स्वरूप बतलाते हुए जीवादितत्त्वोका विशद विवेचन किया है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व वतलाये हैं। इनमे जीवतत्त्व उपादेय है और अजीवतत्त्व हेय है। अजीवका जीवके साथ सम्बन्ध क्यो होता है, इसका कारण बतलानेके लिए आस्रवका और अजीवका सम्बन्ध होनेसे जीवकी क्या दशा होती है, यह बतलानेके लिए बन्धका कथन किया है। हेय अजीवतत्त्वका सम्बन्ध जीवसे किस प्रकार छूट सकता है, यह बतलाने के लिए सवर और निर्जराका कथन तथा अजीवतत्त्वका सम्बन्ध छूटनेपर जीवकी क्या दशा होती है, यह दिखलानेके लिए मोक्षतत्त्वका कथन किया है। इन सात तत्त्वोके सम्यक्-परिज्ञानके लिए नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपोका तथा प्रमाण और नयोका विस्तारसे वर्णन किया है। प्रथम अधिकारके अन्तमे निर्देश स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान तथा सत्, सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्प-बहुत्व अनुयोगोका भी उल्लेख किया है।

द्वितीय अधिकारमे जीवके औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक इन पाँच स्वतत्त्वोका वर्णन किया गया है। जीवका लक्षण बतलानेके लिए उपयोगका निरूपण आया है। उपयोगके साकार और अनाकार-के भेदसे दो भेद बतलाते हुए ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगका वर्णन किया है।

पश्चात् जीवके संसारी और मुक्तके भेदसे दो भेद कर संसारी जीवोंका वर्णन गुणस्थान आदि बीस प्ररूपणाओंके द्वारा किया है।

तृतीय अधिकारमें अजीवतत्त्वका वर्णन करते हुए पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जीव इन छह द्रव्योंका स्वरूप, इनके देश, काल, पुद्गलोंके भेद, अणु और स्कन्धका स्वरूप, पुद्गल द्रव्यकी पर्याएँ तथा स्कन्ध बननेकी प्रक्रियाका वर्णन किया गया है।

चतुर्थ अधिकारमें आस्रवतत्त्वका वर्णन है। कर्मोंके आस्रवोंका विस्तार-सहित वर्णन किया है। शुभास्रवके वर्णनप्रसंगमें व्रतोंका निर्देश आया है। पंचम अधिकारमें बन्धका स्वरूप, बन्धके कारण और बन्धके भेद वर्णित हैं। इसमें कर्मोंकी मूल तथा उत्तर प्रकृतियोंके नाम, लक्षण तथा उनकी स्थिति आदिका कथन किया है।

षष्ठ अधिकारमें संवरतत्त्वका वर्णन है। इसमें संवरका स्वरूप तथा उसके कारणभूत गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषह, जय और चारित्रका वर्णन किया गया है। सप्तम अधिकारमें निर्जराका वर्णन आया है। इसमें निर्जराके भेद तथा निर्जराके कारणभूत तपोंका विस्तारसे वर्णन किया गया है।

अष्टम अधिकारमें मोक्षका वर्णन है। मोक्षके लक्षण तथा उसकी प्राप्तिके क्रमका सुन्दर विवेचन किया है।

नवम अधिकारमें ग्रन्थका उपसंहार करते हुए प्रमाण, नय, निक्षेप और निर्देश आदिके द्वारा सात तत्त्वोंको जानकर मोक्षमार्गका आश्रय लेनेका कथन किया है। निश्चय और व्यवहारके भेदसे मोक्षमार्ग दो प्रकारका है। निश्चयमोक्षमार्ग साध्य है और व्यवहारमोक्षमार्ग साधन है। अपनी शुद्धात्माकी जो श्रद्धा, ज्ञान और उपेक्षण राग-द्वेषसे रहित प्रवर्तन है वह निश्चयमोक्ष-मार्ग है और देव-शास्त्रगुरुका श्रद्धान व्यवहारमोक्षमार्ग है। व्यवहारमोक्षमार्ग अन्तमें चलकर निश्चयमोक्षमार्गमें विलीन हो जाता है और उससे साक्षात् मोक्षकी प्राप्ति होती है। अतः मोक्षप्राप्तिका साक्षात् कारण निश्चयमोक्षमार्ग है। व्यवहारमोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्गका साधक होनेके कारण परम्परासे मोक्षमार्ग है। अतएव साधकको निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्गको अपनाकर मोक्षकी प्राप्ति करनी चाहिये। बताया है

> स्यात्सम्यक्त्वज्ञानचारित्ररूपः
> पर्यायार्थादेशतो मुक्तिमार्गः ॥
> एको ज्ञाता सर्वदैवाद्वितीयः
> स्याद् द्रव्यार्थादेशतो मुक्तिमार्गः[1] ॥

१. तत्त्वार्थसार, वर्णीग्रन्थमाला संस्करण ९।२१।

पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप है और द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा सदा अद्वितीय रहने वाला एक ज्ञानी आत्मा ही मोक्ष-मार्ग है।

विषय-स्रोत

यों तो तत्त्वार्थसार तत्त्वार्थसूत्रका ही व्याख्यान अथवा सार है, फिर भी इसके विषय-स्रोत गृद्धपिच्छाचार्यके तत्त्वार्थसूत्रके अतिरिक्त पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि, अकलङ्कदेवका तत्त्वार्थवार्तिक, प्राकृतपचसग्रह आदि ग्रन्थ हैं। प्रथम अधिकार तत्त्वार्थसूत्रके आधार पर ही रचा गया है। द्वितीय अधिकारकी विषयवस्तुका आधार पचसग्रह और तत्त्वार्थवार्तिक हैं। तत्त्वार्थसूत्रके द्वितीय तृतीय और चतुर्थ अध्यायमे वर्णित समस्त प्रमेयोको तत्त्वार्थसारके द्वितीय अधिकारमे समाविष्ट किया गया है। सर्वार्थसिद्धिसे भी अनेक विषय गृहीत हैं।

तृतीय अधिकारमे वर्णित अजीवतत्त्व और षड्द्रव्योके निरूपणका आधार तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिकका पञ्चम अध्याय है।

चतुर्थ अधिकरणके प्रमेयोका स्रोत तत्त्वार्थसूत्रके षष्ठ और सप्तम अध्याय हैं। अनेक प्रमेय इन्ही अध्यायोसे सम्बद्ध तत्त्वार्थवार्तिक और सर्वार्थसिद्धिसे भी सगृहीत हैं। पञ्चम अधिकारका आधार तत्त्वार्थसूत्र और उससे सम्बन्धित टीकाओका अष्टम अध्याय है। अष्टम अधिकारके प्रमेय तत्त्वार्थवार्तिकसे ग्रहण किये गये हैं। यहाँ हम तुलना द्वारा अपने उपर्युक्त कथनकी पुष्टि करते हैं

जवणालियामसूरीचदद्धअइमुत्तफुल्लतुल्लाइ ।
इदियसठाणाइ फास पुण णेगसठाण ॥१६९॥ पचसग्रह

यवनालमसूरातिमुक्तेन्द्वर्धसमा क्रमात् ।
श्रोत्राक्षिघ्राणजिह्वा स्यु स्पर्शन नैकसस्थिति ॥ २५०॥
त० सा०, अधिकार–२

खुल्ला वराडसखा अक्खुणहअरिट्ठगा य गडोला ।
कुक्खिकिमिसिप्पिआई णेया बेइदिया जीवा ॥१७०॥ पचसंग्रह

शम्बूक शखशुक्तिर्वा गण्डूपदकपर्दका ।
कुक्षिकृम्यादयश्चैते द्वीन्द्रिया प्राणिनो मता ॥२५३॥
त० सा०, अधिकार–२

कुथुपिपीलयमंकुणविच्छियजूविदगोवगोम्हीया ।
उत्तिगमट्टियाई णेया तेइदिया जीवा ॥१७१॥ पचसग्रह

कुंथु पिपीलिका कुम्भी वृश्चिकश्चेन्द्रगोपक. ।
घुणमत्कुणपूकाद्यास्त्रीन्द्रिया: सन्ति जन्तव ॥२।५४॥ त० सा०

'अथोत्पाद क्व तेषामिति ? अत्रोच्यते प्रथमायामसञ्ज्ञिन उत्पद्यते, प्रथमाद्वितीययो. सरीसृपा., तिसृषु पक्षिण., चतसृषूरगा , पञ्चसु सिंहा., षट्सु स्त्रिय., सप्तसु मत्स्य-मनुष्या । न च देवा नारका वा नरकेषु उत्पद्यन्ते ।'

तत्त्वार्थवार्तिक, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण, पृष्ठ–१६८

घर्मामसञ्ज्ञिनो यान्ति वशान्ताश्च सरीसृपा ।
मेघान्ताञ्च विहङ्गाश्च अञ्जनान्ताश्च भोगिन ॥

तत्त्वार्थसार । २।१४६

तामरिष्टा च सिंहास्तु मेघाद्यन्तास्तु यौषित. ।
नरा मत्स्याश्च गच्छन्ति माघवी ताश्च पापिन ॥

तत्त्वार्थसार । २।१४७

आद्यभावादन्ताभाव इति चेत्, न, दृष्टत्वादन्त्यवीजवत्

तत्त्वार्थवार्तिक, ज्ञानपीठ संस्करण पृ० ६४१

आद्यभावान्न भावस्य कर्मबन्धनसन्तते ।
अन्ताभाव. प्रसज्येत दृष्टत्वादन्त्यवीजवत् ॥

तत्त्वार्थसार । ८।६

पुनर्बन्धप्रसंगो जानत पश्यतश्च कारुण्यादिति चेत्, न, सर्वास्रवपरिक्षयात्

तत्त्वार्थवार्तिक, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण, पृ० ६४३

जानत. पश्यतश्चोर्ध्वं जगत्कारुण्यत. पुन: ।
तस्य बन्धप्रसङ्गो न सर्वास्रवपरिक्षयात् ॥

तत्त्वार्थसार । ८।९

अकस्मादिति चेत्, अनिर्मोक्षप्रसङ्ग ।

तत्त्वार्थवार्तिक पृ० ६४३

अकस्माञ्च न बन्ध. स्यादनिर्मोक्षप्रसङ्गत. ।
बन्धोपपत्तिस्तत्र स्यान्मुक्तिप्राप्तेरनन्तरम् ॥

तत्त्वार्थसार ८।१०

गौरवाभावाञ्च ॥८॥ तत्त्वार्थवार्तिक पृ०-६४३

तथातिगौरवाभावान्न पातोऽस्य प्रसज्जते ।
वृन्तसम्बन्धविच्छेदो पतत्याम्रफलं गुरु ॥

तत्त्वार्थसार । ८।१२

शरीरानुविधायित्वे तदभावाद्विसर्पणप्रसङ्ग इति चेत्, न, कारणाभावात्॥१३॥

तत्त्वार्थवार्तिक पृ०-७४३

शरीरानुविधायित्वे तद्भावाद्विसर्पणम्।
लोकाकाशप्रमाणस्य तावन्नाकारणत्वतः॥

तत्त्वार्थसार ८।१६

दृष्टत्वाच्च निगलादिवियोगे देवदत्ताद्यवस्थानवत्।

तत्त्वार्थवार्तिक पृ०-६४४

कस्यचिच्छृङ्खलामोक्षे तत्रावस्थानदर्शनात्।
अवस्थानं न मुक्तानामूर्ध्वव्रज्यात्मकत्वत॥

तत्त्वार्थसार। ८।१९

समयसार-कलश

समयसार-कलश यथार्थत कुन्दकुन्दके समयसारपर कलशरूपमे लिखा गया है। इसका विषय-वर्गीकरण भी कुन्दकुन्दके विषयके समान ही है। इसमे कुल २७८ पद्य हैं, जो निम्न अधिकारोमे विभक्त हैं

१. पूर्वरङ्ग
२. जीवाजीवाधिकार
३ कर्तृकर्माधिकार
४. पुण्यपापाधिकार
५ आस्रवाधिकार
६ संवराधिकार
७ निर्जराधिकार
८ बन्धाधिकार
९. मोक्षाधिकार
१०. सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार
११ स्याद्वादाधिकार
१२. साध्य-साधकाधिकार

आरम्भमे ही आत्म-तत्त्वको नमस्कार करते हुए बताया है

नम समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे॥ पद्य-१।

मैं समयसार समस्त पदार्थोंमे श्रेष्ठ उस आत्मतत्त्वको नमस्कार करता हूँ, जो स्वानुभूतिसे स्वयप्रकाश है, चैतन्यस्वभाववाला है, शुद्ध सत्ता-रूप

है और समस्त पदार्थोंको जाननेवाला है अथवा चैतन्यस्वभावसे भिन्न समस्त रागादि विकारोंको नष्ट करनेवाला है। इस प्रकार आरम्भमे ही शुद्ध आत्मतत्त्वको नमस्कार किया गया है। समयसारकी व्याख्याका प्रयोजन बतलाते हुए लिखा है

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा-
दविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषिताया ।
मम परमविशुद्धि: शुद्धचिन्मात्रमूर्ते-
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूते: ॥३॥

इस समयसारकी व्याख्यासे मेरी अनुभूतिकी परम विशुद्धता प्रकट हो। यद्यपि मेरी वह अनुभूति शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्तिसे युक्त है अर्थात् परम ज्ञायक भावसे सहित है तथापि वर्तमानमे परपरिणतिका कारण जो मोहनामका कर्म है, उसके उदयरूप विपाकसे निरन्तर रागादिकी व्याप्तिसे कल्माषित मलिन हो रही है। अर्थात् इस व्याख्यासे मेरी अनुभूतिमे परम विशुद्धता उत्पन्न होगी। निश्चय और व्यवहार नयके विवादको समाप्त करते हुए बताया है

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः ।
सपदि समयसार ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ॥४॥

अर्थात् निश्चय और व्यवहार नयके विषयमे परस्पर विरोध है, क्योंकि निश्चयनय अभेदको ग्रहण करता है और व्यवहारनय भेदको। किन्तु इस विरोधका परिहार करनेवाला स्याद्वादवचन है, उस वचनमे वे ही रमण कर सकते हैं, जिन्होने मोहका वमन कर दिया है और वे ही पुरुष शीघ्र ही उस समयसारका अवलोकन करते हैं, जो कि अतिशयसे परमज्योतिस्वरूप है। नवीन नही अर्थात् द्रव्यदृष्टिसे नित्य हैं और एकान्तपक्षसे जिसका खण्डन नही हो सकता।

शुद्धनयकी दृष्टिसे आत्मा अपने एकपनमे नियत है। स्वकीय गुणपर्यायोमे व्याप्त होकर रहता है तथा पूर्णज्ञानका पिण्ड है। ऐसे आत्मतत्त्वका आत्मातिरिक्त द्रव्योसे भिन्न अवलोकन करता है, इसीका नाम सम्यक्दर्शन है। इसके होते ही जो आत्मज्ञान होता है वह सम्यक्ज्ञान कहलाता है। जब तक आत्मामे परसे भिन्न अपनी यथार्थ प्रतीति नही होती तब तक यथार्थ ज्ञान नही होता। अतएव नवतत्त्वकी संततिको छोडकर केवल एक आत्माको ही परसे भिन्न शुद्धरूपमे अनुभूत करना ही यथार्थ पुरुषार्थ है। बताया है -

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मन
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्य. पृथक्।
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानय
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसन्ततिमिमामात्माऽयमेकोऽस्तु न ॥६॥

इस प्रकार आचार्य अमृतचन्द्रसूरिने समयसारके समान ही विषयोका विवेचन करते हुए आत्माका कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदिका निरूपण किया है। अन्तमें आत्माकी आश्चर्यकारक महिमाका वर्णन करते हुए लिखा है "जब विभावशक्तिकी अपेक्षासे विचार करते हैं तब आत्मामे कषायका उपद्रव दिखाई देता है और जब स्वभावदशाका विचार करते है तो शान्तिका प्रसार अनुभवमे आता है। कर्मबन्धकी अपेक्षा ससारकी जन्म-मरण रूप बाधा दिखाई देती है और शुद्ध स्वरूपका विचार करनेपर मुक्तिका स्पर्श अनुभवमे आता है। स्वपरिज्ञायक भावकी अपेक्षा करनेपर आत्मा लोकत्रयका ज्ञाता है और ज्ञायकभावकी अपेक्षा एक चैतन्यमात्र अनुभवमे आता है। इस प्रकार अनेक विरुद्ध धर्मोके समावेश-के कारण आत्मस्वभावकी अद्भुत महिमा दिखलाई पड़ती है

कषायकलिरेकत. स्खलति शान्तिरस्त्येकतो
भवोपहतिरेकत स्पृशति मुक्तिरप्येकत ।
जगत्त्रितयमेकत स्फुरति चिच्चकास्त्येकत
स्वभावमहिमात्मनो विजयतेऽद्भुतादद्भुत ॥२७३॥

समयसारकी अपेक्षा समयसारकलश अतिगहन है। निश्चयत आचार्य अमृतचन्द्रसूरिने अध्यात्मगगा प्रवाहित की है। इस गगामे अवगाहन करनेवाले सभी प्रकारसे शान्तिलाभ करते हैं।

समयसार-टीका

अमृतचन्द्रकी समयसार-टीका आत्मख्यातिके नामसे प्रसिद्ध है। यह आचाय-की प्राजल शैलीका उत्कृष्ट नमूना है। उन्होने गाथाके शब्दोका व्याख्यान न कर उसके अभिप्रायको अपनी परिष्कृत गद्यशैलीमे व्यक्त किया है। जहाँ उन्हे गाथा-के मूलभावमे कोई कमी दिखलाई पडी है वहाँ उन्होने समयसारकलश नामसे पद्य भी लिख दिया है। यह समयसारकलश आत्मख्यातिटीकामे मिश्रित हो जानेपर भी उसका ग्रथरूपमे पृथक् अस्तित्व भी है। टीकामे समस्यन्तपद भी विद्यमान हैं तथा अनेक शब्दोके निर्वचन भी दिये गये हैं और भावको स्पष्ट करनेका पूर्ण प्रयास किया है। जहाँ कुन्दकुन्दके ग्रन्थोमे प्रमेय अस्पष्ट थे वहाँ कलश अथवा आत्मख्याति टीकाद्वारा ही स्पष्टता लाकर जैनतत्त्वज्ञानको समृद्ध किया है।

अमृतचन्द्रने ही समयसारके विषयोका वर्गीकरण किया है तथा समयपाहुड-को समयसार नाम देनेका श्रेय भी इन्हीको प्राप्त है। टीकाको नाटकके समान अङ्कोमे विभाजित किया है। प्रथम अङ्कसे पूर्वके प्रारम्भिक भागको पूर्वरङ्ग कहा गया है। जिस प्रकार नाटकमे पात्रोका निष्क्रमण और प्रवेश होता है उसी प्रकार यहाँपर भी प्रवेश और निष्क्रमण कराया गया है। प्रथम अङ्क जीवा-जीवाधिकार है। इसमे जीवको अजीवसे भिन्न बतलाया है और अन्तमे लिखा है "जीवाजीवौ पृथग्भूत्वा निष्क्रान्तौ" अर्थात् जीव और अजीव पृथक् पृथक् होकर चले गये। दूसरे कर्तृकर्म अधिकारके आरम्भमे लिखा है "जीव-अजीव ही कर्त्ता और कर्मका वेष धारणकर प्रवेश करते हैं तथा अन्तमे लिखा है "जीव और अजीव कर्त्ता एव कर्मका वेष छोडकर निकल गये।" तीसरे पुण्य-पाप अधिकारके आदिमे लिखा है "एक ही कर्म पुण्य और पापके रूपमे दो पात्रोका वेप धारण करके प्रवेश करता है" और अन्तमे लिखा है पुण्य और पापके रूपसे दो पात्रोका वेषधारण करनेवाला कर्म एक पात्ररूप होकर निकल गया अर्थात् कर्ममे पुण्य-पापका भेद मिथ्या है, दोनोमे कोई अन्तर नही है। इसी प्रकार आस्रव, सवर, निर्जरा, वन्ध और मोक्ष अधिकारोमे उन-उन तत्त्वोका प्रवेश और निर्गमन कराया गया है। वस्तुत: यह ससार एक रगमच है जिसपर जीव और अजीव नानारूप धारण करके अभिनय करते है। यहाँ अभिनयका आचरण करनेवाला या सूत्रधार पौद्गलिक कर्म है।

यह टीका पर्याप्त विस्तृत और गहन है। यहाँ उदाहरणार्थ कुछ पक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं

"अज्ञानी हि शुद्धात्मज्ञानाभावात् स्वपरयोरेकत्वज्ञानेन, स्वपरयोरेकत्व-दर्शनेन, स्वपरयोरेकत्वपरिणत्या च प्रकृतिस्वभावे स्थितत्वात् प्रकृतिस्वभाव-मप्यहतया अनुभवन् कर्मफल वेदयते। ज्ञानी तु शुद्धात्मज्ञान सद्भावात्स्वपरयोर्वि भागज्ञानेन स्वपरयोर्विभागदर्शनेन स्वपरयोर्विभागपरिणत्या च प्रकृतिस्वाभावा दपसृतत्वात् शुद्धात्मस्वभावमेकमेवाहतयानुभवन् कर्मफलमुदित ज्ञेयमात्रत्वात् जानात्येव न पुनस्तस्याहतयाऽनुभवितुमशक्यत्वाद्वेद्यते ॥३१६॥

प्रवचनसार-टीका

प्रवचनसारकी टीकाका नाम तत्त्वदीपिका है। यह टीका भी प्राजल शैलीमे समयसारकी टीकाके समान ही लिखी गयी है। इससे भी उनकी आध्यात्मिक रसिकता, आत्मानुभव, प्रखर विद्वत्ता, वस्तुस्वरूपको तर्कपूर्वक सिद्ध करनेकी असाधारण शक्ति, तत्त्वतत्त्वार्थका गम्भीरज्ञान, निश्चय व्यवहारका क्रमबद्ध

निरूपण आदि अनेक विशेषताएँ विद्यमान हैं। मूलग्रन्थकारने जिन भावोको छोड भी दिया है उनका भी प्रकटीकरण टीकाकारने किया है। टीका समस्यन्त गद्यमे लिखी गयी है, शैली पर्याप्त प्रौढ है और शब्दार्थके स्थानपर विषयको स्पष्ट करनेवाली है। यथा

"यतो न खल्विन्द्रियाण्यालम्ब्यावग्रहेहावायपूर्वकप्रक्रमेण केवली विजानाति, स्वयमेव समस्तावरणक्षयक्षण एवानाद्यनन्ताहेतुकासाधारणभूतज्ञानस्वभावमेव कारणत्वेनोपादाय तदुपरि प्रविकसत्केवलज्ञानोपयोगीभूय विपरिणमते, ततोऽस्याक्रमसमाक्रान्तसमस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावतया समक्षसवेदनालम्बनभूता' सर्वद्रव्यपर्याया प्रत्यक्षा एव भवन्ति।"

पञ्चास्तिकाय-टीका

पचास्तिकायकी १७३ गाथाओपर आचार्य अमृतचन्द्रने टीका लिखी है। टीकाकारने इस ग्रन्थको चार भागोंमे विभाजित किया है

१. पीठिका
२. प्रथम श्रुतस्कन्ध
३. द्वितीय श्रुतस्कन्ध
४ चूलिका

पीठिकामे २६ गाथाएँ है और उनकी व्याख्या उक्त दोनो ग्रन्थोके समान ही की गयी है। प्रथम श्रुतस्कन्धमे ७८ गाथाओकी व्याख्या है। द्वितीय श्रुतस्कन्धमे ४९ गाथाओकी व्याख्या दी गयी है। चूलिकामें बीस गाथाओकी टीका है। इस प्रकार आचार्य अमृतचन्द्रसूरिने पचास्तिकायके विषयको भी अपनी टीकामे विस्तृत और स्पष्ट बनानेका पूर्ण प्रयास किया है। इस टीकाका नाम भी तत्त्वदीपिका है।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती

विक्रमकी नवम शताब्दीमे धवला और जयधवलाकी रचनाके पश्चात् सिद्धान्तविषयक विद्वत्ताका मापदण्ड इन ग्रन्थोको मान लिया गया और इनके पठन-पाठनका सर्वत्र प्रचार हुआ। कालक्रमानुसार ये दोनो अगाध टीकाएँ जब दुष्कर प्रतीत होने लगी, तो इनके सारभागको एकत्र करनेके लिए सिद्धान्तचक्रवर्तीने प्रयास किया। सिद्धान्तचक्रवर्ती इनकी उपाधि थी। इन्होने अपने गोम्मटसार कर्मकाण्डमे बताया है

जह चक्केण य चक्की छक्खडं साहियं अविग्घेण ।
तह मइ-चक्केण मया छक्खडं साहियं सम्मं[1] ॥

जिस प्रकार चक्रवर्ती अपने चक्ररत्नसे भारतवर्षके छह खण्डोको विना किसी विघ्न-बाधाके अधीन करता है, उसी तरह मैने (नेमिचन्द्रने) अपनी बुद्धि-रूपी चक्रसे षट्खण्डोको अर्थात् षट्खण्डागमसिद्धान्तको सम्यक्रीतिसे अधीन किया है।

सिद्धान्तग्रन्थोंके अभ्यासीको सिद्धान्तचक्रवर्तीका पद प्राचीन समयसे ही दिया जाता रहा है। वीरसेनस्वामीने जयधवलाकी प्रशस्तिमे लिखा है कि भरतचक्रवर्तीकी आज्ञाके समान जिनकी भारती षट्खण्डागममे स्खलित नही हुई, अनुमान है कि वीरसेनस्वामीके समयसे ही सिद्धान्तविषयज्ञको सिद्धान्त-चक्रवर्ती कहा जाने लगा है। निश्चयत आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तग्रन्थोके अधिकारी विद्वान् थे। यही कारण है कि उन्होने धवलासिद्धान्तका मंथन कर गोम्मटसार, और जयधवलाटीकाका मथन कर लब्धिसार ग्रन्थकी रचना की है।

जीवन-परिचय

आचार्य नेमिचन्द्र देशीयगणके हैं। इन्होने अभयनन्दि, वीरनन्दि और इन्द्र-नन्दिको अपना गुरु बतलाया है। कर्मकाण्डमे आया है

जस्स य पायपसायेणणतससारजलहिमुत्तिण्णो ।
वीरिंदणदिवच्छो णमामि त अभयणदिगुरु[2] ॥

× × × ×

णमिऊण अभयणंदि सुदसायरपारगिंदणदिगुरु ।
वरवीरणदिणाह पयडीण पच्चय वोच्छ[3] ॥

अर्थात् जिनके चरणप्रसादसे वीरनन्दि और इन्दनन्दिका वत्स अनन्त-ससाररूपो समुद्रसे पार हो गया, उन अभयनन्दिगुरुको मैं नमस्कार करता हूँ।

अभयनन्दिको, श्रुतसमुद्रके पारगामी इन्द्रनदिगुरुको और वीरनन्दिको नमस्कार करके प्रकृतियोके प्रत्यय कारणको कहूँगा।

लब्धिसारमे लिखा है "वीरनन्दि और इन्द्रनन्दिके वत्स एव अभयनन्दि-

१ गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा ३९७।
२ वही, गाथा ४३६।
३ वही, गाथा ७८५।

के शिष्य अल्पज्ञानी नेमिचन्द्रने दर्शनलब्धि और चारित्रलब्धिका कथन किया[1] है।" 'त्रिलोकसार' मे अपनी गुरुपरम्पराका कथन करते हुए लिखा है

"इदि णेमिचंदमुणिणा अप्पसुदेणभयणदिवच्छेण।
रइयो तिलोयसारो खमतु त वहुसुदाइरिया॥[2]

अर्थात् अभयनन्दिके वत्स अल्पश्रुतज्ञानी नेमिचन्द्रमुनिने इस त्रिलोकसार ग्रन्थको रचा।

उपर्युक्त ग्रन्थोकी प्रशस्तियोसे स्पष्ट है कि अभयनन्दि, वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि इनके गुरु थे। इन तीनोमेसे वीरनन्दि तो चन्द्रप्रभचरितके कर्ता ज्ञात होते हैं, क्योंकि उन्होने चन्द्रप्रभचरितकी प्रशस्तिमे अपनेको अभयनन्दिका शिष्य वतलाया है और ये अभयनन्दि नेमिचन्द्रके गुरु ही होना चाहिये, क्योकि कालगणनासे उनका वही समय आता है। अत स्पष्ट है कि उक्त तीनो गुरुओमे अभयनन्दि ज्येष्ठ गुरु होने चाहिये। वीरनन्दि, इन्द्रनन्दि और नेमिचन्द्र उनके शिष्य रहे होगे। यहाँ यह कल्पना करना उचित नही कि नेमिचन्द्र सवसे छोटे थे, अत उन्होने अभयनन्दिके शिष्य वीरनन्दि और इन्द्रनन्दिसे भी शास्त्राध्ययन किया हो। वस्तुत अभयनन्दिके वीरनन्दि, इन्द्रनन्दि और नेमिचन्द्र ये तीनो ही शिष्य थे। वय और ज्ञानमे लघु होनेके कारण नेमिचन्द्रने वीरनन्दि और इन्द्रनन्दिसे भी अध्ययन किया होगा।

नेमिचन्द्रने वीरनन्दिको चन्द्रमाकी उपमा देकर सिद्धान्तरूपी अमृतके समुद्रसे उनका उद्भव वतलाया है। अत वीरनन्दि भी सिद्धान्तग्रन्थोके पारगामी थे। इन्द्रनन्दिको तो, नेमिचन्द्रने स्पष्टरूपसे श्रुतसमुद्रका पारगामी लिखा है। उन्हीके समीप सिद्धान्तग्रन्थोका अध्ययन करके कनकनन्दि आचार्यने सत्त्वस्यानका कथन किया है। उसी सत्त्वस्यानका सग्रह नेमिचन्द्रने कर्मकाण्ड गोम्मटसारमे किया है

वरइदणदिगुरुणो पासे सोऊण सयलसिद्धंतं।
सिरिकणयणदिगुरुणा सत्तट्ठाण समुद्दिट्ठ॥[3]

इन्द्रनन्दिके सम्वन्धमे आचार्य जुगलकिशोर मुख्तारने लिखा हैं 'इस नामके कई आचार्य हो गये है, उनमेसे 'ज्वालामालिनीकल्प' के कर्ता इन्द्रनन्दिने अपने इस ग्रन्थका रचनाकाल शक स० ८६१ (वि० स० ९९६) दिया है और

१ लब्धिसार, गाथा ६४८।
२ त्रिलोकसार, गाथा १०१८।
३ गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ३९६।

यह समय नेमिचन्द्रके गुरु इन्द्रनन्दिके साथ बिल्कुल सगत बैठता है, पर इन्होने अपनेको वप्पनन्दिका शिष्य कहा है। बहुत सम्भव है कि इन इन्द्रनन्दिने वप्पनन्दिसे दीक्षा ली हो और अभयनन्दिसे सिद्धान्तग्रन्थोका अध्ययन किया हो।

आचार्य नेमिचन्द्रका शिष्यत्व चामुण्डरायने ग्रहण किया था। यह चामुण्डराय गंगवशी राजा राचमल्लका प्रधानमन्त्री और सेनापति था। उसने अनेक युद्ध जीते थे और इसके उपलक्ष्यमे अनेक उपाधियाँ प्राप्त की थी। यह वीरमार्तण्ड कहलाता था। गोम्मटसारमे 'सम्मत्तरयणनिलय'[1] सम्यक्त्वरत्ननिलय, 'गुणरयणभूषण'[2] गुणरत्नभूषण, 'सत्ययुधिष्ठिर'[3] 'देवराज'[4] आदि विशेषणोका प्रयोग किया है। इन चामुण्डरायने श्रवणबेलगोला (मैसूर) मे स्थित विन्ध्यगिरि पर्वतपर बाहुबलि स्वामीकी ५७ फीट ऊँची अतिशय मनोज्ञ प्रतिमा प्रतिष्ठित की थी। बाहुबलि भगवान् ऋषभदेवके पुत्र थे। उन्होने बडी कठोर तपस्या की थी। उनकी स्मृतिमे उनके बडे भाई चक्रवर्ती भरतने एक प्रतिमा स्थापित करायी थी। वह कुक्कुटसर्पोसे व्याप्त हो जानेके कारण कुक्कुटजिनके नामसे प्रसिद्ध थी। उत्तर भारतकी इस मूर्तिसे भिन्नता बतलानेके लिए चामुण्डरायके द्वारा स्थापित मूर्ति 'दक्षिणकुक्कुटजिन' कहलायी। गोम्मटसार कर्मकाण्डमे बताया है

> जेण विणिम्मियपडिमावयणं सव्वट्ठसिद्धिदेवेहिं।
> सव्वपरमोहिजोगिहिं दिट्ठं सो गोम्मटो जयउ॥[5]
> × × × ×
> गोम्मटसंगहसुत्तं गोम्मटसिहरुवरि गोम्मटजिणो य।
> गोम्मटरायविणिम्मियदक्खिणकुक्कडजिणो जयउ॥[6]

इन दोनों गाथाओसे स्पष्ट है कि चामुण्डरायने गोम्मट स्वामीकी जो प्रतिमा विन्ध्यगिरि पर्वतपर स्थापित की उसके मुखका दर्शन सर्वार्थसिद्धिके देवोने किया। इससे यह ध्वनित होता है कि विन्ध्यगिरिपर्वतकी ऊँचाईके कारण गोम्मटस्वामीकी मूर्ति अधिक ऊँची दिखलायी पडती थी, जिससे

१ कर्मकाण्ड, गाथा १।
२ जीवकाण्ड, गाथा १।
३ कर्मकाण्ड, गाथा ४५।
४ वही, गाथा २५८।
५. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा ९६९।
६ वही, गाथा ९६८।

सर्वार्थसिद्धिके देव भी उसका दर्शन कर सकते थे। इस चैत्यालयके उन्नत स्तम्भ, स्वर्णमयी कलश एव उसके अन्य आकार-प्रकारका निर्देश भी गोम्मटसारमे प्राप्त होता है। लिखा है

> वज्जयण जिणभवण ईसिपभार सुवण्णकलस तु।
> तिहुवणपडिमाणिक्क जेण कय जयउ सो राओ॥
> जेणुब्भियथभुवरिमजक्खतिरीटग्गकिरणजलधोया।
> सिद्धाण सुद्धपाया सो राओ गोम्मटो जयउ॥[1]

विन्ध्यगिरिके सामने स्थित दूसरे चन्द्रगिरिपर चामुण्डरायबसतिके नामसे एक सुन्दर जिनालय स्थित है। इस जिनालयमे चामुण्डरायने इन्द्रनीलमणिकी एक हाथ ऊँची तीर्थंकर नेमिनाथकी प्रतिमा स्थापितकी थी, जो अब अनुपलब्ध है।

चामुण्डरायका घरू नाम गोम्मट था। यह तथ्य डॉ० ए० एन० उपाध्येने अपने एक लेखमे लिखा है। उनके इस नामके कारण ही उनके द्वारा स्थापित बाहुबलिकी मूर्ति गोमटेश्वरके नामसे प्रसिद्ध हुई। डॉ० उपाध्येके अनुसार गोम्मटेश्वरका अर्थ है, चामुण्डरायका देवता। इसी कारण विन्ध्यगिरि, जिसपर गोम्मटेश्वरकी मूर्ति स्थित है, गोम्मट कहा गया। इसी गोम्मट उपनामधारी चामुण्डरायके लिए नेमिचन्द्राचार्यने अपने गोम्मटसार नामक ग्रन्थकी रचनाकी है। इसीसे इस ग्रन्थको गोम्मटसारको सज्ञा दी गयी है। अतएव यह स्पष्ट है कि गगनरेश राचमल्लदेवके प्रधान सचिव और सेनापति चामुण्डरायका आचार्य नेमिचन्द्रके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है।

समय-विचार

चामुण्डरायने अपना चामुण्डपुराण शक स० ९०० (वि० स० १०३५) मे बनाकर समाप्त किया। अतः उनके लिए निर्मित गोम्मटसारका सुनिश्चित समय विक्रम की ११ वी शताब्दी है। श्री मुख्तार साहब और प्रेमीजी भी इसी समयको स्वीकार करते है।

गोम्मटसार कर्मकाण्डमे चामुण्डरायके द्वारा निर्मित गोम्मटजिनकी मूर्तिका निर्देश है। अत यह निश्चित है कि गोम्मटसारकी समाप्ति गोम्मटमूर्तिकी स्थापनाके पश्चात् ही हुई है। किन्तु मूर्तिके स्थापनाकालको लेकर इतिहासज्ञोमे बडा मतभेद है। 'बाहुबलिचरित्र' मे गोम्मटेश्वरकी प्रतिष्ठाका समय निम्नप्रकार बतलाया है

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ९७०–९७१।

"कल्क्यब्दे षट्शताख्ये विनुतविभवसंवत्सरे मासिचैत्रे
पञ्चम्यां शुक्लपक्षे दिनमणिदिवसे कुम्भलग्ने सुयोगे ।
सौभाग्ये मस्तनाम्नि प्रकटितभगणे सुप्रशस्तां चकार
श्रीमच्चामुण्डराजो वेल्गुलनगरे गोम्मटेश प्रतिष्ठाम् ॥"

अर्थात् कल्कि सं० ६०० मे विभव संवत्सरमे चैत्र शुक्ला पचमी रविवारको कुम्भ लग्न, सौभाग्य योग, मृगशिरा नक्षत्रमे, चामुण्डरायने वेल्गुलनगरमे गोम्मटेशकी प्रतिष्ठा करायी।

इस निर्दिष्ट तिथिके सम्बन्धमे विद्वानोमे मतभेद है। घोषालने अपने वृहद्द्रव्यसग्रहके अंग्रेजी अनुवादकी प्रस्तावनामे उक्त तिथिको २ अप्रैल ९८० माना है। श्रीगोविन्द पैने १३ मार्च ९८१ स्वीकार किया है। प्रो० हीरालालजीने २३ मार्च सन् १०२८ मे उक्त तिथियोगको ठीक घटित वताया है। किन्तु श्यामशास्त्रीने तीन मार्च सन् १०२८ को उक्त तिथिके घटित होनेकी चर्चा की है। इस तरह वाहुवलीचरित्रमे निर्दिष्ट सम्बन्धमे विवाद प्रस्तुत किया है। हमारे नम्र मतानुसार भारतीय ज्योतिषकी गणनाके आधार पर विभव संवत्सर चैत्र शुक्ला पचमी रविवारको मृगशिर नक्षत्रका योग १३ मार्च सन् ९८१ मे घटित होता है। अन्य ग्रहोकी स्थिति भी इसी दिन सम्यक् घटित होती है। अत. मूर्तिका प्रतिष्ठाकाल सन् ९८१ होना चाहिये।

चामुण्डरायने अपने चामुण्डपुराणमे मूर्तिस्थापनाकी कोई चर्चा नही की है। इससे यही अनुमान होता है कि चामुण्डपुराणके पश्चात् ही मूर्तिकी प्रतिष्ठा की गयी है। रन्नने अपना अजितनाथपुराण शक सं० ९१५ मे समाप्त किया है। उसमे लिखा है कि अतिमव्वेने गोम्मटेश्वरकी मूर्तिके दर्शन किये। अत यह निश्चित है कि शक स० ९१५ (वि० स० १०५०) से पहले ही मूर्तिकी प्रतिष्ठा हो चुकी थी। यदि चामुण्डपुराणमे मूर्तिकी स्थापनाकी कोई चर्चा न होनेको महत्त्व दिया जाय, तो वि० स० १०३५ और वि० स० १०५० के वीचमे मूर्तिकी प्रतिष्ठा माननी पडेगी, जिससे हमारे पूर्वकथनकी सिद्धि होती है। गंग राचमल्लका समय वि० स० १०३१ १०४१ तक है। भुजवलिशतकके अनुसार उन्हीके राज्यकालमे मूर्तिकी प्रतिष्ठा हुई है। अत मूर्ति स्थापनाका समय ई० सन् ९८१ उपयुक्त जान पडता है। अतएव आचार्य नेमिचन्द्रका समय ई० सन्की दशम शताब्दीका उत्तरार्द्ध या वि० स० ११वीं शताब्दीका पूर्वार्द्ध है।

रचनाएँ

आचार्य नेमिचन्द्र आगमशास्त्रके विशेषज्ञ हैं। इनकी निम्नलिखित रचनाएँ प्रसिद्ध है

१. गोम्मटसार
२. त्रिलोकसार
३. लब्धिसार
४. क्षपणासार

१ गोम्मटसार

यह ग्रन्थ दो भागोमे विभक्त है जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड। जीवकाण्ड मे ७३४ गाथाएँ है और कर्मकाण्डमे ९६२ गाथाएँ हैं। इस ग्रन्थपर दो संस्कृत-टीकाएँ भी लिखी गयी हैं १. नेमिचन्द्र द्वारा जीवप्रदीपिका और २ अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती द्वारा मन्दप्रबोधिनी। गोम्मटसारपर केशव वर्णी द्वारा एक कन्नडवृत्ति भी लिखी मिलती है। टोडरमलजीने सम्यग्ज्ञान-चन्द्रिका नामकी वचनिका लिखी है।

गोम्मटसार षट्खण्डागमकी परम्पराका ग्रन्थ है। जीवकाण्डमे महाकर्म प्राभृतके सिद्धान्तसम्बन्धी जीवस्थान, क्षुद्रबन्ध, बन्धस्वामित्व, वेदनाखण्ड और वर्गणाखंड इन पाँच विषयोका वर्णन है। गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणा और उपयोग इन २० प्ररूपणाओमे जीवकी अनेक अवस्थाओका प्रतिपादन किया गया है।

जीवकाण्डमे जीवोका कथन किया गया है। बीस प्ररूपणाओका कथन पंचसंग्रहके समान ही किया गया है। गोम्मटसार संग्रहग्रन्थ है, इसमे सन्देह नही। जीवकाण्डका संकलन मुख्यरूपसे पञ्चसंग्रहके जीवसमास अधिकार तथा षट्खण्डागम प्रथम खण्ड जीवट्ठाणके सत्प्ररूपणानामक अधिकारोसे किया गया है। धवला ग्रन्थमे पञ्चसंग्रहकी बहुत-सी गाथाएँ शाब्दिक अन्तरके साथ मिलती हैं। अतः जीवकाण्डकी अधिकांश गाथाएँ धवलाटीकामे मिलती हैं। पञ्चसंग्रहकी गाथाओसे विषयका सम्बन्ध नही है।

पञ्चसंग्रहकी अपेक्षा जीवकाण्डकी गाथाओमे विशेषता भी प्राप्त होती है। पंचसंग्रहमे ३० गाथाओमे ही गुणस्थानोंके स्वरूपोका निर्धारण किया गया है, जबकि जीवकाण्डमे ६८ गाथाओमे गुणस्थानोका स्वरूप वर्णित है। इस ग्रन्थमे २० प्ररूपणाओका परस्परमे अन्तरभाव सम्बन्धी कथन और प्रमादोके भंगोका निरूपण भी पंचसंग्रहकी अपेक्षा विशिष्ट है। पंचसंग्रहमे जीवसमासका कथन केवल ग्यारह गाथाओमे है, पर जीवकाण्डमे यह विषय ४८ गाथाओमे निरूपित है। जीवकाण्डमे स्थान, योनि, शरीरकी अवगाहना और कुलोंके द्वारा जीवसमासका कथन भी विस्तारपूर्वक आया है। इस प्रकारका विस्तार

पञ्चसग्रहमे नही मिलता है। पर्याप्तिका कथन पंचसग्रहमे केवल दो गाथाओंमे आया है। किन्तु जीवकाण्डमे यह विषय ११ गाथाओमे निबद्ध है। प्राणोका कथन पचसग्रहमे छह गाथाओमे है, पर जीवकाण्डमे यह विषय पाँच ही गाथाओंमे आया है। इसी प्रकार सज्ञाओ, स्वामियो, मार्गणाओमे जीवो, इन्द्रिय मार्गणाकी अपेक्षा एकेन्द्रिय आदि जीवोके कथन प्रभृतिमे विशेषताएँ विद्यमान है।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड

गोम्मटसार कर्मकाण्डके दो सस्करण प्राप्त होते हैं। पहला सस्करण रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बईका है और दूसरा देवकरण-शास्त्रमालाका है इस ग्रन्थमे ९ अधिकार हैं

१. प्रकृतिसमुत्कीर्तन
२ बन्धोदयसत्व
३ सत्वस्थानभग
४ त्रिचूलिका
५ स्थानसमुत्कीर्तन
६ प्रत्यय
७ भावचूलिका
८ त्रिकरणचूलिका
९ कर्मस्थितिबन्ध

१ प्रकृतिसमुत्कीर्तनका अर्थ है आठो कर्मो और उनकी उत्तरप्रकृतियोका कथन जिसमे हो। यत कर्मकाण्डमे कर्मो और उनकी विविध अवस्थाओका कथन आया है। इसमे जीव और कर्मोंके अनादि सम्बन्धका वर्णन कर कर्मो के आठ भेदोके नाम, उनके कार्य, उनका क्रम और उनकी उत्तर प्रकृतियोमेसे कुछ विशेष प्रकृतियोका स्वरूप, बन्धप्रकृतियो, उदयप्रकृतियो और सत्वप्रकृतियोकी सख्या, देशघाती, सर्वघाती पुण्य और पाप प्रकृतियाँ, पुद्गलविपाकी, क्षेत्रविपाकी, भवविपाकी और जीवविपाकी प्रकृतियाँ, कर्ममे निक्षेप-योजना आदिका कथन ८६ गाथाओमे किया गया है। २२वी गाथामे कर्मोके उत्तरभेदोकी सख्या अकित की है, किन्तु आगे उन भेदोको न बतलाकर उनमेसे कुछ भेदोके सम्बन्धमे विशेष बातें बतला दी गयी हैं। जैसे दर्शनावरणीयकर्मके ९ भेदोमेसे ५ निद्राओका स्वरूप गाथा २३, २४, और २५ द्वारा बतलाया है। २६वी गाथामे मोहनीयकर्मके एक भेद मिथ्यात्वके तीन भाग कैसे होते हैं, यह बतलाया है। गाथा २७ मे नामकर्मके भेदोमे

से शरीरनामकर्मके पाँच भेदोके संयोगी भेद बतलाये हैं। गाथा २८ मे अंगोपांगके भेद आये हैं। गाथा २९, ३० ३१ और ३२ मे किस सहननवाला जीव मरकर किस नरक और किस स्वर्ग तक जन्म लेता है, यह कथन किया है। ३३वीं गाथामे उष्णनामकर्म और आतपनामकर्मके उदयकी चर्चा की गयी है। इस प्रकार कर्मोकी विशेष-विशेष प्रकृतियोके सम्बन्धमे कथन आया है। कर्मप्रकृतिकी विभिन्न स्थितियोको अवगत करनेके लिए यह कर्मकाण्डग्रन्थ अत्यन्त उपादेय है।

बन्धोदयसत्वाधिकारमे कर्मोदयके बन्ध, उदय और सत्वका कथन आया है। स्तवके लक्षणानुसार कर्मकाण्डके इस दूसरे अधिकारमे कर्मोके बन्ध, उदय और सत्वका गुणस्थान एव मार्गणाओमे अन्वयपूर्वक कथन किया है। बन्धके प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्धका क्रमश कथन किया है। प्रकृतिबन्धका कथन करते हुए यह बतलाया है कि किन-किन कर्मप्रकृतियोका बन्ध किस-किस गुणस्थान तक होता है, आगे नही होता। यह कथन पञ्चसग्रहमे भी है। गुणस्थानोमे आठो कर्मोकी १२० प्रकृतियोके बन्ध, अबन्ध और बन्धव्युच्छित्तिका कथन करनेके बाद १४ मार्गणाओमे भी वही कथन किया है। यह कथन पञ्चसग्रहमे नही मिलता। नेमिचन्द्राचार्यने षट्खण्डागमसे लिया है।

प्रकृतिबन्धके पश्चात् स्थितिबन्धका कथन है। कर्मोकी मूल एव उत्तरप्रकृतियोकी उत्कृष्ट और जघन्यस्थितिका निरूपण बन्धकोके साथ किया गया है। इस विवेचनके लिये ग्रन्थकारने धवलाटीकाका आधार ग्रहण किया है।

तत्पश्चात् अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्धका वर्णन आया है। यह वर्णन पञ्चसग्रहसे मिलता-जुलता है। प्रदेशबन्धका कथन करते हुए पचसग्रहमे तो समयप्रबद्धका विभाग केवल मूलकर्मोमे ही बतलाया है, पर कर्मकाण्डमे उत्तरप्रकृतियोमे भी विभागका कथन किया है। कर्मकाण्डमे प्रदेशबन्धके कारणभूत योगके भेदो और अवयवोका भी कथन है। पर यह कथन पचसग्रहमें नही है। केवल धवला और जयधवलामे ही प्राप्त है। उदयप्रकरणमे कर्मोके उदय और उदीरणाका कथन गुणस्थान और मार्गणाओमे है। अर्थात् प्रत्येक गुणस्थान और मार्गणामे प्रकृतियोके उदय, अनुदय और उदय-व्युच्छित्तिका वर्णन है। सत्वप्रकरणमे गुणस्थान और मार्गणाओमे प्रकृतियोकी सत्वासत्व और सत्वविच्छुत्तिका कथन है। मार्गणाओमे बन्ध, उदय और सत्त्वका कथन अन्यत्र नही मिलता। यह आचार्य नेमिचन्द्रकी अपनी विशेषता है।

सत्वस्थानभगप्रकरणमे कहे गये सत्वस्थानका भगोके साथ कथन किया है। प्रत्येक गुणस्थानमे प्रकृतियोके सत्वस्थानके कितने प्रकार सम्भव है और उनके

साथ जीव किस आयुको भोगता है और परभवकी किस आयुको बांधता है, यह सब विस्तारपूर्वक आया है। इसी प्रकरणके अन्तमे ग्रन्थकारने यह कहा है कि इन्द्रनन्दिगुरुके पासमे श्रवण करके कनकनन्दिने सत्वस्थानका निरूपण किया।

त्रिचूलिका अधिकारमे तीन चूलिकाएँ हैं १ नवप्रश्नचूलिका, २ पंचभागहारचूलिका और ३ दशकरणचूलिका। पहली नवप्रश्नचूलिकामे ९ प्रश्नोका समाधान किया है

१. उदयव्युच्छित्तिके पहले वन्धव्युच्छित्तिकी प्रकृतिसख्या।
२ उदयव्युच्छित्तिके पीछे वन्धव्युच्छित्तिकी प्रकृतिसख्या।
३ उदयव्युच्छित्तिके साथ वन्धव्युच्छित्तिकी प्रकृतिसख्या।
४ जिनका अपना उदय होनेपर वन्ध हो, ऐसी प्रकृतियाँ।
५. जिनका अन्य प्रकृतिका उदयपर वन्ध हो, ऐसी प्रकृतियाँ।
६. जिनका अपना तथा अन्य प्रकृतियोके उदय होनेपर वन्ध हो, ऐसी प्रकृतिसंख्या।
७ निरन्तरवन्धप्रकृतियाँ।
८. सान्तरवन्धप्रकृतियाँ।
९ निरन्तर, सान्तरवन्धप्रकृतियाँ।

उपर्युक्त ९ प्रश्नोका इस अधिकारमे उत्तर दिया गया है।

पचभागहारचूलिकामे उद्वेलन, विध्यात, अधःप्रवृत्त, गुणसक्रम और सर्वसक्रम इन पाँच भागहारोका कथन आया है। दशकरणचूलिकामे वन्ध, उत्कर्षण, अपकर्षण, सक्रमण, उदीरणा, सत्ता, उदय, उपशम, निधत्ति और निकाचना इन दश करणोका स्वरूप कहा गया है। और वतलाया है कि कौन करण किस गुणस्थान तक होता है। करणनाम क्रिया का है। कर्मोमे ये दश क्रियायें होती हैं।

वन्धोदयसत्वयुक्तस्थानसमुत्कीर्तनमे एकजीवके एकसमयमे कितनी प्रकृतियोका वन्ध, उदय अथवा सत्व सम्भव है, का कथन किया है। इस अधिकारमे आठो मूलकर्मो को लेकर और पुन प्रत्येक कर्मकी उत्तरप्रकृतियोको लेकर वन्धस्थानो, उदयस्थानो और सत्वस्थानोका निर्देश किया गया है। यह अधिकार गुणस्थानक्रमसे विचार करनेके कारण पर्याप्त विस्तृत है।

प्रत्ययाधिकारमे कर्मवन्धके कारणोका कथन है। मूल कारण चार हैं १. मिथ्यात्व, २ अविरति, ३ कषाय और ४ योग। इनके भेद क्रमसे ५, १२, २५ और १५ होते हैं। गुणस्थानोमे इन्ही मूल और उत्तर प्रत्ययोका कथन इस अधिकारमे किया गया है तथा प्रत्येक गुणस्थानके वन्धके प्रत्यय वतलाये गये हैं।

भावचूलिकाधिकारमें औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक और पारिणामिक इन पाँच भावों तथा इनके भेदोंका निरूपण करते हुए उनके स्वसयोगी और परसयोगी भगोका गुणस्थानोंमें कथन किया है। इसके पश्चात् प्राचीन गाथा उद्धृत कर ३६३ मिथ्यावादियोंके मतोंका निर्देश किया है।

त्रिकरणचूलिकाधिकारमें अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन करणोंका स्वरूप कहा गया है।

कर्मस्थितिरचनाधिकारमें प्रतिसमय बधनेवाले कर्मपरमाणुओंका आठों कर्मोंमें विभाजन होनेके पश्चात् प्रत्येक कर्मप्रकृतिको प्राप्त कर्मनिषेकोंकी रचना उसकी स्थितिके अनुसार आबाधाकालको छोडकर हो जाती है। अर्थात् बन्धको प्राप्त हुए वे कर्मपरमाणु उदयकाल आनेपर निर्जीर्ण होने लगते हैं और अन्तिम स्थितिपर्यन्त खिरते रहते हैं। उनकी रचनाको ही कर्मस्थिति-रचना कहते हैं। इस गोम्मटसार कर्मकाण्डके स्वाध्याय द्वारा कर्मसाहित्यका सम्यक् बोध प्राप्त किया जा सकता है।

त्रिलोकसार

इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थमें १०१८ गाथाएँ हैं। यह करणानुयोगका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसका आधार 'तिलोयपण्णत्ती' और 'तत्त्वार्थवार्तिक' है। ग्रन्थ निम्नलिखित अधिकारोंमें विभक्त है

१ लोकसामान्याधिकार
२. भवनाधिकार
३ व्यन्तरलोकाधिकार
४ ज्योतिर्लोकाधिकार
५ वैमानिकलोकाधिकार
६ मनुष्य-तिर्यक्लोकाधिकार

सामान्यलोकाधिकारमें २०७ गाथाएँ हैं। प्रारम्भमें लोकका स्वरूप बतलाया गया है। यह लोक अकृत्रिम है, अनादिनिधन है, स्वभावनिर्वृत्त है, जीवाजीवोंसे सहित है और नित्य है। इस लोकमें धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य जहाँ तक पाये जाते हैं, वहाँ तक लोक माना जाता है, उसके पश्चात् अलोकाकाश है और यह अनन्त है। लोकके कई आकार बतलाये गये हैं। अधोलोक अर्द्धमृदगके समान है, ऊर्ध्वलोक मृदगके तुल्य है। यह लोक १४ राजुप्रमाण है। लोकके स्वरूपनिरूपणके पश्चात् 'मान'का वर्णन

किया है। 'मान' दो प्रकारका है लोक और लोकोत्तर। लौकिक 'मान'के छह भेद हैं १ मान २ उन्मान ३ अवमान ४ गणिमान ५ प्रतिमान और ६ तत्प्रतिमान। गणनाके मूलत तीन भेद हैं १. सख्यात २ असख्यात और ३. अनन्त। सख्यातका एक ही भेद है, और असख्यातके तीन भेद हैं १ परीतासख्यात २. युक्तासख्यात और ३ संख्यातासख्यात। अनन्तके भी तीन भेद हैं—परीतानन्त, युक्तानन्त और अनन्तानन्त। इस प्रकार उपमाप्रमाण या गणनाके ३ + ३ + १ = ७ भेद हैं और इन सातोके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ये तीन-तीन भेद होते हैं। इस प्रकार ७ × ३ = २१ भेद हुए। असख्यात ज्ञानके निमित्त अनवस्था, शलाका, प्रतिशलाका और महाशलाका इन चार, कुण्डोकी कल्पना की गयी है। इन कुण्डोका व्यास एक लक्ष योजन प्रमाण और उत्सेध एक सहस्र योजन प्रमाण है। कुण्ड गोलाकार होते हैं। इन कुण्डोमे दो आदिक सरसोंसे भरना अनवस्था कुण्ड है।

इस सन्दर्भमे गणना और सख्याकी पारभाषा भी बतायी गयी है। लिखा है

एयादीया गणणा बीयादीया हवंति संखेज्जा।
तीयादीण णियमा कदित्ति सण्णा मुणेदव्वा[1]॥

अर्थात् एकादिकको गणना, दो आदिकको सख्या एवं तीन आदिकको कृति कहते हैं। एक और दोमे कृतित्व नही है। यत जिस सख्याके वर्गमेसे वर्गमूलको घटानेपर जो शेष रहे उसका वर्ग करनेपर उस सख्यासे अधिक राशिकी उपलब्धि हो, वही कृति है। यह कृतिधर्म तीन आदिक सख्याओमे ही पाया जाता है। एकके सख्यात्वका भी निषेध आचार्य नेमिचन्द्रने किया है, क्योकि एककी गिनती गणनासख्यामे नही होती। कारण स्पष्ट है। एक घटको देखकर, यहाँ घट है, इसकी प्रतीति तो होती है, पर उसकी तादादके विषयमे कुछ ज्ञान नही होता। अथवा दान, समर्पणादि कालमे एक वस्तुकी प्रायः गिनती नही की जाती। इसका कारण असम व्यवहार सम्भवव्यवहारका अभाव अथवा गिननेसे अल्पत्वका बोध होना है।

उपर्युक्त वक्तव्यका परीक्षण करनेपर ज्ञात होता है कि सख्या 'समूह'की जानकारी प्राप्त करनेके हेतु होती है। मनुष्यको उसके विकासकी प्रारम्भिक अवस्थासे ही इस प्रकारका आन्तरिक ज्ञान प्राप्त होता है, जिसे हम सम्बोधनके

१. त्रिलोकसार, प्रथमाधिकार, गाथा १६।

मात्रमे सख्याज्ञान कहते है। अतएव समूहगत प्रत्येक वस्तुकी पृथक्-पृथक् जानकारीके अभावमे समूहके मध्यमे होनेवाले परिवर्तनका बोध नही हो सकता है। समूहबोधकी क्षमता और गिननेकी क्षमता इन दोनोमे पर्याप्त अन्तर है। गिनना सीखनेसे पूर्व मनुष्यने सख्याज्ञान प्राप्त किया होगा।

मनुष्यने समूहके बीच रहकर सख्याका बोध प्राप्त किया होगा। जब उसे दो समूहोको जोडनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई होगी, तो धनचिह्न और धनात्मक सख्याएँ प्रादुर्भूत हुई होगी। सख्याज्ञानके अनन्तर मनुष्यने गिनना सीखा और गिननेके फलस्वरूप अंकगणितका आरम्भ हुआ। अकका महत्व तभी व्यक्त होता है, जब हम कई समूहोमे एक सख्याको पाते हैं। इस अवस्थामे उस अकको भावना हमारे हृदयमे वस्तुओंसे पृथक् अकित हो जाती है और फलस्वरूप हम वस्तुओका बार-बार नाम न लेकर उनकी सख्याको व्यक्त करते हैं। इस प्रकार त्रिलोकसारमे सख्या, गणना, कृति आदिका स्वरूप निर्धारित किया है।

सख्याओके दो भेद है- १ वास्तविक और २ अवास्तविक। वास्तविक संख्याएँ भी दो प्रकारकी है सगत और असगत। प्रथम प्रकारकी सख्याओमे भिन्न राशियोका समूह पाया जाता है और द्वितीय प्रकारकी सख्याओमे करणीगत राशियाँ निहित है। इन राशियोके भी असख्यात भेद हैं। आचार्य नेमिचन्द्रके सख्या-भेदोको निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है

(अ) जघन्य-परीत-असख्यात = स ^{3} + १

(आ) मध्यम-परीत-असख्यात = स ^{3}१ ∠अ यु उ

(इ) उत्कृष्ट-परीत-असख्यात = अ यु ज १

(ई) जघन्य-युक्त-असख्यात = (स उ + १) (स उ + १)

(उ) मध्यम-युक्त-असख्यात = (स उ + १) (स उ + १)∠अ यु उ

(ऊ) उत्कृष्ट-युक्त-असख्यात = अ यु उ = ऊ ऊ ज १

(क) जघन्य-असख्यातासख्यात = (अ यु ज)^2

(ख) मध्यम-असख्यातासख्यात = (अ यु ज)^2 ∠अ स उ

(ग) उत्कृष्ट-असख्यातासख्यात = अ प ज १

धवलाटीकामे अनन्तके निम्नलिखित भेद वर्णित हैं

(च) नामानन्त- वस्तुके यथार्थत अनन्त होने या न होनेका विचार किये विना ही उसका बहुत्व प्रकट करनेके लिए अनन्तका प्रयोग करना नामानन्त है।[2]

(छ) स्थापनानन्त यथार्थत अनन्त नही, किन्तु किसी संख्यामे आरोपित अनन्त[3]।

(ज) द्रव्यानन्त तत्काल उपयोग न आते हुए ज्ञानकी अपेक्षा अनन्त[4]।

(झ) गणनानन्त संख्यात्मक अनन्त।

(ञ) अप्रदेशिकानन्त परिमाणहीन अनन्त।

(ट) एकानन्त एक दिशात्मक अनन्त।

(ठ) विस्तारानन्त द्विविस्तारात्मक प्रतरात्मक अनन्ताकाश।

(ड) उभयानन्त द्विदिशात्मक अनन्त एक सीधी रेखा, जो दोनो दिशाओमे अनन्त तक जाती है।

(ढ) सर्वानन्त आकाशात्मक अनन्त।

(ण) भावानन्त ज्ञानकी अपेक्षा अनन्त।

अनन्तके सामान्यतया १ परीतानन्त, २. युक्तानन्त, ३ अनन्तानन्त ये तीन भेद माने जाते हैं। इन तीनोके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे तीन-तीन भेद होनेसे कुल नौ भेद हो जाते हैं। त्रिलोकसारमे उक्त ३ + ९ + ९ = २१ भेद वर्णित हैं।

त्रिलोकसारमे धारासंख्याओका भी कथन आया है। ये १४ प्रकारकी होती हैं

१ सर्वधारा १ + २ + ३ + ४ + ५ अनन्तानन्त

२. समधारा २ + ४ + ६ + ८ + १० + १२ + १४ + १६ + १८ + न

३ विषमधारा १ + २ = ३, ४ + − १ = ५, ६ + − १ = ७, ८ + − १ = ९, १० + − १ = ११, १२ + − १ = १३, १४ + − १ = १५, १६ + − १ = १७, १८ + − १ = १९ न + − १ = न तथा वि + − १ क/न।

४ कृतिधारा १^{२} = १, २^{२} = ४, ३^{२} = ९, ४^{२} = १६, ५^{२} = २५, ६^{२} = ३६, ७^{२} = ४९, ८^{२} = ६४, ९^{२} = ८१, १०^{२} = १००, ११^{२} = १२१, १२^{२} = १४४, १३^{२} = १६९ · न^{२} = न''

५ अकृतिधारा २, ३, ५, ७, ८, १०, ११, १२, १३, १४, १५, १७ न^{२} + − १ = न''

६. घनधारा १^{3} = १, २^{3} = ८, ३^{3} = २७, ४^{3} = ६४, ५^{3} = १२५, ६^{3} = २१६ · न^{3} = न''

७ अवर्गधारा   २, ३, ४, ५, ६, ७, ९, १०, ११, १२, १३, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २०, २१, २२, २३, २४, २५, २६, २८, ६३ ... ।।।।। न

$न^{३} = न^{अ}$

८ कृतिमातृका या वर्गमातृका   १, २, ३, ५ ... $\sqrt{न^{२}} = न$

९ अकृतिमातृका या अवर्गमातृका $\sqrt{मू} + १$, $\sqrt{मू} + ३$, $\sqrt{मू} + २$, $\sqrt{मू} + ५$

$\sqrt{मू} + न = न^{व}$

१० घनमातृका   १, २ ‥ न ·न । ·न ।। · न ।।।

११. अघनमातृका   ३$\sqrt{मू} + १$ ३$\sqrt{मू} + २$ ३$\sqrt{मू} + ३$ ‥ ‥ $न^{च}$

१२ द्विरूपवर्गधारा $(२)^{१६} = ६५५३६$, $(२)^{३२} = (६५५३६)^{२}$ या ४२९४९६७२९६, $(२)^{६४} = (४२९४९६७२९६)^{२} =$ १८४४६७४४०७३७०९५५१६१६

$·(न)^{न} = न^{छ}$

१३ द्विरूपघनधारा $(२)^{३}, (४)^{३}, (९)^{३}$, $(न^{२})^{३}$ ।

१४. द्विरूपघनाघनधारा $[(२)^{२}]^{३}$ $[(४^{३})]^{३}$ $[(न^{३})]^{३१}$

इस प्रकार त्रिलोकसारमे १४ धाराओके कथनके पश्चात् सामान्यलोकाधिकारमे ही वर्गशलाका, अर्द्धच्छेद, त्रिकच्छेद, चतुर्च्छेद आदिका भी कथन आया है। अर्द्धच्छेद गणितको वर्त्तमानमे लघुगणकसिद्धान्त कहा गया है। अर्द्धच्छेदो द्वारा राशिज्ञान प्राप्त करनेके सिद्धान्तका विवेचन करते हुए त्रिलोकसारमे कई नियम आये हैं। इसी प्रकार कुण्डगणितके अनन्तर पल्य, सागर, सूच्यंगुल, प्रतरागुल, घनागुल, जगच्छ्रेणी, जगत्प्रतर और घनलोकका कथन आया है। पल्यके तीन भेद बतलाये हैं १ व्यवहारपल्य २ उद्धारपल्य ३. और अद्धापल्य। इस प्रकार संख्याओका विधान कर अधोलोकका क्षेत्र-

फल आठ आकृतियो द्वारा निकाला गया है। ये आकृतियाँ सामान्य, ऊर्ध्वायत, तिर्यायत, यवमुरज, यवमध्य, मन्दर, दूष्य और गिरिकटक हैं। पिनष्टि क्षेत्रका क्षेत्रफल तो आश्चर्यजनक रीतिमे निकाला गया है। अधोलोकके पश्चात् ऊर्ध्वलोकका सामान्य वर्णन आया है और उसका भी क्षेत्रफल निकाला गया है। इसके पश्चात् त्रसनालीका कथन आया है। यह त्रसनाली एक राजु लम्बी और चौदह राजु चौडी होती है। सामान्यलोकाधिकारके अन्तर्गत ही नरकोके पटलोका कथन किया किया है। प्रथम नरकने १३, द्वितीयमे ११, तृतीयमे ९, चतुर्थमे ७, पंचममे ५, षष्ठमे ३ और सप्तममे १ इन्द्रक हैं। पश्चात् नारकीय जीवोके रहन-सहन, उनके क्षेत्रगत दुःख आदिका वर्णन किया है।

वस्तुत इस ग्रन्थमे जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, मानुषक्षेत्र, भवनवासियोके रहनेके स्थान, आवास, भवन, आयु, परिवार आदिका विस्तृत वर्णन किया है। ग्रह, नक्षत्र, प्रकीर्णक, तारा एव सूर्य, चन्द्रके आयु, विमान, गति, परिवार आदिका भी सागोपाग वर्णन पाया जाता है। स्वर्गोके सुख, विमान एव वहाँके निवासियोकी शक्ति आदिका भी कथन आया है। त्रिलोककी रचनाके सम्बन्धमे सभी प्रकारकी जानकारी इस ग्रन्थसे प्राप्त की जा सकती है।

लब्धिसार

आचार्य नेमिचन्द्रकी तीसरी रचना लब्धिसार है। यह भी गाथाबद्ध है। इसके दो सस्करण प्रकाशित हैं एक रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बईसे और दूसरा हरिभाई देवकरण ग्रन्थमालासे। इस ग्रन्थमे ६४९ गाथाएँ हैं। सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रकी लब्धि अर्थात् प्राप्तिका कथन होनेके कारण इसके नामकी सार्थकता बतलायी गयी है। सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति पाँच लब्धियोके प्राप्त होनेपर ही होती है। वे लब्धियाँ हैं क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण। इनमेसे प्रारम्भकी चार लब्धियाँ तो सर्वसाधारणको होती रहती हैं, पर करणलब्धि सभीको नही होती। इसके प्राप्त होनेपर ही सम्यक्त्वका लाभ होता है। इन लब्धियोका स्वरूप ग्रन्थके प्रारम्भमे दिया है। अध करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणकी प्राप्तिको ही करणलब्धि कहा गया है। अनिवृत्ति करणके होने पर अन्तर्मुहूर्तके लिए प्रथमोपशम सम्यक्त्वका लाभ होता है। प्रथमोपशम सम्यक्त्वके कालमे कम-से-कम एक समय और अधिक-से-अधिक छह आवली काल शेष रहनेपर यदि अनन्तानुबन्धी कषायका उदय आ जाता है, तो जीव सम्यक्त्वमे च्युत होकर सासादनसम्यक्त्वी बन जाता है और उपशमसम्यक्त्वका काल पूरा होनेपर यदि मिथ्यात्वकर्मका उदय आ जाये, तो जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है। इस

प्रकार १०९ गाथापर्यन्त प्रथमोपशमसम्यक्त्वका कथन है। इस प्रकरणमे ९९ वी गाथा कषायपाहुडकी है और १०६, १०८ और १०९ वी गाथा गोम्मटसार जीवकाण्डकी।

गाथा ११० से क्षायिकसम्यक्त्वका कथन आरम्भ होता है। दर्शनमोहनीयकर्मका क्षय होनेसे क्षायिकसम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है, पर दर्शनमोहनीयकर्मके क्षयका प्रारम्भ कर्मभूमिका मनुष्य तीर्थंकरके पादमूलमे अथवा केवली, श्रुतकेवलीके पादमूलमे करता है और उसकी पूर्ति वही अथवा सौधर्मादि कल्पोमे अथवा कल्पातीतदेवोमे अथवा भोगभूमिमे अथवा नरकमे करता है, क्योकि वद्धायुष्क कृतकृत्यवेदक मरकर चारो गतियोमे जन्म ले सकती है।

अनन्तानुवन्धीचतुष्क और दर्शनमोहनीयकी तीन, इन सात प्रकृतियोके क्षयसे उत्पन्न हुआ क्षायिकसम्यक्त्व मेरुकी तरह निष्कम्प, अत्यन्त निर्मल और अक्षय होता है। क्षायिकसम्यग्दृष्टि उसी भवमे, तीसरे भवमे अथवा चौथे भवमे मुक्त हो जाता है। क्षायिकसम्यक्त्वके कथनके साथ दर्शनलब्धिका कथन भी समाप्त हो जाता है। चारित्रलब्धि एकदेश और सम्पूर्णके भेदसे दो प्रकारकी है। अनादिमिथ्यादृष्टि जीव उपशमसम्यक्त्वके साथ देशचारित्रको ग्रहण करता है और सादिमिथ्यादृष्टि जीव उपशमसम्यक्त्व अथवा वेदकसम्यक्त्वके साथ देशचारित्रको धारण करता है।

सकलचारित्रके तीन भेद वताये हैं क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक। क्षायोपशमिक चारित्र छट्टे और सातवें गुणस्थानमे होता है। यह उपशम और वेदक दोनो ही प्रकारके सम्यक्त्वोके साथ उत्पन्न होता है। म्लेच्छ मनुष्य भी आर्य मनुष्योके समान सकलसयम धारण कर सकता है। इस प्रकार लब्धिसारमे, पाँचो लब्धियोका विस्तारपूर्वक वर्णन आया है।

क्षपणासार

क्षपणासारमे ६५३ गाथाएँ हैं। यह भी गोम्मटसारका उत्तरार्ध जैसा है। कर्मोंको क्षय करनेकी विधिका निरूपण इस ग्रन्थमे किया गया है। इसकी प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि माधवचन्द्र त्रैवेद्यने बाहुली मन्त्रीकी प्रार्थना पर सस्कृत-टीका लिखकर पूर्ण की है।

आचार्य नरेन्द्रसेन

अमृतचन्द्रके तत्त्वार्थसारकी शैलीपर आचार्य नरेन्द्रसेनने 'सिद्धान्तसार¹ सग्रह' नामक ग्रन्थ रचा है। शैलीमे समानता होनेपर भी दोनोके नामोके अनुरूप

१ सिद्धान्तसारसग्रहनामक ग्रन्थ जीवराज जैन ग्रन्थमाला शोलापुरसे वि० स० २०१३ में प्रकाशित हुआ है।

विषयमे अन्तर है। तत्त्वार्थसारमे तत्त्वार्थसूत्र और उसके टीकाग्रन्थोका सार है तथा उसका विषयानुक्रम भी तत्त्वार्थसूत्रके अनुरूप है, पर सिद्धान्तसारसग्रहमे सिद्धान्तसम्बन्धी ऐसे विषय चर्चित है जो तत्त्वार्थसूत्र और उसकी टीकाओंके अतिरिक्त अन्यत्र भी प्राप्त हैं।

जीवन-परिचय और समय-विचार

ग्रन्थके अन्तमे ग्रन्थकारने अपनी प्रशस्ति दी है, जिससे अवगत होता है कि लाडवागड सघमे धर्मसेननामके दिगम्बर मुनिराज हुए। उनके पश्चात् क्रमश शान्तिषेण, गोपसेन, भावसेन, जयसेन, ब्रह्मसेन और वीरसेन हुए। वीरसेनके शिष्य गुणसेन हुए और गुणसेनके शिष्य नरेन्द्रसेन हुए।

जयसेनसूरिने 'धर्मरत्नाकर' नामक ग्रन्थ रचा है। इसकी अन्तिम प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि यह भी लाडवागड या झाडवागड सघके आचार्य थे। इन्होने जो गुरुपरम्परा दी है उसमे धर्मसेन, शान्तिषेण, गोपसेन, भावसेन और जयसेनके[1] नाम आये हैं। यह गुरु-परम्परा नरेन्द्रसेनद्वारा प्रदत्त परम्परासे मिलती-जुलती है।

अत' नरेन्द्रसेन धर्मरत्नाकरके कर्त्ता जयसेनके वंशज है। जयसेनने धर्मरत्नाकरकी प्रशस्तिके अन्तसे उसका रचनाकाल १०५५ दिया है। जयसेन और नरेन्द्रसेनके मध्यमे ब्रह्मसेन, वीरसेन और गुणसेन नामके तीन आचार्य और हुए है। नरेन्द्रसेनने अपने ग्रन्थके मध्यमे भी दो स्थानोपर वीरसेनका स्मरण किया है और अपनेको वीरसेनसे 'लब्धप्रसाद' कहा है। अत नरेन्द्रसेन वीरसेनके समयमे वर्त्तमान थे और जयसेन तथा वीरसेनके मध्यमे केवल एक ब्रह्मसेन आते हैं। अत जयसेनके धर्मरत्नाकरकी समाप्तिसे अधिक-से-अधिक पचास वर्ष पश्चात् अर्थात् वि० स० ११०५ वीरसेनका समय माना जा सकता है। और इस तरह नरेन्द्रसेनको विक्रमकी १२वी शताब्दिके द्वितीय चरणका विद्वान् मानना उचित है।

अमृतचन्द्रके तत्त्वार्थसारसे नरेन्द्रसेनको सिद्धान्तसार रचनेकी प्रेरणा मिली अवगत होती है, क्योकि नरेन्द्रसेनके पूर्वज जयसेनने अपने धर्मरत्नाकरमे अमृत-

१ तेनागीयत झाडवागड इति त्वेको हि सघोऽनघ धर्मसेनोगणीद्र तेभ्य श्री (तस्माच्छी) शातिषेण समजनि श्रीगोपसेनगुरुराविरभूत्स जगत्सुवलिना श्रीभावसेनस्तत जगति जयसेनाख्य इह स इति श्री सूरि जयसेनविरचित धर्मरत्नाकरनामशास्त्र समाप्तम्। जैनग्रन्थ प्रशस्ति-सग्रह, प्रथम भाग, वीरसेवामन्दिर, दरियागंज दिल्ली द्वारा प्रकाशित, पृ०—४।

चन्द्रके पुरुषार्थसिद्ध्युपायके अनेक पद्य उद्धृत किये है। अतएव वि० स० १०५० के पश्चात् नरेन्द्रसेनका होना स्वाभाविक है।

सिद्धान्तसारपर अमितगतिके श्रावकाचारका भी प्रभाव सम्भव है। सिद्धान्तसारके चतुर्थ अध्यायमे निदानके प्रशस्त और अप्रशस्त भेदोका कथन किया है। यह सन्दर्भ अमितगतिका अनुकरण जान पडता है। अमितगति-श्रावकाचारके सप्तम अध्यायके २०, २१ और २२वें पद्यका सिद्धान्तसार चतुर्थ अध्यायके पद्य २४६–५० का मिलान करनेपर अमितगति-श्रावकाचारके उक्त पद्योपर स्पष्ट प्रभाव ज्ञात होता है। अमितगति माथुरसघके आचार्य थे, यह पहले कहा जा चुका है।

अतएव नरेन्द्रसेन भी अमितगतिके समान काष्ठासघी ही प्रतीत होते हैं। काष्ठासघमे नन्दितट, माथुर, बागड और लाटबागड या झाडबागड ये चार प्रसिद्ध गच्छ हुए हैं, ऐसा सुरेन्द्रकीर्तिविरचित पट्टावलीसे ज्ञात होता है

काष्ठासघो भुवि ख्यातो जानन्ति नृसुरासुरा।
तत्र गच्छाश्च चत्वारो राजन्ते विश्रुता क्षितौ॥
श्रीनन्दितटसज्ञश्च माथुरो बागडाभिध।
लाडबागड इत्येते विख्याता क्षितिमण्डले॥[1]

श्री डॉ० कोठियाजीने अत्यन्त विस्तारपूर्वक इनके वश और समयपर विचार किया है[2]।

नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती द्वारा विरचित गोम्मटसार तथा त्रिलोकसारका भी उपयोग नरेन्द्रसेनने अपनी रचनामे किया प्रतीत होता है। उनके जीवतत्त्व-विषयक वर्णनमे उक्त ग्रन्थोके अनेक गाथासूत्र अनुवाद जैसे प्रतीत होते हैं। सिद्धान्तसारसग्रहके चतुर्थ अध्यायमे केवलि-भुक्ति और स्त्री-मुक्तिका खण्डन है, जो आचार्य प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डका अनुसरण है। प्रभाचन्द्रका समय वि० स० १०३७-११२२ निर्धारित किया है। इससे भी नरेन्द्रसेन वि० स० १२वी शतीके विद्वान् सिद्ध होते हैं।

रचना

इनकी एक ही रचना उपलब्ध है सिद्धान्तसारसग्रह। यह ग्रन्थ १२ अध्यायो-मे विभाजित है और सस्कृत-भाषामे अनुष्टुप छन्दोमे लिखा गया है। प्रत्येक अध्यायके अन्तमे छन्दपरिवर्तन हुआ है और पुष्पिकामे सिद्धान्तसारसग्रह यह नाम दिया गया है।

१. जैनसाहित्यका इतिहास पृ० २७७ पर उद्धृत।
२. प्रमाणप्रमेयकालिका, प्रस्तावना, पृ० ५०–५९।

प्रथम अध्यायमे सम्यग्दर्शनका निरूपण है। सम्यग्दर्शनका लक्षण समन्त-भद्रके 'रत्नकरण्डश्रावकाचार'के आधारपर रचा गया है। यथा

सदृष्टिज्ञानसद्वृत्तरत्नत्रितयनायकं ।
कथित परमो धर्मं कर्मकक्षक्षयानल. ॥१३३॥
श्रद्धान शुद्धवृत्तीना देवतागमलिङ्गिनाम् ।
मौढ्यादिदोपनिर्मुक्तं दृष्टिं दृष्टिविदो विदु ॥१३४॥

तुलना करें

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदु ।
× × × ×
श्रद्धान परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम् ।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्ग सम्यग्दर्शनमस्मयम्[1] ॥

मिथ्यादृष्टियोका वर्णन करते हुए गोपूजा, पीपलवृक्षपूजा एवं गतानुगतिकसे आये हुए लोकविश्वासोका इसमे निर्देश है। इस ग्रन्थमे भाव-संग्रहके अनुसार ही सम्यग्दर्शनके संवेग, निर्वेद आदि आठ गुणोका कथन किया है तथा आठोंके लक्षण भी दिये गये हैं। मुनियोमें दोष देखनेवालोकी भी निन्दा की गयी है। इन विशेष बातोंके अतिरिक्त सम्यग्दर्शनके २५ दोषो और ८ अगोका भी कथन है।

द्वितीय अध्यायमे सम्यग्ज्ञानका वर्णन है। इसके आरम्भमे ही ज्ञानको प्रमाण न मानने और इन्द्रिय या सन्निकर्ष आदिको प्रमाण माननेवाले नैयायिक-वैशेषिक आदि मतोकी समीक्षा की है। मतिज्ञानके भेद-प्रभेदोका वर्णन करते हुए बुद्धि, ऋद्धिके भेदोका भी स्वरूप बतलाया गया है। श्रुतज्ञानके प्रकरणमे द्वादशाङ्गके भेद-प्रभेदो एव अगबाह्यश्रुतके भेदोका स्वरूप वर्णित है। इस सन्दर्भमे धवला और जयधवलामे बतलाये हुए स्वरूपसे भी कही कुछ अन्तर है। उदाहरणार्थ दशवैकालिकके स्वरूपको लिया जा सकता है। बताया है-द्रुम, पुष्पित आदि दश अधिकारोके द्वारा जिसमे साधुओके आचरणका वर्णन हो वह दशवैकालिक है। ये दश अधिकार श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य दशवैकालिकके ही दश अध्याय है। गोम्मटसार जीवकाण्डके समान श्रुतज्ञानके पर्याय, पर्याय-समास, अक्षर, अक्षर-समास आदि २० भेदोका भी कथन किया गया है। शेप ज्ञानोका वर्णन तो सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्त्तिक जैसा है।

तृतीय अध्यायमे चारित्रका वर्णन है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य

१. रत्नकरण्डश्रावकाचार, पद्य ३-४।

और अपरिग्रह व्रतोका वर्णन नरेन्द्रसेन अमितगतिके श्रावकाचार जैसा ही किया है। यथा

> यो यस्य हरते वित्त स तज्जीवितहृन्नरः ।
> वहिरग हि लोकाना जीवित वित्तमुच्यते[1] ॥
>
> × × × ×
>
> यो यस्य हरति वित्त स तस्य जीवस्य जीवित हरति ।
> आश्वासकर वाह्यं जीवाना जीवित वित्तम्[2] ॥

स्तेय और परिग्रहका लक्षण वतलानेवाले सूत्रोकी व्याख्यामे सर्वार्थसिद्धिमे जो शङ्का-समाधान किया गया है उसे भी ग्रन्थकारने ज्यो-का-त्यो अपना लिया है।

चतुर्थ अध्यायमे अणुव्रत और महाव्रतोका सामान्य निर्देशकर मिथ्यात्व नामक शल्यका कथन करते हुए अनेक दार्शनिक मतोकी विस्तारपूर्वक चर्चा की है। आत्माकी नित्यता, क्षणिकता, वौद्धोका शून्यवाद, चार्वाकका जडवाद, साख्यका कूटस्थ नित्यवाद, मीमासकोका सर्वज्ञाभाववाद, वेदकी अपौरुषेयता और जगतत्कर्तृत्ववादकी समीक्षा की है। श्वेताम्वर परम्परा द्वारा मान्य केवली-कवलाहार और स्त्रीमुक्तिकी भी आलोचना की गयी है।

पचम अध्यायमे जीवादि तत्त्वोका स्वरूप वर्णित है। जीवका लक्षण और गुण वर्णन करनेके पश्चात् उसके कर्तृत्व, अमूर्तत्व, भोक्तृत्व, स्वदेहपरिमाणत्व, उपयोगमयत्व, ससारित्व और ऊर्ध्वगमन धर्मोका वर्णन आया है। इनका समर्थन करते हुए लिखा है कि भाट्ट और नास्तिक जीवको मूर्त मानते हैं, अतएव अमूर्त कहा है। योग शुद्धचैतन्यमय मानते है, इसलिए उपयोगमय कहा है। साख्य जीवको अकर्त्ता मानता है, इसलिए कर्त्तापद दिया है। योग (नैयायिक) भाट्ट (मीमासक) और साँख्य जीवको व्यापी मानते हैं, इसलिए स्वदेहपरिमाण कहा है। इस अध्यायके अगले सदर्भो का विषय सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिकके द्वितीय अध्यायके समान आया है। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेपोका स्वरूप सर्वार्थसिद्धिके समान ही निवद्ध है। इस पचम अध्यायका उत्तरार्ध तत्त्वार्थसूत्र और उसके टीकाग्रन्थोके अनुसार लिखा गया है।

छठे अध्यायमे नरकलोकका वर्णन करते हुए सातो भूमियोका स्वरूप, नरकपटल एव नरकोके विलोका भी कथन किया गया है। प्रकृति और

१ सिद्धान्तसारसग्रह, ५४।
२ अमितगति-श्रावकाचार ६।६१।

कर्मोदयसे प्राप्त होनेवाले दुःखोंका भी कथन आया है। इस अध्यायमे भूमियोंके वर्ण, प्रकाश एव उनके क्षेत्र और विस्तारका भी निरूपण है।

सप्तम अध्यायमे मध्यलोक और उसके अन्तर्गत जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, धातकीखण्ड, कालोदधिसमुद्र, पुष्करवरद्वीप, मानुषोत्तर षट्कुलाचल, भरत, ऐरावत्त आदि सप्तक्षेत्र, कर्मभूमि, भोगभूमि आदिका प्रतिपादन किया गया है।

अष्टम अध्यायमे वैमानिक देवोका वर्णन है। सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र आदि सोलह स्वर्ग नवग्रैवेयक, नव अनुदिश, विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि विमानोका कथन है। तत्त्वार्थसूत्रके समान ही स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्या और अवधिज्ञानकी उत्तरोत्तर अधिकता प्रतिपादित की है। गति, शरीर, परिग्रह और अभिमानकी अपेक्षा उत्तरोत्तर हीनता वतलायी गयी है। लौकान्तिक देवोके भेदोका वर्णन कर देवोकी उत्कृष्ट और जघन्य आयुका वर्णन किया है।

नवम अध्यायमे अजीव, आस्रव और वन्धतत्त्वका वर्णन किया है। अजीवके पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल भेदो, तथा जीव सहित षड्द्रव्यो, आस्रवका स्वरूप, आस्रवके प्रत्यय और उसके भेद, वन्धतत्त्वका स्वरूप, वन्धके कारण और वन्धके भेदोका विस्तारपूर्वक कथन आया है।

दशम अध्यायमे निर्जरातत्त्वका वर्णन करते हुए तपके प्रसङ्गसे प्रायश्चित्त-का वर्णन वहुत विस्तारपूर्वक किया है। ऐसा वर्णन अन्यत्र नही आया है। वस्तुत प्रायश्चित्त ही इस अध्यायका मुख्य वर्ण्य विषय है। किस अपराधके होनेपर कौन-सा प्रायश्चित्त कव ग्रहण करना चाहिए, इसका विस्तारपूर्वक विवेचन आया है।

एकादश अध्यायमे विनयतपसे लेकर ध्यानतप तकका वर्णन है। ध्यानके आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल इन चारो ध्यानोका स्वरूप, इनके भेद तथा धर्म-ध्यानके पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत भेदोका स्वरूपसहित विवेचन किया है।

द्वादश अध्यायमे भगवती-आराधनाके आधारपर मरणके भेद वतलाकर समाधिमरणका विस्तारपूर्वक कथन किया है। निश्चयत इस ग्रन्थमे 'तत्त्वार्थ-सार'की अपेक्षा अधिक विषयोका समावेश है। तत्त्वार्थसारमे चर्चित विषयोका विस्तारपूर्वक कथन किया ही गया है।

नरेन्द्रसेनके नामसे एक प्रतिष्ठाग्रन्थ भी मिलता है। पर हमारा विचार है कि यह ग्रन्थ सिद्धान्तसारसग्रहके रचयिता नरेन्द्रसेनका न होकर किसी अन्य नरेन्द्रसेनका है।

नेमिचन्द्र मुनि

अभी तक यह धारणा चली आ रही थी कि द्रव्यसंग्रह या बृहद्द्रव्यसंग्रहके रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती हैं। पर अब नये प्रमाणोंके आलोकमें यह मान्यता परिवर्तित हो गयी है। अब समीक्षक विद्वानोंका अभिमत है कि द्रव्यसंग्रहके रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्तिचक्रवर्तीसे भिन्न अन्य कोई नेमिचन्द्र हैं, जिन्हें नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव या नेमिचन्द्रमुनि कहा गया है। बृहद्द्रव्यसंग्रहके टीकाकार ब्रह्मदेवने ग्रन्थका परिचय देते हुए लिखा है

"अथ मालवदेशे धारानामनगराधिपतिराजभोजदेवाभिधानकलिकालचक्रवर्तिसम्बन्धिन श्रीपालमण्डलेश्वरस्य सम्बन्धिन्याश्रमनामनगरे श्रीमुनिसुव्रततीर्थंकरचैत्यालये शुद्धात्मद्रव्यसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतरसास्वादविपरीतनारकादिदुःखभयभीतस्य परमात्मभावनोत्पन्नसुखसुधारसपिपासितस्य भेदाभेदरत्नत्रयभावनाप्रियस्य भव्यवरपुण्डरीकस्य भाण्डागाराद्यनेकनियोगाधिकारिसोमाभिधानराजश्रेष्ठिनो निमित्तं श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवैः पूर्वं षड्विंशतिगाथाभिर्लघुद्रव्यसंग्रहं कृत्वा पश्चाद्विशेषतत्त्वपरिज्ञानार्थं विरचितस्य बृहद्द्रव्यसंग्रहस्याधिकारशुद्धिपूर्वकत्वेन वृत्तिः प्रारभ्यते।"[1]

मालवदेशमें धारानगरीका स्वामी कलिकालसर्वज्ञ राजा भोजदेव था। उससे सम्बद्ध मण्डलेश्वर श्रीपालके आश्रमनामक नगरमें श्री मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकरके चैत्यालयमें भाण्डागार आदि अनेक नियोगोंके अधिकारी सोमनामक राजश्रेष्ठिके लिए श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेवने पहले २६ गाथाओंके द्वारा लघुद्रव्यसंग्रह नामक ग्रन्थ रचा। पीछे विशेषतत्त्वोंके ज्ञानके लिये बृहद्द्रव्यसंग्रह नामक ग्रन्थ रचा। उसकी वृत्तिको मैं प्रारम्भ करता हूँ।

इस उद्धरणसे स्पष्ट है बृहद्द्रव्यसंग्रह और लघुद्रव्यसंग्रहके रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव हैं।

श्री डॉ० दरबारीलालजी कोठियाने[2] द्रव्यसंग्रहकी प्रस्तावनामें नेमिचन्द्र नामके विद्वानोंका उल्लेख किया है। इनके मतानुसार प्रथम नेमिचन्द्र गोम्मटसार, त्रिलोकसार, लब्धिसार और क्षपणासार जैसे सिद्धान्तग्रन्थोंके रचयिता हैं। इनकी उपाधि सिद्धान्तचक्रवर्ती थी और गंगवंशी राजा राचमल्लके

१. बृहद्द्रव्यसंग्रह, दिल्ली संस्करण, वि० सं० २०१०, पृ० १-२।

२. श्री दरबारीलाल कोठिया द्वारा सम्पादित द्रव्यसंग्रह, प्रस्तावना पृ० २८, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी।

प्रधान सेनापति चामुण्डरायके गुरु भी थे। इनका अस्तित्वकाल वि० सं० १०३५ या ई० सन् ९७८के पश्चात् है।

द्वितीय नेमिचन्द्र वे हैं, जिनका उल्लेख वसुनन्दि सिद्धान्तिदेवने अपने उपासकाध्ययनमे किया है और जिन्हे जिनागमरूप समुद्रकी वेलातरगोसे धुले हृदयवाला तथा सम्पूर्ण जगतमे विख्यात लिखा है

सिस्सो तस्स जिणागम-जलणिहि-वेलातरग-धोयमणो।
सजाओ सयल-जए विक्खाओ णेमिचंदु त्ति॥
तस्स पसाएण मए आइरिय-परपरागयं सत्थं।
वच्छल्लयाए रइयं भवियाणमुवासयज्झयण[1]॥

इन नेमिचन्द्रके नयनन्दि गुरु थे और वसुनन्दि सिद्धान्तिदेव शिष्य।

तृतीय नेमिचन्द्र वे है जिन्होने सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्रके गोम्मटसार पर जीवतत्त्वप्रदीपिका नामकी सस्कृत-टीका लिखी थी। यह टीका अभयचन्द्रकी मन्दप्रबोधिका और केशववर्णीकी सस्कृत मिश्रित कन्नड़ टीकाके आधारपर रची गयी है।

चतुर्थ नेमिचन्द्र सम्भवत द्रव्यसग्रहके रचयिता हैं। अतएव प्रथम और तृतीय नेमिचन्द्रको तो एक नही कह सकते। ये दोनो दो व्यक्ति हैं। सिद्धान्त-चक्रवर्ती मूलग्रन्थकार हैं और तृतीय नेमिचन्द्र टीकाकार हैं। प्रथम नेमिचन्द्रका समय वि० की ११वी (ई० स० ११) शताब्दी है और तृतीयका ई० सन्‌की १६वीं शताब्दी। अत इन दोनो नेमिचन्द्रोंके पौर्वापर्यमे ५०० वर्षो का अन्त-राल है। इसीप्रकार प्रथम और द्वितीय नेमिचन्द्र भी एक नही है। प्रथम नेमिचन्द्र वि० की ११वी शताब्दीमे हुए हैं तो द्वितीय उनसे १०० वर्ष बाद वि० की १२वी शताब्दीमे, क्योकि द्वितीय नेमिचन्द्र वसुनन्दि सिद्धान्तिदेवके गुरु थे और वसुनन्दिका समय वि० स० ११५०के लगभग है। इन दोनो नेमि-चन्द्रोकी उपाधियां भी भिन्न हैं। प्रथमकी उपाधि सिद्धान्तचक्रवर्ती है, तो द्वितीयकी सिद्धान्तिदेव।

प्रथम और चतुर्थ नेमिचन्द्र भी भिन्न हैं। प्रथम अपनेको सिद्धान्तचक्रवर्ती कहते हैं, तो चतुर्थ अपनको 'तनुसूत्रधर'। वृहद्द्रव्यसग्रहके सस्कृतटीकाकार ब्रह्मदेवने द्रव्यसग्रहकारको सिद्धान्तिदेव लिखा है, सिद्धान्तचक्रवर्ती नही। अतएव हमारी दृष्टिमे द्रव्यसग्रहके रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव हैं। पण्डित आशाधरजीने वसुनन्दि सिद्धान्तिदेवका सागारधर्मामृत और अनगारधर्मा-

१. उपासकाध्ययन, गाथा, ५४३, ५४४।

मृत दोनों ही टीकाओंमे उल्लेख किया है और वसुनन्दिने इन सिद्धान्तिदेवको अपने गुरुके रूपमे स्मरण किया है तथा इन्हे श्रीनन्दिका प्रशिष्य एव नयनन्दि-का शिष्य बतलाया है। ये नयनन्दि यदि 'सुदसणचरिउ'के रचयिता हैं, जिसकी रचना उन्होने भोजदेवके राज्यकालमे वि० स० ११००मे की थी, तो नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव नयनन्दिसे कुछ ही उत्तरवर्ती और वसुनन्दिसे कुछ पूर्व-वर्ती, अर्थात् वि० स० ११२५के लगभगके विद्वान सिद्ध होते हैं। पडित आशा-धरजी ने द्रव्यसग्रहकार नेमिचन्द्रका उल्लेख किया है। अतएव वसुनन्दि सिद्धान्तिदेवके गुरु द्रव्यसग्रहके रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव ही होगे।

समय-विचार

नयनन्दिने अपना 'सुदसणचरिउ' वि० स० ११००मे पूर्ण किया है। अत नयनन्दिका अस्तित्व समय वि० स० ११०० है। यदि इनके शिष्य नेमि-चन्द्रको इनसे २५वर्ष उत्तरवर्ती माना जाय, तो इनका समय लगभग वि० स० ११२५ सिद्ध होता है। इनके शिष्य वसुनन्दिका समय वि० स० ११५० माना जाता है। अतएव नयनन्दि और वसुनन्दिके मध्य होनेके कारण नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेवका समय वि० स० ११२५के आस-पास होना चाहिये।

ब्रह्मदेवके अनुसार यह ग्रन्थ भोजके राज्यकाल अर्थात् वि० स० की १२वी शताब्दी (ई० सन् ११वी शती)मे लिखा गया है। अतएव द्रव्यसग्रहके रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेवका समय वि० सं० की १२वी शताब्दीका पूर्वार्ध है। अर्थात् ई० सन्की ११वी शतीका अन्तिम पाद है। डॉ० दरबारीलाल कोठियाने अपना फलितार्थ उपस्थित करते हुए लिखा है

"यदि नयनन्दिके शिष्य नेमिचन्द्रको उनसे अधिक से-अधिक २५ वर्ष पीछे माना जाय तो वे लगभग वि० स० ११२५के ठहरते हैं[1]।"

द्रव्य सग्रहकी रचना आश्रमनगरमे बतलाई गयी है। यह आश्रमनगर 'आशारम्यपट्टण', 'आश्रमपत्तन', 'पट्टण' और 'पुटभेदन'के नामसे उल्लिखित है। दीपचन्द्रपाण्ड्या और डॉ० दशरथ शर्माके अनुसार इस नगरकी स्थिति राजस्थानके अन्तर्गत कोटासे उत्तर-पूरबकी ओर लगभग नौ मीलकी दूरी पर बूंदीसे लगभग तीन मीलकी दूरीपर चम्बल नदीपर अवस्थित वर्तमान 'केशवरायपाटन' अथवा पाटनकेशवराय ही है। प्राचीनकालमे यह राजा भोजदेवके परमार-साम्राज्यके अन्तर्गत मालवामे रहा है। अपनी प्राकृतिक रम्यताके कारण यह स्थान आश्रमभूमि (तपोवन)के उपयुक्त होनेके कारण आश्रम कहलानेका अधिकारी है।

---

१ द्रव्यसग्रह, प्रस्तावना, पृ० ३६।

रचनाएँ

नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेवकी दो ही रचनाएँ उपलब्ध है १. लघुद्रव्यसंग्रह और २ वृहद्द्रव्यसग्रह।

लघुद्रव्यसंग्रह

इसकी प्रथम गाथामे ग्रन्थकारने जिनेन्द्रदेवके स्तवनके पश्चात् ग्रन्थमे वर्णित विषयका निर्देश करते हुए बताया है कि जिसने छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सप्ततत्त्व और नवपदार्थों का तथा उत्पादव्ययध्रौव्यका कथन किया है, वे जिन जयवन्त हो। स्पष्ट है कि इस ग्रन्थमे षट्द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, साततत्त्व, नवपदार्थ और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य और ध्यानका कथन किया गया है। पाँच अस्तिकाय तो छह द्रव्योके अन्तर्गत ही हैं। यत' जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य हैं और कालके अतिरिक्त शेष पाँच द्रव्य बहु-प्रदेशी होनेसे अस्तिकाय कहे जाते हैं। इसी तरह जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप ये नौ पदार्थ हैं। इनमेसे पुण्य-पापको पृथक् कर देनेपर शेष सातको तत्त्व कहते हैं। इस प्रकार इस ग्रन्थमे द्रव्य, तत्त्व, पदार्थ और अस्तिकायोका स्वरूप बतलाया गया है।

लघुद्रव्यसग्रहमे कुल २५ गाथाएँ हैं। पहली गाथामे वक्तव्य विषयके निर्देशके साथ मगलाचरण है। दूसरी गाथामे द्रव्यो और अस्तिकायोका तथा तीसरी गाथामे तत्त्वो और पदार्थोका नाम निर्देश किया है। ग्यारह गाथाओमे द्रव्योका, पाँच गाथाओमे तत्त्वो और पदार्थोका एव दो गाथाओमे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका कथन किया है। उत्तरवर्ती दो गाथाओमे ध्यानका निरूपण आया है। २४ वी गाथामे नमस्कार और २५ वी गाथामे नामादि कथन है। सक्षेपमे जैन तत्त्वज्ञानकी जानकारी इस ग्रन्थसे प्राप्त की जा सकती है।

द्रव्योके स्वरूपको बतलानेवाली गाथाओमे गाथा-सख्या ८, ९, १० और ११ का पूर्वार्द्ध और १२ तथा १४ गाथाएँ वृहद्द्रव्यसग्रहमे भी पायी जाती हैं। शेष गाथाएँ भिन्न हैं। ब्रह्मदेवके अनुसार इसमे एक गाथा कम है। सम्भव है कि लघुद्रव्यसग्रहकी प्राप्त प्रतिमे एक गाथा छूट गयी हो।

बृहद्द्रव्यसंग्रह

बृहद्द्रव्यसग्रह और पचास्तिकायकी तुलना करनेपर ज्ञात होता है कि पचास्तिकायकी शैली और वस्तुको द्रव्यसग्रहकारने अपनाया है, जिससे उसे लघुपचास्तिकाय कहा जा सकता है। पचास्तिकाय भी तीन अधिकारोमे विभक्त है और द्रव्यसग्रह भी तीन अधिकारोमे। पचास्तिकायके प्रथम अधि-कारमे द्रव्योका, द्वितीयमे नौ पदार्थोंका और तृतीयमे व्यवहार एव निश्चय

मोक्षमार्गका कथन आया है। द्रव्यसग्रहके तीनो अधिकारोमे भी क्रमश उक्त विषय ही आया है। पंचास्तिकायमे सत्ता, द्रव्य, गुण, पर्याय आदिकी दार्शनिक चर्चाएँ हैं, पर द्रव्यसग्रहमे उनका अभाव है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि जैनतत्त्वोके प्राथमिक अभ्यासीोके लिए उक्त दार्शनिक चर्चाएँ दुरूह हैं। यही कारण है कि सोमश्रेष्ठिके बोधार्थ पचास्तिकायके रहनेपर भी इस इस ग्रन्थके रचनेकी ग्रन्थकारको आवश्यकता प्रतीत हुई।

उल्लेखनीय है कि द्रव्यसग्रहकारने निश्चय एव व्यवहार दोनो नयोसे निरूपण किया है। व्यवहारनयमे किसी अवान्तर भेदका निर्देश तो द्रव्यसग्रहमे नही है किन्तु निश्चयके शुद्ध और अशुद्ध भेदोका निर्देश अवश्य है।

ग्रन्थमे ५८ गाथाएँ है। प्रथम गाथामे जीव और अजीव द्रव्योका कथन करनेवाले भगवान ऋषभदेवको नमस्कार कर ग्रन्थकारने ग्रन्थमे वक्तव्य विषयका भी निर्देश कर दिया है। दूसरी गाथासे जीवद्रव्यका कथन आरम्भ होता है। इसमे जीवको जीव, उपयोगमय, अमूर्तिक, कर्ता, स्वदेहपरिमाण, भोक्ता, ससारी और स्वभावसे उर्ध्वगमन करनेवाला बतलाया है। यथा -

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता ससारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई[1] ॥

इस गाथाके द्वारा नौ अवान्तर अधिकारोकी सूचना दी गयी है। गाथामे निर्दिष्ट क्रमसे प्रत्येक अधिकारका कथन निश्चय और व्यवहार नयकी अपेक्षासे किया है। पचास्तिकायमे भी इसी तरह कथन है।

जीवो त्ति हवदि चेदा उवओगविसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता य देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्मसजुत्तो ॥
कम्ममलविप्पमुक्को उड्ढ लोगस्स अतमधिगता।
सो सव्वणाण-दरिसी लहदि सुहमणिदियमणत[2] ॥

आत्मा जीव है, उपयोगमय है, प्रभु है, कर्ता है, भोक्ता है, शरीरपरिमाण है, अमूर्तिक है, कर्मसयुक्त है और उर्ध्वगमनस्वभाव है।

पचास्तिकायकी इस शैलीका ही उपयोग द्रव्यसग्रहकारने किया है। १५वी गाथासे अजीवद्रव्योका कथन प्रारम्भ होता है। १६वी गाथामे तत्त्वार्थसूत्रके समान शब्दादिको पुद्गलका पर्याय कहा है। २८ गाथासे आस्रव आदि तत्त्वोका वर्णन प्रारम्भ होता है। भाव और द्रव्यकी अपेक्षा प्रत्येकके दो-दो

१ वृहद्द्रव्यसग्रह, गाथा २।
२ पञ्चास्तिकाय, गाथा २७, २८।

भेद बतलाकर बहुत ही सक्षेपमे किन्तु सरल और स्पष्ट विवेचन किया है। गाथा ३५ मे व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्रको भावसवरके भेद बतलाया है। तत्त्वार्थसूत्रमे व्रतोको तो पुण्यास्रव माना है और शेषको सवरका हेतु बतलाया है। व्रतोमे निवृत्तिका अश भी होता है। अतएव यहाँ व्रतोको सवरका हेतु बतलाया गया है।

तृतीय अधिकारमे द्विविध मोक्षमार्गका कथन करते हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका स्वरूप बतलाकर ध्यानाभ्यास करनेपर जोर दिया है, क्योकि ध्यानके विना मोक्षकी प्राप्ति सम्भव नही है। ध्यानके भेद और स्वरूपादिकका कथन तो इस ग्रन्थमे नही आया है, किन्तु पचपरमेष्ठियोके वाचक मन्त्रोको जपने तथा उनका ध्यान करनेकी प्रेरणा की है और इसीलिये अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पचपरमेष्ठियोका स्वरूप एक-एक गाथाके द्वारा बतलाया गया है। अन्तमे तप, श्रुत और व्रतोका धारी आत्मा ही ध्यान करनेमे समर्थ है, का कथन किया है। इस प्रकार ग्रन्थकारने इसमे बहुत सक्षेपमे जैनदर्शनके प्रमुख तत्त्वोका कथन किया है।

५८वी गाथामे ग्रन्थकारने अपने नामका निर्देश करते हुए लघुता प्रकट की है—

दव्वसगहमिण मुणिणाहा दोस-सचय-चुदा सुद-पुण्णा।
सोधयतु तणु-सुत्तधरेण णेमिचदमुणिणा भणिय[1] ज ॥

यह द्रव्यसग्रह अल्पसूत्रधारी नेमिचन्द्र मुनिके द्वारा रचा गया है। गुणोके भण्डार, श्रुतज्ञानी श्रमणनायक इसे निर्दोष बना लेवे।

अन्य चर्चित सारस्वताचार्य

पूर्वोक्त वर्णित प्रमुख सारस्वताचार्योंके अतिरिक्त ऐसे भी कई अन्य सारस्वताचार्य मिलते हैं, जिनकी स्वतन्त्र रचनाएँ उपलब्ध नही है अथवा जिनके व्यक्तित्वके सम्बन्धमे स्वतन्त्ररूपसे जानकारी प्राप्त नही होती है। किन्तु अपने समयमे असाधारण व्यक्तित्व होनेके कारण इनके निर्देश हरिवशपुराण, आदिपुराण अथवा अन्य ग्रन्थोमे प्राप्त होते है। अतएव यहाँ ऐसे आचार्योपर भी कुछ प्रकाश डाला जाता है।

आचार्य सिंहनन्दि

गग-राजवशकी स्थापनामे सहायता देनेवाले आचार्य सिहनन्दि विशेष उल्लेखनीय है। गगवशका सम्बन्ध प्राचीन इक्ष्वाकुवशसे माना जाता है। मूलत

१ वृहद्द्रव्यसग्रह, गाथा ५८।

यह वंश उत्तर या पूर्वोत्तरका निवासी था। ई० सन्‌की दूसरी शताब्दीके लगभग इस वंशके दो राजकुमार दक्षिणमे आये। उनके नाम दडिग और माधव थे। पेरूर नामक स्थानमे उनकी भेंट जैनाचार्य सिंहनन्दिसे हुई। सिंहनन्दिने उनकी योग्यता और शासनक्षमता देखकर उन्हे शासनकार्यकी शिक्षा दी। एक पत्थरका स्तम्भ साम्राज्यदेवीको प्रवेश करनेसे रोक रहा था। सिंहनन्दिकी आज्ञासे माधवने उसे काट डाला। सिंहनन्दिने उन्हे एक राज्यका शासक बना दिया।

सिंहनन्दिका यह आख्यान मैसूर राज्यसे प्राप्त ११२२ ई० के एक अभिलेखमे अकित[1] है। इस अभिलेखमे बताया है कि पद्मनाभ राजाके ऊपर उज्जैनके महीपालने आक्रमण किया तब उसने दडिग और माधव नामके दो पुत्रोको दक्षिणकी ओर भेज दिया। प्रतिदिन यात्रा करते-करते वे पेरूर नामक स्थानमे पहुँचे। उन्होने वही अपना शिविर स्थापित किया। यहाँ एक सरोवरके निकट चैत्यालयके दर्शन कर उन्होने उसकी तीन प्रदक्षिणाएँ की और आचार्य सिंहनन्दिकी वन्दना कर उनके निकट बैठ गये। आचार्यने उन्हे आशीर्वाद दिया। उनकी भक्तिसे प्रसन्न होकर देवी पद्मावती प्रकट हुई और उसने उन्हे तलवार एवं राज्य प्रदान किया।

समस्त राज्य प्रदान करनेके उपरान्त देवीने उन्हे सावधान करते हुए कहा "यदि तुम अपने वचनको पूरा न करोगे या जिनशासनको साहाय्य न दोगे, दूसरोकी स्त्रियोका यदि अपहरण करोगे, मद्य-माँसका यदि सेवन करोगे, या नीचोकी सगतिमे रहोगे, आवश्यक होनेपर भी यदि दूसरोको अपना धन नही दोगे और यदि युद्धके मैदानमे पीठ दिखाओगे, तो तुम्हारा वश नष्ट हो जायेगा"।

सन् ११२९ ई० के एक दूसरे अभिलेखमे लिखा है कि सिंहनन्दि मुनिने अपने शिष्योको अर्हन्त भगवानकी ध्यानरूपी तीक्ष्ण तलवार भी कृपा करके प्रदान की थी, जो घातिकर्मरूपी शत्रुसैन्यकी पर्वतमालाको काट डालती है।

सिंहनन्दिको मूलसंघ कुन्दकुन्दान्वय, काणूरगण और मेषपाषाणगच्छका आचार्य तथा दक्षिणवासी बताया है। सिंहनन्दिके प्रभावसे ही गगराजाओने जैनधर्मको संरक्षण प्रदान किया था। चतुर्थ शताब्दीसे द्वादश शताब्दी तकके अभिलेखोसे प्रमाणित होता है कि गगवंशके शासकोने जैनमन्दिरोका निर्माण कराया, जैनमूर्तियाँ प्रतिष्ठित करायी, जैनसाधुओंके निवासके लिए गुफाएँ बनवायी और जैनाचार्योंको दान दिया। एक विरुदावलीमे सिंहनन्दि आचा-

१. Mediaeval Jainism P. 11, तथा जैन शिलालेख संग्रह भाग २, अभिलेख संख्या २७७।

र्यको अत्यन्त प्रभावक आचार्य बताया गया है। कहा गया है कि सम्पूर्ण संसाररूप कमलवनको विकसित करनेमें सूर्यके समान तपस्याकी छविसे उत्पन्न प्रभा द्वारा सभी दिशाओंके अन्धकारको दूर करने वाले सिद्धान्त-समुद्रकी वृद्धिमें चन्द्रमास्वरूप, मिथ्यात्वरूपी अन्धकारको दूर करनेके लिए सूर्यतुल्य, परवादियोंके सिद्धान्तरूपी गजके मस्तकको विदीर्ण करनेमें सिंहके समान श्रीलोकचन्द, प्रभाचन्द्र, नेमिचन्द्र, भानुनन्दि और सिंहनन्दि योगीन्द्र हुए[1]।

इस सन्दर्भमें आये हुए सिंहनन्दि पूर्वोक्त गंगवंश-संस्थापक सिंहनन्दिसे अभिन्न हों, तो उनकी विद्वत्ता जगत्प्रसिद्ध प्रतीत होती है। इस विरुदावलीमें पूज्यपाद, गुणनन्दि, वज्रनन्दि और कुमारनन्दिके पश्चात् सिंहनन्दिका उल्लेख आया है। अतः बहुत सम्भव है कि यह सिंहनन्दि गंगवंश-संस्थापक सिंहनन्दि ही हैं। ये आगम, तर्क, राजनीति और व्याकरण शास्त्र आदि विषयोंके ज्ञाता थे। इनका समय ई० सन्‌की द्वितीय शताब्दी है।

उपर्युक्त उल्लेखोंसे विदित है कि गंगवंश-संस्थापक सिंहनन्दि राजनीतिके साथ आगम-शास्त्रके भी ज्ञाता थे। अतः असम्भव नहीं कि इनकी रचनाएँ भी रही हों, जो आज उपलब्ध नहीं।

आचार्य सुमति

आचार्य सुमतिदेवका उल्लेख सन्मति-टीकाकारके रूपमें पाया जाता है। आचार्य वादिराजने अपने पार्श्वनाथचरितमें सुमतिदेवका निम्नप्रकार उल्लेख किया है

नमः सन्मतये तस्मै भव-कूप-निपातिनाम्।
सन्मतिर्विवृता येन सुखधाम-प्रवेशिनी ॥१।२२॥

आचार्य जुगलकिशोर मुख्तारने अनुमान किया है कि सुमतिदेवकी यह टीका ११वीं शताब्दीके श्वेताम्बराचार्य अभयदेवकी टीकासे लगभग तीन शताब्दी पहलेकी होनी चाहिये।[2]

इन आचार्य और उनके सिद्धान्तका उल्लेख तत्त्वसंग्रहमें प्रत्यक्षलक्षण-समीक्षा सन्दर्भमें तत्त्वसंग्रहकार और उनके शिष्य कमलशीलने भी किया है "नन्वित्यादिना प्रथमे हेतौ सुमतेर्दिगम्बरस्य मतेनासिद्धतामाशङ्कते। स हि सामान्यविशेषात्मकत्वेनोभयरूपं सर्वं वस्तु वर्णयति। सामान्यं च द्विरूपम् ।"

१ जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग ९, किरण २, पृ० ११०।
२ पुरातन जैनवाक्यसूची, वीर सेवा मन्दिर, प्रथम संस्करण, प्रस्तावना, १२१।

त० सं० पंजिका, का० १२६४। "अत्र किल तेनैव सुमतिना स्वयमाशङ्क्य सामान्येन हेतोरनैकान्तिकत्व परिहृतम्, तदेवादर्शयति निर्विशेषमित्यादि।" (त० स० का० १२७५)।

श्रवणबेलगोलाके अभिलेख-सख्या ५४मे भी सुमतिदेवका उल्लेख आया है। यह अभिलेख शक सवत् १०५०का है। यथा

सुमति-देवममुं स्तुतयेन वस्सुमति-सप्तकमाप्ततया कृत।
परिहृतापथतत्त्व-पथार्थिना सुमति-कोटि-विवर्त्तिभवार्त्तिहृत्[1]॥

इस पद्यसे स्पष्ट है कि सुमतिदेव अच्छे प्रभावशाली तार्किक हुए हैं, जिनका स्थितिकाल ८वी शताब्दीके लगभग रहा है। तत्त्वसग्रह और शिलालेखके उल्लेख बतलाते हैं कि आचार्य सुमतिदेव प्रमाण और नयके विशिष्ट विद्वान् हैं। तार्किकके रूपमे इनकी ख्याति ८वी, ९वी शताब्दीमे पूर्णतया व्याप्त रही है।

आचार्य कुमारनन्दि

आज कुमारनन्दिकी कोई रचना उपलब्ध नही है। पर उनके तथा उनके ग्रन्थके उल्लेख कई स्थानोपर प्राप्त होते हैं। आचार्य विद्यानन्दने अपने ग्रन्थ प्रमाण-परीक्षा, पत्र-परीक्षा और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमे कुमारनन्दिका उल्लेख किया है। प्रमाण-परीक्षामे लिखा है

तथा चाम्यधायि कुमारनन्दिभट्टारकै
अन्यथानुपपत्त्येकलक्षण लिङ्गमग्यते।
प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधत ॥[2]

पत्रपरीक्षामे कुमारनन्दि और उनके 'वदन्याय' ग्रन्थ दोनोका भी उल्लेख प्राप्त होता है। लिखा है

तथैव हि कुमारनन्दिभट्टारकैरपि स्ववादन्याये निगदितत्वात्।

तदाह

प्रतिपाद्यानुरोधेन प्रयोगेषु पुनर्यथा।
प्रतिज्ञा प्रोच्यते तज्ज्ञैस्तथोदाहरणादिकम्॥
अन्यथानुपपत्त्येकलक्षण लिंगमग्यते।
प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधत[3]॥

१ जैन शिलालेखसग्रह, प्रथम भाग, अभिलेखसख्या ५४, पद्य १३।
२ प्रमाणपरीक्षा, पृ० ३।
३. पत्रपरीक्षा, पृ० ३।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमे भी उनके वदन्यायका निर्देश आया है

कुमारनन्दिनश्चाहुर्वादन्यायविचक्षणा [1] ॥

आचार्य विद्यानन्दके उक्त उद्धरणोसे प्रकट है कि कुमारनन्दि विद्यानन्दके पूर्ववर्ती आचार्य हैं। इन्होने वादन्यायका प्रणयन किया था, जिसकी कतिपय कारिकाएँ विद्यानन्दके अपने ग्रन्थोमे उद्धृत की हैं।

नागमगल ताम्रपत्रमे भी कुमारनन्दिका उल्लेख आया है, जो श्रीपुरके जिनालयके लिए शक स० ६९८ (वि० स० ८३३) मे लिखा गया है। इसमे चद्रनदिके शिष्य कुमारनन्दि, कुमारनन्दिके शिष्य कीर्तिनन्दि और कीर्तिनन्दिके शिष्य विमलचन्द्रका उल्लेख है। अतएव नागमगल ताम्रपत्रमे उल्लिखित कुमारनन्दि यदि प्रस्तुत कुमारनन्दि ही हैं, तो इनका समय वि० स० की ८ वी शताब्दी होना चाहिये। ताम्रपत्रकी पक्तियाँ निम्नप्रकार है

"अष्टानवत्युत्तरे षट्छतेषु शकवर्षेष्वतीतेष्वात्मानः प्रवर्द्धमान-विजयवीर्य-संवत्सरे पचशतमे प्रवर्त्तमाने मान्यपुरमधिवसति विजयस्कदावारे श्रीमूलमूल-शर्णाभिनदितनन्दिसघान्वय एरेगित्तुर्न्नाम्नि गणे मूलिकल्गच्छे स्वच्छतरगुणिकिर-प्र(ण)तति-प्रल्हादितसकललोक चद्र इवापर चन्द्रनन्दिनामगुरुरासीत्। तस्य शिष्यस्समस्तविवुवलोकपरिरक्षण-क्षमात्मशक्ति' परमेश्वरलालनीयमहिमा कुमारवद्विति(ने)य. कुमारनन्दिनाममुनिपतिरभवत्। तस्यान्तेवासि-समधिगत सकलतत्त्वार्थ-समर्पित-वुवसार्थ-सम्पत्सम्पादितकीर्ति कीर्तिनन्द्याचार्यो नाम महामुनिस्समजनि। तस्य प्रियशिष्य शिष्यजनकमलाकर-प्रवोधनक मिथ्याज्ञान-सततसनुतस्वसन्मानान्तक-सद्धर्म-व्योमावभासनभास्कर विमलचन्द्राचार्यस्स-मुदपादि। तस्य महर्षेर्धर्मोपदेशनया [2]"

इस ताम्रपत्रमे कुमारनन्दिको समस्त विद्वल्लोकका परिरक्षक और मुनिपत्ति कहा है। इससे सम्भावना है कि विद्यानन्द द्वारा उल्लिखित और वादन्यायके कर्त्ता तार्किक कुमारनन्दिका ही इसमे गुणकीर्त्तन है। जो हो, इतना स्पष्ट है कि आचार्य कुमारनन्दि एक प्रभावशाली तार्किक एव 'वादन्यायविचक्षण' ग्रन्थ-कार थे।

आचार्य श्रीदत्त

तपस्वी और प्रवादियोके विजेताके रूपमे इनका उल्लेख मिलता है। आदिपुराणमे वताया है

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० २८०।

२ पुरातन-जैनवाक्य-सूची, प्रस्तावना, पृ० ६७।

श्रीदत्ताय नमस्तस्मै तप श्रीदीप्तमूर्तये ।
कण्ठीरवायितं येन प्रवादीभप्रभेदने[1] ॥

मैं उन श्रीदत्तके लिये नमस्कार करता हूँ, जिनका शरीर तपोलक्ष्मीसे अत्यन्त सुन्दर है और प्रवादीरूपी हस्तियोके भेदनमे सिहके समान थे ।

श्रीदत्त वादी और दार्शनिक विद्वान थे। आचार्य विद्यानन्दने इनको ६३ वादियोको पराजित करनेवाला लिखा है। विक्रमकी छठी शतीके विद्वान देवनन्दिने जैनेन्द्रव्याकरणमें 'गुणे श्रीदत्तस्य स्त्रियाम्' (१।४।३४) सूत्रमे श्रीदत्तका उल्लेख किया है। देवनन्दि द्वारा उल्लिखित, आदिपुराण तथा तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकमे निर्दिष्ट श्रीदत्त एक ही हो, तो इनका समय देवनन्दिसे पूर्व अर्थात् वि० स०की चौथी-पाँचवी शती होना चाहिए। जल्पनिर्णय नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थका इन्हे रचयिता भी कहा गया है। विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक पृ० २८० पर लिखा है

द्विप्रकार जगौ जल्प तत्त्व-प्रातिभगोचरम् ।
त्रिषष्ठेर्वादिना जेता श्रीदत्तो जल्पनिर्णये ॥

कुमारसेनगुरु

चन्द्रोदय ग्रन्थके रचयिता प्रभाचन्द्रके आप गुरु थे। आपका निर्मल यश समुद्रान्त व्याप्त था।

आकूपार यशो लोके प्रभाचन्द्रोदयोज्ज्वलम् ।
गुरो कुमारसेनस्य विचरत्यजितात्मकम्[2] ॥

अर्थात् कुमारसेन गुरुका यश इस ससारमे समुद्रपर्यन्त सर्वत्र विचरण करता है, जो प्रभाचन्द्रनामक शिष्यके उदयसे उज्ज्वल है, तथा जो अविजित रूप है किसीके द्वारा जीता नही जा सकता है।

चामुण्डरायपुराणके पन्द्रहवें पद्यमे भी इनका स्मरण किया गया है।

इससे ज्ञात होता है कि कुमारसेनगुरु बडे ही यशस्वी सारस्वत थे। डॉ० ए० एन० उपाध्येने इनका परिचय देते हुए जैनसदेशके शोधाक १२मे लिखा है कि ये मूलगुण्डनामक स्थानपर आत्मत्यागको स्वीकार करके 'कोप्पणाद्रि' पर ध्यानस्थ हो गये और समाधिमरणपूर्वक स्वर्गलाभ किया।' इनके सम्बन्धमे दर्शनसारमे बताया है

१ आदिपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ काशी सस्करण, १।४५ ।
२. हरिवशपुराण भारतीय ज्ञानपीठ काशी सस्करण १।३८ ।

णदियडे वरगामे कुमारसेणो य सत्थविण्णाणी
कट्ठो दसणभट्ठो जादो सल्लेहणाकाले ॥[1]

अर्थात् काष्ठासघके सस्थापकके रूपमे कुमारसेनका नाम आता है। वताया है कि विक्रम राजाकी मृत्युके ७५३ वर्ष पश्चात् नन्दीतटग्राममे काष्ठासघ हुआ। इस नन्दीतटग्राममे कुमारसेननामका शास्त्रज्ञ विद्वान् सल्लेखनाके समय दर्शनसे भ्रष्ट होकर, काष्ठासघी हुआ। कुमारसेनका समय वि० की ८वी शताब्दी अवगत होता है।

वज्रसूरि

ये वज्रसूरि देवनन्दि-पूज्यपादके शिष्य द्राविड़ सघके संस्थापक वज्रनन्दि जान पडते हैं। हरिवशपुराणमे इनके सम्बन्धमे कहा हैं

वज्रसूरेर्विचारिण्य सहेत्वोर्बन्धमोक्षयो ।
प्रमाण धर्मशास्त्राणा प्रवक्तृणामिवोक्तय ॥

अर्थात् जो हेतु सहित वन्ध और मोक्षका विचार करनेवाली हैं ऐसी श्री वज्रसूरिकी उक्तियाँ धर्मशास्त्रोका व्याख्यान करनेवाले गणधरोकी उक्तियोके समान प्रमाणरूप है।

इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि वज्रसूरिके वचन गणधरोके समान मान्य थे। दर्शनसारके उल्लेखानुसार इनका समय छठी शती प्रतीत होता है।

सिरिपुज्जपादसीसो दाविडसघस्स कारगो दुट्ठो ।
णामेण वज्जणदी पाहुडवेदी महासत्तो[2] ॥
पचसए छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स ।
दक्खिणमहुराजादो दाविडसंघो महामोहो[3] ॥

यशोभद्र

प्रखर तार्किकके रूपमे जिनसेनने इनका स्मरण किया है। आदि राणमे वताया है

विदुष्विणीषु ससत्सु यस्य नामापि कीर्तितम् ।
निखर्वयति तद्गर्व यशोभद्र. स पातु नं[4] ॥

१ दर्शनसार, गाथा ३९।
२. वही, गाथा २४।
३ वही, गाथा २८।
४. आदिपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ काशी सस्करण, १।४६।

अर्थात् विद्वानोंकी सभामें जिनका नाम कह देने मात्रसे सभीका गर्व दूर हो जाता है, वे यशोभद्र स्वामी हमारी रक्षा करें।

जैनेन्द्र व्याकरणमें "क्व वृषिमृजां यशोभद्रस्य" (२।१।९९) सूत्र आया है। अत जिनसेनके द्वारा उल्लिखित यशोभद्र और देवनन्दिके जैनेन्द्र व्याकरणमें निर्दिष्ट यशोभद्र यदि एक ही हैं, तो इनका समय वि० सं० छठी शतीके पूर्व होना चाहिये।

आचार्य शान्त अथवा शान्तिषेण

आचार्य शान्त अथवा शान्तिषेषका साहित्यमें सविशेष उल्लेख है। इनकी उत्प्रेक्षालंकारसे युक्त वक्रोक्तियोंकी प्रशंसा की गयी है। बताया है

शान्तस्यापि च वक्रोक्ती रम्योत्प्रेक्षा बलान्मनः।
कस्य नोद्धाटितेऽन्वर्थे रमणीयेऽनुरञ्जयेत्[1] ॥

अर्थात् श्री शान्त कविकी वक्रोक्तिरूप रचना रमणीय उत्प्रेक्षाओंके बलसे मनोहर अर्थके प्रकट होनेपर किसके मनको अनुरक्त नहीं करती है।

जिनसेनने अपनी गुरुपरम्पराका वर्णन करते हुए जयसेनके पूर्व एक शान्तिषेण आचार्यका नामोल्लेख किया है। यदि ये शान्त ही शान्तिषेण हों, तो जिनसेनकी गुरुपरम्परामें नाम आनेके कारण इनका समय ७वीं शताब्दी होना चाहिये। हरिवंशपुराणके अन्तमें दी हुई प्रशस्तिमें विनयन्धर, गुप्तश्रुति, गुप्तऋषि, मुनीश्वर, शिवगुप्त, अर्हद्वलि, मन्दरार्य, मित्रविरवि, बलदेव, मित्रक, सिंहबल, वीरवित, पद्मसेन, व्याघ्रहस्त, नागहस्ति, जितदण्ड, नन्दिषेण, दीपसेन, श्रीधरसेन, सुधर्मसेन, सिंहसेन, सुनन्दिषेण, ईश्वरसेन, सुनन्दिषेण, अभयसेन, सिद्धसेन, अभयसेन, भीमसेन, जिनसेन और शान्तिषेण आचार्य हुए। अनन्तर जयसेन, अमितसेन, कीर्तिसेन और जिनसेन[2] हुए हैं। स्पष्ट है कि शान्तिषेण अच्छे कवि और दार्शनिक थे।

विशेषवादि

हरिवंशपुराणके उल्लेखोंसे अवगत होता है कि इनकी कोई गद्य-पद्यमय रचना रही है। वादिराजने भी अपने पार्श्वनाथचरितमें विशेषवादिका उल्लेख किया है। जिनसेनने लिखा है

१ हरिवंशपुराण, ज्ञानपीठ संस्करण श्लोक १।३६।
२ वही, ६६, २५–३३।

योऽशेषोक्तिविशेषेषु विशेष पद्य-गद्ययो ।
विशेषवादिता तस्य विशेषत्रयवादिन.[1] ॥

अर्थात् जो गद्य-पद्य सम्बन्धी समस्त विशिष्ट उक्तियोके विषयमे विशेष अर्थात् तिलकरूप है, तथा जो विशेषत्रयका निरूपण करनेवाले है, ऐसे विशेषवादि कविका विशेषवादिपना सर्वत्र प्रसिद्ध है । विशेषवादि कविका विशेषत्रय कोई ग्रन्थ रहा है, या गद्य, पद्य और गद्य-पद्य तीनो प्रकारकी रचनामे दक्ष होनेसे विशेषत्रयवादी कहा जान पडता है ।

श्रीपाल

ये वीरसेन स्वामीके शिष्य और जिनसेनके सधर्मा समकालीन विद्वान[2] है । जिनसेनने जयधवलाको इनके द्वारा सम्पादित बताया है । इनका समय वि० स० की ९ वी शती है ।

काणभिक्षु

आचार्य जिनसेनने काणभिक्षुका कथाग्रन्थ-रचयिताके रूपमे उल्लेख किया है । इससे ज्ञात होता है कि उनका कोई प्रथमानुयोगसम्बन्धी कोई ग्रन्थ रहा है । जिनसेनने लिखा है

धर्मसूत्रानुगा हृद्या यस्य वाड्मणयोऽमला ।
कथालङ्कारता भेजु काणभिक्षुर्जयत्यसौ[3] ॥

अर्थात् वे काणभिक्षु जयवन्त हो, जिनके धर्मरूप सूत्रमे पिरोये हुए, मनोहर वचनरूप निर्मलमणि कथाशास्त्रके अलङ्कारपनेको प्राप्त हुए थे । अर्थात् जिनके द्वारा रचे गये कथाग्रन्थ श्रेष्ठ है ।

ये जिनसेन द्वारा उल्लिखित होनेसे उनके पूर्ववर्ती विद्वान् हैं ।

कनकनन्दि

सिद्धान्त-ग्रन्थोके रचयिताके रूपमे कनकनन्दिका नाम भी नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके समान समादरणीय है । इन्हे भी सिद्धान्त-चक्रवर्ती कहा गया है । यह तथ्य गोम्मटसार कर्मकाण्डकी निम्न अन्तिम गाथासे स्पष्ट होता है

१ हरिवश०, १।३७ ।
२ आदिपुराण, १।५३ ।
३. आदिपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ सस्करण, भाग १, पद्य १।५१ ।

वरइंदणदिगुरुणो पासे सोऊण सयलसिद्धंतं।
सिरिकणयणंदिगुरुणा सत्तट्ठाण समुद्दिट्ठं[1] ॥

अर्थात् श्री इन्द्रनन्दि गुरुके पास समस्त सिद्धान्तको सुनकर श्री कनकनंदि गुरुने इस सत्त्वस्थानको सम्यक् रीतिसे कहा है। यहाँ कनकनन्दिके साथ गुरु शब्दका संकेत करता है कि नेमिचन्द्रने गोम्मटसारकी रचना कनकनन्दिसे अध्ययन करके की है। और वे उनके गुरु रहे होंगे या 'गुरु' नामसे वे अधिक ख्यात होंगे।

कनकनन्दि द्वारा रचित 'विस्तरसत्त्वत्रिभंगी' नामक ग्रन्थ जैन सिद्धान्त भवन आरामें वर्तमान है। इस ग्रंथकी कागज पर लिखी गयी दो प्रतियाँ विद्यमान हैं। दोनोंकी गाथा-संख्यामें अन्तर है। एक प्रतिमें ४८ गाथा हैं और दूसरीमें ५१। दूसरी प्रतिमें गाथाओंके साथ संदृष्टियाँ भी उल्लिखित हैं। पहली प्रतिमें तीन पृष्ठ हैं और दूसरीमें सात।

गोम्मटसार कर्मकाण्डमें कनकनन्दि विरचित 'विस्तरसत्त्वत्रिभंगी'को आदिसे अन्तिम गाथा पर्यन्त सम्मिलित कर लिया गया है। केवल मध्यकी आठ या ग्यारह गाथाएँ छोड दी गयी हैं, क्योंकि कर्मकाण्डमें इस प्रकरणकी गाथाओंकी संख्या ३५८-३९७ अर्थात् ४० है। इस प्रकरणमें कर्मोके सत्व-स्थानोंका कथन गुणस्थानोंमें भङ्गोंके साथ किया गया है।

क्या कनकनन्दि आचार्यने ४८ या ५१ गाथाप्रमाण 'विस्तरसत्त्वत्रिभंगी' ग्रंथकी पृथक् रचना की और बादको उसे नेमिचन्द्रचार्यने अपने गोम्मटसारमें सम्मिलित कर लिया अथवा कर्मकाण्डके लिए ही उन्होंने उसकी रचना की? विचार करने पर ज्ञात होता है कि कनकनंदि सिद्धान्तचक्रवर्तीने इतना छोटा-सा ग्रंथ नहीं लिखा होगा। उन्होंने कर्मकाण्डके लिखनेमें सहयोग प्रदान किया होगा और उसीके लिए सत्त्वत्रिभंगीप्रकरण लिखा होगा। इसके पश्चात् उन्होंने कुछ गाथाएँ अधिक जोडकर उसे स्वतन्त्र ग्रंथका रूप प्रदान किया होगा। कर्मकाण्डमें कनकनंदिके मतान्तरको देखनेसे हमारा उक्त कथन पुष्ट होता है। स्पष्ट है कि कनकनंदि अपने समयके प्रसिद्ध आचार्य हैं।

इस प्रकार प्राप्त सामग्रीके आधारसे श्रुतधराचार्यों और सारस्वताचार्योंका विवेचन किया गया।

●

१. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला बम्बई संस्करण, गाथा ३९६।